मानव अधिकार :

नई दिशाएँ

वार्षिक अंक -13, 2016

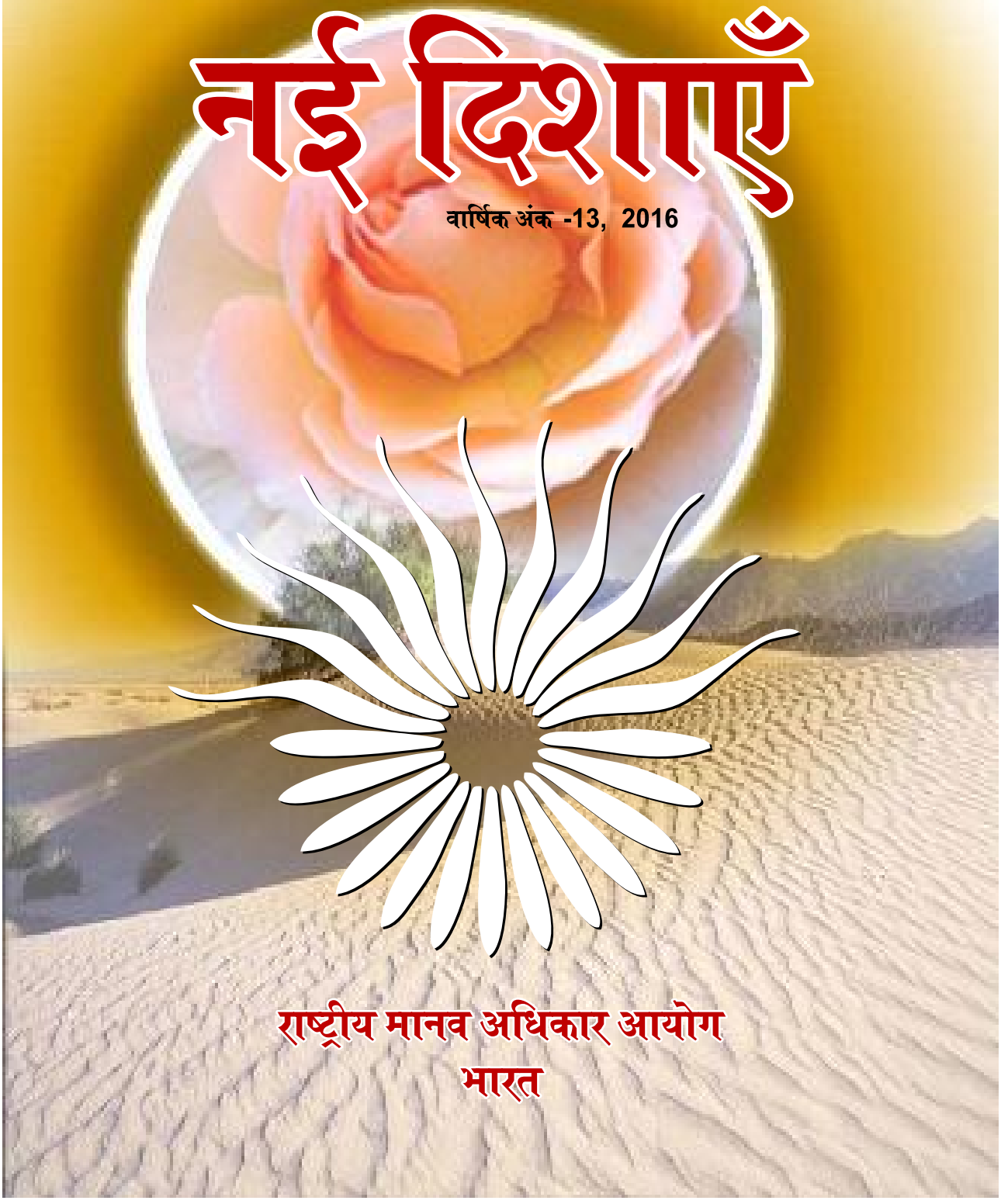

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
भारत

ISSN : 0973-7588

मानव अधिकार : नई दिशाएँ

वार्षिक अंक – 13, 2016

प्रकाशक : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
मानव अधिकार भवन,
ब्लॉक–सी, जी. पी. ओ. कॉम्पलैक्स,
आई. एन. ए., नई दिल्ली – 110023
भारत

© **2016 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत**

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, सलाहकार मण्डल या संपादक मण्डल का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्राप्ति स्थान : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
मानव अधिकार भवन,
ब्लॉक–सी, जी. पी. ओ. कॉम्पलैक्स,
आई. एन. ए., नई दिल्ली – 110023, भारत
वेबसाईट : www.nhrc.nic.in
ई–मेल : covdnhrc@nic.in

मुद्रण एवं डिजाईनिंग : सेंट जोसेफ प्रेस
ए–287, तेहखण्ड, नियर रेलवे कॉलोनी
ओखला फेज–1, नई दिल्ली–110 020
मो.– 9999891207
ई–मेल : stjpress@gmail.com

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

अध्यक्ष

न्यायमूर्ति श्री एच. एल. दत्तू

सदस्य

न्यायमूर्ति श्री सिरियक जोसफ
न्यायमूर्ति श्री डी. मुरूगेशन
श्री शरद चंद्र सिन्हा

महासचिव

डॉ. सत्यनारायण मोहन्ती, आई.ए.एस.

संयुक्त सचिव

जयदीप सिंह कोचर
(प्रशिक्षण एवं अनुसंधान)

डॉ. रणजीत सिंह
(कार्मिक एवं प्रशासन)

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

सलाहकार मंडल

श्री एस. सी. सिन्हा

डॉ. एस. एन. मोहन्ती

डॉ. रणजीत सिंह

प्रो. शम्भु नाथ

प्रो. अरुणेश 'नीरन'

प्रो. अरुण कमल

श्री वी. एन. राय

मानव अधिकार : नई दिशाएँ

संपादक

डॉ. रणजीत सिंह

सह संपादक

डॉ. सरोज कुमार शुक्ल

संपादन सहयोग

अंजलि सकलानी

अमित कुमार साव

तकनीकी सहयोग एवं कम्प्यूटरीकरण

सीमा शर्मा

जितेन्द्र सिंह

अनुक्रम

- **दो शब्द** : xiii
- **आमुख** : xv - xvi
- **संपादकीय** : xvii - xix

क्रम सं.	लेखक का नाम	विषय	पृष्ठ सं.
		खण्ड : एक – अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता	
1.	प्रो. गिरीश्वर मिश्र	मानव अधिकार के रूप में अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और दायित्व के सरोकार	3–8
2.	प्रो. माधव हाड़ा	देहरी पर दीपक (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की भारतीय संस्कृति और परंपरा)	9–17
3.	डॉ. सरोज कुमार वर्मा	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता : बोल कि लब आजाद हैं तेरे	19–28
4.	ज्ञानवती धाकड	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता	29–39
5.	डॉ. अमित कुमार विश्वास	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बनाम सोशल मीडिया (सहमति का विवेक और असहमति का साहस)	41–47
6.	डॉ. अमित राय	प्रजातंत्र में अभिव्यक्ति और प्रतिरोध के बदलते स्वरूप	49–58
7.	ममता कुमारी	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बनाम लोकतंत्र	59–68
8.	अपूर्वा दुबे	सोशल मीडिया के दौर में नागरिक–स्वातंत्र्य का मूल्यांकन	69–83
		खण्ड : दो – स्त्री संवेदी बजट	
9.	डॉ. सुप्रिया पाठक	भारत में जेंडर संवेदी बजट का यथार्थ	87–97
10.	डॉ. अनिला	घरेलू हिंसा का यथार्थ : राजस्थान के विशेष संदर्भ में	99– 104
11.	डॉ. सुधाशु शेखर	डॉ. अम्बेडकर, महिला सशक्तीकरण और आरक्षण	105–114
12.	डॉ. विश्वास पटेल डॉ. तुहिना जौहरी	महिला उत्थान और महिला संवेदी बजट	115–122
13.	डॉ. कन्हैया त्रिपाठी	आदिवासी स्त्रियों के हक	123–130
14.	सोना चौधरी	खेल में उत्पीड़न और जेंडर बजट	131–135

खण्ड : तीन – भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली			
15.	डॉ. सुभाष शर्मा	भारत में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्था	139–152
16.	विकास मिश्र	भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली का यथार्थ	153–160
17.	डॉ. शंभू जोशी	भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्यः एक विश्लेषण	161–182
18.	संदीप भट्ट	स्वस्थ भारत की मंजिल की राह	183–197
खण्ड : चार – आरक्षण के आयाम			
19.	कंचन शर्मा	लोकतन्त्र, सामाजिक न्याय और आरक्षण व्यवस्था	201–205
20.	हरि राम मीणा	आदिवासी अस्मिता और आरक्षण	207–215
खण्ड : पाँच – विचाराधीन बंदियों को त्वरित न्याय			
21.	डॉ. सोनू	विचाराधीन कैदियों को त्वरित न्याय का मानवाधिकारः समस्या और समाधान	219–231
22.	विवेक किशोर	भारत में विचाराधीन बंदियों को त्वरित न्याय	233–237
खण्ड : छ – मानव अधिकारों पर महत्त्वपूर्ण विविध आलेख			
23.	शंकर शरण	मानव अधिकार शिक्षा– कुछ सावधानियाँ	241–258
24.	डॉ. रजिया	भारत में अल्पसंख्यक मुसलमानों की सामाजिक आार्थिक और शैक्षिक स्थिति	259–283
25.	डॉ. संजुला थानवी	पंचायतराज की व्यवस्था से जनजाति गरीबी उन्मूलन	285–295
26.	डॉ. आशीष भट्ट	अनुसूचित जनजाति, मानवाधिकार एवं पंचायती राज संस्थाएँ	297–303
27.	डॉ.लालाराम जाट	जनजातीय समाजों में मौताणा दर्शन और उसके सामाजिक निहितार्थ : एक दार्शनिक अवलोकन	305–312
28.	मिथिलेश कुमार	अनसुनी होती जिंदगियां, घटते मानवाधिकार	313–327
29.	डॉ. अमिता पाण्डेय	इज्जत के लिए हत्याः मानवता पर कलंक	329–337
खण्ड : सात – साक्षात्कार			
30.	हर्ष मंदर	असमानता, गरीबी और अन्याय मानव अधिकारों के अजातशत्रु • **साक्षात्कारकर्ता**– डॉ. सरोज कुमार शुक्ल	341–350
खण्ड : आठ – कविताएँ एवं कहानियाँ			
31.	प्रो. प्रेमशीला शुक्ल	अभिव्यक्ति	353–358
32.	उषा यादव	शंख–ध्वनि	359–365
33.	बजरंगलाल जेठू	माँ कहती थी	367–382
34.	लक्ष्मी जयसवाल अग्रवाल	मैं लड़की हूं	383–386

खण्ड : नौ – मानव अधिकारों पर केन्द्रित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएं				
35.	डॉ. सुभाष शर्मा	संस्कृति और समाज • **समीक्षक**– पूजा गोस्वामी		389–392
36.	आशा कौशिक	महिला मानवाधिकार संरक्षण बनाम वस्तुस्थिति • **समीक्षक**– आकांक्षा पारे काशिव		393–396
खण्ड : दस – मानव अधिकारों पर अंग्रेजी से हिंदी में अनूदित महत्त्वपूर्ण दस्तावेज				
37.	जॉर्डन क्राफोर्ड एवं बार्ड ए. एंड्रीसन	Human Rights & Development: Putting Power and Politics at the Center	मानव अधिकार एवं विकासः सत्ता एवं राजनीति को केन्द्र में रखते हुए	399–433
38.	माईकल फ्रीमैन	World Poverty : Rights, Obligations, Institutions, Motivations	वैश्विक गरीबीः अधिकार, दायित्व, संस्थाएं एवं प्रेरणा	435–466
39.	बॉब डिलन	Answer is blowin' in the wind	तैर रहा है जवाब हवा में • **अनुवाद** : अरुण कमल	467–468
40.	डॉ. रणजीत सिंह अमित जी. ठाकरे	Megna Carta : Celebrating 800 Year	मैग्नाकार्टा के अस्सी दशक (वैश्विक परिदृश्य में मैग्नाकार्टा एवं मानव अधिकार) • **अनुवाद** : • अंजलि सकलानी • अमित कुमार साव	469–475
41.	Proclaimed by United Nations General Assembly	Universal Diclaration of Human Rights	मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा • **अनुवाद** : • अंजलि सकलानी • अमित कुमार साव	477–484

दो शब्द

मानव अधिकार : नई दिशाएँ के तेरहवें अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं, चिंतकों, साहित्यकारों, लेखकों, कहानीकारों, कवियों तथा समीक्षकों का आयोग की ओर से हार्दिक अभिवादन करता हूँ। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि आयोग के इस शोधपरक, महत्वपूर्ण एवं सूचनाप्रद प्रकाशन के द्वारा हम मानव अधिकार संबंधित समसामयिक एवं महत्वपूर्ण विषयों पर आम जनमानस में जागरुकता तथा रूचि पैदा करने में सक्षम हो सकेंगे।

आयोग द्वारा प्रकाशित यह पत्रिका पिछले कुछ वर्षों में अकादमिक क्षेत्र से जुड़े बुद्धिजीवियों, शोद्यार्थियों तथा विद्यार्थियों के मध्य एक सशक्त, प्रभावी एवं लोकप्रिय माध्यम बन कर उभरी है। साथ ही, इसमें मानव अधिकारों की जमीनी हकीकत को जाँचने व परखने का एक सशक्त एवं प्रभावी मंच भी प्रदान किया है।

वर्तमान अंक में मुख्यतः अभिव्यक्ति का अधिकार, आरक्षण, भारत में चिकित्सा की स्थिति, विचाराधीन बंदी, स्त्री संवेदी बजट एवं मानव अधिकार शिक्षा पर केन्द्रित आलेखों को शामिल किया गया है साथ ही, मानव अधिकारों से जुड़े विभिन्न ज्वलंत मुद्दों पर भी विचार किया गया है। पत्रिका का यह अंक इन सामाजिक समस्याओं पर गहराई से प्रकाश डालने का तथा उनको लेकर जनमानस को आंदोलित करने का एक प्रयास है।

इस अंक के प्रकाशन में जिन सुधी लेखकों, विद्वानों, बुद्धिजीवियों, समीक्षकों, कहानीकारों तथा अकादमिक क्षेत्र से जुड़े महानुभावों ने अपना अवदान दिया है उन सभी को मैं आयोग की ओर से हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी हमें उनका इसी प्रकार निरंतर सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

इस आशा के साथ कि यह अंक पठनीय व रुचिकर होगा इसे मैं पाठकों को समर्पित करता हूँः–

शुभाः ते पन्थानः अर्थात् आपके मार्ग शुभ एवं प्रशस्त होवें।

(न्यायमूर्ति श्री एच. एल. दत्तू)

आमुख

सामाजिक एवं आर्थिक असमानता आज हमारे देश के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। दुर्भाग्यवश राजनैतिक और ऐतिहासिक कारणों से भारत ही नहीं अन्य देशों में भी इस प्रकार की असमानता है और यह असमानता समाज के पिछड़े और गरीब वर्ग के शोषण का कारण भी है। इसके प्रकार और कारण भिन्न रहे हैं। नस्ल और जाति इसके ज्वलंत रूप हैं। इनको आधार बना कर एक वर्ग दूसरे वर्ग को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक रूप से हाशिए पर धकेल देता है। समय के साथ प्रगति की दौड़ में ये वर्ग पिछड़ जाते हैं। इस स्थिति में विभिन्न वर्गों के बीच की खाई बढ़ती जाती है। शोषण की त्रासदी उनके जीवन की व्यथा को विस्तृत करती जाती है। समाज का अर्थ प्रायः वर्चस्व वाले सामजिक वर्ग के मंतव्य, भाषा और लक्ष्य के रूप में ही आंका जाता है। परन्तु यह, अधिक दिनों तक नहीं चल पाता है क्योंकि मूक और पंगु बने 'अन्त्य' लोगों की उपेक्षा पूरे देश के हित में नहीं होती। जब उनके प्रतिरोध का स्वर उभरता है तो उथल–पुथल मच जाती है। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के इतिहास होने की बात अधिक पुरानी नहीं है, जहाँ नेल्सन मंडेला बाइस साल जेल के सींखचों के पीछे रहे और जब जनतांत्रिक उबाल उठा तो सारा दृश्य ही बदल गया। मंडेला को राष्ट्रपति चुना गया। तात्पर्य यह कि दलित और कुचले हुए लोगों को कोई भी समाज बहुत दिनों तक उपेक्षा की स्थिति में नहीं रख सकता।

पराधीनता का दंश झेलने के बाद बोलने की स्वतंत्रता और कानून के समक्ष समानता को व्यवहार में लाना नितांत आवश्यक था। इसीलिए मौलिक अधिकारों के तहत राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रता को बाध्यकारी माना गया। इनका उल्लंघन होने पर व्यक्ति न्यायालय की शरण में जा सकता है। लेकिन, आज 21 वीं शताब्दी में आने के बाद भी हम देख रहे हैं कि मौलिक अधिकारों के अनुपालन में अनेक कठिनाइयां आ रही हैं। अघोषित रूप से अब भी छुआछूत का बोलबाला है। जन्म के आधार पर व्यक्ति जातीयता की जंजीरों में बंध जाता है तथा परिणामतः कुछ लोग श्रेष्ठता की ग्रंथि और कुछ लोग हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। स्वतंत्रता और समानता के उच्च आदर्श को व्यावहारिक यथार्थ में लाने के लिए अभी और प्रयास किए जाने की जरूरत है।

नीति– निर्देशक सिद्धांतों के तहत मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों को स्थान दिया गया, किन्तु ये अधिकार बाध्यकारी नहीं हैं। ये अधिकार मनुष्य

की मूलभूत आवश्यकताओं से ही संबंधित हैं, लेकिन आजादी के बाद आधी शताब्दी से भी अधिक समय बीत जाने के बावजूद देश में सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की स्थिति आशाजनक नहीं कही जा सकती।

हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी गरीबी–रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रहा है। गरीबी–रेखा के ऊपर भी बहुत बड़ी तादाद में लोग औसत दर्जे का भी जीवन नहीं जी पाते। वास्तव में गरीबी मानवाधिकारों का घोर उल्लंघन है क्योंकि इसके कारण मनुष्य मूलभूत अधिकारों से वंचित रहता है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति न होना समाज की शोचनीय दशा को ही प्रतिविंबित करता है।

देष और समाज का विकास तभी संभव है जब कानून और व्यवस्था ठीक हो और शांति की स्थिति हो। इस दृष्टि से पुलिस प्रशासन और अर्द्ध–सैनिक बलों पर आए दिन मानवाधिकार हनन के आरोप लगाए जाते हैं। रक्षक पर भक्षक होने के आरोप अपने–आप में बहुत गंभीर हैं तथा मानव अधिकार के संरक्षण के सामने नई चुनौतियां खड़ी हो रही हैं। आज अंग्रेजी की शिक्षा रोजगार के लिए अनिवार्य शर्त जैसी बन गई है। इसका कारण मनुष्य के व्यक्तित्व, योग्यता और कौशल को केवल अंग्रेजी की कसौटी पर कसा जाना भी मानवाधिकारों का हनन है।

पत्रिका के इस अंक में मानव–जीवन से जुड़े इन्हीं सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं एतिहासिक पहलुओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। हमारा लक्ष्य इस पत्रिका को एक ऐसे मंच के रूप में स्थापित करना है जो जन–चेतना जागृत करने के साथ–साथ आम आदमी की आवाज को नीति निर्माताओं तक प्रभावी तरीके से पहुंचाए। साथ ही, यह पत्रिका एक संग्रहणीय दस्तावेज भी है क्योंकि इसमें मानवाधिकार के व्यापक स्वरूप को एक नए रूप में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। मानवाधिकार का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और बदलती परिस्थिति में विचार करते रहना आवश्यक है। अतः विद्यार्थियों, अध्येताओं, स्वैच्छिक संगठनों के प्रतिनिधियों और नीति–निर्माण से जुड़े विशेषज्ञों से अनुरोध है कि वे इस बारे में न केवल सुझाव दें बल्कि अपनी रचनाएं भी भेजें। इससे मानवाधिकार की नई उद्‌भावनाओं का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

(शरद चन्द्र सिन्हा)

संपादकीय

'मानवाधिकार' का मूल आशय उस न्यूनतम स्वतंत्रता से है, जो सिर्फ मनुष्य होने के नाते किसी व्यक्ति को मिलनी चाहिए। साथ ही उसके मूल अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा भी होनी चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्ण विकास की दिशा में आगे बढ़ सके, सामाजिक उद्देश्यों और लक्ष्यों की पूर्ति में अपना योगदान दे सके तथा सम्मानपूर्वक जीवन–यापन कर सके। इस प्रकार मानवाधिकार मनुष्य के समग्र विकास के लिए एक अस्त्र हैं। इक्कीसवीं सदी में एक क्रांतिकारी अवधारणा के रूप में वह हमारे समक्ष प्रस्तुत है। उसकी प्रासंगिकता इसलिए भी है कि अनेक कारणों से आज जैसा असुरक्षित जीवन पहले कभी नहीं रहा। आज से पहले अप्राकृतिक मौतें इतने बड़े पैमाने पर नहीं होती थीं।

भारत, मानव अधिकारों के प्रति एक प्रतिबद्ध राष्ट्र है। भारत में मानवाधिकार को सामुदायिक कट्टरता और बाजार इसे चुनौती देते है। ये किसी न किसी प्रकार से शांति, आत्मसम्मान और सुख के साथ जीने के अधिकार को सीमित करते हैं। भारत के लोगों में शांति, आत्मसम्मान और सुख के साथ जीने की लालसा हमेशा से रही है। यही कारण है कि भारत ने सभी उत्तम विचारों को विवेकपूर्ण दृष्टि से स्वीकार करते हुए एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था को अंगीकार और विकसित किया है। संविधान निर्माताओं की दृष्टि में बुनियादी मानवाधिकार के बिना प्राप्त स्वतंत्रता बेमानी है। इसी कारण भारतीय संविधान में मानवाधिकारों को वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। नागरिकों के अधिकारों को सुनिश्चित करने हेतु ठोस नियम बनाए गए हैं, तथा उन्हें न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के वैश्विक विमर्श के आधार पर ठोस रूप दिया गया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जब हम मानवाधिकारों की बात करते हैं तो हमारा ध्येय समाज में सभी प्रकार के भेदभाव का अंत होता है। यहां के निवासी जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक रुझान किसी के आधार पर भेदभाव के बिना अधिकारों और स्वतंत्रताओं के अधिकारी हैं।

दुर्भाग्यवश, सभ्यता के प्रारंभ से ही विश्व को मानव मात्र के कर्तव्य व अधिकारों की शिक्षा देनेवाला भारत वर्तमान समय में दुनिया का सबसे बड़ा धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र भारत आज भी मानवाधिकारों की दृष्टि से पिछड़ा है। गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, असमान विकास से लोग त्रस्त हैं। भारतीय समाज की लगभग आधी आबादी गरीबी और भूखा जीवन व्यतीत कर रहा है। आज भी बहुत से भारतीय अशिक्षा के अंधकार में डूबे हैं।

शोषण के दंश से समाज का एक बड़ा समूह उत्पीड़ित है अर्थात्, गरिमापूर्ण जीवन के मार्ग में अनेक बाधाएं हैं। मानवीय मूल्यों के पक्षधर सामाजिक कार्यकर्ता अक्सर उत्पीड़न, बर्बरता, अमानवीय व्यवहार और क्रूरता का प्रश्न उठाते हैं। लोगों को मानव अधिकार के प्रति सचेत करने तथा इससे संबंधित समस्याओं के समाधान के लिए क्या कुछ उपाय होने चाहिए यह राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का केंद्र बिंदु है।

हाल के वर्षों में मानवाधिकार के हनन के सबसे अधिक मामले महिलाओं से जुड़े हैं। कन्या भ्रूण हत्या, घरेलू हिंसा, यौन शोषण, शारीरिक उत्पीड़न, मानसिक प्रताड़ना और बलात्कार जैसे कृत्य आधी दुनिया के लिए 'मानवाधिकारों' की प्रतिष्ठा की जरूरत को रेखांकित करते हैं। इन सारी समस्याओं से आगे बढ़ते हुए दलितों–आदिवासियों के भू अधिकारों की समस्या और वनवासियों को जबरन उजाड़े जाने की दास्तां भी 'मानवाधिकारों' की चर्चा को आवश्यक और प्रासंगिक बनाती हैं। तमाम आदिवासी और वनवासी वर्षों से वनों और उनके आसपास के इलाकों में निवास कर रहे हैं। इनके परंपरागत मूलभूत अधिकारों और मानवाधिकारों की समुचित पहचान भी अभी तक नहीं की जा सकी है, और उन्हें लोक कल्याणकारी योजनाओं के तहत चकबंदी, सीलिंग, पट्टे, भू–अभिलेख या भूमि आबंटन का पर्याप्त लाभ नहीं मिल पाया है।

भारत 'वसुधैव कुटुम्बकम' की परम्परा में विश्वास करता है। भारतीय संविधान यह गारंटी देता है कि किसी के साथ भी अन्याय या शोषण न हो। इसलिए यहां सशक्त न्यायपालिका, अल्पसंख्यक आयोग, पिछड़ा वर्ग आयोग, आदि सरकारी संस्थाएँ मौजूद हैं, जो मानवाधिकारों के आर्थिक और सामाजिक पक्ष की प्रतिष्ठा के लिए प्रयासरत हैं। परंतु, दोषपूर्ण कार्यान्वयन से मानवाधिकार के हनन की घटनाएँ भी आम बन गई हैं। भारत में जातिभेद, अस्पृश्यता विद्यमान हैं, बाल वेश्यावृत्ति, बंधुआ मजदूरी भी है और बाल–श्रमिकों से बलात् काम कराया जा रहा है। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में जो शक्तिशाली जनों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त है। कमजोर वर्ग में मानवाधिकार के हनन के विभिन्न रूप विद्यमान हैं।

यहां यह कहना भी समीचीन होगा कि वैश्वीकरण के इस युग में, अंधाधुंध विकास की होड़ में मानवाधिकारों का हनन और भी बढ़ गया है। आज लगातार विकास के अर्थ को मानवाधिकारों के विस्तार से जोड़ा जा रहा है, तब हमें यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि आखिरकार आज विकास और मानवाधिकार–हनन दोनों का ग्राफ एक साथ ऊपर की ओर कैसे है? अब प्रत्यक्ष से अधिक परोक्ष रूप में मानवाधिकारों का हनन होने लगा है, जो मानव सभ्यता पर एक प्रश्नचिह्न है। इसलिए आज मानव विकास के लिए मानवाधिकारों का संरक्षण बेहद जरूरी हो गया है।

मानवाधिकार की समस्या से निराकरण के लिए भारत स्वतंत्रता के बाद से ही दृढ़ प्रतिज्ञ रहा है और काफी हद तक इसमें उसे सफलता भी मिली है। भारत का दृष्टिकोण हमें स्पष्ट संदेश देता है कि हम मानवाधिकारों के हनन को बरदाश्त नहीं कर सकते। भारत ने मानवीय मूल्यों–करुणा, दया, सहिष्णुता, अहिंसा, सत्य, धर्म, परोपकारिता, नारी–सम्मान, नैतिकता आदि की कसौटी पर खरी उतरकर मानवीय मूल्य के लिए

जीवन उद्देश्य, समाज उद्देश्य और राष्ट्र उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास किया है और इसमें सफलता भी प्राप्त की है।

लोकतांत्रिक ढाँचे और मूल्यों के साथ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सीधा रिश्ता है। हाल के दिनों में लोकतंत्र के नाम पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता या आरक्षण के मुद्दे पर खूब विमर्श हुआ। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए 'मानव अधिकार : नई दिशाएं' के अंक 13 के लिए मानवाधिकार के कई महत्वपूर्ण पहलुओं पर विमर्श हेतु सुधी विद्वानों से लिखने का आग्रह किया था। इस अंक में मुख्यतः छह पक्षों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। पहला, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, दूसरा, आरक्षण के आयाम, तीसरा, भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली की वर्तमान दशा एवं निदान, चौथा, विचाराधीन बंदियों को त्वरित न्याय, पांचवां, स्त्री संवेदी बजट और छठवां, मानव अधिकार शिक्षा। इनके अतिरिक्त मानव अधिकारों पर केन्द्रित कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विषय भी इस अंक में शामिल किए गए हैं।

हमें खुशी है कि इस अंक में गोर्डन क्राउफोर्ड व ब्राड ए एंडरसन की रचना 'मानव अधिकार एवं विकास सत्ता एवं राजनीति को केंद्र में रखते हुए' तथा माइकेल फ्रीमैन की रचना 'वैश्विक गरीबी, अधिकार, दायित्व एवं प्रेरणा' को अनुवाद के रूप में प्रस्तुत कर पा रहे हैं। साथ ही, मानव अधिकारों से संबंधित महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएं, कविताएं व कहानियों को भी शामिल किया गया है। मानवीय संवेदनाओं के प्रति रूचि रखने वाले बुद्धिजीवियों, लेखकों तथा अकादमिक क्षेत्र से जुड़े महानुभावों ने हमें रचनात्मक सहयोग प्रदान किया है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

आप सभी को यह अंक कैसा लगा, यह जानने की जिज्ञासा जरूर रहेगी, आपकी प्रतिक्रियाओं और सुझावों का इंतजार रहेगा।

(डॉ॰ रणजीत सिंह)

खण्ड – एक

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

मानव अधिकार के रूप में अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और दायित्व के सरोकार

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र•

चूंकि मनुष्य के व्यक्तित्व का गठन व्यक्त और अव्यक्त भागों से मिल कर बना होता है, इसलिए सिर्फ व्यक्त या अभिव्यक्त को ही हम उसका संपूर्ण अस्तित्व नहीं कह सकते। पर दुनिया में जो अभिव्यक्त अर्थात् प्रकट है, लोग उसी से सम्बन्ध रखते हैं। वे उसी के आधार पर हमारे विचार और उससे जुड़े आशय को ग्रहण करते और समझते हैं। ऐसे में अभिव्यक्ति सार्वजनिक ज्ञान का एक महत्वपूर्ण माध्यम हो जाती है। हम मौखिक और लिखित रूपों वाले विविध प्रकार के वाचिक और अवाचिक संचार माध्यमों का उपयोग करते हुए दूसरों तक अपनी बात पहुंचाते हैं। अभिव्यक्ति का संचार ही सार्वजनिक जीवन को संभव करता है। आज अभिव्यक्ति की सामर्थ्य सबसे बड़ी उपलब्धि और अभिव्यक्ति की असफलता सबसे बड़ा दंड बन गया है।

अभिव्यक्ति द्वारा हम एक दूसरे के साथ जुड़ते हैं और लक्ष्यों को पाने के लिए संयुक्त रूप से विभिन्न योजनाओं पर जुट कर कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में क्या कहा जाता है, इससे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि वह कैसे कहा जाता है। संचार में प्रतीकों की बड़ी भूमिका होती है क्योंकि हम अपनी अभिव्यक्ति प्रतीक या कोड के ही माध्यम से करते हैं। अभिव्यक्ति के कुछ तरीके और सन्देश जहां सहज स्वीकार्य होते हैं, वहीं कुछ अन्य अग्राह्य हो जाते हैं। इस तरह अभिव्यक्ति के खतरे भी हैं क्योंकि वह किसी को आघात पहुंचा सकती है और तब उसका लक्ष्य व्यक्ति या समुदाय का विरोध और प्रतिरोध करता है। तब अभिव्यक्ति हिंसात्मक रूप भी ले लेती है। दूसरी और संस्कृति का सृजनात्मक पक्ष अभिव्यक्ति केन्द्रित होता है। सभी समाजों में विभिन्न माध्यमों से अभिव्यक्ति के वैविध्य का स्वागत किया जाता है। उत्कृष्ट अभिव्यक्ति से व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिलती है। मानवीय सर्जना के क्षेत्र में अभिव्यक्ति का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। नृत्य, वाद्य, संगीत, चित्र कला, फिल्म और साहित्य के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है।

• कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

ऊपर के विवरण से यह अनुमान लगाना ठीक नहीं होगा कि अभिव्यक्ति केवल संस्कृति के सृजनात्मक पक्ष के लिए ही महत्वपूर्ण है। जैसा कि हम सब अनुभव करते हैं कि सामान्य जीवन के कार्य कलापों में भी अभिव्यक्ति का अवसर व्यक्ति को शक्ति का अहसास कराता है और अभिव्यक्ति से वंचित होना बड़ा कष्टदायक अनुभव हो जाता है। अभिव्यक्ति न हो तो जीना दूभर हो जाता है। विभिन्न देशों के स्वतंत्रता संग्रामों का इतिहास पढ़ने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिवेश बनाए रखने में अभिव्यक्ति का अवसर न देना शासकों द्वारा प्रयुक्त नियंत्रण का बड़ा ही जबरदस्त उपकरण रहा है। जेल की संस्था अभिव्यक्ति पर रोक लगाने के लिए भी थी। अंग्रेजों के जमाने में 'काला पानी' (अंडमान निकोबार में) की सजा भी इसी प्रकार की थी। मन की बात मन में ही रह जाना बड़ी पीड़ा देता है। इस तरह की घुटन से समाज का मनोबल गिरता है। अतः मानव जीवन में अभिव्यक्ति की आवश्यकता को देखते हुए उसे मूलभूत आवश्यकता का दर्जा देना स्वाभाविक है। अभिव्यक्ति के अभाव में प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रजातंत्र की आत्मा सरीखी होती है। ऐसी अपेक्षा होती है कि संसद और विधानसभा जैसी इसकी संस्थाओं में पक्ष और विपक्ष दोनों ही अभिव्यक्ति को आदर दें। अभिव्यक्ति से संवाद संभव होता है और सबको एक दूसरे के विचारों का पता चलता है और निर्णय का रास्ता निकलता है।

राजशाही समाप्त होने और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा के साथ–साथ अब अभिव्यक्ति को सारे विश्व में महत्त्व दिया जा रहा है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का व्यापक महत्त्व देखते हुए उसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नीति के रूप में स्थान दिया जा रहा है। 'मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र' (1948) में उसके उद्देश्यों में यह आशा व्यक्त की गई थी कि मानव अधिकारों की स्थापना के साथ 'सभी मनुष्य अभिव्यक्ति एवं आस्था की स्वतंत्रता का उपभोग करेंगे तथा भय एवं अभाव से मुक्त होंगे'। इन मानवाधिकारों में जिन नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है उनमें भी यह कहा गया कि 'प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतंत्रता तथा अपने शरीर की सुरक्षा का अधिकार है' (अनुच्छेद–3), 'प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश में आने जाने एवं बसने का अधिकार है तथा दूसरे देश में जाने और अपने देश में लौटने या अत्याचार से बचने के लिए दूसरे देश में शरण पाने का भी अधिकार है' (अनुच्छेद–13–14) तथा 'प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अंतःकरण तथा धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार है' (अनुच्छेद–18)। राजनैतिक अधिकारों में स्पष्टतः कहा गया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को कोई मत रखने और उसे अभिव्यक्त करने का अधिकार है' (अनुच्छेद–19) तथा 'प्रत्येक व्यक्ति को शांतिपूर्ण सम्मलेन करने या किसी संघ में शामिल होने का अधिकार है' (अनुच्छेद–20)। इस प्रकार आधुनिक युग में मानव

अधिकारों के इस मूल दस्तावेज में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

इसी तरह सामाजिक अधिकार के अंतर्गत यह कहा गया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में निर्बाध रूप से भाग लेने, कलाओं का आनंद उठाने तथा वैज्ञानिक प्रगति और उसके लाभों में हिस्सेदारी का अधिकार है। (अनुच्छेद–27)

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा 16 दिसंबर 1966 को पारित तथा 23 मार्च 1976 से प्रभावी 'नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा' में भी निम्नांकित प्रावधान किए गए हैं:

'प्रत्येक व्यक्ति को मत रखने की और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होगी मगर दूसरों के अधिकारों या प्रतिष्ठा के प्रति सम्मान के लिए अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा या सार्वजनिक शान्ति या सार्वजनिक स्वास्थ्य या नैतिक नियमों की हिफाजत के लिए कानून द्वारा मर्यादाएं लगाई जा सकती हैं' (अनुच्छेद –19)।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 के अनुसार अभिव्यक्ति नागरिक का मौलिक अधिकार है। इसके अंतर्गत सभी नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त है। उन्हें शान्तिपूर्वक बिना हथियार के एकत्र होने, यूनियन और परिषद् बनाने, पूरे भारत में भ्रमण करने, भारत के किसी भाग में रहने और बसने, इच्छानुकूल कोई व्यवसाय अपनाने और व्यापार करने की छूट प्राप्त है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता यदि निरपेक्ष जो जाए तब देश की सत्ता के लिए भी संकट पैदा हो सकता है। अतः संसद द्वारा पारित और अंगीकृत संविधान में सोलहवें संशोधन लाते हुए वर्ष 1963 में अनुच्छेद 19 में यह परिवर्तन लाया गया कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह राष्ट्र की प्रभुसत्ता और एकता के हित में भाषण, अभिव्यक्ति, सम्मेलन आदि की स्वतंत्रता के मूल अधिकारों पर विधि द्वारा प्रयुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस तरह अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य की कुछ सीमाएं भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की गईं। वर्णित सीमाओं में यह उल्लेख है कि अभियक्ति की स्वतंत्रता से भारत की संप्रभुता, एकता, सुरक्षा, मैत्री–सम्बन्ध, जन–व्यवस्था तथा नैतिकता आदि को किसी तरह का खतरा नहीं होना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का अलग से वर्णन नहीं किया गया है। वह ऊपर वर्णित अधिकार में ही समाहित है। प्रेस प्रजातंत्र की मशीनरी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। यह स्वतः स्पष्ट है कि समाज में विचारों का आदान–प्रदान, सूचना का वितरण, तथा सार्वजनिक महत्त्व के मुद्दों पर चर्चा तभी संभव हो सकेगी जब समाचार पत्रों को स्वतंत्रता प्राप्त हो। कठिन परिस्थितियों में जब राज्य

की सुरक्षा तथा स्थिरता को खतरा पैदा हो तब उसे ध्यान में रख कर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। पर प्रजातांत्रिक सामाजिक परिवेश में सार्वजनिक शिष्टाचार को ध्यान में रखते हुए अखबारों को सभी प्रकार के विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। चाहे वे सरकारी नीति के पक्ष में हों या विपक्ष में।

ध्यातव्य है कि 1990 के उदारीकरण के बाद देश में निजी मीडिया का तेजी से प्रसार हुआ है और संचार के क्षेत्र में स्वतंत्रता बढ़ी है। तहलका, एनडीटीवी ने तमाम मामलों का पर्दाफाश किया है। प्रेस और मीडिया को स्वायत्तता देना प्रसार भारती का प्रमुख लक्ष्य है। एकपक्षीय या गलत सूचना देना जनतंत्र के विरुद्ध है।

इतिहास में झांकें तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर नियंत्रण की छाया गहराने के कई अवसर उपस्थित हुए हैं। धारा 352 के अंतर्गत इंदिरा जी के शासन में 1975 में भारत में आपात काल लगा था। तब प्रेस की स्वतंत्रता छीन ली गई थी। एम. एफ. हुसैन की कलाकृतियों और वेंडी डेनिगर की पुस्तक को ले कर हिन्दू देवी देवताओं के वर्णन को लेकर आपत्ति की गई और प्रकाशक ने पुस्तक का पूरा संस्करण ही नष्ट कर दिया गया। प्रसिद्ध लेखक सलमान रश्दी की 'सैटेनिक वर्सेज' पर भी पाबंदी लगी थी। बांग्लादेश की लेखिका तसलीमा नसरीन की पुस्तकों को ले कर भी आपत्ति हुई और वह देशनिर्वासन का दंश झेल रही हैं। वेश–भूषा को लेकर तमाम देशों में कायदे कानून बने हैं और उनका पालन न करने पर दंड दिया जाता है। अभिव्यक्ति पर से पहरा हटा नहीं है, बल्कि अभी भी लगा हुआ है।

भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति वाणी, मुद्रण, लेखनी, चित्र या दूसरे किसी तरीके से अपने विश्वासों, भावनाओं और विचारों को व्यक्त कर सकता है। इस तरह अभिव्यक्ति–स्वातंत्र्य के अंतर्गत व्यक्ति को अपने विचारों का प्रचार, प्रकाशन और संचालन करने के लिए स्वतंत्रता मिली हुई है। कहना न होगा कि इसके अंतर्गत समाचार–पत्रों की स्वतंत्रता भी शामिल है। स्मरणीय है कि संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क) ने सभी नागरिकों को वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का जो मूल अधिकार उपलब्ध कराया है, उसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसे मर्यादा में रखने के लिए कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। अतः अपमान–लेख, अपमान–वचन, मानहानि तथा न्यायालय अवमानना, शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले या राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने वाले मुद्दों आदि से जुड़ी अभिव्यक्ति पर 1951 के संविधान–संशोधन के फलस्वरूप प्रतिबन्ध लगाए गए। इसमें राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक सुरक्षा तथा अपराध निरोध को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया था।

अतः स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति कैसे और किस रूप में हो, इसके लिए समाज में कुछ नियम बनाए जाते हैं और उन्हें स्वीकार कर लागू भी किया जाता है। इन नियमों की स्वीकृति और उपयोग को राजनैतिक और सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा सकता है। पर ये नियम भी सृजनात्मकता की षक्ति के आगे हेठे पड़ जाते हैं। संस्कृति अभिव्यक्त रूप में ही प्रमाणित होती है। मानवीय अभिव्यक्ति ने अब तक कई रूप धरे हैं। वह क्रमशः मौखिक, लिखित, मुद्रित और अब साइबर युग में डिजिटल रूप में उपस्थित हो रही है। उसकी व्यापकता ने अप्रत्याशित रूप से तीव्र गति पकड़ी है। इस बदलते परिप्रेक्ष्य में साइबर अपराध भी हो रहे हैं जो मूलतः अभिव्यक्ति की होड़ और ग्राहक के मन पर अधिकार जमाने को ध्यान में रख कर होते है। विकीलीक्स तथा पनामा लीक जैसी घटनायें अभिव्यक्ति के अन्य आयाम को ही व्यक्त करते हैं।

उल्लेखनीय है कि समाज में अभिव्यक्ति का अवसर सबको समान रूप से नहीं मिल पाता है। चूंकि सामाजिक जीवन में अपनी महत्ता के कारण अभिव्यक्ति बड़ा ही मूल्यवान संसाधन है, अतः वर्चस्व संपन्न लोग इसके अवसर पर नियंत्रण लगाए रहते हैं और विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोगों को इसका अवसर भिन्न–भिन्न मात्रा में ही मिल पाता है। प्रतिष्ठा, शक्ति और राजनैतिक सत्ता ही नियामक आधार बनते हैं। फलतः जो प्रभुता से युक्त होते हैं, वे इस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और जो शासित होते हैं, वे इससे वंचित रह जाते हैं। अधिकांश देशों में राजतंत्र के दौरान जनता पर नियंत्रण करने के लिए निरंकुश राजा अभिव्यक्ति का दमन एक शस्त्र के रूप में प्रयोग करते थे। भारतीय इतिहास इसका साक्षी है कि अंग्रेजों के शासन काल में भारतीयों को अभिव्यक्ति के सीमित अवसर मिलते थे। इस प्रकार के दमन का विरोध करने पर सजा मिलती थी। महात्मा गांधी का सत्याग्रह, प्रसिद्ध दांडी मार्च, असहयोग आन्दोलन, उनके द्वारा अखबारों का प्रकाशन एक व्यापक अर्थ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ही व्यक्त करते हैं। वे अंग्रेजी शासन में हो रहे विभिन्न प्रकार के अत्याचारों के प्रतिकार को प्रकट करते हैं।

अब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनुष्य के अधिकार के रूप में ग्रहण की जाती है। स्वतन्त्र भारत में इसे संविधान में मूल अधिकार में परिगणित किया गया और यह बिना किसी भेदभाव के सबको उपलब्ध कराया गया। बोलने, लिखने, घूमने, अपना विचार रखने, छापने की स्वतंत्रता सबके लिए मुहैया कराई गई। सार्वजनिक स्थानों पर अपनी बात कहने की छूट दी गई। अखबारों को मत प्रकाशित करने और संवाद को आगे बढ़ाने की व्यवस्था की गई। संचार के विभिन्न माध्यम हमें अभिव्यक्ति का अवसर देते हैं। आज भारत में लगभग सभी भाषाओं में अखबार प्रकाशित हो रहे पत्रिकाओं व

पुस्तकों का भी प्रकाशन बड़ी तेजी से बढ़ा है। यह सब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ही व्यंजित करता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि समाज के हाशिए के लोग, महिलायें तथा पिछड़े वर्गों के लोगों को भी यह अधिकार सम्मान रूप में प्राप्त है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा प्रमुख माध्यम है पर अंग्रेजी भाषा न्याय, स्वास्थ्य शिक्षा, तकनीकी आदि से जुड़े तमाम क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही है और अधिसंख्य जनता द्वारा प्रयुक्त भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान नहीं मिल सका है। अंग्रेजी की क्षमता के अभाव में अभिव्यक्ति का संकट पैदा होता है और इस मूल अधिकार का हनन होता है।

स्मरणीय है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अनेक लोगों द्वारा दुरुपयोग भी किया जाता है। कई लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए विरोध करने के क्रम में अनेक आरोप लगाए जाते हैं जो निराधार भी होते हैं और कई बार लोग उनके विरुद्ध मानहानि का दावा भी करते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ हमारे ऊपर जिम्मेदारी भी आ जाती है कि वह प्रामाणिक और हानिरहित हो। आजकल अपने स्वार्थ के लिए गलत सूचना देना और विवाद पैदा करने की घटनाएं भी सुनने में आती हैं। अब संचार साधनों की बहुतायत के साथ अभिव्यक्ति के सामने नए प्रश्न खड़े हो रहे हैं। अखबार हमारे आंख–कान बन रहे हैं पर प्रायोजित समाचार और 'पेड न्यूज' भी छाप दी जा रही है। जहां ट्विटर, ब्लॉग और फेसबुक जैसे सोशल मीडिया के माध्यमों से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के व्यापक होने का अवसर उपस्थित होता है। वहीं उनका दुरुपयोग जीवन में कठिनाइयां भी पैदा करता है। कभी–कभी निहित स्वार्थ वालों के लिए यह दुराग्रह का अभियान बन जाता है। किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति पूरी तरह निरपेक्ष नहीं हो सकती। अतः एक नागरिक के रूप में हमारा दायित्व बनता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा तो की जाए पर उसका प्रयोजन जनहित में ही होना चाहिए। इसके लिए अभिव्यक्ति की मर्यादा भी स्वीकार करनी चाहिए।

❖❖❖❖❖

देहरी पर दीपक

(अभिव्यक्ति की स्वतंत्रताः भारतीय संस्कृति और परंपरा)

प्रो॰ माधव हाड़ा•

अभिव्यक्ति मनुष्य अस्तित्व की नैसर्गिक जरूरत है। मनुष्य अस्तित्व की संभावनाओं के पल्लवन और संपूर्ण विकास के लिए अभिव्यक्ति की निर्बाध और अकुंठ आजादी बहुत जरूरी है। अभिव्यक्ति पर रोक–टोक और स्थगन मायनों में मनुष्यता पर रोक–टोक और उसका स्थगन भी है। यह विडंबना ही है कि नैसर्गिक जरूरत होने के बावजूद अभिव्यक्ति की आजादी मनुष्य का सहज सुलभ अधिकार नहीं है। इसे पाने और सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य निरंतर संघर्षरत रहा है। उसकी इस संघर्ष यात्रा में कई उतार–चढ़ाव और मोड़–पड़ाव हैं। संचार के साधनों के अभाव में विश्व समाज कई सांस्कृतिक इकाइयों में विभाजित था, इसलिए अलग–अलग समाजों में उनकी जरूरतों के तहत अलग–अलग अभिव्यक्ति की संस्कृति विकसित हुई। भारतीय समाज आरंभ से ही वैविध्यपूर्ण है, यहां सदियों से कई समूह अपनी भिन्न संस्कृतियों के साथ एक–दूसरे के साथ रह रहे हैं, उन्होंने एक दूसरे को निरंतर दिया–लिया भी है, इसलिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर इस समाज का नजरिया विश्व के दूसरे समाजों से अलग है। यहां भी अभिव्यक्ति की पूर्ण और निर्बाध स्वतंत्रता को लेकर कई तरह की उठापटक, ऊहापोह और अंतर्बाधाएं हैं, लेकिन यह समाज कुछ हद तक इसका सम्मान भी करता है। विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के सदियों के सहजीवन के अभ्यास और संस्कार से यहां अभिव्यक्ति की ऐसी संस्कृति विकसित हुई है, जिसमें एक–दूसरे की भिन्नता की स्वीकृति, असहमति का सम्मान और असहमति को एक स्वतंत्र विचार और मत में ढलने और विकसित होने की स्वतंत्रता है। अभिव्यक्ति की यह निरंतर स्वतंत्रता और वैविध्य यहां इसलिए है, क्योंकि इस समाज के जीवन और व्यवहार में कुछ हद तक तर्क और युक्ति के लिए जगह हमेशा रही है।

यहां अभिव्यक्ति की निर्बाध, व्यापक और अकुंठ स्वतंत्रता है, यह कहना भी एक तरह का सरलीकरण होगा। यहां भी भिन्न संस्कृति समूहों में एक–दूसरे के आस्था, विश्वासों और पूजा पद्धतियों की अभिव्यक्तियों में ऊंच–नीच का आग्रह है, इनको लेकर

• हिन्दी विभाग, मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

उद्धत और गर्वोक्तिपूर्ण फतवेबाजियां हैं, लेकिन यह इस समाज का सदैव और संपूर्ण स्वभाव नहीं है। सदियों के सहजीवन से इस समाज का स्वभाव ऐसा बन गया है कि इस तरह की फतवेबाजियां और घटनाएं कुछ समय के लिए इसकी सतह पर हावी दिखती हैं, लेकिन कुछ ही समय बाद इन सबको धो–पोंछकर यह समाज अपने बुनियादी स्वभाव पर लौट आता है।

सदियों के सहजीवन के अभ्यास और संस्कार के कारण भारतीय समाज के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में एक–दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति और सम्मान भाव है, इसलिए ये एक–दूसरे को अभिव्यक्ति की छूट देते हैं और इस कारण यहां अभिव्यक्तियां प्रायः बहुवचन हैं। भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि कई सांस्कृतिक–धार्मिक समूह हैं। इनमें से कुछ यहीं बने–बिगड़े और कुछ बाहर से आए, लेकिन मामूली प्रतिरोध–संघर्ष के बाद उन्होंने एक–दूसरे के साथ रहना सीख लिया। इनके साथ रहने का सबसे बड़ा आधार एक–दूसरे की विद्यमानता की स्वीकृति है। यह इस तरह का स्वीकार भाव है कि आप हम जैसे नहीं हैं और हम आप जैसे नहीं हैं। एक–दूसरे की विद्यमानता का यह स्वीकृति भाव यहां के दर्शन और साहित्य सहित सभी कला रूपों के वैविध्यपूर्ण विकास में फलीभूत हुआ है। ऐसा यहां बहुत पहले से है। आर्य और आर्यपूर्व लोगों के बीच संघर्श हुआ, लेकिन बाद में उनमें सहअस्तित्व का भाव आ गया। उनकी अलग–अलग जीवन और पूजा पद्धतियां कई सदियों तक जारी रहीं। आगे चलकर तो आर्यों ने आर्यपूर्व देवी–देवताओं को अपना लिया और आर्यपूर्व लोगों ने वैदिक देवताओं को मानना शुरू कर दिया। वेदों की अभिव्यक्तियां भी एकरूप नहीं हैं–ये कई लोगों की अलग–अलग धारणाओं और विष्वासों की अभिव्यक्तियां हैं। उपनिषदकाल में अभिव्यक्ति का यह बहुवचन सही मायने में चरितार्थ हुआ। उपनिषदों में व्यक्त विचार वैविध्यपूर्ण हैं। एक ही उपनिषद के अलग–अलग अध्यायों में अलग–अलग लोगों के विचार हैं। कहीं–कहीं तो ये विचार परस्पर विरोधी हैं। उपनिषदों में धर्म, सृष्टि और अंतिम वस्तुतत्त्व पर विचार किया गया है, लेकिन यहां प्रश्नों के उत्तर समान नहीं है। कुछ मानते हैं कि सत की उत्पत्ति असत से हुई, जबकि कुछ इससे असहमत हैं। इसी तरह कुछ द्वैतवादी हैं, तो कुछ उनसे अलग अद्वैतवादी हैं। कुछ पारलौकिक अस्तित्व में विश्वास करते हैं, जबकि कुछ इस तरह की किसी सत्ता के अस्तित्व को ही खारिज करते हैं।

भारतीय दर्शनों का विकास भी इस तरह से हुआ कि इसमें विचारों के वैविध्य की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। ईसा पूर्व सातवीं और दूसरी सदी के बीच भारत में लोकायत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदांत, जैन, बौद्ध धर्म आदि कई

दार्शनिक विचारधाराएं अस्तित्व में आईं। ये आदर्शवादी, भौतिकवादी, नास्तिक, आस्तिक आदि सभी तरह की दर्शन प्रणालियां हैं। पंद्रहवी सदी में हुए मधवाचार्य का अपना एक दार्शनिक मत है, लेकिन उन्होंने अपने ग्रंथ सर्वदर्शन संग्रह में चालीस विभिन्न प्रकार के दार्शनिक मत–मतांतरों को बिना किसी भेदभाव के शामिल किया। खास बात यह है कि बहुत स्पष्ट और मुखर असहमति के बावजूद इसमें अनीश्वरवादी लोकायत या चार्वाक दर्शन को भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

शैवों, शाक्तों और वैष्णवों के आराध्यों, पूजा पद्धतियों और धारणाओं की अभिव्यक्तियां अलग थीं। इनका जो साहित्य लिखा गया, वो भी एकरूप नहीं है। इनमें भी वर्चस्व के लिए संघर्ष हुए, लेकिन धीरे–धीरे ये एक–दूसरे के अभ्यस्त हो गए। धीरे–धीरे लोक में आकर ये एक–दूसरे के पास भी आ गए और अंततः एक दूसरे में घुलमिल गए। इनमें भेद केवल इनके शास्त्रों तक सीमित रह गया। शैव, शाक्त और वैष्णव हिंदू समाज के भीतर थे, उनमें पारस्परिक विरोध था, लेकिन बौद्ध और जैन समूह तो पारंपरिक हिंदू समूह और उसके विश्वासों के विरुद्ध और उससे अलग थे। अमर्त्य सेन ने बौद्ध और जैन धर्म को हिंदू धर्म के विरुद्ध विद्रोह कहा है। इन दोनों के दर्शन, साहित्य और कलारूप अलग–अलग तरह से विकसित हुए। खास बात यह है कि इनमें एक–दूसरे की आलोचना या एक–दूसरे पर सतही टीका–टिप्पणी लगभग नहीं है। इनमें खंडन–मंडन भी है तो यह अक्सर गूढ़ दार्शनिक मीमांसा के रूप में है और इसकी भाषा बहुत संयत और शालीन है। वृहद् भारतीय समाज में जैन और बौद्ध धर्मों को स्वीकृति भी प्राप्त हुई और बहुसंख्यक समाज से अलग और कुछ हद तक उसके विरूद्ध होने के बावजूद इनको अभिव्यक्ति की पूरी छूट भी मिली। जैन और बौद्ध धर्मों ने हिंदू प्रतीकों, चरित्रों, पूजा पद्धतियों और कथाओं का अपने साहित्य में अपनी धारणाओं के अनुसार रूपांतरण भी किया, लेकिन इसे लेकर कहीं कोई संगठित नाराजगी और प्रतिरोध नहीं हुआ। बाहर से आने वाले समूहों–पारसी, ईसाई, मुस्लिम आदि की मौजूदगी भी यहां बहुत पुरानी है। इनकी मौजूदगी की स्वीकृति आसान नहीं थी–खास तौर पर मुस्लिम समुदाय की स्वीकृति में प्रतिरोध और संघर्ष की अनदेखी करना गलत होगा, लेकिन यह भी सही है, जिस तरह इसे प्रचारित किया गया है, यह वैसा नहीं है। यह जरूर है इसकी स्वीकृति में समय लगा। आजादी से तत्काल पहले और इसके बाद में हुए दंगों के दौरान कुछ क्षेत्रों में इसमें तात्कालिक विचलन भी देखने को मिले, लेकिन समय और स्थान के विस्तृत दायरे में देखने पर लगता है कि इस स्वीकृति की सांस्कृतिक जड़ें भी बहुत गहरी हैं और दोनों समुदायों ने एक–दूसरे के साथ रहने की अपनी की नियति को स्वीकार कर लिया है। दोनों अपने सांस्कृतिक अस्तित्व की धारणाओं और विश्वासों

को स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करते हैं और इन्हें लेकर कोई प्रतिरोध या पाबंदी नहीं है। सिक्ख धर्म ने अलग रूप लिया, उस पर इस्लाम का प्रभाव भी हुआ, लेकिन उसके अस्तित्व को लेकर कोई प्रतिरोध नहीं हुआ। इसके अपनी तरह के विचार और साहित्य को भी स्वीकृति मिली।

भारतीय बहुवचन अभिव्यक्ति संस्कृति को लोक या सामाजिक स्वीकृति के साथ समय–समय पर सांस्थानिक और शासकीय स्वीकृति भी मिली। ज्ञात इतिहास में इस तरह की शासकीय स्वीकृति का पहला उदाहरण अशोक का है। अशोक स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित था, लेकिन अन्य धर्मों की धारणाओं और विश्वासों के लिए उसके मन में गहरा सम्मान था। उसका विचार था कि जो व्यक्ति अपने संप्रदाय के प्रति लगाव के कारण अन्य लोगों के मतों का अपमान करता है, वह अपने इस व्यवहार द्वारा अंततः अपने ही संप्रदाय का अहित करता है। मध्यकाल में अकबर ने भी इस बहुवचन अभिव्यक्ति संस्कृति को शासकीय समर्थन प्रदान किया। उसने विभिन्न धार्मिक–सांस्कृतिक समुदायों के सम्मेलन आयोजित कर विभिन्न विचारों और विश्वासों की विद्यमानता को स्वीकृति और सम्मान दिया। यही नहीं, उसने इनमें संवाद और अंर्तक्रिया को भी प्रोत्साहित किया। आजादी का आंदोलन अपने चरित्र में ही बहुलतावादी था, भारतीय सामाजिक बुनावट के अनुसार इसमें कई सांस्कृतिक और राजनीतिक समूह सक्रिय थे, इसलिए आजादी के बाद भारतीय संविधान ने अभिव्यक्ति की बहुवचन संस्कृति में दृढ़तापूर्वक अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की। संवैधानिक प्रावधानों में भारत में कई समुदायों और उनके कई विश्वासों और विचारों की विद्यमानता को स्वीकृति और इन्हें अपने को व्यक्त करने की छूट दी गई।

अभिव्यक्ति की खास भारतीय संस्कृति का विकास इस तरह से हुआ है कि इसमें असहमति के विचार और तर्क को पर्याप्त महत्त्व और जगह दी गई है। यहां उसकी उपेक्षा, अवहेलना और अनदेखी नहीं है। वाद, विवाद और संवाद तथा खंडन–मंडन की परंपरा यहां बहुत आरंभ से ही रही है। आरंभिक आर्य विचारकों ने विचार के किसी भी रूप को अंतिम या शाश्वत कभी नहीं माना। खास बात यह है कि कोई धारणा या विचार यहां कभी प्रश्न और जिज्ञासा से ऊपर नहीं रहा। ऋग्वेद में ऐसे कई सूक्त हैं, जो देवताओं के अस्तित्व पर संदेह व्यक्त करते हैं। एक सूक्त में ऋषि कहता है– "लोग कहते हैं इंद्र नहीं है, किसने उसे देखा है?" एक अन्य सूक्त में कहा गया है– "इंद्र कौन है? उसे किसने देखा है? एक–दूसरे से वे कहते हैं– इंद्र नहीं है तो हम किसकी पूजा करें?" उपनिषदों में जिस विचार का खंडन किया गया है या जिससे असहमति है, उस विचार या तर्क को विस्तार और पूर्णता में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय दार्शनिक

विचारधाराओं में असहमति को बहुत महत्त्व दिया गया है। दर्शनों में विवेचन और मीमांसा की जो पद्धति विकसित हुई, उसमें विरोधी या विपक्षी मत के लिए स्थान पहले से निर्धारित है। तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने भारतीय दर्शन की विवेचन पद्धति की इस खास विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि "इस पद्धति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, विपक्षी के सिद्धांतों को स्पष्ट करने के बाद अपने सिद्धांत का समर्थन करना। प्राचीन भारतीय पंडितों की यही धारणा थी कि अनेकों प्रतिकूल तथा अनुकूल मतों के परामर्श के बिना स्व सिद्धांत सिद्ध ही नहीं होता। 'ईश्वर नहीं है', 'वेद प्रमाण नहीं है' आदि नास्तिकपक्षीय विचारों को स्पष्ट करने के उपरांत ही 'ईश्वर है', 'वेद प्रमाण है' आदि आस्तिकपक्षीय सिद्धांतों का प्रणयन प्राचीन भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने किया। वे जानते थे कि वैचारिक विरोध ही विचार वृद्धि की प्रवर्तक शक्ति है। नास्तिक को पथ का दावेदार समझ कर उसे नष्ट करने का प्रयत्न वे नहीं करते बल्कि उसे खेल का साथी समझ कर वैचारिक क्रीड़ांगन में सम्मिलित कर लेते हैं। विद्या के विषय में इनकी बौद्धिक संस्कृति का यही प्रण था।" आस्तिक और नास्तिक भारतीय दर्शन प्रणालियों ने इसीलिए अपने प्रतिपादन में एक–दूसरे की स्थापनाओं और धारणाओं का विस्तार से वर्णन किया है। अनीश्वरवादियों और चार्वाकों या लोकायतों की स्थापनाओं से संबंधित ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं लेकिन खास बात यह है कि जनसाधारण में उस समय लोकप्रिय इन विचारकों की धारणाएं उनके विरोधी अध्यात्मवादी और आदर्शवादी विचारकों के ग्रंथों में विस्तार से विद्यमान है। बौद्ध ग्रंथ दिव्यदान में लोकायत की टीका और प्रवचन मौजूद है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में अनवीक्षकी शास्त्र, जिसमें लोकायत भी आता है, के सकारात्मक पक्ष की सराहना करते हुए लिखा है कि "इन विज्ञानों के प्रकाश में देखने पर अनवीक्षकी शास्त्र इस संसार के लिए सर्वाधिक लाभप्रद है, वह दुःख और सुख दोनों में मस्तिष्क को स्थिर रखता है और दूरदृष्टि, वाणी तथा क्रिया–कलाप को श्रेष्ठता प्रदान करता है।"

रामायण और महाभारत में भी असहमति और निरस्त तर्क को सर्वथा खारिज नहीं किया गया है। इनमें ऐसे कई प्रकरण और घटनाएं हैं। रामायण में जाबालि के विचार पारंपरिक और उस समय मान्य अध्यात्मवादी या आदर्शवादी विचारों से अलग भौतिकवादी हैं। महाभारत में भी कृष्ण का पक्ष विजेता का पक्ष है, लेकिन इसमें अर्जुन के पक्ष को भी पूरे ब्यौरे के साथ रखा गया है। खास बात यह है कि अर्जुन का पक्ष खारिज या पराजित पक्ष है, लेकिन यह कई बार विजेता के पक्ष पर भारी पड़ता है। यहां पराजित पक्ष की धारणाओं की युक्तियुक्त प्रस्तुति है। बौद्ध और जैन दर्शन और साहित्य में भी हिंदू धार्मिक मान्यताओं का खंडन है, लेकिन यहां भी पद्धति विपक्ष को पूरा अवसर देने

की है। बौद्ध धर्म में दीक्षित अशोक के शिलालेखों में ब्राह्मणों का उल्लेख सम्मानपूर्वक है। इनमें कर्मकांड की निंदा लेकिन ब्राह्मणत्व की सराहना की गई है। जैन ग्रंथ सूत्र कृतांग में जैन दार्शनिक धारणाओं का प्रतिपादन है, लेकिन इसके लिए यहां वेदांती विचार को यथोचित जगह दी गई है। महाभारत के शांतिपर्व में अनीश्वरवादी और भौतिकवादी सिद्धांतों–स्वभाववाद, यदृच्छावाद, परिणामवाद आदि के स्वीकार्य नहीं होने के बावजूद सम्मानपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। खंडन–मंडन की यह परंपरा आगे भी निरंतर है। शंकराचार्य आदि कई आचार्यों ने बौद्ध और जैन धर्मों का विरोध किया, लेकिन इस विरोध की भाषा बहुत संयत थी। शंकराचार्य की स्थापनाएं तर्क और युक्ति पर आधारित थीं और उनको व्यापक प्रचार–प्रसार और स्वीकार्यता भी मिली, लेकिन विरोध उनका भी हुआ और उसे व्यापक स्वीकृति मिली। वैष्णव, भागवत, पंचरात्र, शैव आदि कई संप्रदाय शंकराचार्य के विरोध में खड़े हुए। राष्ट्रीय आंदोलन का चरित्र हमारे सामाजिक ताने–बाने के अनुरुप बहुलतावादी था। इसमें सक्रिय नेता एक–दूसरे से असहमत थे। नवजागरण के अग्रदूतों में राजाराममोहन राय, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, नारायण गुरु, महादेव गोविंद रानाडे, एने बिसेंट के विचार अलग थे। इनमें कोई एक दूसरे से सहमत नहीं था। दयानंद के विचार जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में 'प्रतिरोधात्मक गतिरोध से पीड़ित हिन्दू धर्म को एक आक्रामक, प्रचारात्मक (मिशनरी) धर्म बनाने' के प्रयत्न से प्रेरित थे। राजा राममोहन राय हिन्दू धर्म के रीति–रिवाजों और कर्मकांड के ईसाई धर्म के समर्थन की हद तक आलोचक थे। विवेकानंद सहित कई अन्य का आग्रह हिन्दू धर्म और दर्शन के विलुप्त गौरव के पुनरुत्थान पर था। महात्मा गांधी राष्ट्रवाद के मुद्दे पर रवींद्रनाथ टैगोर से असहमत थे। नेहरू और गांधी की पारस्परिक असहमतियों पर बहुत विचार हुआ है। खास बात यह है कि दोनों आजादी बाद भी अपने विचारों पर कायम थे और खुलकर अपनी असहमतियों को व्यक्त भी करते थे।

अभिव्यक्ति की भारतीय संस्कृति असहमति को केवल जगह ही नहीं, उसको पृथक और स्वतंत्र विचार के रूप में पल्लवित होने का अवसर भी देती है। यह संस्कृति इस अर्थ में खास है कि इसमें असहमति अक्सर अलग विचार या मत के रूप में पल्लवित हुई है। इसने जन–साधारण के विश्वास और धारणा को गहराई तक प्रभावित किया है। जैन और बौद्ध धर्मों का विकास वैदिक धर्म से असहमतियों के आधार पर ही हुआ। कालांतर में बौद्ध धर्म का पल्लवन और विस्तार तो इस तरह हुआ कि यह भारत के बाहर विश्व की बड़ी जनसंख्या का धर्म बन गया। जैन धर्म की भी इसी तरह भारत के बड़े भू–भाग की प्रभावशाली जातियों में स्वीकार्यता हुई। शंकराचार्य के अद्वैतवादी

एकेश्वर और माया के सिद्धांत को आदर्शवादी हिंदू दार्शनिकों ने ही विरोध किया। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य की उनसे असहमति नए दार्शनिक मत–मंतारों में फलीभूत हुई और इस आधार पर विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद जैसी नई दार्शनिक प्रणालियां अस्तित्व में आईं। खास बात यह है कि देशव्यापी भक्ति आंदोलन में शंकराचार्य से अधिक प्रभाव विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद का पड़ा। मध्यकाल में भी असहमति ने कई नए संप्रदायों, धर्मों और विचारों को जन्म दिया। वज्रयान से सिद्धों, सिद्धों से नाथों और नाथों से संतों की छोटी–छोटी असहमतियों से भक्ति आंदोलन के कई रूप बने–बिगड़े। कृष्ण भक्ति के भक्ति विधानों संबंधी परस्पर असहमतियों ने कृष्ण भक्ति के कई संप्रदायों को जन्म दिया और उनमें अलग–अलग विश्वासों वाले कई भक्त और कवि हुए।

तर्क और युक्ति का आग्रह यहां के लोगों के सोचने–समझने के ढंग में आदत की तरह शामिल है, इसलिए यह उनके दर्शन, विचार, साहित्य और कलारूपों में भी मौजूद है। परंपरा और आस्था–विश्वास का आग्रह यहां के लोगों की सोच और समझ में भी है, लेकिन तर्क और युक्ति पर जोर देने की उनकी आदत के कारण परंपरा यहां पुनर्ववा होती रहती है और आस्था–विश्वास कभी अंतिम और सनातन नहीं बन पाते। विश्व के कई और समाजों में आस्था–विश्वास अंतिम और सनातन हैं, लेकिन भारतीय समाज में ऐसा नहीं है। तर्क और युक्ति से आस्था विश्वासों का पुनरावलोकन और परंपरा में जोड़–बाकी यहां के समाज का स्वभाव है। आस्था और परंपरा का आग्रह अभिव्यक्तियों को समूहवत और एकरूप करता है, लेकिन भारतीय अभिव्यक्तियां सदियों से विविध और बहुवचन हैं, क्योंकि ये तर्क और युक्ति की आदत और आग्रह के कारण प्रायः वैयक्तिक हैं।

तर्क और युक्ति पर निर्भरता यहां के विचार, दर्शन और साहित्यिक अभिव्यक्तियों में बहुत पहले से है। विश्व के अन्य समाजों में सृष्टि की उत्पत्ति एवं व्यवहार को लेकर जो कथाएं मिलती हैं, उनमें कोई तर्क संगति और वैज्ञानिक सुसंबद्धता नहीं है। वैदिककाल में भारतीयों ने भी सृष्टि के उत्पत्ति और व्यवहार को लेकर कथाएं बनाईं, लेकिन उनकी कथाएं कार्य–कारण संबंध से युक्त रूपक हैं। यह प्रवृत्ति बौद्धिक विकास की सूचक हैं। चार वर्णों की उत्पत्ति की कथा के रूपक का कार्य–कारण संबंधयुक्त अर्थजैमिनीय ब्राह्मण में बताया गया है। अथर्ववेद आदि में भी इसी तरह की कई रूपक कथाओं के कार्य–कारण संबंध युक्त अर्थों का खुलासा है। उपनिषदों में रूपकों से अलग और स्वायत्त, तर्क और युक्ति पर निर्भर चिंतन की शुरुआत हुई। उपनिषदों का चिंतन 'प्रामाणिक, सुसंबद्ध तथा शुद्ध कल्पनामूल तर्कबुद्धि' पर आधारित है। खास बात

यह है कि इसमें समाज के सभी तबकों की भागीदारी है। उपनिषदों में स्त्रियां और निम्न वर्ग भी तत्त्व चिंतन में हिस्सेदार हैं। उपनिषदों में धर्म, सृष्टि और अंतिम वस्तुतत्व का प्रतिपादन है। सृष्टि, आत्मा, ब्रह्म आदि कई मुद्दों पर उपनिषदों में विचार किया गया है और इनमें आधार तर्क और युक्ति है। छांदोग्य उपनिषद में तार्किक बुद्धि का उपयोग सर्वाधिक है। यहां शास्त्र या सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में पहली बार दृष्टांतों को आधार बनाया गया है। इसी तरह तर्क यहां कई बार प्रयोग सिद्ध हैं।

उपनिषदों के बाद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंदस और ज्योतिष नामक छह अनुशासनों का विकास पूरी तरह केवल तर्क और युक्ति पर आधारित है। इन अनुशासनों में तार्किक विवेचन पद्धति अपने चरम पर है। इन अनुशासनों में विवेचन और प्रतिपादन की वैज्ञानिक पद्धति प्रयुक्त हुई है। विवेचन की इस पद्धति के व्याख्या, वर्गीकरण, सामान्य तथा विशेष नियम, प्रमाणों की रचना, पूर्वोत्तर पक्षात्मक चर्चा और सिद्धांतों का प्रणयन नामक छह चरण हैं। यह पद्धति और व्यवस्था इस तरह की है कि इससे युक्तिसंगत निष्कर्ष तक पहुंचा जा सकता है। इस पद्धति का उपयोग कल्पसूत्र, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा में भी हुआ और इससे उपलब्ध मूलगामी ज्ञान में वृद्धि हुई है। बाद में सांख्य और योग दर्शनों का जन्म हुआ और इन्हीं से आगे चलकर वैशेषिक और न्याय जैसी दर्शन प्रणालियां अस्तित्व में आईं। इन दर्शन प्रणालियों की तर्क और युक्ति पर निर्भरता इस सीमा तक थीं कि ये धर्म और श्रद्धा से बहुत दूर चली गईं। विवेचन में तर्क और युक्ति की जो व्यवस्था शुरू हुई, उससे व्याकरण और काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी स्थापनाएं और धारणाएं सामने आईं, जो पूर्णतया वैज्ञानिक थीं और जिनको आज भी चुनौती नहीं दी जा सकती। पाणिणि का व्याकरण उनकी तर्क बुद्धि का इतना बड़ा आविष्कार है कि सदियों तक इस पर टीकाएं और पूरक रचनाएं लिखी जाती रहीं। इसकी कतिपय स्थापनाएं आज भी अंतिम और अपरिवर्तनीय हैं। तर्क और युक्ति पर निर्भरता ने भारतीय ज्योतिष को भी समृद्ध किया। विश्व के कई समाज जब ग्रह–नक्षत्रों की उत्पत्ति और उनकी गतियों के रहस्य को जानने के लिए कथा–कहानियों पर निर्भर थे, तब इसमें ऐसे निष्कर्ष निकाले गए और ऐसी गणनाएं हुईं, जो आज भी पूरी तरह वैज्ञानिक और प्रामाणिक हैं।

बौद्ध और जैन दर्शनों में भी तर्क और युक्ति का उपयोग कम नहीं हुआ। बौद्ध दर्शन की कुछ बुनियादी धारणाएं आधुनिक युग में भी मान्य है। बौद्ध तत्त्व दर्शन में अणु को विश्व की अंतिम इकाई माना गया है, जो निरंतर परिवर्तनशील है। उसके अनुसार ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो परिवर्तनशील न हो। इस परिवर्तन को इसमें अप्रतिसंख्या विरोध, मतलब समझ न आने वाला परिवर्तन और प्रतिसंख्या विरोध, मतलब समझ में

आने वाला परिवर्तन में वर्गीकृत किया गया है। धर्म, नीति, वस्तु, ज्ञान, प्रमाण, शिक्षा आदि से संबंधित बौद्ध दर्शन और विचार की इसी तरह की कई मूलगामी धारणाएं हैं। तत्त्व दर्शन और तर्कशास्त्र के क्षेत्र में जैन धर्म ने जो काम किया, वो बहुत मूल्यवान है। जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र ने अनेकांतवाद और स्यादवाद जैसी विचार–पद्धतियों की बुनियाद रखीं। अनेकांतवाद और हिगेल और मार्क्स के द्वंद्ववाद में बहुत समानताएं हैं। जैन आचार्य हरिभद्र सूरि शंकराचार्य की कोटि के दार्शनिक थे। उनके चितन का आधार धर्म कम, युक्ति और तर्क ज्यादा थे। लोक तत्त्वनिर्णय में उन्होंने एक जगह लिखा है कि "मैं न महावीर के संबंध में पक्षपात रखता हूं, न कपिल आदि का द्वेष रखता हूं। वही कथन स्वीकार्य है, जो युक्तियुक्त होता है।" इसी तरह उन्होंने एक जगह और लिखा है कि ''मैं उसकी वंदना करता हूं, जिसके मन में राग, द्वेश आदि संसार बीज अंकुर की वृद्धि में सहायक विकारों का क्षय या विध्वंस हुआ है, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो अथवा जिन हो।''

भक्ति आंदोलन एक तरह का सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसकी व्याप्ति पूरे देश में थी। आस्था, विश्वास और श्रद्धा की इस आंदोलन के व्यापक प्रसार और सामाजिक स्वीकार्यता में निर्णायक भूमिका है, लेकिन मनुष्य की सहज तर्क प्रज्ञा की भूमिका भी इसमें भी कम नहीं है। ईश्वर के समक्ष मनुष्य मात्र की समानता के तर्क ने इस आंदोलन में कई अच्छी बातें जोड़ीं। जाति–पांति का विरोध, कर्मकांड की आलोचना आदि इस आंदोलन के मुख्य सरोकार इसी कारण बने। अंग्रेजों के आगमन के बाद चले सांस्कृतिक नवजागरण में पुनरुत्थान और समाज सुधार के अपने आग्रहों में भी तर्क और युक्ति उपयोग हुआ। राजा राममोहन राय आदि के यहां यह कुछ ज्यादा ही है।

यह सवाल स्वाभाविक है कि अभिव्यक्ति के इस पारंपरिक बहुवचन की मौजूदगी वर्तमान भारतीय परिदृश्य पर बहुत मुखर और ध्यानाकर्षक क्यों नही है या अभिव्यक्ति के स्थगन और उस पर रोक–टोक की घटनाओं का कोलाहल ही दृश्य पर इतना प्रमुख क्यों है? दरअसल भारतीय समाज ऐसा समाज है, जो सतह पर कम, अंदर ज्यादा है। सतह के दृश्य को प्रमाण हमारे यहां कभी नहीं माना गया। देहरी–दीपक न्याय हमारी आदत में है। हमारे यहां दीपक देहरी पर, बीच में है और इसका उजाला अंदर–बाहर सब जगह है। जो दीपक को केवल अंदर या बाहर रखकर उसके सीमित उजाले में सोचते–समझते हैं, हमारे यहां उनकी संख्या गिनती की है। शेष अधिकांश के यहां तो दीपक देहरी पर है और उन्हें अंदर से बाहर को और बाहर से अंदर को देखने–समझने आदत सदियों से है।

❖❖❖❖❖

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता : बोल कि लब आजाद हैं तेरे

डॉ॰ सरोज कुमार वर्मा *

''बोल कि लब आजाद हैं तेरे
बोल, जबां अब तक तेरी है
तेरा सुतवां[1] जिस्म है तेरा
बोल कि जां अब तक तेरी है

देख कि आहनगर[2] की दुकां में
तुन्द[3] हैं शोले, सुर्ख है आहन[4]
खुलने लगे कुफलों[5] के दहाने[6]
फैला हर जंजीर का दामन

बोले, ये थोड़ा वक्त बहुत है
जिस्मो–जबां की मौत से पहले
बोल कि सच जिंदा है अब तक
बोल कि जो कहना है कह ले''

– फैज अहमद फैज

मानव अधिकार, मानव को, मानव होने के नाते मिलने वाले अधिकारों की संकल्पना है। इसलिये यह संकल्पना मानव के उन तमाम आयामों के अधिकारों से संबद्ध है, जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक करती है। इस पृथकता के भौगोलिक दृष्टि से दो मापदंड हैं। एक–विवेक और दूसरा–धर्म। धर्म भारतीय मापदंड है, जिसके मुताबिक मानव को धार्मिक प्राणी के रूप में परिभाषित किया गया है। कहा गया है कि 'भोजन, नींद, भय और मैथुन मानव और पशु में समान रूप से पाये जाते हैं। सिर्फ धर्म ही मानव में विशेष है, जो उसे पशु से पृथक करता है। इसलिए धर्म से हीन मानव पशु के समान होता है।' स्पष्टतः इस परिभाषा में धर्म को मानव में पाया जाने वाला वह तत्व बताया गया है, जो उसे पशु से पृथक करता है। कहा जा सकता है कि यह तत्व उसे श्रेष्ठ बनाता है। यह धर्म मानव के आचरण का नियामक तत्व है। इसलिये यह उचित–अनुचित, सही–गलत

* सह–आचार्य, दर्शन विभाग, बी॰आर॰ए॰ बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर–842001 (बिहार)

तथा अच्छा–बुरा का नैतिक बोध पैदा कर मानव को 'जीओ और जीने दो' की सर्वहितकारी भित्ति पर खड़ा करता है। पश्चिम में इस भित्ति पर मानव को खड़ा करने वाला तत्व विवेक है। इसलिए वहां विवेक को पृथकता का मापदंड मानते हुए मानव की परिभाषा विवेकशील प्राणी के रूप में की गयी है। कहा गया है कि 'मानव एक विवेकशील प्राणी है।' स्पष्टतः यह परिभाषा विवेक को मानव में पाया जाने वाला वह तत्व बताती है, जो उसे पशु से पृधक यानी श्रेष्ठ बनाता है, क्योंकि वहां यह विवेक ही अच्छा–बुरा, सही–गलत और उचित–अनुचित का बोध पैदा कर मानव के आचरण को नियंत्रित करता है। अब यदि भारत और पश्चिम की इन दोनों परिभाषाओं को तुलनात्मक ढंग से देखा जाये तो यह साफ हो जाता है कि भौगोलिक शब्दावली के कारण सतही तौर पर ये परिभाषायें एक–दूसरे से भिन्न नजर आती हैं, परन्तु अपनी तलीय निष्पत्ति में ये एक ही हैं; क्योंकि ये दोनों ही अंततः मानव के उस आयाम को रेखांकित करती हैं, जिसके कारण कोई प्राणी अन्य प्राणियों से पृधक होकर मानव बन पाता है। अतः यह पृधकत्व ही मानव की नैसर्गिक गरिमा है, जिसे वह अभिव्यक्ति द्वारा सुरक्षित रखता है। इसलिये यदि मानव को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता न दी जाये तो फिर उसकी यह नैसर्गिक गरिमा ही समाप्त हो जायेगी और उसका मानव के रूप में बचना संभव नहीं हो पायेगा। इसीलिये मानव अधिकार के अन्तर्गत् अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को शामिल करते हुए, उसकी 30 अनुच्छेदों वाली सार्वभौम घोषणा में 18वें, 19वें एवं 20वें अनुच्छेदों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की घोषणा भी की गयी। डॉ. एस.सी. सिंहल इन सभी अनुच्छेदों का उल्लेख करने के क्रम में इन तीनों अनुच्छेदों के संबंध में लिखते हैं–

अनुच्छेद 18... प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अनुभूति तथा धर्म स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के अंतर्गत अपने धर्म या मत को परिवर्तन करने की स्वतंत्रता और अपने धर्म और मत का उपदेश, प्रयोग, पूजा और परिपालन सर्वसाधारण के सामने अथवा एकांत में करने की स्वतंत्रता सम्मिलित है।

अनुच्छेद 19... प्रत्येक व्यक्ति को मत और विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। इसके अन्तर्गत स्वेच्छा से मत स्थिर करने और किसी भी भौगोलिक सीमा और माध्यम से विचार और सूचना मांगने, प्राप्त करने और देने की स्वतंत्रता सम्मिलित है।

अनुच्छेद 20... (i) प्रत्येक व्यक्ति को शांतिपूर्ण ढंग से एकत्रित होने और सभा करने की स्वतंत्रता है।

(ii) किसी व्यक्ति को किसी संस्था में सम्मिलित होने के लिए विवश नहीं किया जायेगा।''[1]

यद्यपि मानव अधिकारों की 30 अनुच्छेदों वाली यह सार्वभौमिक घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को की गई, जिसमें इन 3 अनुच्छेदों द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मानव अधिकार के रूप में स्वीकृत किया गया, परन्तु इस घोषणा के सदियों पहले 1215 में जब पहली बार किसी नागरिक को अपराध सिद्ध होने के पूर्व दंड नहीं दिये जाने संबंधी ब्रिटेन का घोषणा–पत्र प्रकाशित हुआ, जिसे मानव अधिकारों की भावना के विकास का प्रथम उत्स माना जाता है, उसमें भी अभिव्यक्ति की इस स्वतंत्रता की प्रभावकारी गूंज सुनाई पड़ती है। दरअसल, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी अधिकार के लिए उठ खड़े होने की उर्वर जमीन उपलब्ध कराती है, क्योंकि भविष्य में अधिकार–संबंधी कोई मांग, उस मांग के लिये चलाया जाने वाला कोई आंदोलन और उस आंदोलन को उसके अंजाम तक पहुंचाने के लिये बनाया जाने वाला कोई संगठन आदि सब इस अभिव्यक्ति के बाद ही आकार ले पाते हैं। इसलिए ब्रिटेन का वह घोषणा–पत्र भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि पर ही आकार ले पाया।

हालांकि इस अभिव्यक्ति के पूर्व भी मानव के मन में उस अभिव्यक्ति का एक धुंधला–सा ख्याल पैदा होता है, जो बाद में साफ होता हुआ एक रेखा–चित्र में तब्दील हो जाता है; परन्तु यह रेखा–चित्र अपने मुक्म्मल शक्ल में तभी प्रकट होता है, जब उसे अभिव्यक्त किया जाता है क्योंकि इस अभिव्यक्ति के द्वारा उस रेखा–चित्र को एक रूप देने के साथ–साथ उसमें आनुपातिक और यथायोग्य आवश्यक रंग भी भरा जाता है ताकि देखने वाले को उस अभिव्यक्ति की स्पष्ट पहचान हो सके। इस पहचान के बाद ही वह उसे अधिकार के रूप में प्राप्त करने के लिए तत्पर हो पाता है। 1215 के ब्रिटेन वाले घोषणा–पत्र के बाद ब्रिटेन के ही 1679 वाले बंदी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम तथा 1689 वाला अधिकार–पत्र इस प्रक्रिया का पुख्ता प्रमाण है। बाद में 1776 में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपनी स्वतंत्रता सहित मानव अधिकारों की घोषणा और 1789 में फ्रांस द्वारा मानव मुक्ति के लिए की गयी घोषणायें इस प्रक्रिया को और गति प्रदान करती हैं, जो बर्लिन कांग्रेस, ब्रसल्स सम्मेलन और हेग सम्मेलनों द्वारा बीच के कई पड़ावों को पार करते हुए उस मुकाम तक आती है, जब 1948 में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा हो पाती है।

निश्चित ही सदियों तक चलने वाली इस प्रक्रिया को गति हर तरफ, हर तल और हर ढंग की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से ही प्राप्त होती है, जिसकी परिणति राष्ट्रसंघ की इस घोषणा के रूप में हो पाती है। तभी तो सच्चिदानंद सिन्हा इस घोषणा के 1 ले और 18वें अनुच्छेद में घोषित विचार और आत्मा की आजादी की घोषणा का सूत्र 17वीं शताब्दी के विचारों से जोड़ते हुए कहते हैं – ''..... धारा पहले एवं 18 में विवेक और

जमीर तथा विचारों की स्वतंत्रता की जो बात की गयी है इसमें सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट्री क्रांति के समय डिसेंटर्स कहे जाने वाले धार्मिक समुदायों – जिसमें लेवेलर्स और डिगर्स प्रमुख थे और जिनकी क्रांति को तीव्रता प्रदान करने में विशेष भूमिका थी – के विचारों की स्पष्ट अनुगूंज है।''[2] इसी तरह वे आगे 20वें अनुच्छेद में घोषित सभा करने की स्वतंत्रता की घोषणा को ब्रिटेन के कंबिनेशन एक्ट के विरोध से जोड़ते हुए कहते हैं– ''धारा 20 में शांतिपूर्ण सभा और संगठन बनाने के अधिकार की बात की गई है जो ब्रिटेन में कंबीनेशन एक्ट के खिलाफ मजदूरों के आंदोलन की मांगों की पुनरावृत्ति है।''[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव अधिकार के रूप में घोषित होने वाली अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मानव की उस नैसर्गिक स्वतंत्रता की घोषणा है, जो वह मानव होने की वजह से ही प्राप्त करना चाहता है। इस चाहत की पृष्ठभूमि इसलिए बन पाती है कि मानव अन्य प्राणियों की तरह अपनी आनुवंशि की द्वारा संचालित नहीं होता, बल्कि अपनी उस स्वतंत्र चेतना से संचालित होता है, जो उसे किसी भी प्रकार की बाध्यकारी स्थितियों से निकलने के लिए प्रेरित एवं आंदोलित करती है। अपनी इसी स्वतंत्र चेतना–संपन्न आंतरिक प्रेरणा और आंदोलन के कारण वह उन बाध्यकारी स्थितियों का हर स्तर और हर प्रकार से प्रतिरोध करता है। यही प्रतिरोध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अनिवार्य बनाता है और स्वाभाविक तौर पर उसके लिए भूमिका तैयार करता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मानव को जन्म से मिली हुई वह स्वतंत्रता है, जो अन्य प्राणियों से पृधक कर मानव के रूप में उसे गरिमा प्रदान करती है। तभी तो संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसे सभी स्वतंत्रताओं की कसौटी माना है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के अनुसार ''वाक् की स्वतंत्रता एक मूल मानव अधिकार है और उन सभी स्वतंत्रताओं, जिसे संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अभिशिक्त किया है की कसौटी है।''[4]

भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को यहां के मौलिक अधिकारों के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय संविधान में देश के नागरिकों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार देते हुए उन्हें किसी भी प्रकार से अपनी बात कहने तथा अपना विचार प्रकट करने का अधिकार दिया गया है। डॉ. टी. पी. त्रिपाठी इस संबंध में लिखते हैं–''प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी हस्तक्षेप के अभिमत धारण करने का अधिकार होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। इसके अंतर्गत सीमाओं का विचार किये बिना सभी प्रकार की जानकारी और विचार मांगने, प्राप्त करने और देने का अधिकार सम्मिलित है, यह या तो मौखिक हो सकता है,

लिखित हो सकता है, या प्रकाशन–कला के रूप में या अपने विकल्प के किसी अन्य माध्यम के रूप में हो सकता है।''[5]

चूंकि यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मानव के विचारों को प्रकट करने, उसके विश्वास का संवहन करने तथा उसके अंतःकरण को संप्रेषित करने के लिये आवश्यक है, इसलिए विद्वानों ने एक मत से इसकी महत्ता स्वीकार की है। वी.एन. शुक्ला ने इसे वैयक्तिक स्वतंत्रता का एक आयाम मानते हुए कहा है– ''अभिमत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता वैयक्तिक स्वतंत्रता के एक अति विशिष्ट आयामों में से एक है।''[6] इसी तरह पी.बी. मुखर्जी के अनुसार – ''अभिमत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ है मौखिक रूप से, लिखित रूप से, प्रकाशन के रूप में अभिमत और अपने दृढ़ विश्वास को अभिव्यक्त करने का एक व्यक्ति का अधिकार।''[7] जार्ज इ. रीडी भी इसके बिना स्वतंत्रता को अकल्पनीय मानते हुए लिखते हैं – ''स्वतंत्रता बिना स्वतंत्र वाक् के अकल्पनीय है। यदि एक व्यक्ति को अभिमत की स्वतंत्रता है, तब और तभी, विचारों के बाजार में स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त विरोधी संकल्पनाओं के बीच संघर्ष के माध्यम से सत्य की खोज की जा सकती है।''[8]

इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में विसम्मति का अधिकार, प्रदर्शन का अधिकार तथा प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। प्रेस को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ (शेष तीन स्तंभ–विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका हैं) माना जाता है, क्योंकि यह विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने का माध्यम है। इसके द्वारा कोई भी नागरिक अपने विचारों और अपनी भावनाओं को स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता है तथा सरकार और सत्ता के क्रिया–कलापों से असहमति व्यक्त कर सकता है, उसका विरोध कर सकता है, तथा उसकी समीक्षा कर सकता है। इसीलिए माननीय न्यायमूर्ति पी.के. गोस्वामी ने प्रेस को प्रशासन के अंकेक्षक की भूमिका में होने की बात करते हुए कहा है– ''इसे शासकीय कार्यक्रम के दिन–प्रतिदिन के अंकेकक्षण के रूप में होना चाहिए ताकि जनतंत्र प्रभावी और दक्षता से कार्य कर सके।''[9] यद्यपि यह बात माननीय न्यायमूर्ति ने भारतीय प्रेस के संदर्भ में कही है, लेकिन यह पूरी दुनिया के प्रेस के लिए सच है। तभी तो संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने शुद्धीकरण के अंतर्राष्ट्रीय अधिकार से संबंधित अभिसमय 1952 को स्वीकार किया, जिसके द्वारा राज्यों ने अपने नागरिकों को विश्वसनीय सूचनायें देने के साथ–साथ विचारों की स्वतंत्र साझेदारी से समझ विकसित करने संबंधी उपबंध लागू करने की आकांक्षा जाहिर की।

भारतीय संविधान में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लेख अनुच्छेद 19 में किया गया है। यद्यपि इस अनुच्छेद में कुल छः स्वतंत्रताओं का उल्लेख है– 1. वाक् और

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, 2. शांतिपूर्ण सम्मेलन की स्वतंत्रता, 3. संगम की स्वतंत्रता, 4. संचरण की स्वतंत्रता 5. निवास और बस जाने की स्वतंत्रता तथा 6. वृति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता, परन्तु इनके केन्द्र में वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही है, क्योंकि शेष अन्य स्वतंत्रतायें उसी की परिधि पर संभव हो पाती हैं। इसीलिए डॉ. टी.पी. त्रिपाठी लिखते हैं कि – ''वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली का आधार स्तंभ है। इसके अभाव में जनता (लोक) की तार्किक एवं आलोचनात्मक शक्ति को, जो जनतंत्र के समुचित संचालन के लिए अति आवश्यक है, विकसित करना संभव नहीं।''

वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वाणी (शब्दों), लेखों, मुद्रणों, चिन्हों या अन्य प्रतीकों के माध्यम से अर्थ प्रदान किया जाता है। वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपने ही विचारों के प्रचार, प्रसार तक सीमित नहीं है, इसमें दूसरे के विचारों के प्रचार और प्रकाशन की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है, जो प्रेस की स्वतंत्रता द्वारा ही संभव है। इस तरह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अंतर्गत प्रेस की स्वतंत्रता भी आती है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी व्यक्ति की आत्मोन्नति, सत्य की खोज में सहायक होती है। यह व्यक्ति के निर्णय की क्षमता को मजबूत करती है तथा स्थिरता और सामाजिक परिवर्तन में युक्तियुक्त सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होती है।''[10]

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 के द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचारों को प्रकाशित–प्रचारित करने के साथ–साथ रेडियो, दूरदर्शन तथा समाचार–पत्रों आदि के माध्यम से अपने खिलाफ की गई आलोचनाओं और अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का उत्तर भी दे सकता है। फिर चूंकि विज्ञापन आदि व्यापारिक माध्यम भी अभिव्यक्ति का ही एक रूप है, इसलिए इसे भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अन्तर्गत ही रखा गया है। इस प्रकार इन प्रदत्त स्वतंत्रताओं के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान भारतीय नागरिकों को सर्वतलीय और सर्वआयामी अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है।

परन्तु चूंकि कोई भी स्वतंत्रता असीम नहीं हो सकती, क्योंकि असीम स्वतंत्रता अराजक स्वच्छंदता में तब्दील हो जाती है, जैसा कि बर्क ने कहा भी है– ''स्वतंत्रता–प्राप्ति के लिए उनका सीमित होना आवश्यक है, क्योंकि स्वतंत्रता स्वच्छन्दता नहीं है''[11] – इसलिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक हित एवं नैतिकता तथा लोकव्यवस्था आदि के लिए भारतीय संविधान में कुछ उपबंधों द्वारा प्रतिबंध लगा दिया गया है। डॉ. ए.पी. अवस्थी इसके बारे में लिखते हैं– ''यह सच है कि प्रजातंत्र

में भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना प्रजातंत्र का अस्तित्व ही नहीं रहता। लेकिन ऐसे भी भाषण, मुद्रण अथवा लेख हो सकते हैं जो देश की सुरक्षा के लिए घातक हों, विदेशों से मैत्रीपूर्ण संबंध में बाधक हों या अनाचार के प्रचारक हों। इसी कारण संविधान की धारा 19 में कुछ ऐसे उपबंध दिये गये हैं, जिनके अनुसार भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार मर्यादित एवं नियंत्रित किया जा सकता है। राज्य को यह अधिकार है कि वह राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध, सार्वजनिक सुव्यवस्था, भद्रता या नैतिकता, न्यायालयों की मानहानि, व्यक्तियों के अपमान और अपराध को अवरूद्ध करने के हित में इन अधिकारों पर उचित प्रतिबंध लगाये।''[12]

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्रारंभ में संविधान सभा द्वारा अपने मूल रूप में जो उपबंध पारित हुआ था, उसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर इतना प्रतिबंध नहीं था, क्योंकि उस उपबंध में कहा गया था –''भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार राज्य को कोई ऐसा कानून बनाने से रोक नहीं सकता, जो अपमान–लेख, अपमान–वचन, मानहानि, न्यायालय–अपमान से संबद्ध हो या ऐसी बातों से संबद्ध हो जो भद्रता या नैतिकता पर आघात करती हों या राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करती हों या राज्य को उलटने की प्रवृत्ति रखती हों।''[13] परन्तु बाद में 1950 के रमेश थापड़ बनाम मद्रास राज्य नामक मुकदमे में उच्चतम न्यायालय ने इस उपबंध की जैसी व्याख्या की और उस व्याख्या के आधार पर 1951 में भारती प्रेस संबंधी मुकदमे में पटना उच्च न्यायालय ने जो बातें कहीं, उनके आधार पर यह स्पष्ट हुआ कि संविधान सभा के इस मूल उपबंध के द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पर्याप्त प्रतिबंध नहीं लगाया जा सका है।

इसीलिए 1951 में संसद ने संशोधन के द्वारा उस उपबंध में 'युक्तिसंगत', 'सार्वजनिक सुव्यवस्था', तथा 'विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध' शब्द जोड़ कर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पर्याप्त प्रतिबंध लगा दिया। डॉ. ए.पी.अवस्थी 1950 के उच्चतम न्यायालय एवं 1951 के पटना उच्च न्यायालय के निर्णयों का उल्लेख करने के बाद उस मूल उपबंध में किये गये संशोधन के बारे में लिखते हैं –''अतः सन् 1951 में संसद ने संशोधन द्वारा इस उपबंध में 'युक्तिसंगत', 'सार्वजनिक सुव्यवस्था' और 'विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध' शब्द जोड़ दिये और कहा गया कि सार्वजनिक सुव्यवस्था की हानि, अपराधों के लिए उकसाने और विदेशों से मैत्रीपूर्ण संबंध पर आघात पहुंचाने वाले कार्यों के संबंध में संघ और उसके अंतर्गत राज्यों की सरकारें युक्तिसंगत प्रतिबंध लगा सकती हैं। इससे भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को

सीमित करने का क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत हो गया, क्योंकि 'हित में' और 'विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध' का क्षेत्र इतना व्यापक है कि सरकार की आंतरिक तथा वैदेशिक नीति उसमें आ ही जाती है और सभी प्रकार के उन भाषणों और लेखों से, जिनमें सरकार की नीति की आलोचना है, सार्वजनिक सुरक्षा कुछ अंश में खतरे में पड़ती ही है। फिर भी 'युक्तिसंगत' शब्द के जोड़ देने से सरकार की प्रतिबंध लगाने की शक्ति बहुत कुछ सीमित हो जाती है, क्योंकि प्रतिबंध युक्तिसंगत होना चाहिए, इसका निर्णय न्यायपालिका ही करेगी।''[14]

इसी वजह से अनुच्छेद 19 के अंतर्गत् आने वाली अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अतिरिक्त शेष सभी स्वतंत्रताओं –शांतिपूर्ण सम्मेलन की स्वतंत्रता, संगम की स्वतंत्रता, संचरण की स्वतंत्रता, निवास और बस जाने की स्वतंत्रता तथा वृति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता पर भी लोकव्यवस्था, सार्वजनिक नैतिकता तथा विदेशी संबंध आदि के नाम पर यद्यपि प्रतिबंध लगाया जा सकता है, लेकिन चूंकि यह प्रतिबंध युक्तिसंगत होगा और युक्तिसंगत का अंतिम निर्णय न्यायालय करेगा, इसलिए राज्य को प्रतिबंध लगाये जाने का अधिकार मिलने के बावजूद उसका यह अधिकार सीमित हो जाता है। इसलिये इन सभी स्वतंत्रताओं के साथ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपनी सीमा और मर्यादा के साथ सदा सुरक्षित रहती है। यह सुरक्षा इस कारण भी अक्षुण्ण है कि सर्वोच्च न्यायालय ने 1967 के फरवरी में दिये गये अपने निर्णय में संसद को संविधान में संशोधन करके भी मूल अधिकार को सीमित करने का अधिकार नहीं दिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संविधान में मूल अधिकार के अंतर्गत अनुच्छेद 19 में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का जो अधिकार दिया गया है, वह मानव अधिकार के अनुच्छेद 19 और 20 के अन्तर्गत आने वाली अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का ही अधिकार है, जैसा कि डॉ. एस.सी सिंहल स्पष्ट शब्दों में लिखते भी हैं–''भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेद और उनके माध्यम से की गयी घोषणायें सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा से बहुत अधिक साम्य रखती हैं। भारतीय संविधान में सामान्य तथा राजनीतिक अधिकारों को न केवल संरक्षण दिया गया है, बल्कि इन्हें पर्याप्त सम्मान भी दिया गया है। संचरण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 के विभिन्न खंडों में मान्यता दी गयी है, प्राण और दैहिक सुरक्षा का अधिकार न्याय के समक्ष समानता का अधिकार को अनुच्छेद 21 तथा अनुच्छेद 14 द्वारा प्रत्याभूत किया गया है। अपराध की दोष सिद्ध के विषय में संरक्षण (अनुच्छेद 20), अंतःकरण की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25), धार्मिक मामलों के

प्रबंध की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 26), शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23), बाल श्रम का निषेध (अनुच्छेद 24) आदि संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के विभिन्न अनुच्छेदों से साम्य रखते हैं। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 32 तथा अनुच्छेद 226 द्वारा विभिन्न नागरिकों एवं मानवीय अधिकारों को लागू करने के लिए संवैधानिक उपचारों का प्रबंध भी किया गया है। इन अनुच्छेदों में दिये गये प्रावधानों के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति के आवेदन पर सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण अथवा अधिकार पृच्छा रिट जारी कर सकता है।''[15]

मगर इन प्रावधानों के बावजूद भारत ने 1948 में संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव अधिकार घोषणा–पत्र पर हस्ताक्षर करके वैश्विक स्तर पर चलने वाले मानव अधिकार आंदोलन में अपना सक्रिय योगदान देकर उसे संबल प्रदान किया। फिर इस आंदोलन को गति देने के लिए मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा 3 में की गई राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन की व्यवस्था के अंतर्गत 1993 में 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' की स्थापना कर उसके कार्यों और शक्तियों को सुनिश्चित किया गया। इसके बाद राज्यों में 'राज्य मानव अधिकार आयोग' का भी गठन किया गया और राष्ट्रीय मानव अधिकार संरक्षण 1993 की धारा 38 के अनुसार मानव अधिकार न्यायालय का प्रावधान भी किया गया। ये सभी संस्थायें अपने–अपने स्तर पर सभी प्रकार के मानव अधिकारों को सुरक्षित रखने का निरंतर प्रयास करती रहती हैं। इसी प्रयास के अंतर्गत ये संस्थायें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को भी संरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। यह प्रयत्न अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ठोस जमीन और व्यापक विस्तार प्रदान करता है।

''अज्जे–अहले– सितम[1] की बात करो
इश्क के दम–कदम की बात करो

बज्में–अहले–तरब[2] को शर्माओ
बज्में–असहाबे गम[3] की बात करो

बामे–सरवत[4] के खुशनसीबों से
अज्मते–चश्मे–नम[5] की बात करो

है वही बात यूं भी और यूं भी
तुम सितम या करम की बात करो

हिज्र की शब तो कट ही जायेगी
रोजे–वस्ले–सनम की बात करो
जान जायेंगे जानने वाले
'फैज' फरहादो –जम[6] की बात करो''

– फैज अहमद फैज

---

1. अत्याचारियों के विनय 2. प्रमोद मानने वालों की सभा 3. गम जिनकी निधि है, उनकी सभा 4. समृद्धि के शिखर

5. सजल नेगों की महानता 6. प्रेमी फरहाद और ईरान के तत्कालीन बादशाह जमशेद

संदर्भ

1. डॉ. एस.सी.सिंहल; 'समकालीन राजनीतिक मुद्दे', पृ.–99; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, अनुपम प्लाजा, ब्लॉक नं. 50, संजय प्लेस, आगरा–2; 2005–06
2. सच्चिदानंद सिन्हा; 'पूंजीवाद का पतझड़', पृ.–52; मराल प्रकाशन, संजय सिनेमा रोड, राहुल नगर, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर–842003; 2007
3. वही, पृ.–52
4. जनरल असेम्बली संकल्प संख्या 59(1) 14 दि. 1946 मीटिंग 65, जी.ए. ओ. आर. प्रथम अधिवेशन पार्ट–II
5. डॉ. टी.पी. त्रिपाठी; 'मानव अधिकार', पृ.–42; इलाहाबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स्, विधि–पुस्तक प्रकाशक, 10 सर पी.सी. बनर्जी रोड, इलाहाबाद–2; 2011
6. वी.एन.शुक्ला; 'कान्टीट्यूसन ऑफ इंडिया' (सिलवर जुबली संस्करण), पृ.–61
7. पी.बी. मुखर्जी; 'सिविल लिवर्टीज; पृ.–95; 1968
8. जार्ज इ. रीडी; ''फिलासाफिकल बेसिस ऑफ ए फ्री प्रेस'', दी स्पैन, मार्च 1978, पृ.–7
9. टाइम्स ऑफ इंडिया, 20 अप्रैल 1979
10. वही, पृ.–70–71
11. डॉ. ए.पी. अवस्थी की पुस्तक 'भारतीय शासन एवं राजनीति' के पृ.–282 से उद्धृत
12. डॉ. ए.पी. अवस्थी; 'भारतीय शासन एवं राजनीति', पृ.–282; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, अनुपम प्लाजा–1, ब्लॉक नं. 50, संजय प्लेस, आगरा–282002; 2013
13. डॉ. ए.पी. अवस्थी की पुस्तक 'भारतीय शासन एवं राजनीति' के पृ.–283 से उद्धृत
14. वही, पृ.–283
15. वही, पृ.–104

❖❖❖❖❖

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

ज्ञानवती धाकड़ *

अभिव्यक्ति से तात्पर्य, वह क्रिया या तरीका जिससे कोई व्यक्ति अपनी बात को अन्य व्यक्ति को सम्प्रेषित करता है, चाहे वह बोलकर या लिखित में दे या प्रकाशित करे या चिन्ह या चित्र से प्रकटीकरण करे अथवा मीडिया द्वारा या किसी भी अन्य रूप से अपनी बात को अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों तक पहुंचाए। हम अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मतलब दो तरह का मान सकते हैं। एक तो वह, जो हम व्यक्तिगत स्तर पर आपस में वार्तालाप के द्वारा एक दूसरे को कहते हैं और दूसरा मीडिया के द्वारा सूचना देना। वैसे मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने विचारों को या अपनी भावनाओं को किसी अन्य को प्रकट करे या अभिव्यक्त करे। हम जिस अभिव्यक्ति की बात कर रहे हैं उसके करने से अन्य व्यक्तियों को उसके विचारों के बारे में पता चलता है और उस पर क्रिया प्रतिक्रिया होती है तथा सम्बन्धित व्यक्ति अपने विचारों का आदान प्रदान करते हैं। यह अभिव्यक्ति कभी समाज में महत्वपूर्ण बदलाव के लिए भी हो सकती है तो कभी भंयकर विद्रोह की स्थिति भी पैदा कर सकती है। यही कारण है कि समाज में शुरू से ही इस स्वतंत्रता पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध अवश्य रहा है क्योंकि अप्रतिबन्धित स्वतंत्रता तो कभी भी समाज के लिए खतरनाक हो सकती है। आज के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रेस विचारों के आदान–प्रदान का महत्वपूर्ण साधन बन गया है और यहां तक कहा जा सकता है कि यह किसी भी देश की शांति व्यवस्था को बनाए रखने या उसे भंग करवाने का कारण बन सकती है क्योंकि सामान्यजन प्रेस या टी. वी. आदि पर दिए जा रहे समाचारों से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। साधारणतया प्रेस दोनों प्रकार की भूमिका निभाता है। एक तरफ तो वह सरकार की नीतियों से जनसामान्य को परिचित करवाता है तो दूसरी ओर जनता से आने वाली प्रतिक्रिया से भी सरकार को अवगत और सचेत करता रहता है, जिससे सरकार को समर्थन या विरोध दोनों ही पक्षों पर विचार करने का और अपनी नीतियों में पुनर्विचार करने या फेरबदल करने के बारे सोचने का और उसी अनुसार निर्णय लेने का अवसर मिल जाता है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) में प्रत्येक नागरिक को वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का जो

* वरिष्ठ अधिवक्ता, राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर

अधिकार दिया गया है उसमें प्रेस एवं मीडिया की स्वतंत्रता के लिए अलग से कुछ नहीं लिखा गया है, लेकिन यह उसी में समाहित मानी गई है। महात्मा गांधी ने तो अपनी आत्मकथा में प्रेस के कर्तव्यों के बारे में बताते हुए कहा है कि प्रेस का काम है कि वह लोगों की वांछित भावनाओं को जागृत करे तथा निर्भय होकर समाज के दोषों को सबके सामने लाए क्योंकि ऐसा करने से स्वतः ही कई कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ हिन्दुस्तान टाइम्स में छपी एक खबर को ही संज्ञान में लेते हुए उच्चतम न्यायालय ने यमुना के पानी की गंदगी के बारे में कहा कि यमुना की सफाई सिर्फ इसलिए ही आवश्यक नहीं है कि इसे साफ होना चाहिए, बल्कि ये जनसाधारण के स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है कि इसे साफ किया जाए। अतः मीडिया या समाचार पत्र के माध्यम से सर्वसाधारण के समक्ष अनेक मामले आते रहते हैं, जिससे प्रशासन और न्यायापालिका दोनों ही अपने स्तर पर आवश्यक कदम उठाते रहते हैं और फलस्वरूप जनसामान्य के मानवाधिकारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षण होता रहता है। यहां तक कहा जा सकता है कि समाज के मानसिक स्वास्थ्य तथा भलाई के लिए मीडिया बड़ी जरूरत है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए भी आवश्यक है क्योंकि कई बार इसके बिना पूर्ण सत्य को प्राप्त भी नहीं किया जा सकता। प्रिन्ट मीडिया, रेडियो, टी. वी. आदि एक प्रकार से लोक शिक्षकों की भूमिका भी निभाते हैं, इसलिए ये सभी एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए महत्वपूर्ण भी हैं क्योंकि किन्हीं विचारों को प्रचारित करने की स्वतंत्रता किसी लोकतांत्रिक संस्था की जीवनधारा है और इस स्वतंत्रता को खत्म करने का मतलब है, लोकतंत्र को खत्म करना, जिससे निरंकुशता फैल सकती है। मीडिया जो दूर–दराज की घटनाओं को तुरन्त जनसाधारण तक पहुंचा रहा है और परिणामस्वरूप यह जनहित की वृद्धि करने और उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षित करने में भी सहायक हो रहे हैं। यही वो साधन है जिनके द्वारा राष्ट्रीय महत्व के मसलों पर जनमत तैयार कर सकते हैं। अतः इनकी महत्ता को कमतर करके किसी भी हालत में नहीं आंका जा सकता।

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह मौलिक अधिकार है कि वह अपनी भावनाओं को सभी के समक्ष प्रस्तुत कर सके और किसी को यह अधिकार नहीं कि वह बिना किसी आधार के किसी की अभिव्यक्ति को रोक सके। इस अनुसार मीडिया को भी नहीं रोका जा सकता, लेकिन यह भी उतना ही आवश्यक है कि इस स्वतंत्रता का नाजायज फायदा नहीं लिया जाये, किसी की भावनाओं को भड़काने की छूट किसी को नहीं दी जा सकती क्योंकि ऐसा करना जनहित में नहीं होगा। फिर भी अगर मीडिया सभी बाध्यताओं का निर्वहन करते हुए कार्य करता है तो यह कहा जा सकता है कि वह

जनहित का पहरी है और मानवाधिकारों के संरक्षण में अद्‌भुत कार्य कर सकता है। कई बार अनेक निराश्रित व्यक्ति अज्ञानता, अनभिज्ञता, निर्धनता के कारण अत्याचार एवं शोषण सहते रहते हैं, तब मीडिया ही उनकी आवाज बनता है जिसके बाद न्यायालय संज्ञान लेकर उनके हितों को बचाते हैं। कई बार स्वयं प्रशासन भी उनके प्रति जागरूक हो जाता है और अपने स्तर पर उस कमी को दूर करता है। ऐसा भी देखा जाता है कि जनता ही अपने स्तर पर मसले को संभालती है।

विचारों का आदान–प्रदान मानव सभ्यता की शुरूआत से ही जुड़ा हुआ है और ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि इससे मानव का विकास तो होता ही है, समाज में सामाजिकता का पाठ भी चलता रहता है और उसका समग्र विकास होता रहता है। किसी भी राष्ट्र का प्रगति के पथ पर बढ़ते रहना स्वतंत्रता पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है क्योंकि इसी से कई प्रकार के अन्वेशण भी सम्भव हो पाते हैं। वैसे कई बार कहा भी जाता है कि प्रेस का सकारात्मक कार्य करना किसी भी देश को सही दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। परंतु ऐसा करते वक्त यह ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है कि कोई भी समाचार दुर्भावना से ग्रसित न हो, इसीलिए सेंसरशिप की आवश्यकता महसूस हुई। कोई भी व्यक्ति किसी को गाली नहीं दे सकता, उसे बेवजह अपमानित या मानसिक तौर पर प्रताड़ित नहीं कर सकता। यही कारण है कि इस स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त नियंत्रण लगाया गया है। इस विचार से तो संभवतः सभी एकमत होंगे कि वीभत्स, अश्लील, क्रूर व हिंसा फैलाने वाली अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगना ही चाहिए। परंतु जब कोई समझौतावादी रूख अपनाना ही नहीं चाहता तो विरोध की सी स्थिति बन जाती है और वही शांति भंग करने का काम करती है। कई बार तथ्यों से अनभिज्ञ जनता इन बातों से गुमराह भी हो जाती है और ऐसी गतिविधियों में सम्मिलित दिखती है। इसलिए यदि आमजन समय के साथ सामंजस्य बिठाते हुए, सकारात्मक तरीके से जीवनयापन करे तो कोई कारण नहीं कि समाज में शांति और सौहार्द कायम न रहे। वैसे भी सभ्य समाज में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान किया जाना चाहिए, अगर किसी की कोई बात उचित नहीं भी महसूस हो तो उसकी रचनात्मक आलोचना हो, उसके खिलाफ असहिष्णु होकर ऐसी कार्रवाई न हो जिसके कारण हिंसा भड़के। जब कोई अभिव्यक्ति व्यक्तियों या समूहों के बीच संवाद का रूप धारण करती है, तभी उसकी व्यावहारिक गुणवत्ता के संबंध में प्रश्न उठता है कि वह समाज के लिए सकारात्मक है या नकारात्मक। वैसे आजकल बहुतायत से यह देखा जाता है कोई भी समझौतावादी नीति अपनाना ही नहीं चाहता। वह या तो किसी भी विचार को पूरी तरह से गलत साबित करना चाहता है या पूर्णतया सही। इस तरह

संवाद के दोनों पक्ष दो समानान्तर रेखाओं में चलते रहते हैं, जो कभी मिल ही नहीं सकते, बस सिर्फ लम्बी–चौड़ी बहस चलती रहती है। होना तो यह चाहिए कि अपने विचारों और धारणाओं के प्रति तर्कपूर्ण दृष्टिकोण रखते हुए चलना चाहिए ताकि अनावश्यक विवादों को टाला जा सके। भारत का संविधान एक धर्म निरपेक्ष, सहिष्णु और उदार समाज की गारंटी देता है और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का सबसे महत्वपूर्ण, सार्वभौमिक और प्राकृतिक अधिकार मानता है। संविधान निर्माताओं ने आमजन को अनेक अधिकारों की गारंटी देने के लिए अनुच्छेद 19 से 22 तक में कई प्रकार की स्वतंत्रता दी है जिनमें कुछ पर कुछ प्रतिबंध भी लगाए गये हैं जिन्हें विशेष परिस्थितियों में राज्यों के द्वारा लागू किया जा सकता है। अनुच्छेद 19 नागरिकों को 6 प्रकार की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। पहले ये 7 थीं, लेकिन 44वें संशोधन के द्वारा 20.6.1979 से सम्पत्ति का अधिकार इस लिस्ट में से हटा लिया गया है। इसलिए अब यह 6 ही रह गई हैं, जो निम्न हैं–

अनुच्छेद. 19–वाक्–स्वातंत्रय आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण–

1. सभी नागरिकों को वाक्–स्वतंत्रता एवं अभिव्यक्ति अधिकार,
2. शांतिपूर्ण और निरायुध एकत्र होने अधिकार,
3. संगम या संघ बनाने अधिकार,
4. भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का अधिकार,
5. भारत के राज्यक्षेत्र में किसी भी क्षेत्र में बसने या निवास करने अधिकार, और
6. कोई भी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोगार करने का अधिकार।

इस लेख में हम सिर्फ प्रथम अधिकार जो 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' है, के बारे में जानेंगे। इसके अंतर्गत व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह वाक् माध्यम, लिखित तौर पर, प्रिंटिंग के द्वारा, किसी चित्र या तस्वीर के द्वारा, बैनर या चिन्ह आदि के द्वारा और कभी चुप रहकर भी खुद को व्यक्त कर सकता है और यह उसका मौलिक अधिकार है जिसे कोई भी विधिक कारण के अलावा खत्म नहीं कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को उचित एवं आवश्यक माना गया है। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र में भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जिसके लिए निम्न प्रावधान हैं–

अनुच्छेद–(19) प्रत्येक व्यक्ति को विचार और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। इसके अंतर्गत बिना हस्तक्षेप के कोई राय रखना और किसी भी माध्यम से तथा सीमाओं की परवाह न करके किसी की सूचना और धारणा का अन्वेषण, ग्रहण तथा प्रदान सम्मिलित है।

अनुच्छेद–(20)–(1) प्रत्येक व्यक्ति को शांतिपूर्ण सभा करने या समिति बनाने की स्वतंत्रता का अधिकार है।

माननीय उच्चतम न्यायालय ने प्रेस की स्वतंत्रता को लोकतंत्र का एक स्तम्भ माना है जैसा कि हरिजयसिंह एवं अन्य बनाम विजयकुमार (एआईआर 1997 एससी 73) के मामले में कहा है कि यह व्यक्ति के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए भी बहुत आवश्यक है। प्रेस का प्रमुख कार्य देश के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी पहलुओं पर व्यापक और वस्तुपरक सूचना प्रदान करना है, लेकिन फिर भी उसकी यह स्वतंत्रता अबाध एवं अप्रतिबन्धित नहीं हो सकती क्योंकि इससे भी अव्यवस्था एवं अराजकता फैल सकती। अतः उसे अपने कर्तव्य का पूर्णतया पालन करना चाहिए और कोई भी मिथ्या एवं शरारतपूर्ण खबर नहीं छापना चाहिए अन्यथा उसे सिर्फ प्रायश्चित ही व्यक्त नहीं करना होगा बल्कि लिखित माफीनामा लिखकर देना आवश्यक होगा तथा उचित मामलों में न्यायालय उसे दण्डित भी कर सकता है। .

इण्डियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स प्रा. लि. आदि बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया एवं अन्य (एआईआर 1985 एससी 515) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय का मानना था कि वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। अतः न्यायालयों को भी इस संवैधानिक निर्देश का पूरी तरह से पालन करना चाहिए क्योंकि आज के माहौल में समाज और सत्ता का आपस में सम्पर्क बनवाए रखने में प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह भी कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, इसमें विचार अभिव्यक्त करने के समस्त माध्यम भाषण, समाचार पत्र, पत्रिकायें, पुस्तिकायें, पोस्टर, शब्द, अंक, चिन्ह संकेत, प्रदर्शन, धरना आदि अनेक साधन समाहित हैं। किसी व्यक्ति के विचारों को दूसरों के समक्ष रखने की कला ही वाक् और अभिव्यक्ति का साधन है और यह समाज के मानसिक विकास तथा भलाई के लिए अत्यंत आवश्यक है क्योंकि प्रेस की स्वतंत्रता के बिना सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए यह कहना भी अतिश्योक्ति नहीं माना जाएगा कि एक लोकतांत्रिक समाज में प्रेस की स्वतंत्रता अन्य सभी स्वतंत्रताओं की जननी मानी जा सकती है।

प्रवासी भारतीय संगठन बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया एवं अन्य (एआईआर 2014 एससी 1591) के मामले में कहा गया है कि यदि घृणास्पद भाषण से समाज का माहौल

खराब हो रहा हो तो उसे रोका जाना अति आवश्यक है जिसके लिए अनेक कानून भी बने हुए हैं। जैसे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 एवं 21 में, भारतीय दण्ड संहिता की धाराएं 124क, 295क, 209, 505 और दण्ड प्रक्रिया संहिता की धाराएं 95, 107, 144, 151 और 160, व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व अधिनियम की धाराएं 8, 123, 125, आदि में उत्तेजित करने वाले व्यक्तव्यों पर रोक लगाई जाती है और ऐसा करने वाला दण्ड का भागी भी होता है। सामाजिक वातावरण को बचाने के लिए मानवाधिकार आयोग स्वयं भी ऐसे मामलों में कार्रवाई कर सकता है।

श्रेया सिंघल बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया एवं अन्य (एआईआर 2015 एससी 1523) के मामले में सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम में 2008 में धारा 66क को जोड़ा गया था जिसे उच्चतम न्यायालय ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश मानते हुए निरस्त कर दिया। इस धारा के अनुसार पुलिस को यह अधिकार है कि वह किसी भी व्यक्ति की अभिव्यक्ति को अपराध मानकर दमनात्मक कार्रवाई कर सके। इस मामले में एक लड़की ने अपनी दोस्त को फेसबुक पर एक टिप्पणी लिखकर भेजी जिसे दूसरी लड़की ने लाइक किया, इस पर दोनों लड़कियों को गिरफ्तार कर लिया गया। पुलिस के इस कृत्य को उच्चतम न्यायालय ने वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बेवजह रोक मानते हुए धारा 66क को ही असंवैधानिक मानते हुए निरस्त कर दिया।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अनुच्छेद 19(2) में उचित प्रतिबंध के बारे में कहा गया है तो अनुच्छेद 51 में मौलिक कर्तव्यों बारे में कहा गया है जिनके अनुसार संविधान के प्रावधानों का पालन करना चाहिए और दिए गए आदर्शों, भारत की एकता, संप्रभुता और अखंडता को बनाए रखना और रक्षा करना, राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रीय गान का सम्मान करना प्रत्येक भारतीय नागरिक का मौलिक कर्तव्य है। इनके अलावा, भारतीय दण्ड संहिता की धाराएं 153क, 292, 295क और 298 आदि भी इन अपराधों से संबंधित हैं जिनमें किसी को बोलकर, लिखकर या प्रदर्शन के द्वारा, चित्र, पेंटिंग, किसी चिन्ह आदि से किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओं को ठेस पहुंचती हो तो वह इस प्रकार के कृत्य का अपराधी माना जायगा और वह सजा, जुर्माना या दोनों से दण्डित किया जा सकता है। इसीलिए अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा दिए गये अधिकार में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर निम्न आधारों पर प्रतिबंध लगाए गये हैं–

1. भारत की प्रभुता एवं अखण्डता,
2. राष्ट्रीय सुरक्षा,
3. विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंधों,

4. सार्वजनिक व्यवस्था,
5. शालीनता और नैतिकता के हितो में,
6. न्यायालय की अवमानना,
7. अपराधों को भड़काना, और
8. मानहानि पर युक्तियुक्त निर्बन्धन।

उपरोक्त प्रतिबन्धों के साथ ही वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी जा सकती है क्योंकि कोई भी अप्रतिबन्धित स्वतंत्रता कभी भी भयानक परिणाम देने वाली भी हो सकती है। वैसे भी हमारे देश में इस मामले में बहुत ही सहज तथा सौम्य रुख अपनाया जाता है और कई बार व्यक्ति अनर्गल बाते भी बोल जाते हैं जिन पर कार्रवाई में सहज रहा जाता है। वहीं जब कोई बहुत उत्तेजित करने वाली बात कह देता है, तो उस पर जरूर सख्त कार्रवाई की जाती है। मलेशिया के पूर्व प्रधान मंत्री महातिर मोहम्मद ने कहा था कि 'भारत चीन की बराबरी कर सकता है, लेकिन यहां जरूरत से ज्यादा लोकतंत्र है।' क्योंकि यहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर कुछ भी कहा जा सकता है। कई बार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर राष्ट्रद्रोह तक का समर्थन करने वाले लोग उठ खड़े होते हैं जिन पर प्रतिबन्ध अतिआवश्यक है। यही कारण है कि संविधान में ही उनका विस्तृत उल्लेख कर दिया गया है, जैसे–

भारत की प्रभुता एवं अखण्डता का ध्यान रखा जाना अतिआवश्यक है अन्यथा हम स्वतंत्र ही कैसे रह पायेंगे। ऐसी कोई भी बात या विचार जो जनसामान्य में पहुंच कर देश की सुरक्षा के लिए घातक हो, उसे छूट कैसे दी जा सकती है। ये प्रावधान संविधान के 16वें संशोधन के द्वारा 1963 में जोड़ा गया, कि कोई भी व्यक्ति ऐसा कोई बयान नहीं दे सकेगा, जिससे भारत की सम्प्रभुता या अखण्डता पर किसी प्रकार का कोई विपरीत प्रभाव पड़ता हो।

रोमेश थापर बनाम दी स्टेट ऑफ मद्रास (एआईआर 1950 एससी 124) के मामले में उच्चतम न्यायालय का मानना था कि वाक्, अभिव्यक्ति एवं प्रेस की स्वतंत्रता लोकतंत्र सरकार का आधार है क्योंकि इसके बिना न कोई राजनैतिक वार्तालाप हो सकता है और न ही प्रजातंत्र की सही क्रियान्विती की जा सकती है। यह भी आवश्यक है कि इस पर प्रतिबन्ध लगाना भी उतना ही आवश्यक है अन्यथा अराजकता फैल सकती है। सार्वजनिक व्यवस्था को बनाए रखना भी किसी समाज में या सर्वसाधारण के शान्त एवं सुखमय जीवन के लिए आवश्यक है। इसलिए इस मामले में दिए गये निर्णय के बाद 1951 में संविधान में पहला संशोधन किया गया। संविधान के प्रथम

संशोधन 1951 में यह जोड़ा गया कि किसी भी व्यक्ति को अपराध करने के लिए भड़काने का अधिकार किसी को नहीं है। अगर कोई ऐसा करता है तो वह दण्ड का भागी होगा। यह भी आवश्यक है कि प्रतिबन्ध और उससे होने वाली प्राप्ति के बीच भी उचित सम्बन्ध दिखाई दे अन्यथा किसी को भी बिना वजह हिरासत में नहीं रखा जा सकता।

अजय गोस्वामी बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया एवं अन्य (एआईआर 2007 एससी 493) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबन्ध होना आवश्यक है। हालांकि मीडिया या प्रेस कई बार महत्वपूर्ण मामले सामने लाकर उनका उपचार भी करा रहे हैं, लेकिन कभी–कभी ये भी अपनी हद से बाहर हो जाते हैं, जैसे कभी ये महिलाओं को अभद्र तरीके से दिखाते हैं, जिस पर उचित प्रतिबन्ध आवश्यक है।

राममनोहर लोहिया बनाम स्टेट ऑफ बिहार (एआईआर 1966 एससी 740) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि किसी व्यक्ति द्वारा कुछ कहे जाने पर उसको कैद में रखने के पीछे मजबूत कारण होना आवश्यक है अन्यथा किसी की आजादी को बिना किसी वैध कारण के खत्म नहीं किया जा सकता जैसा कि इस मामले में याचिकाकर्ता ने जनसामान्य के विरुद्ध ऐसी कोई टिप्पणी नहीं की थी जिससे कोई खतरा रहा हो या जिसके कारण व्यवस्था बिगड़ रही हो, अतः उसे हिरासत में नहीं रखा जा सकता है और उसे तुरन्त रिहा करने के आदेश दिए।

भारत संघ बनाम नवीन जिन्दल (एआईआर 2004 एससी 1559) के मामले में नागरिकों के द्वारा राष्ट्रीय झंडे को फहराने को भी वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता माना है। खेलों में भाग लेने को भी खुद को अभिव्यक्त करना माना गया है।

उसी प्रकार विदेशों से सम्बन्ध भी किसी भी देश के विकास एवं यहां तक कि अस्तित्व के लिए अतिआवश्यक हैं क्योंकि कोई भी देश अकेला रहकर विकास की सोच भी नहीं सकता है क्योंकि सारी दुनिया एक दूसरे पर निर्भर है। इसीलिए इन सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए भी जनसामान्य पर उचित प्रतिबन्ध होना आवश्यक है।

शालीनता और नैतिकता भी किसी भी समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक है अन्यथा अराजकता फैलने में देरी नहीं लगती। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह समाज में सभ्य व्यक्ति की तरह से रहे और व्यवहार करे।

कम्युनिस्ट पार्टी बनाम भारत कुमार (एआईआर 1998 एससी 184) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि बन्द अवैध है क्योंकि यह अन्य नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन करता है। हां, संघ बनाने का अधिकार है और हड़ताल भी की जा

सकती है। लेकिन हड़ताल को कुछ प्रतिबन्धों के साथ ही अमल में लाया जा सकता है जिसमें आवश्यक वस्तुओं का व्यापार करने वाले हड़ताल पर नहीं जा सकते।

आर. राजगोपाल बनाम स्टेट आफ तमिलनाडु (एआईआर 1995 एससी 352) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि व्यक्तिगत मामले को उस व्यक्ति की सहमति के बिना प्रकाशित नहीं कर सकते। हालांकि मीडिया या प्रेस को किसी बात को सार्वजनिक करने का अधिकार है, लेकिन अगर कोई मामला व्यक्तिगत हो तो उस व्यक्ति की सहमति के बाद ही प्रकाशित कर सकते हैं अन्यथा उस व्यक्ति के संवैधानिक अधिकार का हनन होगा और इसके लिए उसे मुआवजा भी देना पड़ सकता है।

न्यायालय की अवमानना करने का किसी को अधिकार नहीं है क्योंकि न्यायालय किसी के लिए फैसले नहीं देते हैं बल्कि वह सम्पूर्ण समाज की न्याय एवं व्यवस्था बनाए रखने का कार्य कर रहे होते हैं। इसलिए उस वक्त उनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें नहीं होता। न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971 की धारा 2 में परिभाषित किया गया है जिसमें दो तरह की अवमानना के बारे में बताया गया है – न्यायालय की सिविल अवमानना तथा क्रिमिनल अवमानना, लेकिन न्यायाधीशों के आदेश की अवमानना करने पर ऐसा कोई विभेद नहीं किया गया है।

जाहिरा हबिबुल्ला शेख एवं अन्य बनाम स्टेट आफ गुजरात एवं अन्य (एआईआर 2006 एससी 1367) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अनुचित उपयोग नहीं किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति न्यायालय के समक्ष दिए गये अपने बयानों या वक्तव्य को प्रेस के सामने आकर बदल देता है तो वह न्यायालय की अवमानना का दोषी होगा, जिसके कारण वह सजा एवं जुर्माने दोनों से दण्डित किया जा सकता है। क्योंकि वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अनुचित उपयोग नहीं किया जा सकता है।

अरुन्धती रॉय (एआईआर 2002 एससी 1375) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वाक् स्वतंत्रता में भी न्यायालय की मर्यादा को बनाए रखना आवश्यक है, किसी भी व्यक्ति को न्यायालय की अवमानना करने की छूट नहीं दी जा सकती। हालांकि भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता संवैधानिक अधिकार है, फिर भी यह स्वतंत्रता वैधानिक सीमाओं में ही दी जा सकती है, इसके लिए आवश्यक है कि न्यायालय की मर्यादा को बनाए रखा जाए और अगर किसी व्यक्ति के किसी व्यवहार या कृत्य से न्यायालय की मर्यादा को ठेस पहुंचती हो तो वह न्यायालय की अवमानना माना जाएगा, और ऐसी स्थिति में उसे दण्डित किया जाना उचित है।

इसी प्रकार अनुच्छेद 19(2) के प्रावधान किसी व्यक्ति के द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की मानहानि करने पर रोक लगाते हैं। ऐसे ही प्रावधान दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 499 में भी दिए गये हैं।

जैसा कि मि. मेनका गॉधी बनाम यूनियन आफ इण्डिया एवं अन्य (एआईआर 1978 एससी 597) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि व्यक्ति के जीने का अधिकार सिर्फ जीने से ही नहीं है बल्कि सम्मानपूर्वक जीवन जीने से है। बिना किसी वैध आधार के किसी की मानहानि नहीं की जा सकती और प्रत्येक नागरिक का यह भी अधिकार है कि अगर उसके खिलाफ कोई निर्णय करना हो तो उसे पहले सुनवाई का अवसर प्रदान कराया जाए, उसके बाद ही उसके खिलाफ कोई आदेश पारित किया जाए, पहले नहीं। साथ ही, प्रेस की स्वतंत्रता के बारे में संविधान में कुछ नहीं कहा गया है, लेकिन यह बात मानी गई है। स्वतंत्रता के पहले पत्रकारों को कोई स्वतंत्रता नहीं थी।

इस प्रकार हमने देखा कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता भी समाहित है, ये भी एक लोकतांत्रिक सरकार का आधार स्तम्भ है, वहीं इसके लिए कुछ मर्यादाओं का पालन किया जाना भी उतना ही आवश्यक माना गया है क्योंकि अमर्यादित स्वतंत्रता भी अनेक परेशानियों का कारण बन सकती है। आज मीडिया या समाचार पत्रों की दैनिक जीवन से जुड़ी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रत्येक घटनाओं पर पैनी नजर रहती है और जब कुछ गलत दिखाई देता है तो वह उसे जनसामान्य के समक्ष लाने में देरी भी नहीं करते, लेकिन इन पर भी यह जिम्मेदारी है कि जब भी वह कोई समाचार सार्वजनिक करें उसके पहले उसकी सत्यता एवं विश्वसनीयता की पुष्टि कर लें, अन्यथा उनकी भी जवाबदेही होगी और गलत होने पर उन्हें दण्डित भी किया जा सकता है। और यह ठीक भी है क्योंकि अबाध, अपरिमित या अप्रतिबन्धित स्वतंत्रता का मतलब होगा समाज में अव्यवस्था का वातावरण बनाने देने की अनुज्ञप्ति। मीडिया या समाचार पत्र अब जनमत को जिधर चाहे उधर घुमा सकते हैं क्योंकि अब यह बहुत ताकतवर हो गए हैं, इसीलिए अब यह और भी ज्यादा आवश्यक हो गया है कि समाज में व्यवस्था, गरिमा और नैतिकता को बनाए रखने के लिए ये स्तम्भ भी अनुशासित रूप से कोई भी बात जनसामान्य के समक्ष रखे। मतलब स्पष्ट है कि इनकी स्वतंत्रता भी पूर्ण, असीमित एवं निर्बाध नहीं है, इनमें उत्तरदायित्व का तत्व विद्यमान होना अत्यंत आवश्यक है। जैसा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद की रिपोर्ट में कहा गया है कि 'यदि यह सत्य है कि मनुष्य की प्रगति स्वतंत्रता के बिना असम्भव है तो यह भी कम सत्य नहीं है कि साधारण मनुष्य की प्रगति विनियमन और अनुशासन के बिना असम्भव है।' अतः सच्चे और उत्तरदायी पत्रकार का

यह कर्तव्य है कि वह सत्य, उद्धेश्यपूर्ण, विस्तृत, शुद्ध तथा निष्पक्ष समाचार प्रसारित करे जिससे समाज में सकारात्मक लहर फैले और अराजकता पर रोक लग सके। क्योंकि आज का वातावरण इतना बदल गया है कि अधिकतर लोग समाचार पत्र एवं टी. वी., इन्टरनेट आदि से इस तरीके से जुड़े हैं कि प्रत्येक क्षण उन्हें नई खबर मिलती रहती है और उसी के अनुसार व्यक्ति की सोच विकसित होती जाती है। अतः प्रेस एवं मीडिया जगत को आज के समाज का वाहक कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि इनसे प्राप्त समाचारों के अनुसार ही परिणाम सामने आने लगते हैं। आजकल देखा जा रहा है कि कई बार इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, वेब मीडिया और प्रिंट मीडिया तथ्यों को तोड़–मरोड़ कर भी प्रस्तुत कर देते हैं क्योंकि रोमांचकारी व चटपटी खबरों से ही टीवी चैनलों की चर्चा होती है जिससे बचना भी अत्यावश्यक है। क्योंकि लोकतंत्र का चौथा स्तंभ अगर निरंकुश होकर काम करेगा तो यह लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए बहुत खतरनाक हो सकता है। अतः सभी को इस ओर जागरूक होना होगा। चूंकि आज लोग मीडिया पर विश्वास करते हैं और सोचते हैं कि उसने जो टीवी पर देखा या इंटरनेट पर पढ़ा है, वह सच है। इसलिए अगर निजी स्वार्थ के लिए झूठी खबरों को खुलेआम फैलाया जायगा तो देश में अराजकता का माहौल बन सकता है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) में दी गई वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का यह मतलब नहीं है कि मन मुताबिक बयानबाजी या समाचार प्रकाशित–प्रसारित किए जाएं, बल्कि इसके मायने यह हैं कि जो भी बोला जाए वह पूरी जिम्मेदारी से कहा जाए और सच हो। सरकारों को इस आजादी पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाने का अधिकार भी संविधान ने ही दिया है तो ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक व्यवस्था में इस तंत्र से भी ये उम्मीद की जाती है वे मीडिया के जरिये फैल रहे झूठ को रोके और इस देश के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दे। अभी हाल में चीन में सोशल मीडिया की खबरों पर पाबन्दी लगा दी गई है ताकि फर्जी खबरें व अफवाहें न फैलें। हमें सोचना होगा कि क्या राष्ट्र विरोधी नारे लगाकर, आरक्षण के नाम पर जन सम्पत्ति को राख कर देना, किसी भी अन्य के व्यक्तिगत मामले को सार्वजनिक बनाकर वातावरण को हिंसक या लड़ाई का मैदान बना देना कहां की आजादी है ? इसे स्वतंत्रता नहीं उच्छृंकलता कहा जाएगा। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है व्यक्ति का मानवीय भावनायुक्त होना, उसका खुद को जिम्मेदारी से व्यक्त करने में सक्षम होना, यानी स्वयं अपनी मनुष्यता को बचाते और बढ़ाते हुए अन्य के हितों के प्रति भी सचेत होना।

❖❖❖❖❖

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बनाम सोशल मीडिया : सहमति का विवेक और असहमति का साहस

डॉ. अमित कु. विश्वास •

स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावना लोकतंत्र का सबसे बड़ा अधिकार है – 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता'। इस बात को प्रसिद्ध विचारक वॉलटेयर के इस कथन से समझा जा सकता है कि 'हालांकि मैं आपसे असहमत हूं, पर आप अपनी बात कह सकें, इसके लिए मैं जिंदगी भर संघर्ष करने के लिए तैयार हूं।' अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कुछेक छोटे–मोटे हमलों और प्रतिबंधों को झेलते भारतीय लोकतंत्र इक्कीसवीं सदी में आ पहुंचा है। आज अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का असली स्वरूप नव मीडिया अर्थात वेब मीडिया के रूप में प्रस्तुत है। आधुनिक प्रौद्योगिकीयुक्त नव सोशल मीडिया सूचना क्रांति का संवाहक बनकर उभरा है। मसलन, ह्वाटसेप, फेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस, लिंक्डइन, माय स्पेस, पिंटररेस्ट, ऑरकुट सहित तमाम सोशल नेटवर्किंग साइट्स दुनिया को एक सूत्र में बांध रही हैं, ग्लोबल रूप से जोड़ रही हैं। तो क्या इससे क्या हम सचमुच 'मानव समाज' के निर्मित्ति में पूर्व से अधिक जागरूक हुए हैं ? आंकड़ों में बात करें तो फेसबुक पर एक अरब, ट्विटर पर 20 करोड़, गूगल प्लस पर 17.5 करोड़, लिंक्डइन पर 15 करोड़ एवं पिंटररेस्ट पर 11 करोड़ से ज्यादा प्रयोक्ता सक्रिय हैं। जन जागरण से लेकर राजनैतिक आंदोलनों तक में सोशल मीडिया ने अल्प समय में ही महती भूमिका का निर्वाह कर अपना अलग और विशिष्ट स्थान बना लिया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में विरोध प्रकट करने के लिए धरना प्रदर्शन और प्रतिवेदन देने संबंधी अभिव्यक्ति का मौलिक अधिकार अधिक कारगर नहीं होने पर जब जनता ने सोशल साइट का सहारा लेना शुरू किया तो पुलिस ने सूचना प्रौद्योगिकी कानून की धारा 66–ए का इस्तेमाल करके सबक सिखाने की कवायद शुरू की यानी सोशल मीडिया पर अभिव्यक्ति की आजादी पर अंकुश लगाने का जरिया बनी आईटी अधिनियम की धारा 66 ए। इस धारा का स्वरूप ही अभिव्यक्ति की आजादी के खिलाफ था।

संविधान के अनुच्छेद 19 (1) के तहत हर नागरिक को अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है। सही है कि यह अधिकार असीमित नहीं है। संविधान ने धारा 19 (2) के तहत

• सहायक संपादक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

कुछ मर्यादाएं तय की हुई हैं। मसलन, राष्ट्रीय संप्रभुता पर आंच आने, कानून–व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न होने, भिन्न समुदायों के बीच वैमनस्यता पैदा करने की स्थितियों में संबंधित सामग्री को लेकर दंडात्मक कार्रवाई की जा सकती है। ये मर्यादाएं ज्यों की त्यों लागू रहेंगी। इसी तरह मानहानि से संबंधित कानून पहले की ही तरह प्रभावी रहेगा।

अगर किसी वेबसाइट को लेकर धारा 19 (2) के तहत तय की गई मर्यादाओं के उल्लंघन की शिकायत हो, तो उसे बंद करने का रास्ता भी सरकार के लिए खुला है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने असहमति और आलोचना को साइबर अपराध का रंग देकर नागरिकों के खिलाफ पुलिस–कार्रवाई की गुंजाइश समाप्त कर दी है। यानि असहमति की आवाज को बर्दाश्त करने की क्षमता और उसको अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष लोकतंत्र का सबसे बड़ा अधिकार है। पर इस अधिकार का इस्तेमाल असंवैधानिक तरीके से न किया जाए। अभिव्यक्ति की आजादी का अर्थ यह नहीं है कि आप अपने रोष और क्रोध को प्रकट करने के लिए किसी को गाली दें, व्यथित करें और अपने अधिकारों को मनमाने ढंग से इस्तेमाल करें। दरअसल, आईटी एक्ट की धारा 66ए के साथ सबसे गड़बड़ बात यह थी कि उसमें किसी टिप्पणी के हानिकारक, मानहानिकारक, धार्मिक विद्वेष फैलाने में सहायक या प्रताड़ित करने वाले पर मामला दर्ज करने का प्रावधान था। जिसमें इस शब्दावली की मनमानी व्याख्या संभव थी। यह मनमानी व्याख्या की सुविधा ही वह आकर्षण था, जिसकी वजह से सरकारें इस कानून को हटाना नहीं चाहती थीं। कई नेताओं ने बहुत सामान्य सी टिप्पणियों पर आपत्ति जताई और उनके इशारे पर ही पुलिस ने प्राथमिकी दर्ज कर ली। नेताओं के इशारे पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का गला घोंटा जा रहा था। ऐसे कई मामले सामने आए जब इस कानून के तहत गिरफ्तारी की गई। वर्ष 2012 में मुंबई में सोशल मीडिया–फेसबुक पर शिवसेना नेता बाल ठाकरे के निधन पर मुंबई बंद के खिलाफ कमेंट करने पर 2 लड़कियों को गिरफ्तार किया गया था। लड़कियों की गिरफ्तारी के बाद देशभर में विरोध जताया गया। हाल के दिनों में यूपी में एक मामला सामने आया था जिसमें सपा नेता और अखिलेश सरकार में कैबिनेट मंत्री आजम खान के खिलाफ सोशल मीडिया पर कमेंट करने वाले एक लड़के को और ममता बनर्जी के कार्टून बनाने पर प्रोफेसर अंबिकेश महापात्रा को गिरफ्तार किया गया था। असीम त्रिवेदी को सोशल मीडिया पर संसद, राष्ट्र चिह्न के खिलाफ आपत्तिजनक कार्टून बनाने के कारण गिरफ्तार किया था। एयर इंडिया के दो कर्मचारियों की कुछ नेताओं के खिलाफ पोस्ट डालने पर गिरफ्तारी की गई थी। वर्ष 2012 में कानून की छात्रा श्रेया सिंघल ने सर्वोच्च न्यायालय में जनहित याचिका दाखिल कर मांग की थी कि आईटी एक्ट की धारा 66 ए अभिव्यक्ति की

आजादी पर हमला है और इसमें संशोधन किया जाए। दरअसल, धारा 69 ए में यह प्रावधान था कि जो सूचना सरासर आक्रामक या चरित्र हनन करने वाली हो और व्यक्ति जानता हो कि उसके द्वारा भेजी गई सूचना गलत है, लेकिन वह दूसरे व्यक्ति को खिजाने, परेशान करने, खतरे में डालने, अपमानित करने, दुश्मनी, बुरे इरादे के साथ कम्प्यूटर या किसी अन्य संचार उपकरण के जरिये ऐसी सूचना भेजता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति जे. चेलमेश्वर और आर.एफ. नरीमन की पीठ ने 24 अप्रैल, 2015 को जनहित याचिका पर सुनवाई कर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को आधारभूत मूल्य घोषित करते हुए सूचना तकनीक कानून की धारा 66 ए को खत्म करने का निर्देश दिया। इस मामले की सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने जांच के आदेश देते हुए दिशा–निर्देश जारी किया कि ऐसे मामलों में एसपी रैंक के अधिकारी ही गिरफ्तारी का आदेश दे सकते हैं। हालांकि, आईटी एक्ट की अन्य धाराओं 69 ए और धारा 79 को निरस्त नहीं किया है और ये कुछ पाबंदियों के साथ लागू रह सकती हैं। धारा 69 ए किसी कंप्यूटर संसाधन के जरिए किसी सूचना तक सार्वजनिक पहुंच को रोकने के लिए निर्देश जारी करने की शक्ति देती है और धारा 79 में कुछ मामलों में मध्यवर्ती की जवाबदेही से छूट का प्रावधान करती है। सुप्रीम कोर्ट की दलील है कि स्वतंत्रता और स्वच्छंदता के बीच संतुलन कायम करना सरकार की जिम्मेदारी है। सरकारें खुद तय करें कि यह काम कैसे किया जाए। लेकिन कानून का भय दिखाकर बोलने की आजादी पर प्रतिबंध लगाना संविधान के अनुच्छेद 19 (1) के तहत प्रदत्त वैचारिक अभिव्यक्ति की आजादी का हनन है। इसमें कोई दो मत नहीं कि अदालत का फैसला अभिव्यक्ति की आजादी के पैरोकारों की दलीलों के लिहाज से मील का पत्थर साबित होगा, लेकिन सरहद और समाज की सुरक्षा एवं सामाजिक सरोकारों की रक्षा करने की जिम्मेदारी सरकार की है और इसके बोझ तले दबी सरकारों के लिए यह फैसला बेशक चुनौती को बढ़ाने वाला साबित होगा। इस ऐतिहासिक फैसले के नकारात्मक और सकारात्मक पहलुओं की हकीकत से इंकार नहीं किया जा सकता है। इस फैसले के परिप्रेक्ष्य में साइबर स्पेस की स्वच्छंदता को काबू में करने की चुनौती सरकार के लिए एक तरफ परेशानी का सबब बन रही है, तो वहीं सोशल मीडिया पर सक्रिय तबके लिए खुद को काबू में करने की चुनौती भी कम आसान नहीं है। असली दुनिया की ही तरह वर्चुअल दुनिया भी कानून से वंचित दुनिया नहीं है। इस सच्चाई से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता कि साइबर स्पेस में अधिकतर युवा वर्ग सक्रिय हैं। यह वर्ग अपनी भावनाओं के ज्वार में बहकर मर्यादा की हदों को लांघने के नैसर्गिक खतरे से जूझता रहा है। हालिया जेएनयू प्रकरण या अन्य मामलों को देखकर ऐसा प्रतीत

होता है कि युवाओं को सोशल मीडिया पर विचार अभिव्यक्त करते समय कानून और मर्यादा की हदें पहचाननी होंगी। इस फैसले का सकारात्मक पहलू यह है कि सूचना क्रांति के दौर में जानने, समझने और अपने विचारों को व्यापकतम आयाम देने की आजादी मिली है। आज़ादी का यह स्वाद तभी सार्थक कहा जा सकता है जबकि सोशल मीडिया या साइबर जगत में अपनी मौजूदगी दर्ज करा चुके लोग इस माध्यम की संवेदनशीलता को समझें। साइबर एक्सपर्ट पवन दुग्गल का कहना है कि अदालत का यह फैसला बेहद संतुलित है, लेकिन सरकारों के प्रति सजगता और दायित्वबोध की सीमा को बढ़ा दिया है। खासकर भारत की विषेश परिस्थितियों में जहां शिक्षा के पर्याप्त प्रसार की कमी के बावजूद समाज के सभी तबकों में साइबर जगत की पहुंच अब आसान हो गई है। शिक्षा, रोजगार, आर्थिक हालात जैसे सामाजिक सरोकारों से इतर हर वर्ग के लोग किसी न किसी रूप में इंटरनेट की पहुंच में हैं। इस फैसले के माध्यम से अदालत का संदेश साफ है कि सरकारें कानून की तलवार से सोशल मीडिया पर नियंत्रण का चाबुक नहीं चला सकती हैं। यह सर्वमान्य सत्य है कि देश में हर फैसला राजनीति से प्रेरित होता है। धारा 66 ए का अब तक का इस्तेमाल यह बताता है कि पुलिस प्रशासन ने सोशल मीडिया पर कार्रवाई सक्रिय युवाओं की सियासी जमात के खिलाफ उभरती आवाज को दबाने के लिए ही की है। धारा 66ए हटाए जाने से बोलने और अभिव्यक्ति की आजादी के अधिकार को बल मिला है। सोशल मीडिया को पुलिस के अनावश्यक भय से मुक्ति मिली है। इस धारा के खत्म होने से फेसबुक, ट्विटर सहित सोशल मीडिया पर की जाने वाली किसी भी कथित आपत्तिजनक टिप्पणी के लिए पुलिस आरोपी को तुरंत गिरफ्तार नहीं कर सकती, जबकि धारा 66ए में तुरंत गिरफ्तारी का प्रावधान था। इस धारा के तहत किसी व्यक्ति को सोशल मीडिया के मंचों पर आपत्तिजनक संदेश प्रेषित करने पर तीन साल की कैद का प्रावधान था। हालांकि आपत्तिजनक टिप्पणी के लिए आईपीसी की अन्य धाराओं के तहत कार्रवाई हो सकती है, लेकिन इस धारा के तहत अब मामला नहीं चलाया जा सकेगा। यहां यह कहा जा सकता है कि अब किसी के पोस्ट पर किसी को आपत्ति होगी तो न्यायालय फैसला करेगा कि ये गलत है या सही। हालांकि यह भी संभव है कि राष्ट्र और सामाजिक विरोधी तबका इसकी आड़ में कुछ भी आपत्तिजनक बातें पोस्ट करे। या फिर अलगाववादी संगठनों द्वारा कुछ ऐसी सामग्री पोस्ट की जा सकती है जो उनके विचार में सही हो, लेकिन देश की एकता और अखंडता के लिए नुकसानदेह हो। अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर इंटरनेट पर साझा होने वाली अपमानजनक सामग्री को रोकने के लिए कानून प्रवर्तन एजेंसियों को भिन्न कानूनों का सहारा लेना पड़ेगा।

अब तक हो चुकी हैं कई गिरफ्तारियां

आईटी एक्ट की धारा 66 ए के तहत पिछले कुछ वर्षों में देश के कई राज्यों में सोशल साइटों पर नेताओं के खिलाफ बयान देने पर अब तक कई लोगों की गिरफ्तारी हो चुकी है। इनमें व्यवस्था को लेकर सवाल उठाने और अभद्र टिप्पणी करने के मामले में कई लोगों को गिरफ्तार किया गया है। 18 मार्च 2015 को उत्तर प्रदेश के शहरी विकास मंत्री आजम खान के नाम पर विवादास्पद कमेंट करने पर बरेली में 11वीं कक्षा के एक छात्र को गिरफ्तार कर लिया गया था। न्यायिक हिरासत के बाद कोर्ट ने आरोपी छात्र विक्की खान को जमानत दे दी थी। 23 मई 2014 को गोवा पुलिस ने 33 साल के इंजीनियर देवु चोदांकर को गिरफ्तार किया था। उसने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के खिलाफ अभद्र कमेंट किया था। 05 अगस्त 2014 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के खिलाफ फेसबुक पर आपत्तिजनक पोस्ट लिखने की वजह से केरल के कोल्लम जिले में सीपीआईएम कार्यकर्ता राजेश कुमार को गिरफ्तार कर लिया गया था। 6 अगस्त 2013 को दलित साहित्यकार कंवल भारती को फेसबुक पर एक मेसेज डालने के बाद गिरफ्तार कर लिया था। कंवल भारती ने रेत माफिया पर नकेल कसने वाली आईएएस दुर्गा शक्ति नागपाल को सस्पेंड करने के लिए यूपी में सपा सरकार की आलोचना की थी। 19 नवंबर 2012 को मुंबई के पालघर इलाके में रहने वाली शाहीन ढाडा को गिरफ्तार किया गया क्योंकि उसने शिव सेना प्रमुख बाला साहेब ठाकरे की अंतिम यात्रा पर मुंबई बंद को लेकर फेसबुक पर कमेंट किया था और उसकी सहेली रीनू श्रीनिवासन को कमेंट पर लाइक करने के एवज में गिरफ्तार कर लिया गया था। 06 नवंबर 2012 को जम्मू कश्मीर के किश्तवाड़ में किशोरी शर्मा, बंसी लाल और कीर्ती शर्मा को फेसबुक पर आपत्तिजनक धार्मिक वीडियो को टैग करने के कारण गिरफ्तार किया गया था। जिसके कारण उन्हें 40 दिन सलाखों के पीछे गुजारने पड़े थे। इस घटना के बाद किश्तवाड़ में तनाव फैल गया था। 01 नवंबर 2012 को यूपीए सरकार में मंत्री रहे पी. चिदंबरम के बेटे कार्ति चिदंबरम के खिलाफ ट्वीट करने पर बिजनेसमैन रवि श्रीनिवासन की गिरफ्तार किया गया था। 10 सितंबर 2012 को अन्ना आंदोलन से जुड़े कार्टूनिस्ट असीम त्रिवेदी को फेसबुक पर यूपीए सरकार के घोटालों को लेकर एक कार्टून पोस्ट करने के बाद गिरफ्तार कर लिया गया था। 'भ्रष्टमेव जयते' शीर्षक वाले इस कार्टून में संसद और राष्ट्रीय प्रतीक का मजाक उड़ाया गया था। असीम के खिलाफ पुलिस ने देशद्रोह का मामला भी दर्ज किया था। 11 मई 2012 को मुंबई में पुलिस ने एक राजनेता के खिलाफ फेसबुक पर पोस्ट के कारण एयर इंडिया के दो कर्मचारी मयंक शर्मा और

केवीजे राव को गिरफ्तार कर लिया था। एयर इंडिया में क्रू मेंबर के तौर पर तैनात दोनों कर्मियों ने एक मजदूर नेता पर टिप्पणी की थी। 13 अप्रैल 2012 को पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी के खिलाफ एक कार्टून बनाने पर पुलिस ने जादवपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अंबिकेश महापात्रा को गिरफ्तार कर लिया था। बाद में अलीपुर कोर्ट ने उन्हें पांच–पांच सौ के निजी मुचलके पर जमानत दी थी। अंबिकेश और उनके पड़ोसी सुब्रत सेनगुप्ता ने मुख्यमंत्री ममता बनर्जी, रेलमंत्री मुकुल रॉय और पूर्व रेलमंत्री दिनेश त्रिवेदी का व्यंग्यात्मक कार्टून बनाकर और उसे सोशल नेटवर्किंग साइट और ई–मेल पर डाला था। प्रोफेसर ने यह कार्टून उस वक्त फेसबुक पर पोस्ट किया था, जब रेलमंत्री और अपनी पार्टी के सांसद दिनेश त्रिवेदी को ममता बनर्जी ने पद से हटा दिया था। वर्ष 2011 के सितंबर में बिहार में विधान परिषद के कर्मचारी और लोकप्रिय कवि मुसाफिर बैठा को नौकरी से निलंबित कर दिया गया था। उन्होंने फेसबुक पर सरकार के कामकाज की आलोचना की थी। तब सोशल मीडिया पर अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर सवाल उठे थे।

अर्थात असहमति की आवाज को बर्दाश्त करने की क्षमता और उसको अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष लोकतंत्र का सबसे बड़ा अधिकार है। पर इस अधिकार का इस्तेमाल असंवैधानिक तरीके से न किया जाए। अभिव्यक्ति की आजादी का अर्थ यह नहीं है कि आप अपने रोष एवं क्रोध को प्रकट करने के लिए किसी को गाली दें और अपने अधिकारों को मनमाने ढंग से इस्तेमाल करें।

राज्य की संप्रभुता, उसकी प्रतिष्ठा और राजनेताओं के निजी सम्मान में फ़र्क करना आवश्यक है। समाज में तकनीकी और शिक्षा के विकास के कारण साइबर स्पेस के साथ खुली आज़ादी पश्चिमी देशों की भांति लाजमी है। हमें अभिव्यक्ति की इच्छा का सम्मान करते हुए अपनी संप्रभुता, सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत और विभिन्न समुदायों की गरिमा की रक्षा भी करनी है। हमें साइबर दुनिया को नियंत्रित करने की नियत से नहीं, बल्कि उसे अराजक होने से रोकने के लिये सिस्टम तैयार करना होगा। इस फैसले ने पुलिस को मिली अतिरिक्त शक्ति छीनी है। इन्हीं प्रावधानों में से एक है आई. पी.सी. की धारा 295ए जिसमें स्पष्ट है कि लिखने, बोलने, और दृश्य प्रचार या अन्य तरीके से कोई किसी की धार्मिक भावनाओं या विश्वास को अपमानित करता है तो उसे गिरफ्तार किया जा सकता है। यह धारा इस कृत्य को अपराधी बनाती है।

स्वतंत्र भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कभी भी निरपेक्ष नहीं रही और न ही निरपेक्ष रूप से लोगों को प्राप्त हुई है। लोकतांत्रिक ढांचे और मूल्यों के साथ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सीधा रिश्ता है। अक्सर यह कहा जाता है कि लोकतंत्र के चार

स्तंभ हैं– विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और मीडिया। अब तो सोशल साइट्स को पांचवें स्तंभ के रूप में पेश करने की कोशिशें हो रही हैं। यही हाल भाईचारे का है, धार्मिक, जातीय भेदभाव पर बात करना तो ऐसा हो गया है, जैसे बहुत छोटी बात है।

अमेरिकी शीर्श न्यायालय के न्यायाधीश रॉबर्ट जेक्सन ने कहा था कि 'विचारों पर नियंत्रण अधिनायकत्व का प्रतीक है, और हम (अमेरिका) यह दावा नहीं करते हैं। यह हमारी सरकार का काम नहीं है कि वह नागरिकों को गलतियों में पड़ने से रोकें, यह नागरिकों का कार्य है कि वह सरकार को गलतियों में पड़ने से रोकें।' पर, जब तक देश में लोकतंत्र के सही आधार स्वतंत्रता–समानता और भाईचारा मजबूत नहीं होंगे, अभिव्यक्ति का अधिकार हमेशा संकट में ही रहेगा।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, वर्तमान शताब्दी की आवश्यकताओं में से है और जिस समाज में अभिव्यक्ति और संचार माध्यमों की स्वतंत्रता न हो वह तानाशाही समाज होता है। यह बात स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ, अपमान, उपहास और अराजकता नहीं है बल्कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ सदैव अपने तार्किक व यथार्थवादी व्यवहार से हटकर सामने आता है। जाहिर है, लोकतंत्र में विश्वास रखने वाला कोई भी शासन इस अधिकार को कम नहीं कर सकता। किसी भी देश में अभिव्यक्ति या बोलने की आजादी की स्थिति से ही यह तय होगा कि वहां का लोकतंत्र कितना मजबूत या कमजोर है। अगर किन्हीं हालात में किसी भी पक्ष की ओर से व्यक्ति के बोलने के अधिकार पर पाबंदी लगाई जाती है या उसे बाधित किया जाता है तो इससे लोकतंत्र को ही नुकसान पहुंचेगा।

संदर्भ

1.http://paricharcha.com

2.http://www.sudarshannews.com/news

3.http://www.theindiapost.com/articles

❖❖❖❖❖

प्रजातंत्र में अभिव्यक्ति और प्रतिरोध के बदलते स्वरूप

डॉ॰ अमित राय[•]

सारांशः— इस लेख में मानवाधिकारों के परिप्रेक्ष्य में राज्य और उसके नागरिक समाज की अभिव्यक्तियों के विभिन्न स्वरूपों को देखने का प्रयास किया गया है, इस प्रयास में राज्य प्रायोजित अभिव्यक्तियां और नागरिक समाज की वास्तविक अभिव्यक्तियों को, प्रतिरोधों के बदलते स्वरूपों के माध्यम से विश्लेषित किया गया है। नई तकनीकी के उदय ने प्रतिरोध के स्वरूपों में किस तरह बदलाव किये हैं, उन्हें रेखांकित करते हुए उनकी वैधता और उनके प्रभावों की व्याख्या की गयी है, राज्य के मानवाधिकारों के सन्दर्भ में दायित्वों की व्याख्या करते हुए अभिव्यक्ति के अधिकारों की सीमाओं को समझने का प्रयास समग्र रूप से किया गया है, तथ्यों की सन्दर्भ और तथ्यरहित व्याख्या से अभिव्यक्ति के अधिकार के दुरुपयोग को बचाने और इस तरह के उदाहरणों से राज्य को मिलने वाली वैधानिकता की व्याख्या का प्रयास भी इसमें सम्मिलित किया गया है। राज्य द्वारा समग्र विकास नहीं किये जाने की स्थिति में नागरिक समाज द्वारा किये जाने वाले प्रतिरोधों के स्वरूपों का विस्तार से वर्णन किया गया है.....

मानवाधिकारों को एक सभ्य समाज की बुनियाद माना जाता है, लेकिन उनकी चर्चा अधिकांशतः राजनीतिक सन्दर्भ में ही की जाती रही है और वह भी काफी हद तक केवल अपनी राय की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के सवाल तक ही सीमित रह जाती है। राजनीतिक सन्दर्भ में मानवाधिकारों की प्रतिष्ठा में राज्य की भूमिका पर विचार करते समय केवल अभिव्यक्ति स्वातंर्त्य तक सीमित नहीं रहा जा सकता, राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उन सभी अधिकारों को प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध करवाने की लगातार कोशिश करेगा जिनका उल्लेख मानवाधिकारों के अंतर्गत आता है क्योंकि मनुष्य, मनुष्य पहले है और प्रजा बाद में, और उसी के द्वारा निर्मित किसी भी व्यवस्था में यदि उसका वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं होता तब वह अपने प्रतिनिधित्व के अन्य मार्गों की तलाश व्यवस्था को बदलने के लिए करता है। इस दृष्टि से राज्य की भूमिका

[•] सहायक प्रोफेसर, क्षेत्रीय केंद्र, म. गा. अं. हिं. वि. वि., वर्धा।

केवल अभिव्यक्ति के अधिकार का सम्मान करने से बढ़कर सभी मानवीय अधिकारों की प्रतिष्ठा में अपनी सत्ता और विधि निर्मात्री शक्ति का प्रयोग करने तक फैल जाती है।

दूसरी ओर एक सभ्य समाज से सामान्यतया यह अपेक्षा की जाती है कि उसका राजनैतिक आचरण भी सभ्य अर्थात लोकतांत्रिक व वैधानिक हो । लेकिन जब कभी जनसामान्य या किसी वर्ग विशेष द्वारा किन्हीं मांगों को मानने के लिए दबाव डाला जाता या आन्दोलन किया जाता है तब सत्ता द्वारा वैधानिकता का आग्रह किया जाता है और अक्सर उस वैधानिकता का तात्पर्य सत्ता पक्ष की सहूलियत या इच्छा हो जाती है क्योंकि अंततः सत्ता की स्वीकृति ही किसी बात को वैधानिकता प्रदान करने के मान्य तरीके के रूप में स्वीकार की जाती है। इसलिए समाज से सभ्य आचरण की अपेक्षा करते समय यह देखना भी निहायत आवश्यक हो जाता है कि शासक, सत्तासंपन्न या सुविधाभोगी विशिष्ट वर्ग का अपना व्यवहार वास्तविक अर्थों में कितना सभ्य और सुसंस्कृत है और वह अपने आचरण में किस सीमा तक लोकतांत्रिक है।

अभिव्यक्ति के विभिन्न पक्षों की दार्शनिकता में न जाएं तो देखा गया है कि अभिव्यक्तियों का प्रयोग मुख्यतः राजनैतिक सन्दर्भों में ही किया जाता है। मानव अधिकार के सन्दर्भ में भी अभिव्यक्ति स्वातंर्त्य के अधिकार के अंतर्गत बिना किसी बाधा के सूचनाएं प्राप्त करने और देने तथा किसी भी प्रसार–यन्त्र के माध्यम से अपने विचारों को अबाधित प्रचार करने के अधिकार को मान्यता दी गयी है।

लेकिन इस सन्दर्भ में हेराल्ड लास्की के कथन को याद करने की आवश्यकता है कि "सच्ची स्वतंत्रता ऐसे समाज में नहीं रह सकती जिसमें उसकी अभिव्यक्ति को रोकना चाहने वाला वर्ग मौजूद हो, जिसके पास ऐसा करने की शक्ति हो और जो इस उद्देश्य के लिए राज्य का प्रयोग कर सके। स्वतन्त्र विचार वहीं संभव है जहां आर्थिक स्वतंत्रता हो।"[1] बिना आर्थिक स्वतंत्रता के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई औचित्य नहीं रह जाता क्योंकि भूखे गरीब के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है।

देखा यह गया है कि प्रत्येक व्यवस्था में व्यवस्था के खिलाफ प्रदर्शित किये जाने वाले विचारों की अभिव्यक्ति को प्रत्येक व्यवस्था एक चुनौती की तरह लेती है और इसके परिणामस्वरूप राज्य की सत्ता की अभिव्यक्ति आर्थिक, सामाजिक दमन के रूप में सामने आती है, इस प्रकार राज्य जनता के प्रतिनिधि के तौर पर कार्य न करके एक उत्पीड़क की भांति कार्य करने लगता है, यह राज्य की अभिव्यक्ति का स्वरूप है, दूसरी ओर राज्य जब व्यापक पैमाने पर असंतोष की स्थितियों के सामना को लेकर आशंकित होता है तब वह अपने ही अधीन कुछ सरकारी और गैर–सरकारी संस्थानों के माध्यम से

प्रतिरोध की अभिव्यक्तियों को इजाद भी करता है, और इन संस्थानों के माध्यम से अपने ही खिलाफ प्रतिरोध की अभिव्यक्ति की जाती है और असंतोष की तीव्रता को वैधानिकता या लोकतांत्रिकता के नाम पर कम किया जाता है। इन दोनों ही स्थितियों से भिन्न एक तीसरे तरह की अभिव्यक्ति है जिसे वास्तविक अर्थों में प्रतिरोध की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, ये अभिव्यक्तियां विचार के स्तर पर नहीं होतीं बल्कि वैचारिक स्तर पर व्यावहारिक धरातल लिए होतीं हैं, ये वैधानिक नियमों के अंतर्गत हो भी सकतीं हैं नही भी हो सकतीं, इनमें कुछ प्रदर्शन, प्रतिरोध, आन्दोलन हिंसक हो सकते हैं और कुछ अहिंसक भी, लेकिन दोनों का लक्ष्य सम्पूर्ण व्यवस्था परिवर्तन का होता है और विश्व का व्यवस्थित नैतिक शासन का विचार इनका आधार, यानी एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण जो सभी प्रकार के दमन से मुक्त हो। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो राज्य की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वरूपों को व्यक्त करते आये हैं, ऐसी स्थिति में हमेशा राज्य द्वारा भय, हिंसा, दमन आदि का सहारा भी लिया जाता रहा है। लेकिन साथ ही साथ राज्य के खिलाफ असहमति के विचारों, प्रदर्शनों ने भी अपने अस्तित्व में समय समय पर बदलाव किये हैं।

यदि प्रिंट क्रांति से पूर्व सत्ता संरचना पर नजर डालें तो पता चलता है कि जिस आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर अभिजात्य वर्ग ने अपनी इजारेदारी कायम की थी, प्रिंट क्रांति के पश्चात जब वही ज्ञान लोगों के हाथों में पहुंचा तो आध्यात्मिक ज्ञान के भय की सत्ता की इजारेदारी खत्म हो गयी तब एक तरह से प्रिंट ने प्रतिरोध की भूमिका का निर्वहन किया। दरअसल, प्रिंट क्रांति अपने जन्म से ही प्रतिरोधी रही है। इस इजारेदारी के खत्म होने के साथ ही अभिजात्य ताकतों ने इलेक्ट्रानिक मीडिया इजाद किया और आज संसार के समस्त साधनों पर वैश्विक रूप से उन्हीं का एकाधिकार है और अब यह स्थिति है कि उस एकाधिकार को खत्म करने के लिए नागरिक समाज के सामने कोई विकल्प नहीं है और इसी विकल्प की तलाश में प्रतिरोधों की प्रकृति में भी बदलाव आ गया है। देखा यह जा रहा है कि अब सत्ता संरचना के प्रतिष्ठानों के साधनों के माध्यमों का उपयोग सार्वजनिक प्रतिरोध के लिए किया जाने लगा है।

''सफल प्रदर्शन आवश्यक रूप से वही नहीं होते जिनमें बहुत बड़ी संख्या में लोग भाग लेते हों, बल्कि वह होते हैं जो पत्रकारों के बीच कौतुक का विषय बन सकें। थोड़ी सी अतिशयोक्ति के साथ यह कहा जा सकता है कि पचास चतुर व्यक्ति यदि ऐसा कुछ कर पाते हैं जिसे टेलीविजन पर पांच मिनट का समय मिल सके तो उनका राजनैतिक प्रभाव पांच लाख प्रदर्शनकारियों से कहीं अधिक होता है।''[2]

पियरे बोरदियू (1994) की इस टिप्पणी को आज 21 वीं सदी के नये मीडिया के संदर्भ में भारतीय और वैश्विक रूप से देखें तो निश्चित तौर पर प्रतिरोध के ग्लैमराइजेशन और जन प्रतिरोधों की बदलती प्रकृति की वैधता को समझा जा सकता है, खासकर नग्न प्रतिरोधों, जल सत्याग्रह, सांस्कृतिक प्रतिरोधों के माध्यम से किये जाने वाले प्रतिरोध, मोमबत्ती जलाकर किये जाने वाले प्रतिरोध, मानव श्रृंखला बनाकर किये जाने वाले प्रतिरोध आदि नये प्रतिरोधों के संदर्भ में।

नये डिजिटल मीडिया के आने से उसकी लोकतांत्रिक एवं प्रतिरोधक क्षमता का इस्तेमाल करने का रास्ता मिला। इंटरनेट के आने से तात्कालिक प्रतिक्रिया की सुविधा हुई, छोटे हित समूहों की संभावनाएं अपने को अभिव्यक्त करने की ओर बढ़ी हैं। अन्ना मेलिना के शब्दों में I.C.T. के उदय जिसे टेलीमेटिक्स भी कहते हैं, ने पदानुक्रम के विमर्श को कम करने में तत्परता दिखाई है। डिजिटल मीडिया तकनीक ने पब्लिक स्फियर के निर्माण में सहयोग किया है और साइबर स्पेस ने व्यक्तिगत और उनके एक जैसे हितों, भौगोलिक और भौतिक दूरी के बीच सक्रिय संचार उपलब्ध कराया है।[3]

इस मीडिया के आने से पारंपरिक प्रतिरोध के तरीकों में जहां एक तरफ मजबूती आयी, वहीं दूसरी तरफ कहीं न कहीं इनके स्वरूप में ही पूरी तरह बदलाव भी आया है।

प्रतिरोध के बदलते स्वरूप

भारत के इतिहास में कई आंदोलनों जिन्होंने अहिंसक या शांतिवाद के दर्शन को आगे बढ़ाया, उन्होंने सफलतापूर्वक सामाजिक और राजनैतिक लक्ष्यों को पाया है। उन्होंने अहिंसक प्रतिरोध की रणनीतियों से एक पूरी पीढ़ी को प्रशिक्षित किया है जैसे– सूचना वारफेयर, पिकेटिंग, विजिल्स, लीफलेट्स, समिजडेट, मैगनीटिज्ड, सत्याग्रह, प्रोटेस्ट आर्ट, प्रोटेस्ट संगीत और कविताएं, सामुदायिक शिक्षा और चेतनावर्धन, लामबंदी, कर न चुकाना, सिविल अवज्ञा, बायकॉट या कानून तोड़ना, वैधकूटनीतिक रेसलिंग, सबोटेज भूमिगत रेल रोड, सैद्धांतिक रूप से पुरस्कार या सम्मान ग्रहण न करना, धरना देना, सामान्य हड़ताल आदि लेकिन आज इनके स्वरूप में एक खास तरह का बदलाव राष्ट्रीय स्तर से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक देखने में आ रहा है। भारत के सन्दर्भ में देखा जाए तो इन आन्दोलनों में पूर्णरूपेण राज्य की वैधानिकता का ख्याल रखा गया है जैसे कि राज्य की भी मांग इस तरह की होती है कि उसे सीधे सीधे सत्ता की चुनौती न मिले, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में इस तरह के प्रदर्शनों के अलावा सीधे चुनौती देने वाले संगठन भी शामिल रहे जो सत्ता को हिंसा के माध्यम से जड़ से उखाड़ फेंकना

चाहते थे, पर राजनैतिक सफलता उन्हें नहीं मिली, बल्कि जब भी इस तरह के विचारों ने राज्य के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की है बदले में राज्य ने मानवाधिकारों के हनन के हवाले से दमन ही किया है, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में महिला अधिकारों का आन्दोलन, श्रमिक आन्दोलन, नर्मदा बचाओ आन्दोलन, बचपन बचाओ आन्दोलन, आजादी बचाओ आन्दोलन आदि चल रहे हैं जो समग्रता में मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए प्रदर्शन कर रहे हैं, हालांकि इन आन्दोलनों का उद्देश्य व्यवस्था में सुधार का है परन्तु आज भी नक्सलवाद, उग्रवाद आदि के माध्यम से हिंसक प्रदर्शन भी हो रहे हैं जिनके स्वरूपों में भी बदलाव हुआ है, पर राज्यों द्वारा इन्हीं मानवाधिकारों की सुरक्षा के नाम पर प्रतिहिंसा बदस्तूर जारी है।

प्रतिरोधों के बदलते प्रदर्शन में भारत में 2004 में मणिपुर में सैनिक दमन के खिलाफ महिलाओं ने मिलिट्री ऑफिस के सामने नग्न प्रदर्शन किया। इसके अलावा, सिर मुड़वाकर प्रदर्शन करना, जल सत्याग्रह, सांस्कृतिक प्रतिरोध जैसे वृतचित्र, कार्टूनों के माध्यम से किये जाने वाले प्रतिरोध, मोमबत्ती जलाकर किये जाने वाले प्रतिरोध, मानव श्रृंखला बनाकर किये जाने वाले प्रतिरोध आदि आदि तरीकों का इस्तेमाल लगातार प्रचलन में आ रहा है। इसके अलावा, विभिन्न एसएमएस माध्यमों और सोशल नेटवर्किंग साइट्स भी जैसे फेसबुक, ट्विटर, व्हाट्स एप आदि पर लोग स्वयं को अभिव्यक्त कर पा रहे हैं और आंदोलन या प्रदर्शन के स्वरूप को वैश्विक पटल पर रख पा रहे हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों और तकनीकी परिवर्तनों के चलते नग्न प्रतिरोध का प्रचलन बढ़ा है। हालांकि सार्वजनिक नग्नता कभी–कभी प्रदर्शन को अधिक आकर्षित बनाने के लिए एक रणनीति के बतौर दुखोबोर्स के द्वारा सबसे पहले 20 वीं शताब्दी में उपयोग में लायी गयी। बाद में (खासकर 1909 के बाद) इसका व्यापक प्रसार हुआ। आधुनिक नारे इसमें शामिल हुए 'निशस्त्रीकरण के लिए कपड़े उतारना', 'शांति के लिए नग्नता' 'फर पहनने की बजाय मैं नग्न रहूंगा' आदि आदि। विश्व में कई तरह की संस्थाएं है जो नग्न प्रदर्शनों के माध्यम से अहिंसक प्रतिरोध करती हैं, जैसे – पेटा (पीपुल फॉर एथिकल ट्रीटमेंट ऑफ एनीमल्स)। यह जानवरों के अधिकारों के लिए लड़ने वाला समूह है और अपने नग्न प्रदर्शनों के लिए मशहूर है प्रत्येक वर्ष पेटा के कार्यकर्ता पूरे पेंपलोना में नग्न होकर दौड़ते हैं ताकि स्पेन में बैलों को लड़ाने की परंपरा समाप्त हो। कई समूह और व्यक्तियों ने नग्नता को, युद्ध विरोधी प्रदर्शनों के लिए उपयोग किया, कुछ समूह इस तरह के नारों का समावेश करते हैं।

अधिक संख्या में उभरे नग्न प्रतिरोधों में पश्चिमी महिलाएं प्रभावी रहीं, कइयों ने इराक में अमेरिकी सेना के खिलाफ प्रतिरोध किया, युद्ध विरोधी नारों को अपनी देह पर लिखा। पूर्ण स्वरूप में लेने पर यद्यपि नग्न प्रतिरोध नस्ल, राष्ट्रीयता और जेंडर और सभी प्रकार के प्रतिरोधों को अपने में समाहित करता है और इन सबसे परे है। उनमें सभी क्षेत्रों के भूमंडलीकरण विरोधी सक्रियतावादी शामिल हैं; ब्रिटिश पुरुष और महिलाएं लोमड़ी के शिकार के खिलाफ प्रतिरोध कर रहीं हैं। द. अफ्रीकी महिलाएं गंदी बस्तियों की सफाई और भारतीय महिलाएं पुलिस फौज की क्रूरता के खिलाफ प्रतिरोध कर रहीं हैं। यहां तक कि युद्ध विरोधी आंदोलन मार्च 2003 के एक साप्ताहांत में काफी फैला, कैलिफोर्निया की महिलाएं (60 नग्न महिलाएं जो 'शांति' शब्द उच्चारित कर रही थीं) और आस्ट्रेलियन महिलाएं (250 'नो वार' अपनी देह पर लिखकर) प्रदर्शन कर रही थीं।[4] ऐसे कई अन्य प्रदर्शनों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। यह काफी दिलचस्प है कि इस तरह के प्रतिरोधों की कोई खास विचारधारा नहीं है और हर तरह की विचारधाराओं से मुक्त एक विचारधारा भी है। इसलिए एक नयी तरह की गुंजाइश भी प्रतिरोध के स्तर पर बनती नजर आ रही है।

आज विश्लेषण करने की आवश्यकता है कि प्रतिरोध के बदलते ये स्वरूप पारंपरिक तरह के प्रतिरोधों के मनोविज्ञान से कितने अलग है और इनकी संभावनाएं भविष्य में कितनी हो सकतीं हैं? इसका कारण है कि अधिकतर विद्वान इन्हें मुख्यधारा के प्रतिरोध या फिर प्रतिरोध ही मानने से इंकार करते हैं और उच्छृंखलता या देह प्रदर्शन को सांस्कृतिक नैतिकता से जोड़कर देखते हैं। खासकर वे जो साधन और साध्य की शुचिता की बात को बड़े ही सतही ढंग से देखते हैं। लेकिन एक बात गौर करने लायक है कि लियो टालस्टॉय ने अपने उपन्यास 'पुनरूत्थान' से प्राप्त समस्त राशि उस समय के नग्न प्रदर्शनकारी दुखोबोर्स (जो स्वयं को स्वतंत्रता के पुत्र कहते थे) के नाम कर दी थी। टालस्टॉय उनके गहरे समर्थक थे। तब वहां नग्न प्रदर्शन नागरिक समाज में स्वीकार हो चुके थे और लोग अपनी वर्जनाओं से ऊपर उठकर आ रहे थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद युवा संस्कृति सांस्कृतिक क्रांति का केंद्र बनी। यह क्रांति आचरण और चलन में परिवर्तन, अवकाश का समय बिताने के तरीकों और व्यावसायिक कला के रूप में आ रही थी और शहर में उस वातावरण की रचना कर रही थीं। जब ये सांस्कृतिक क्रांतियां सार्वजनिक रूप से समूहों और आंदोलनों में व्यक्त हुईं तो वह कुछ–कुछ जनांदोलनों जैसी तो लगती थीं, उनका प्रभाव भी वैसा ही पड़ता था, लेकिन वैयक्तिकता ही उनके केंद्र में थी। शायद वर्षों के परिवर्तनवाद का ही परिणाम था कि नए नारीवाद का एक महत्वपूर्ण नारा बन गया–'जो वैयक्तिक है, वह राजनैतिक

है।'इसका सीधा–सीधा अर्थ था कि व्यक्तिगत पहल और संतुष्टि से ही राजनैतिक प्रतिबद्धताएं बनती हैं और राजनीतिक सफलता का मानदंड यह है कि उससे जनता कितनी प्रभावित हुई।

स्वतंत्र बाजार शक्ति ने युवजनों के लिए अपनी पहचान के भौतिक या सांस्कृतिक प्रतीकों को पा लेना सुगम कर दिया, लेकिन इस पहचान की रेखाओं को गहरा करने वाला ऐतिहासिक अंतराल वह अलगाव था जो 1925 में जन्म लेने वाली पीढ़ी और 1950 में जन्म लेने वाली पीढ़ी को अलग करता था। यह इतना बड़ा अंतर था जो माता–पिता और संतान के बीच में अतीत में पहले कभी नहीं रहा। नयी पीढ़ी ऐसे समाजों में जी रही थी जिनका अपने अतीत से विच्छेद हो चुका था। इस विच्छेद से पहले की कोई स्मृति उसके पास नहीं थीं। इन युवाओं के पास केवल एक बड़े राष्ट्रीय युद्ध की यादें थीं। ऐसा कोई तरीका नहीं था जिससे वह समझ सके कि उनके बड़ों ने क्या अनुभव किया था, उनकी अनुभूतियां क्या हैं? जब वह अपने गुजरे जमाने की चर्चा भी करना चाहते थे, तब भी वह इनसे बचते थे।

एक युवा भारतीय जिसने कांग्रेस को सरकार या राजनैतिक तंत्र के रूप में देखा है, वह यह कैसे समझ सकता है कि यह स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए देश की अभिव्यंजना रही है? या फिर दुनिया भर के विश्वविद्यालयों में आने जाने वाला भारत का युवा अर्थशास्त्री अपने ही शिक्षकों के बारे में यह कैसे सोच सकता था कि औपनिवेशिक काल में उनकी आकांक्षा सिर्फ इतनी थी कि वह अपने महानगरीय आदर्शों जैसे हो सकें। वैसे ही दक्षिण अफ्रीका में राजनैतिक निर्वासन भोगकर जब नेता 1990 के दशक में वापस स्वदेश पहुंचे तो उन्होंने पाया कि अफ्रीक्री नगरों में अफ्रीक्री नेशनल कांग्रेस के उसी झंडे के तले संघर्ष कर रहे उनके युवा साथियों की समझ बिलकुल बदली हुई है। कई दृष्टियों से इन देशों में पीढ़ियों का अंतराल पश्चिम की अपेक्षा कहीं अधिक था, जहां स्थाई संस्थाएं और राजनैतिक सातत्य बुजुर्ग और युवा पीढ़ी को सूत्रबद्ध बनाए रखता था। अब यह मान लिया गया था कि दुनिया ऐसे कई अरब लोगों से बनी है जिन्हें अपनी वैयक्तिक इच्छा की संपूर्ति में जुटे हुए समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसमें वह इच्छाएं भी शामिल हैं जो अब तक वर्जित थीं या जिन पर नाक–भौं सिकोड़ी जाती थी, अब उन्हें स्वीकार किया जाता है।

पब्लिक स्फियर की प्रकृति का बदलता स्वरूप

मीडिया तकनीकी के आने से जो सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए वे अलग किस्म के थे। 18वीं और 19वीं सदी में प्रेस का विस्तार हुआ, 20वीं में

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का उदय हुआ और 20वीं सदी के अंत में न्यू डिजिटल तकनीकी का।

मीडिया तकनीकी के बदलने के साथ पब्लिक स्फियर के बदलने को जर्गन हैबरमास ने अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफार्मेशन ऑफ पब्लिक स्फियर' (अंग्रेजी संस्करण 1989) में बेहतर ढंग से व्याख्यायित किया है।[5] इस अध्ययन के अनुसार 17वीं और 18वीं सदी के समय प्रेस का अविर्भाव निजी विचारों को सार्वजनिक करने रूप में था। इसने सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं के संबंध में तार्किक आलोचना के रास्ते को खोला और सरकारी आलोचना को विस्तार दिया। हैबरमास के अनुसार यही वह समय था जब खुला पब्लिक स्फियर अस्तित्व में आया था।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के उदय के साथ प्रदर्शन अब ज्यादा सार्वजनिक जगह में नहीं होता था। यह अब पब्लिक से निजी स्फियर की ओर मुड़ गया था, अन्य शब्दों में 'प्रत्यक्ष आडियंस' को तकनीकी ने प्रतिस्थापित कर दिया था। अब आडियंस न ही भौतिक स्पेस का उपयोग करते थे और न ही अक्सर सार्वजनिक स्थानों में कार्य को अंजाम देते थे (एबरकोम्बी और लांगरस्ट 2007)। अब अक्सर वे अपने घरों के निजी स्फियर में ही बातचीत करते थे।

हैबरमास मानते हैं कि पब्लिक स्फियर और तार्किक आलोचनात्मक वाद–विवाद जो अस्तित्व में थे वह घटकर बंद दरवाजों के बीच टेलीविजन के सामने तक सिमटकर रह गये। नये तरह का पब्लिक स्फियर का निर्माण हो गया था और निष्क्रिय तरह के ऑडियंस का। मीडिया ने पब्लिक स्फियर का रूपांतरण किया ताकि यह बड़े समुदाय के लिए उपलब्ध हो परंतु इसने अपना राजनैतिक चरित्र खो दिया। मीडिया की अंतर्वस्तु की गुणवत्ता खत्म हो गयी थी। लोकहित और नागरिकों से संबंधित मुद्दों की जगह सामान्य प्रेक्षक बनाने से मीडिया ने विचारधारा को निरस्त किया, साथ ही साथ उपभोक्तावादी दृष्टि से विज्ञापनों को रखा। अब 'नागरिक की भूमिका, उपभोक्ता की भूमिका' में तब्दील हो गयी। एक पुनः सामंती समाज का उदय हुआ और दुबारा प्रेक्षकों को एक शो का प्रबंध कराया जो सुपरनेचुरल अथॉरिटी की आज्ञाओं का पालन करता था।

जॉन कीन (2000) ने कहा कि यह विकास विभिन्न तरह के जटिल मोजेक का विकास है जो पब्लिक स्फियर के साथ अंतर्ग्रथित है और ओवरलेपिंग करता है। कीन ने तीन तरह के पब्लिक स्फियर को विशेषीकृत किया, माइक्रो–मीसो–मैक्रो। माइक्रो पब्लिक स्फियर बॉटम अप परिप्रेक्ष्य को अभिव्यक्त करता है। यह स्थानीय स्तर की जगह है जहां नागरिक विवादों में शामिल होते हैं। यह वैसा ही स्थान है जिसे हैबरमास व्याख्यायित करते हैं। डिस्कशन सर्किल, पब्लिषिंग हाउस, चच, क्लीनिक, कैफे।[6]

बातचीत के ये रूप अक्सर अदृश्य होते हैं और कभी–कभी सार्वजनिक रूप से भी दृश्य होते हैं।

मीसो–मीसो पब्लिक स्फियर राष्ट्र राज्य के रूप में प्रकट होते हैं जो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और अखबारों के बड़े पैमाने पर वितरण से मीडियेटेड होते हैं और मैक्रो पब्लिक स्फियर ग्लोबल स्तर पर बनते हैं, उन्हें औद्योगिक संबंध के रूप में चिह्नित कर सकते हैं जो राष्ट्र राज्य की सीमाओं को क्रॉस करते हैं या सैटेलाइट लिंक संचार व्यवस्था के रूप में होते हैं।

हैबरमास और कीन्स की पब्लिक स्फियर की अवधारणाओं को सामाजिक आन्दोलन के तरीकों में आये बदलावों के सन्दर्भ में नए सिरे से समझने की एक कोशिश मानना होगा ताकि न्यू सोशल मीडिया के माध्यम से पब्लिक स्फियर के बदलते स्वरूपों की पहचान संभव हो सके और भविष्य में राजनैतिक चेतना की व्यापकता का आकलन किया जा सके। इस दृष्टि से यह कार्य महत्वपूर्ण हो सकता है।

प्रतीकों की प्रकृति में बदलाव

अहिंसक क्रांतियों के प्रतीकों में भी एक खास तरह की भिन्नता आयी है। प्रतीकों के रूप में अब राष्ट्र के विशिष्ट प्रतीकों के रंगों का इस्तेमाल भी इन प्रदर्शनों के आकर्षण को बढ़ाने और अपने राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाने लगा है। इस दौर में अहिंसक क्रांतियों का स्थान अब रंगीन क्रांतियों ने ले लिया है जैसे जॉर्जिया की गुलाबी क्रांति, यूक्रेन की आरेंज क्रांति, मध्यपूर्व के लेबनान की सीडार क्रांति, बेलारूस की बनाना क्रांति, माल्दोआ की ग्रेप रिवोल्यूशन आदि और हाल ही में ट्युनीशिया और मिस्र में हुयी जैसमीन क्रांति।[7] इन क्रांतियों के पीछे भले ही एक खास एकाधिकार या सामरिक नीति की बात हो किंतु निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि इन क्रांतियों ने एक खास तरह के उद्देश्यों को लेकर लोगों को लामबंद करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

उपसंहार

विकास के साथ–साथ तकनीकी रूपों में आये परिवर्तनों ने प्रतिरोध के तरीकों में बदलाव अवश्य किये हैं। ये बदलाव अभिव्यक्ति के नए माध्यम भी हैं किंतु पारंपरिक तरीकों से भिन्न तरीकों में, हमें निरंतर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हम अपनी मूल्य प्रेरणा और सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक आचरण में संगति रखें, नैतिकताविहीन आचरण का मूल्यांकन सफलता के आधार पर होता है, सार्थकता के आधार पर नहीं। जीवन एक समग्र प्रक्रिया है, उसका कोई पक्ष एक दूसरे से कटा हुआ नहीं है। यदि

हम मानव जीवन का उद्देश्य यह मानते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में व सभी स्तरों पर उन मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, जो स्वयं उसी की सार्थकता है तो हमें अपनी राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज रचना को तदनुकूल विकसित करना होगा। यदि कोई समाज सरकार या संगठन ऐसा नहीं करता तो मानना होगा कि वह सही अर्थों में मानवीय और नैतिक नहीं है, और ऐसा कोई भी आचरण मानवाधिकारों के प्रतिकूल आचरण होगा, फिर चाहे वह आचरण राज्य द्वारा किया गया हो या फिर व्यवस्था परिवर्तन का उद्देश्य लेकर प्रतिरोध करने वाले नागरिक समाज द्वारा।

अभिव्यक्ति के अधिकार और प्रतिरोधों के बदलते स्वरूप के राजनैतिक महत्त्व को स्वीकारते हुए उसके शैक्षणिक पक्ष की ओर विचार करने की भी आवश्यकता है। अभिव्यक्ति स्वातंर्त्य के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण ही प्रसार माध्यमों पर किसी भी प्रकार के सेंसर या नियंत्रण का विरोध किया जाता है, लेकिन इसके सन्दर्भ में अपने मत की अभिव्यक्ति और तथ्यात्मक जानकारी के प्रस्तुतिकरण के बीच भेद करना होगा। सरकारी और गैर सरकारी, दोनों ही प्रकार के प्रसार माध्यमों और सामाजिक विज्ञानों से सम्बंधित ग्रंथों तक में कई बार तथ्यों को विकृत करने या उन्हें अधूरे रूप में प्रस्तुत करने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। सामान्यतः किसी भी प्रकार की राय हमें तभी गहराई से प्रभावित करती है जब वह तथ्यों पर आधारित हो, लेकिन तथ्यों को अधूरे या विकृत रूप में प्रस्तुत करने पर हमारी व्यवस्था भी दूषित होती है।

संदर्भ

1 आचार्य नंदकिशोर, मानवाधिकार के तकाजे, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर 2003

2 हाब्सबाम, एरिकः एज ऑफ एक्स्ट्रीम, अनुवाद–प्रकाश दीक्षित संवाद प्रकाशन, 2009।

3 (संपा.) अलेक्सेंद्र यूजेलक एंड विसरका, द चेंजिंग डायनामिक्स, इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल रिलेशन्स, जग्रोड क्रोएशिया 2008।

4 हैबरमॉस जर्गन, 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफार्मेशन ऑफ पब्लिक स्फियर', कैम्ब्रिज, एम.ए., एम आई टी. प्रेस 1989।

5 कीन जानः स्ट्रक्चरल ट्रांसफार्मेषन ऑफ द पब्लिक स्फियर इन हैकर, के.एल. एंड डीजेके, जे. संपादकः डिजिटल डेमोक्रेसीः इश्यूस ऑफ थ्योरी एंड प्रैक्टिस, लंदन सेज 2000।

6 थाम्पसन, बी. जानः 'द थ्योरी ऑफ द पब्लिक स्फियर' इन बायड–बेरेट, ओलिवर एंड न्यू बोल्ड, क्रिस (संपा.)ः एप्रोचेस टू मीडिया, ए रीडर लंदन, आर्नल्ड, 1995, पृष्ठ – 252

7 सोवेन इसाक, नेक्ड प्रोटेस्ट एंड द पालिटिक्स ऑफ पर्सनलिज्म, सराय रीडर 2005ः बेयर एक्ट

8 बारकन, आर (2001)ः 'द मोरल बाथ ऑफ बॉडिली अनकान्शसनेस'ः फीमेल न्यूडिज्म, बॉडिली एक्सपोजर एंड द गेज कंटीनुअमः जर्नल ऑफ मीडिया एंड कल्चरल स्टडीज, 15, 3, 303–317.

❖❖❖❖❖

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बनाम लोकतंत्र

ममता कुमारी •

'समाचार पत्रों की स्वतंत्रता एक पहरेदार श्वान की तरह है जो कभी–कभी भयंकर रूप धारण कर सकती है और उसकी घ्राण शक्ति हमें उन छिपे तहखानों तक ले जाती हैं जिनमें सरकारों, बड़े–बड़े औद्योगिक संस्थानों तथा बड़े–बड़े नेताओं के राज़ दफन हैं। चूंकि प्रेस समाज का पहरूआ होता है, वह सत्ता सहित औद्योगिक घरानों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार को उजागर करता है, इतना ही नहीं, वह समाज को सचेत भी करता है। इसलिए सत्ता संस्थान नहीं चाहते कि मीडिया की स्वतंत्रता बनी रहें।' – जैक एंडरसन

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात करते ही हमें एक विदेशी विद्वान के उपन्यास की याद आती है जिसमें विद्वान और एक खूंखार अपराधी को एक ही जेल में रखा जाता है। राजा उन दोनों में से किसी एक रिहा करना चाहता है। जनता के बीच में अघोषित निर्णय था कि राजा विद्वान को रिहा कर देंगे। राजा ने न्यायिक कार्यवाही करते हुए खूंखार अपराधी को रिहा कर दिया। राजा के वजीर ने पूछा कि ये क्या किया आपने, जनता में क्या संदेश जाएगा कि अपराधी को रिहा कर दिया और विद्वान को जेल में रहने दिया। राजा ने स्पष्ट कहा कि अपराधी के अपराध से हमारा कोई नुकसान नहीं होता है जबकि विद्वान समाज में प्रबोधन कर हमारा जीना हराम कर देता।

भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में कहा जाता है कि एक ओर जहां नीतियों पर बोलेंगे तो शायद आपको माओवादी या देशद्रोही साबित कर दिया जाएगा तो दूसरी ओर हम भारतीय सौभाग्यशाली हैं। सरकार के गलत कार्यों का सीधे विरोध कर सकते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हमारा मौलिक अधिकार है। सूचना का अधिकार अधिनियम हमें जानने का अधिकार प्रदान कर चुका है और मानव अधिकार घोषणा पत्र के जरिए भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को एक अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है। हमारा संविधान सभी नागरिकों को गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार देता है। भारतीय संविधान जहां विधि के समक्ष समता का अधिकार प्रदान करता है, वहीं भेदभाव पर रोक भी लगाता है। हमारा संविधान लोकसेवा में अवसर की समानता का अधिकार

• समाज कार्य केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

भी देता है। 1993 में भारत सरकार ने इन्हीं सब अधिकारों की रक्षा के लिए मानवाधिकार आयोग गठित किया। संविधान प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और मानवाधिकार घोषणापत्र में स्वीकार किए गए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार में परिलक्षित एकरूपता है। मानवाधिकार घोषणापत्र प्रत्येक व्यक्ति को बिना हस्तक्षेप के विचार रखने का अधिकार देता है। इसमें लिखित, प्रकाशित या अन्य किसी रुचिकर माध्यम के द्वारा सभी प्रकार की सूचनाएं जानने एवं उनके आदान–प्रदान की स्वतंत्रता का अधिकार सम्मिलित है।

26 जनवरी, 1950 में लागू संविधान द्वारा सभी भारतीय नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और न्याय का लिखित आश्वासन दिया और इसी के साथ जनता को मिला 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार'। यों तो भारतीय संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का अलग से जिक्र नहीं किया गया है, परंतु रमेश थापड़ बनाम मद्रास राज्य और ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के मामले में यह निर्धारित कर दिया गया कि संविधान के अनुच्छेद 19 (1क) में उल्लिखित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि जहां अमेरिका के संविधान में वाक् और प्रेस की स्वतंत्रता का उल्लेख किया गया है, वहीं भारतीय संविधान में मूल अधिकार के तहत वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का जिक्र है। संविधान में विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के संबंध में विस्तृत व्यवस्था का वर्णन किया है परंतु लोकतंत्र के चौथे स्तंभ प्रेस के संबंध में कोई प्रावधान नहीं किया गया है।

लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाने के लिए बोलने की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की आजादी बहुत जरूरी है और उसे आजादी की पहली शर्त माना जाता है। बोलने की स्वतंत्रता सभी अधिकारों की जननी है। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक मुद्दों पर लोगों की राय बनाने के लिए बोलने की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की आजादी महत्वपूर्ण है। मेनका गांधी बनाम भारतीय संघ के मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने बोलने की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की आजादी के महत्व पर जोर देते हुए व्यवस्था दी थी कि–लोकतंत्र मुख्य रूप से स्वतंत्र बातचीत और बहस पर आधारित है। लोकतांत्रिक व्यवस्था वाले देश में सरकार की कार्रवाई के उपचार के लिए यही एक उचित व्यवस्था है। अगर लोकतंत्र का मतलब लोगों का, लोगों के द्वारा शासन है, तो यह स्पष्ट है कि हर नागरिक को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार होना ज़रूरी है और अपनी इच्छा से चुनने के बौद्धिक अधिकार के लिए सार्वजनिक मुद्दों पर स्वतंत्र विचार, चर्चा और बहस बेहद जरूरी है।

लोकतांत्रिक शासन–व्यवस्था में मीडिया की स्वतंत्रता की अपनी विशिष्ट भूमिका होती है। भारत में प्रेस की आवश्यकता पर बल देते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने कहा था– 'व्यापक अर्थ में समाचार पत्रों की स्वतंत्रता केवल एक नारा नहीं किंतु जनतांत्रिक प्रक्रिया की एक आवश्यक विशेषता है। मैं दबे हुए या नियंत्रित समाचार पत्रों के बजाय स्वतंत्रता के दुरुपयोग के सभी खतरों से युक्त पूर्णतः स्वतंत्र समाचार पत्र अधिक पसंद करूंगा।' लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के उद्देश्य से संविधान के 19 वें अनुच्छेद में वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रावधान है अर्थात् प्रत्येक नागरिक को बोलने व अभिव्यक्ति की आजादी है। वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से तात्पर्य है– शब्दों, लेखों, मुद्रणों, चिह्नों या किसी अन्य प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त करना। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में किसी व्यक्ति के विचारों को किसी ऐसे माध्यम से अभिव्यक्त करना शामिल है, जिससे वह दूसरों तक उन्हें संप्रेषित कर सके। इस प्रकार इसमें संकेतों, चिह्नों, अंकों तथा ऐसी ही अन्य क्रियाओं द्वारा किसी व्यक्ति के विचारों की अभिव्यक्ति सम्मिलित है। यहां अभिव्यक्ति शब्द इसके क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर देता है। विचारों को व्यक्त करने के जितने भी माध्यम हैं, इस शब्द के अंतर्गत आते हैं। यह भाषण द्वारा अथवा समाचार पत्र, रेडियो, टीवी द्वारा संभव हैं। इस प्रकार वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कानूनी अभिप्राय इस प्रकार है– समाचारों और विचारों का मुद्रण एवं प्रकाशन, मुद्रित सामग्री का जनता में प्रसारण, सार्वजनिक विषयों पर खुली बहस, सरकार लोकसेवकों और सार्वजनिक प्राधिकरणों के कार्यों की समीक्षा और आलोचना, सरकार के एकाधिकरण व नियंत्रण से मुक्त होकर विभिन्न और परस्पर सूत्रों से तथा स्पर्धा के आधार पर सूचनाएं एकत्रित करना, सरकारी निर्देश से मुक्त होकर प्रकाशन सामग्री का चयन, पत्र का प्रसार और मूल्य निर्धारण आदि करना, पत्रकारों व प्रेस में संबंद्ध अन्य कर्मचारियों का किसी बाहरी निर्देशन या नियंत्रण के बिना चयन करना, प्रेस की स्वतंत्रता में पुस्तिकाएं, पत्रक और सूचना तथा विचारों के संवाहक हर प्रकार के प्रकाशन शामिल हैं। वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अंतर्गत किसी विषय पर विचार व्यक्त करने, मत बनाते समय बिना सरकारी हस्तक्षेप के सूचना या समाचार प्राप्त करने और प्रकाशित करने की स्वतंत्रता शामिल है। यह अधिकार इसलिए दिया गया है ताकि भारत जैसे वैविध्यपूर्ण देश में सबको अपनी बात कहने का मौका मिले। जाहिर है कि भारत जैसे विविधता वाले राष्ट्र में विचार और उसको अभिव्यक्त करने के तरीके भी भिन्न–भिन्न प्रकार के होंगे। इसलिए आवश्यक है कि अधिकारों में परस्पर सामंजस्य हो न कि विरोध, अन्यथा बोलने की आजादी के नाम पर अराजकता को बढ़ावा मिलेगा। यही वजह है कि इस आजादी पर कुछ युक्तियुक्त

निर्बंधन भी आरोपित किए गए हैं। संविधान के अनुच्छेद 19(2) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त निर्बंधन आरोपित करता है। यह अनुच्छेद ऐसे आठ आधारों की चर्चा करता है जिसके तहत अभिव्यक्ति की स्वंतंत्रता को सीमित किया जा सकता है। इनमें से कई आधार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये राज्य की सुरक्षा से जुड़े हुए हैं। ऐसी अभिव्यक्ति जो आंतरिक अशांति, राज्य के विरुद्ध युद्ध या व्यापक नुकसान वाले हिंसा को बढ़ावा देने वाली हों तो उसे रोका जाना चाहिए।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रतिबंध पर बात करते ही 1975 के आपातकाल पर ध्यान सहसा चला जाता है। स्वतंत्र भारत में वर्ष 1975 में आपातकाल की घोषणा कर दी गई थी। इसी के साथ पत्र–पत्रिकाओं पर सेंसरशिप लगा दी गई। 1975 में 25 जून की रात जब सभी सोए थे तो लोकतंत्र कुलांचे भरता नजर आया था। लेकिन न जाने क्यों यह रात बहुत ही बड़ी हो गई थी। जगने को तो समूचा भारत ही जगा था। लेकिन उस समय के सूरज में लालिमा की जगह कालिमा थी। आजादी की सुबह की जगह एक बार पुनः गुलामी की रात मुंह बाए खड़ी थी। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया गया था। प्रेस पर सेंसरशिप लगा दी गई। अखबारों की रात में ही बिजली काट दी गई जिससे कोई समाचारपत्र न छप सके। जो कुछ छपे थे, सभी ने इसका विरोध किया था। जब सुबह अखबार लोगों के हाथों में पहुंचा, उसके मुख्य पृष्ठ काले रंग से सने थे या फिर प्रश्नचिह्न लगाकर छोड़ दिये गए थे और संपादकीय स्तंभ भी या तो रिक्त थे या प्रश्नचिह्न लगाकर छोड़ दिये गए थे। कोई न कोई आपातकाल विरोधी प्रयत्न सभी के द्वारा किया गया था। सरकार ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बंदी बनाते हुए सारे समाचार पत्र जब्त करा लिये, उनके संपादकों को उनके इस दुःसाहस के लिए जेल में ठूंस दिया। किंतु तमाम प्रतिबंधों के बावजूद अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पूरी तरह ग्रहण नहीं लगा। पत्र–पत्रिकाओं पर सेंसर लगा तो भूमिगत बुलेटिनों ने कुछ हद तक इसकी क्षतिपूर्ति की। कुछ संपादकों ने संपादकीय का स्थान खाली छोड़कर तो कुछ ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में महापुरुषों की उक्तियों को छापकर सरकार का विरोध किया।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को इस व्यापक अर्थ में समझने पर ही उसके दमन या हनन और उसे प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले संघर्ष का अर्थ समझ में आता है। 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने इमरजेंसी और सेंसरशिप लगाकर केवल प्रेस की आजादी पर प्रतिबंध नहीं लगाया था अपितु उन्होंने उसके जरिए नागरिक स्वतंत्रताओं और जनता के जनवादी अधिकारों का हनन भी किया था। 2008 में भारत सरकार द्वारा सन् 2000 के सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम में धारा 66–ए को जोड़ा जाना

(जिसे पिछले मार्च, 2015 में सर्वोच्च न्यायालय ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाया गया अनुचित अंकुश मानकर निरस्त किया है)। इस धारा के अनुसार पुलिस को यह अधिकार था कि वह चाहे जिस अभिव्यक्ति को अपराध मानकर दमनात्मक कार्रवाई कर सके। उदाहरण के लिए, फेसबुक पर एक टिप्पणी लिखने वाली लड़की को ही नहीं, उस टिप्पणी को 'लाइक' करने वाली एक दूसरी लड़की को भी पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया।

दरअसल, सूचना क्रांति के दौर में सोशल मीडिया से जानने, समझने और अपने विचारों को व्यापक आयाम देने की आजादी मिली। आजादी का यह स्वाद तभी सार्थक कहा जा सकता है जबकि सोशल मीडिया या साइबर जगत में अपनी मौजूदगी दर्ज करा चुके लोग इस माध्यम की संवेदनशीलता को समझें। साइबर कानून के विशेषज्ञ पवन दुग्गल कहते हैं कि 'अदालत का यह फैसला बेहद संतुलित है लेकिन सरकारों के प्रति सजगता और दायित्वबोध की सीमा को बढ़ा देगा। खासकर भारत की विशेष परिस्थितियों में जहां शिक्षा के पर्याप्त प्रसार की कमी के बावजूद समाज के सभी तबकों में साइबर जगत की पहुंच अब आसान हो गई है। शिक्षा, रोजगार, आर्थिक हालात जैसे सामाजिक सरोकारों से इतर हर वर्ग के लोग किसी न किसी रूप में इंटरनेट की पहुंच में हैं। इस फैसले के माध्यम से अदालत का संदेश साफ है कि सरकारें कानून की तलवार से सोशल मीडिया पर नियंत्रण का चाबुक नहीं चला सकती हैं।' यह सर्वमान्य सत्य है कि देश में हर बड़ा फैसला राजनीति से प्रेरित होता है। धारा 66 ए का अब तक का इस्तेमाल पुलिस प्रशासन ने सोशल मीडिया पर सक्रिय युवाओं की सियासी जमात के खिलाफ उभरती आवाज को दबाने के लिए ही किया है। लेकिन गैर–कानूनी तरीकों से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का जो दमन और हनन किया जाता है, उसका क्या? पिछले काफी समय से धार्मिक या सांप्रदायिक आधारों पर बने विभिन्न प्रकार के लोगों के समूह और संगठन लेखकों, कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों, सामाजिक–राजनीतिक कार्यकर्ताओं, अखबारों और टी.वी. चैनलों के दफ्तरों आदि पर लगातार और उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में हमले कर रहे हैं। यह एक प्रकार की अघोषित इमरजेंसी और नितांत गैर–कानूनी, बल्कि आपराधिक किस्म की सेंसरशिप है, जिससे किसी लेखक–पत्रकार को खामोश कर दिया जाता है, किसी अखबार या टी.वी. चैनल का स्वर बदल दिया जाता है या दबा दिया जाता है, किसी कलाकार को देश छोड़कर दूसरे देश में जा बसने को मजबूर कर दिया जाता है, किसी सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्ता को जान से मार दिया जाता है, तो किसी साहित्यकार को जीते–जी अपनी साहित्यिक मृत्यु की घोषणा करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। इस इमरजेंसी और इस सेंसरशिप

के रहते अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है? स्वतंत्रता चाहे जीवनशैली की हो या फिर अभिव्यक्ति (रचनात्मक या संभाशणात्मक) की। लेकिन क्या इसकी कोई सीमा भी बांधी जानी चाहिए और रचनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से की जाने वाली आलोचना और अपमान के बीच कोई लकीर होनी चाहिए? धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने को लेकर भारत में भी समय–समय पर विवाद होता रहा है और कई पुस्तकों को प्रतिबंध का सामना करना पड़ा है। भारत में दो बड़े धर्मों हिन्दू और इस्लाम के अनुयायी धर्मों और धार्मिक पात्रों पर लिखी जाने वाली पुस्तकों, फ़िल्मों और कलाकृतियों को प्रतिबंधित करने के लिए अनुच्छेद 295 क का इस्तेमाल करते रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में असहिष्णुता में अधिक तेज़ी आई है और हिन्दुओं और मुसलमानों के समूहों ने कई बार हिंसक प्रदर्शन के माध्यम से किताबों, फिल्मों और नुमाइशें पर पाबंदी लगवाने में सफलता हासिल की है। प्रसिद्ध भारतीय ब्रिटिश लेखक सलमान रश्दी की किताब 'सैटेनिक वर्सेज़' पर मुसलमानों के विरोध और धमकियों के कारण भारत में 1988 में प्रतिबंध लगाया गया था। हाल के वर्षों में कुछ मुस्लिम संगठनों की धमकी के मद्देनज़र सलमान रश्दी जयपुर के साहित्यिक समारोह में शामिल नहीं हो सके। भारत में दर्जनों पुस्तकों पर तथाकथित 'धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने' के नाम पर प्रतिबंध लगा हुआ है। डी.एन. झा की पुस्तक 'द मिथ ऑफ़ द होली काउ', वेंडी डोनिगर की 'द हिन्दूज' और डेसमंड स्ट्वार्ट की 'अर्ली इस्लाम' आदि इन दर्जनों प्रतिबंधित पुस्तकों में शामिल हैं। बांग्लादेश की लेखिका तसलीमा नसरीन कुछ साल पहले कोलकाता में रहती थीं। वहां मुस्लिम अतिवादियों ने शहर की सड़कों पर उनके खिलाफ़ दंगा किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें शहर छोड़ना पड़ा और वह कोलकाता वापस न जा सकीं। हैदराबाद में एक पुस्तक के विमोचन के दौरान वहां के एक कट्टरपंथी मुस्लिम संगठन के कार्यकर्ताओं ने तसलीमा पर हमला किया था। देश के अग्रणी पेंटर मक़बूल फ़िदा हुसैन की बनाई गई हिंदू देवी और देवताओं की कुछ कलाकृतियों को कथित कट्टरपंथी हिंदू संगठनों ने हिन्दू देवताओं का अपमान करार दिया। मकबूल फिदा हुसैन की पेंटिंग प्रदर्शनियों पर हमले किए गए और वह चरमपंथियों के हमले के संभावित खतरे से अपनी धरती पर वापस न आ सके और विदेश में ही अंतिम सांस ली। अभिव्यक्ति की आजादी पर सबसे बड़ा हमला फ्रांस में व्यंग्य और हास्य की अग्रणी पत्रिका 'शार्ली एब्डो' पर हुआ। 'शार्ली एब्डो' के पत्रकारों की हत्या की भारत में हर तरफ निंदा की गई।

हम अक्सर समाज में हो रही कुरीतियों पर मुंह नहीं खोलते, आखिर क्यों? हम, लोगों की भावनाएं आहत होने की चिंता करने लगते हैं। जब राजा राम मोहन राय सती

प्रथा के खिलाफ लड़ रहे थे तो लोगों की भावनाएं आहत हुई। जब ईश्वर चंद्र विद्यासागर बच्चियों को शिक्षित करने की कोशिश कर रहे थे तो अनेक नारी विरोधियों की भावनाएं आहत हुई थीं। लेकिन अगर हम रूढ़िवाद की आलोचना करते हैं तो हो सकता है कि रूढ़िवादी भावनाएं आहत हों। तो क्या हमें अपना मुंह बंद रखना चाहिए? समाज में आतंकवाद, नारी विरोध, धार्मिक रूढ़िवाद और सभी किस्म की बुरी ताकतों के खिलाफ हमें आवाज उठानी ही चाहिए।

आज भूमंडलीकरण 'ग्लोबल विलेज' के दौर में जिस प्रकार से आमजन की आवाज को दबाया जाता है, उनके हक के लिए लड़ने वालों को जबरन दोषी करार दिया जाता है। आर्थिक विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों को कब्जा करने की होड़ को देखकर कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ केवल 'बोलने की आजादी' या 'प्रेस की आजादी' तक ही सीमित नहीं, कुछ और है। उसका वास्तविक अर्थ मनुष्य को अभी तक प्राप्त अभिव्यक्ति की क्षमता के आधार पर नहीं, बल्कि 'अब तक न पायी गई' अभिव्यक्ति की क्षमता के आधार पर ही समझा जा सकता है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से सीधा तात्पर्य है मनुष्य का मनुष्य होना और अपनी मनुष्यता को व्यक्त करने में सक्षम होना। लेकिन हमें सोचना चाहिए कि जो भूखा है, बीमार है, अशिक्षित है, बेरोजगार है, हर तरह से लाचार है और पशुओं का–सा जीवन जीता है, उसे आप अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दे भी दें, तो वह उसका क्या करेगा? वह स्वयं को व्यक्त करना चाहे और कर भी सके, तो क्या व्यक्त करेगा? कल्पना कीजिए कि आप एक ऐसे आदमी को देखते हैं, जो बेघर और बेरोजगार है, जो मांगकर या चुराकर या छीनकर या कूड़े–कचरे में से कुछ बीनकर खाता है। आप उसे कहते हैं कि 'तुझे बोलने की आजादी है, बोल, क्या बोलना है', तो वह क्या बोलेगा? बहुत होगा तो वह आपसे पेट भरने के लिए भीख मांगेगा और नहीं मिलने पर अपशब्द कहेगा।

आशय स्पष्ट है कि हमारे देश में और पूरी दुनिया में भी, ऐसे ही अमानुषिक बना दिये गये लोगों की संख्या सबसे ज्यादा है। इसी अनुपात में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता या मनुष्यता की अभिव्यक्ति सबसे कम है। जो मनुष्य पशुवत जीवन जी रहा है, वह अपनी मनुष्यता की अभिव्यक्ति कैसे करेगा? वह तो पशुता को ही व्यक्त करेगा। अतः उसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देने का अर्थ है पहले उसे पशु से मनुष्य बनाना और फिर उसे अपनी मनुष्यता की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाते हुए पूर्ण मनुष्यता की ओर ले जाना।

दूसरी तरफ उन लोगों को देखें, जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सबकी नहीं, सिर्फ अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के रूप में देखते हैं। उन्हें लगता है कि जो हम जैसा

नहीं है, वह मनुष्य नहीं है। जो हमारे धर्म का, हमारी जाति का, हमारी पार्टी का या हमारे विचारों का नहीं है, वह कोई मानवेतर प्राणी है। जो हमारा शत्रु है, और हमारा यह अधिकार है कि हम उसे या तो अपने वश में करके अपना गुलाम या पालतू पशु बना लें, या उसे मार डालें। आजकल अपने देश में, और दूसरे तमाम देशों में भी, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का यही रूप होता जा रहा है और इसकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। इसे हम सरेआम बरती और फैलायी जाने वाली घृणा, असहिष्णुता, हिंसा, बर्बरता, आतंकवाद आदि के विभिन्न रूपों में आए दिन देखते हैं। ऐसे लोगों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ समझाना और उन्हें उनकी मनुष्यता की याद दिलाकर अमानुषिक कृत्यों से विरत करना भी हमारी, हम सबकी, जिम्मेदारी है। उन्हें मनुष्य बनाने की जिम्मेदारी हम उन व्यवस्थाओं पर नहीं डाल सकते, जो खुद ही उन्हें अमानुषिक, नृशंस और बर्बर बनाने के लिए जिम्मेदार हैं।

यहां यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ है स्वयं अपनी मनुष्यता को बचाते और बढ़ाते हुए दूसरों को मनुष्य बनाना। यह एक आदर्श है, किंतु असंभव आदर्श नहीं। खोजने चलें, तो हमें आज की घोर अमानुषिक परिस्थितियों में भी मनुष्यता के उदाहरण मिल जायेंगे। मसलन, आप उन लोगों को देखें, जो शिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं, सृजनशील हैं, सभ्य और शिष्ट हैं, उदार और सहिष्णु हैं और जो घर–बाहर दोनों जगह आजादी, बराबरी और भाईचारे के जनतांत्रिक मूल्यों के अनुसार आचरण करते हैं। ऐसे लोग दुर्लभ नहीं हैं। खोजने चलेंगे, तो आप पायेंगे कि आपके आसपास ही ऐसे अनेक लोग हैं, जो आपके धर्म, आपकी जाति या आपकी–सी राजनीति वाले न होकर भी आपको मनुष्य मानते हैं। आप पायेंगे कि वे आपसे अपनी भिन्नता के आधार पर आपको अपने वश में करके अपना गुलाम या पालतू पशु बनाना अथवा ऐसा न कर पाने पर आपको मार डालना बिल्कुल न चाहते होंगे। वे 'सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट' की जगह सब मनुष्यों को समान मानकर 'जियो और जीने दो' वाली बात में, 'मारो–खाओ हाथ न आओ' की जगह 'दुनिया को बेहतर बनाओ' वाले दर्शन में और 'सबसे बड़ा रुपैया' की जगह 'प्रेम से बढ़कर कुछ नहीं' के शब्दों में विश्वास करते होंगे। वे दूसरों में दोष और बुराइयां ही नहीं, गुण और अच्छाइयां भी देखते होंगे। हर बुराई या खराबी के लिए समाज या सरकार को जिम्मेदार ठहराने की जगह कुछ बुराइयों और खराबियों के लिए खुद को भी जिम्मेदार मानते होंगे। वे समाज या राज्य की व्यवस्था को डंडे के जोर पर ठीक कर सकने वाले किसी तानाशाह को देश का शासक बनाने वाली बात की जगह लोकतंत्र को सच्चा लोकतंत्र बनाने तथा उसे बचाने–बढ़ाने वाली बात में विश्वास करते होंगे।

आप पायेंगे कि आपके आसपास बहुतेरे ऐसे लोग हैं, जिनके विचार ऊंचे और सामाजिक सरोकार बड़े हैं। जो स्वहित की बजाय सर्वहित के लिए भी सक्रिय रहते हैं। जो अपने भविष्य के साथ–साथ अपने पड़ोसियों और देशवासियों के भविष्य के बारे में भी सोचते हैं। जो स्वयं को पूर्ण मनुष्य बनाने के साथ–साथ दुनिया के सभी मनुष्यों को पूर्ण मनुष्य बनाने का स्वप्न देखते हैं और उस स्वप्न को साकार करने के लिए अभिव्यक्ति की जो भी और जैसी भी स्वतंत्रता उन्हें प्राप्त है, उसका सदुपयोग करते हैं। क्या यह सच नहीं है कि ऐसे लोग बोलेंगे, तो क्या बोलेंगे? वे एक तरफ मनुष्यों को अमानुषिक बनाने वाली व्यवस्था की आलोचना करेंगे, तो दूसरी तरफ अमानुषिक बना दिये गए लोगों को याद दिलायेंगे कि तुम्हें तुम्हारी मनुष्यता से वंचित कर दिया गया है या पूर्ण मनुष्य बनने से रोक दिया गया है, इसलिए इस व्यवस्था को बनाये रखने के बजाय इसे बदलो। इस दुनिया को बेहतर दुनिया बनाओ।

हमें यह कहने में गुरेज नहीं है कि स्थापित व्यवस्थाएं, चाहे वे किसी भी देश की हों, ऐसी स्वतंत्र अभिव्यक्ति को अपने लिए खतरनाक मानती हैं और उसका दमन करती हैं। ऐसी स्वतंत्र अभिव्यक्ति से उनके वे सब मठ और गढ़ असुरक्षित हो जाते हैं, जिनमें बैठकर वे मनुष्यों को अमानुषिक, गुलाम या पालतू पशु बनाती हैं। वे उनकी रक्षा के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन और हनन और तेजी से करती हैं। इससे अभिव्यक्ति के लिए जो खतरे पैदा होते हैं, एक नहीं अनेक होते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से ऐसी बात बोलना, जिससे बोलने वाले की मनुष्यता व्यक्त होती हो और उसके साथ–साथ दुनिया के सभी मनुष्यों के लिए 'अब तक न पायी गई अभिव्यक्ति' को पाने की संभावना पैदा होती हो।

सारांशतः अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, वर्तमान शताब्दी की आवश्यकताओं में से है और जिस समाज में अभिव्यक्ति और संचार माध्यमों की स्वतंत्रता न हो, वह लोकतांत्रिक व्यवस्था को धता बताकर तानाशाही समाज बन जाता है। यह बात स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ, अपमान, उपहास और अराजकता नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ सदैव अपने तार्किक व यथार्थवादी व्यवहार से हटकर सामने आता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनुष्य का एक सार्वभौमिक और प्राकृतिक अधिकार है और कोई भी राज्य व धर्म इस अधिकार को छीन नहीं सकता। सफल लोकतंत्र एवं राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए नैसर्गिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आवश्यक है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए भी नितांत ज़रूरी है। वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के आधार पर एक समाज स्वतंत्र रूप से बस सकता है और लोकतांत्रिक समाज का विकास तीव्र गति से हो सकता है।

संदर्भ लिंक :

1. http://www.rachanakar.org/2015/05/blog-post_30.html
2. http://www.chauthiduniya.com/2009/06/media-aur-kanoon.html
3. http://khabar.ndtv.com/news/india/taslima-nasreen-writers-should-have-full-freedom-to-express-1264378
4. http://www.bbc.com/hindi/india/2015/01/150110_religion_freedom_of_expession_rns
5. http://shabdanagari.in/post/22666/ABHIVYAKTI-ky-aur-pratibandh-3190604
6. http://behtarduniyakitalaash.blogspot.in/2015/05/blog-post.html

❖❖❖❖❖

सोशल मीडिया के दौर में नागरिक स्वातंत्र्य का मूल्यांकन

अपूर्वा दुबे, आई.ए.एस.*

मानवाधिकार और लोकतंत्र एक–दूसरे के पूरक विचार हैं तो अभिव्यक्ति का अधिकार दोनों का पोषक है। किसी भी सुदृढ़ समाज, राज्य एवं राष्ट्र के लिए अभिव्यक्ति का अधिकार एक दर्पण का कार्य करता है, यही कारण है कि मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना गया है।

भारत विश्व का एक विशालतम लोकतांत्रिक गणराज्य है। साथ ही भारत विविध धर्म, भाषा एवं संस्कृति सम्पन्न राष्ट्र है जिसमें व्यक्ति विशेष तथा समूहों की अपनी–अपनी अवधारणायें होना स्वाभाविक है जो परस्पर विरोधी भी हो सकती है तथा एक दूसरे के अनुरूप भी हो सकती है। अलग–अलग व्यक्तियों की अवधारणायें एक दूसरे के अनुरूप होकर एक नये विचार को जन्म देती हैं जो समाज एवं राष्ट्र निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

10 दिसम्बर 1948 को अस्तित्व में आयी मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में भी अभिव्यक्ति और विचारों की स्वतंत्रता को समुचित स्थान दिया गया है। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का महत्व इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि इस घोषणा ने अंतरराष्ट्रीय पटल पर मानव अधिकारों को एक मानक के रूप में स्थापित किया है। इस मानक ने कई राष्ट्रों के संविधानों के साथ–साथ अनेक अंतरराष्ट्रीय संधियों एवं प्रसंविदाओं को भी प्रभावित किया है।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 19 में स्पष्ट उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। इस अधिकार में हस्तक्षेप रहित विचारों के निर्माण का अधिकार तथा किसी भी स्रोत या माध्यम से सूचनाओं व विचारों का आदान–प्रदान अबाधित स्वरूप में प्राप्त करने का अधिकार भी निहित है। स्पष्टतः इस प्रसंविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को असीमित रूप से कोई जानकारी प्राप्त करने व प्रदान करने की स्वतंत्रता के अन्तर्गत प्रकाशन, मुद्रण, अथवा कला के किसी भी रूप या स्वरूप में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की

* एस.डी.एम. (सदर), बरेली (उ.प्र.)

गयी है। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अपरिहार्य स्वरूप से स्वीकारा गया है।

भारत के संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों को विशेष रूप से संरक्षित किया गया है तथा हमारा संविधान इन मूल अधिकारों की प्रत्याभूति देता है। संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकार उन सभी मानवाधिकारों के मूल स्तम्भ हैं जिन्हें हमारे संविधान निर्माताओं ने नागरिकों के जीवन के लिए अपरिहार्य माना है। इसी कारण से मौलिक अधिकारों को भारतीय लोकतंत्र की आधारशिला की संज्ञा दी जाती है।

मौलिक अधिकार भारत के संविधान के भाग 3 में समाविष्ट है तथा इन अधिकारों का विस्तृत रूप से वर्णन है। पूरा संविधान भारत की एक निर्माण गाथा के रूप में वर्णित है। हमारे राष्ट्र का निर्माण शनैः–शनैः होता रहा है जो एक क्रमिक प्रक्रिया है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद–19(1) में सभी नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार उपलब्ध हैंः–

(क) वाक्–स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति–स्वातंत्र्य का,

(ख) शांतिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का,

(ग) संगम या संघ बनाने का,

(घ) भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का,

(ड) भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, और

(च) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार, या कारोबार करने का

उक्त मूल अधिकार में प्रथम तीन अधिकार सर्वथा राष्ट्रीय हितों से पूर्णतया जुड़े हुए हैं। जिनके आधार पर राज्य इस स्वतंत्रता को नियंत्रित करने के साथ–साथ इन अधिकारों की परिसीमायें निर्धारित कर सकता है। इस संदर्भ में संविधान के अनुच्छेद 19(2) में प्रथम तीन खण्डों–(क),(ख),(ग) के प्रावधानों के संदर्भ में, अधिकार के प्रयोग पर भारत की संप्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार, न्यायालय की अवमानना, मानहानि तथा अपराध के लिए प्रोत्साहन के आधार पर, राज्य अभिव्यक्ति– स्वातंत्रय को युक्तियुक्त विधि द्वारा नियंत्रित कर सकता है। अनुच्छेद 19(5) व (6) में तथा खण्ड (घ),(ड), और (छ) में वर्णित अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से है परन्तु इन अधिकारों की परिसीमायें भी स्पष्ट रूप से निर्धारित एवं परिभाषित हैं।[1]

उपनिवेश काल के 1898 में भारतीय दण्ड संहिता में देशद्रोह का कानून बनाया गया था, जिसमें आजीवन कारावास अथवा तीन वर्ष तक की सजा का प्रावधान धारा 124–ए में किया गया है। वास्तव में ब्रिटिश उपनिवेश को जारी रखने के उद्देश्य से अंग्रेजों द्वारा इस कानून को बनाया गया था। आज के परिप्रेक्ष्य में कई विधिवेत्ताओं, राजनैतिक दलों तथा सर्वोच्च न्यायालय तक में समय समय पर इसकी आलोचना की जाती है क्योंकि यह नागरिकों की अभिव्यक्ति के मूल अधिकार पर प्रहार करता है। वहीं दूसरी ओर, राजनैतिक दल जब विपक्ष में होते हैं तो सत्ताधारी दल इस कानून के दुरुपयोग की आलोचना करते हैं, लेकिन वही दल जब सत्ता में होते हैं तो स्वयं वही कार्य करने लग जाते हैं। जब सरकार को घेरने एवं घोटालों को उजागर करने के लिए पत्रकारों, गैर सरकारी संगठनों द्वारा जायज विरोध प्रदर्शित किया जाता है तो उसे देशद्रोह की संज्ञा देकर धारा 124–ए के अन्तर्गत उनको प्रताड़ित किया जाता है।

यह सही है कि देश को विखंडित करने वाली ताकतों से निपटने के लिए एक असरदार कानून की जरूरत आज भी है। लेकिन सरकार को राज्य अथवा देश का पर्याय मानना सर्वथा अनुचित है। कोई काम देशद्रोह की संज्ञा तभी पा सकता है जब उसका दुष्प्रभाव पूरे देश की एकता, अखंडता एवं प्रभुसत्ता के लिए खतरनाक साबित होता हो। संविधान संशोधन अथवा विधि निर्माण की प्रक्रिया द्वारा इसके प्रावधानों को स्पष्ट रूप से इंगित करने तथा स्पष्ट व्याख्या करने की आवश्यकता है ताकि अभिव्यक्ति के अधिकार पर बार–बार चोट न पहुँचे। सरकार की स्वस्थ आलोचना का एक अपना ही मूल्य है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में तीन घटनाएं परिस्थिति को स्पष्ट करने में सहायक हैं। पहली घटना संविधान निर्माण के एक वर्ष के भीतर ही सन् 1951 की है जब रमेश थापर द्वारा मद्रास से प्रकाशित क्रॉस रोड पत्रिका में कई आपत्तिजनक आलोचनाओं को पाया गया तो उसी वर्ष मूल अधिकार के अनुच्छेद 19 में पहला संशोधन करके राज्य को राष्ट्र, जनहित एवं सुरक्षा जनित कारणों के आधार पर वाक्–स्वातंत्र्य अधिकार को परिसीमित करने का अधिकार दिया गया। दूसरी घटना सन् 1962 की है जब केदारनाथ बनाम बिहार सरकार मुकदमे में देशद्रोह–अपराध कानून की धारा 124–ए के तहत देश और सरकार की आलोचना में स्पष्ट अन्तर उभरकर सामने आता है। मुकदमे की सुनवाई में कांग्रेसियों तथा सरकारी अधिकारियों को गुण्डा कहते हुए सरकार, सत्ताधारी नेताओं एवं नौकरशाहों के खिलाफ क्रांति का आह्वान किया गया था। मुकदमे की सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस

भुवनेश्वर प्रसाद द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया था कि देशद्रोह का अपराध बहुत संगीन होता है। राज्य सरकार द्वारा बिना किसी ठोस प्रमाण के, सिर्फ किसी अभियुक्त की नीयत पर शक करते हुए उस पर राज्यसत्ता के खिलाफ हिंसक तख्तापलट का आरोप लगा देना जायज नहीं बनता। तीसरी घटना सन् 1985 की है जब पंजाब सरकार बनाम बलवंत सिंह मामले में उच्च न्यायालय ने खालिस्तान के पक्ष में नारेबाजी को आई.पी. सी. (IPC) की धारा 124–ए (देशद्रोह) लगाए जाने योग्य न मानते हुए अभियुक्त को बरी कर दिया था। इस फैसले में अदालत ने कहा था कि देशद्रोह सरीखे संगीन आरोप को साबित करने वाले प्रमाणों पर जो स्पष्ट कानूनी निर्देश उपलब्ध हैं, कई निचली अदालतें, विविध वजहों से उनकी अनदेखी कर ताबड़तोड़ फैसले दे देती हैं। इसी क्रम में वर्तमान संदर्भ में 2016 का जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय का कन्हैया प्रकरण[2] तथा 2015 में गुजरात के हार्दिक पटेल प्रकरण[3] का संदर्भ भी लिया जा सकता है। विचारधारा के नाम पर खून एवं घृणा की नीति को जायज नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि विचारधारा किसी भाग विशेष, किसी व्यक्ति विशेष, किसी अपराधी विशेष की भी हो सकती है और सभी अपने आप को सही ठहराते हैं लेकिन समय और अदालतें कानूनी शब्दों में समय के अनुसार रंग भरती हैं। कोई विचारधारा एवं अधिकार, राष्ट्र से बड़ा नहीं हो सकता। सभी विचारों एवं अधिकारों के सम्मान की यही परिधि भी है और परिभाषा भी, इसमें इमोशन या हिप्पोक्रेसी की गुंजाइश नहीं बनती। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के कन्हैया एवं उसके साथियों पर दर्ज केस, जिसमें देश के टुकड़े–टुकड़े करने से लेकर आजादी के आह्वान का मामला आता है। जिसे आई.पी.सी. के भाग 121 में देश के विरुद्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध छेड़ने के अन्तर्गत इरादतन संभावित हिंसा के रूप में संज्ञान लिया जाता है। प्रेस की आजादी के संदर्भ में भी यही कानूनी पहलू है।

हमें नहीं भूलना चाहिए कि हमारी सामन्तवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद से आजादी को अभी महज 70 साल ही पूरे हुए हैं। आजादी को सिर्फ आजादी रहने दें इसको उस हद तक विकृत न करें कि यह दम तोड़ दे तथा देश की प्रतिष्ठा एवं सभ्यता को चुनौती देने लगे। एक कवि ने सही ही लिखा हैः

"अर्थ के आवेश में तो चेतना बिकती नहीं है।
धार पानी की कभी तलवार से कटती नहीं है।
देश की जो सभ्यता को चाहते हैं सिर झुकाना।
सभ्यता है धूल की लय, वो कभी मिटती नहीं है।"

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि "जो अधिकार व्यक्तिगत रूप से एक नागरिक को प्राप्त है, वह प्रेस को विशेष रूप से नहीं दिये जा सकते। प्रेस का संपादक अथवा प्रबन्धक भी नागरिक है और जब वह अपने विचार समाचार पत्रों में छापता है, तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रयोग करता है। मैं नहीं मानता कि प्रेस की स्वतंत्रता का उल्लेख पृथक से करने की कोई आवश्यकता है।" स्पष्ट है कि प्रेस की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में समाहित है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ने हमारे देश में हम सभी को यह अधिकार दिया है कि बिना किसी विशेष योग्यता, धर्म जाति, आर्थिक या सामाजिक बंधन के आज हम अपनी अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता पूर्वक प्रकट कर सकते हैं। कहीं न कहीं, वर्तमान वैश्विक दौर में, सोशल मीडिया के आने पर समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। वर्तमान में युवाओं ने समय समय पर, भिन्न–भिन्न प्रकार से, अलग–अलग प्लेटफार्मों पर अपनी अभिव्यक्ति को बुलंद किया है जो व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का आधार बना है। यह एक क्रान्ति से कदापि कम नहीं है। इतिहास गवाह है कि जहां भी अभिव्यक्ति को प्रतिबंधित करने का प्रयास किया गया है वहां पर नागरिकों ने व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने का आगाज कर पूरी व्यवस्था बदल दी है। अभिव्यक्ति की आजादी, राष्ट्र निर्माण को अबाध गति प्रदान करती है। स्वतंत्रता के उपरांत, राष्ट्र के तीव्रगामी विकास में प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में अपना अमूल्य योगदान दिया है। हमारे देश में गरीब व पिछड़े वर्ग द्वारा प्रस्तुत किये गये विकल्पों एवं सुझावों ने हमारे राष्ट्र को अतुल्य बनाने में महती भूमिका निभाई है। विभिन्न समूहों द्वारा समय समय पर अभिव्यक्त किये गये सुझावों व तर्कों ने व्यवस्था की प्रक्रिया में अनेक परिवर्तन किये हैं जैसे कि सूचना का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, ई–गवर्नेंस आदि। उपर्युक्त अधिनियम/प्रावधान, व्यक्ति की अभिव्यक्ति की आजादी के ही परिणाम हैं। सरकार ने इस दिशा में निश्चित तौर पर ठोस एवं प्रभावी कदम उठाये हैं। यह कभी समाप्त न होने वाली एक सतत् विकास की प्रक्रिया है और आशा है कि यह कभी खत्म भी नहीं होगी। क्योंकि समय के साथ–साथ परिवर्तन क्रमिक विकास की मांग है।

इक्कीसवीं शताब्दी में सोशल मीडिया अभिव्यक्ति एवं वैचारिक आदान–प्रदान का लोकप्रिय माध्यम है जिसकी स्वीकार्यता दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। सोशल मीडिया एवं सूचना के अधिकार ने अभिव्यक्ति के अधिकार को अनौपचारिक एवं औपचारिक रूप से आकांक्षा एवं अपेक्षाओं में एक नई क्रांति को जन्म दिया है जिसके

प्रभाव त्वरित एवं दूरगामी हैं। इस नूतन माध्यम ने प्रेस, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्व को पुनः पुष्ट किया है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देश की समृद्धि के साथ–साथ अखबारों की संख्या तथा टी. वी. चैनलों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो रही है। इलेक्ट्रॉनिक क्रांति के इस नए युग में अब प्रत्येक नागरिक प्रिंट तथा इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों से सारी खबरों से सदैव जुड़ा रहता है। भविष्य में डिजिटल साक्षरता, सूचना एवं अभिव्यक्ति के अधिकारों को नया आयाम, नई दक्षता एवं सशक्तता प्रदान करेगी। प्रेस तथा इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों में, टी. आर.पी. की दौड़ की वजह से भड़काऊ, आलोचनात्मक, सनसनीखेज तथा अश्लीलता युक्त खबरों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई है तो वहीं दूसरी ओर शालीनता, समरसता, विकास एवं देशप्रेम की खबरों में गिरावट आई है। वर्तमान में, अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का जितना दुरुपयोग सोशल मीडिया और सूचना प्रौद्यौगिकी के आगमन से हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ। समाचार पत्रों के संपादकों की देश के प्रति यह नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि वे खबरों के प्रस्तुतीकरण, चयन एवं प्राथमिकताओं पर एक सजग एवं सीमांत प्रहरी की तरह कार्यरत दिखाई दें। मीडिया द्वारा राष्ट्र और समाज के निर्माण एवं हित में अपनी भूमिका एवं उत्तरदायित्व का सजगता के साथ निर्वहन अवश्य किया जाना चाहिए।

इस बात से भी गुरेज नहीं किया जा सकता कि विधायिका अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के निर्माण पर वाकपटुता और वाकयुद्ध के सिवा अभी तक एक निश्चयात्मक विधेयक नहीं ला पाई है। मीडिया ने स्वस्थ जनमत बनाने के अपने दायित्व का निर्वहन नहीं कर, काफी हद तक भ्रमित भी किया है। प्राइसटैग और टी.आर.पी. की वजह से समाचारों के मूल्यों में गिरावट आई है। मीडिया द्वारा प्रेरित गुवाहाटी काण्ड एक साक्षात उदाहरण है कि कैसे मीडिया ट्रायल और टी.आर.पी. के खेल में एक स्त्री की अस्मिता से सरेआम खिलवाड़ होता है।

जनता न चाहकर भी अटपटी एवं हल्की टी.वी. चर्चाओं को सुनने के लिए बाध्य है जनमानस भी कभी भावावेश में विरोधाभासी बातें कह जाता है। जैसे निर्भया केस में अपराधी की उम्र नहीं उसके अपराध की गम्भीरता को देखना चाहिए तो वहीं जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के कन्हैया प्रकरण में, छात्रों की अभी उम्र ही क्या है।

आई.टी. एक्ट 2000 में प्रदत्त भाग 66–ए के अन्तर्गत आपत्तिजनक संदेश को सर्वोच्च न्यायालय तक ने स्पष्टता के अभाव में अपराध घोषित करने में अपनी असमर्थता जताई है। वहीं दूसरी ओर राजनीतिक स्वार्थ की वजह से कानून होते हुए भी कार्रवाई नहीं होती। यदा–कदा खासकर किसी चुनाव के समय 'हेट स्पीच' की बरसात का दौर

सा निकल पड़ता है जिन पर कोई नियंत्रण या अंकुश की व्यवस्था बेजान प्रतीत होती है।

आई.पी.सी. में प्रदत्त 153–ए समरसता विरुद्ध घृणा एवं शत्रुता प्रेरित अभिभाषण, भाग 258 में धार्मिक भावनाओं को आहत करना एवं भड़काना जैसे कानून मृत प्राय से हो जाते हैं। अखलाख की मौत कथानक बन जाती है और किसी की मौत पर कानून बेजान हो जाता है। विशेष जाति, धर्म, नस्ल, लिंग अथवा राजनीतिक दल के व्यक्ति के ऊपर का कोई अपराध, न्यायालय चाहे मीडिया में एक बड़ा आकार ले लेता है जबकि उससे भी घृणित और निर्दयतापूर्वक अपराध किसी सामान्य व्यक्ति पर होने पर बहुत हल्के तरीके से लिया जाता है। ऐसा लगता है जैसे कानून अथवा व्यवस्था अथवा प्रक्रिया का भी अपना एक धर्म, जाति, दल एवं लिंग होता है। जबकि कानूनन, कानून सब के लिए बराबर है। मीडिया ट्रायल अथवा बहस से कानून के अनुपालन का काम मुश्किल हो जाता है तथा भ्रम की स्थिति सहज एवं सटीक प्रक्रिया को बाधित करने लगती है।

आज अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का असली स्वरूप, नव मीडिया अर्थात वेब मीडिया अथवा सोशल नेटवर्किंग साइट्स या सोशल मीडिया मसलन ह्वाट्सेप, फेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस, लिंक्डइन, माय स्पेस, पिंटररेस्ट, ऑरकुट, ब्लॉग इत्यादि ने दुनिया को एक सूत्र में बांध दिया है। जन जागरण से लेकर राजनैतिक आंदोलनों तक में सोशल मीडिया ने अल्प समय में ही महती भूमिका का अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

संविधान के अनुच्छेद 19 (1) के तहत हर नागरिक को अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है। यह सही है कि अधिकार असीमित नहीं है। संविधान ने धारा 19 (2) के तहत कुछ मर्यादाएं तय की हुई हैं। अगर किसी वेबसाइट को लेकर धारा 19 (2) के तहत तय की गई मर्यादाओं के उल्लंघन की शिकायत हो, तो उसे जेल में बंद करने का रास्ता भी सरकार के लिए खुला है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति जे. चेलमेश्वर और आर. एफ. नरीमन की पीठ ने 24 अप्रैल, 2015 को जनहित याचिका पर सुनवाई कर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को आधारभूत मूल्य घोषित करते हुए सूचना तकनीक कानून की धारा 66–ए को खत्म करने का निर्देश दिये हैं। इस मामले की सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने जांच का आदेश देते हुए दिशा निर्देश जारी किया कि ऐसे मामलों में पुलिस अधीक्षक स्तर के अधिकारी ही गिरफ्तारी का आदेश दे सकते हैं। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने असहमति और आलोचना को साइबर अपराध का रंग देकर नागरिकों के खिलाफ पुलिस–कार्रवाई की गुंजाइश समाप्त कर दी है। सूचना प्रौद्योगिकी

कानून 2000 की धारा 66–ए के द्वारा सोशल मीडिया पर अंकुश लगाने की क्रियान्वयन प्रक्रिया को ही गैर कानूनी ठहरा दिया है। हालांकि, आईटी एक्ट की अन्य धाराओं 69–ए और 79 को निरस्त नहीं किया गया है, ये कुछ पाबंदियों के साथ लागू हैं। धारा 69–ए किसी कंप्यूटर संसाधन के जरिए किसी सूचना को सार्वजनिक पहुंच से रोकने के लिए निर्देश जारी करने की शक्ति देती है और धारा 79 कुछ मामलों में मध्यवर्ती की जवाबदेही से छूट का प्रावधान करती है। सुप्रीम कोर्ट की दलील है कि स्वतंत्रता और स्वच्छंदता के बीच संतुलन कायम करना सरकार की जिम्मेदारी है। सरकारें खुद तय करें कि यह काम कैसे किया जाए। लेकिन कानून का भय दिखाकर बोलने की आजादी पर प्रतिबंध लगाना संविधान के अनुच्छेद 19 (1) के तहत प्रदत्त वैचारिक अभिव्यक्ति की आजादी का हनन है। इस सच्चाई से भी मुंह नहीं मोड़ा जा सकता है कि साइबर स्पेस में अधिकतर युवा वर्ग सक्रिय है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रतिबंध भी हैं जो इस अधिकार को नियंत्रित करते हैं। स्वतंत्रता अत्याधिक या अनियंत्रित बंधनों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकती क्योंकि उससे अराजकता और अव्यवस्था फैल जायेगी। संविधान का अनुच्छेद 19 व्यक्ति की स्वतंत्रताओं की एक सूची देता है और विभिन्न खण्डों में वे निर्बन्धन दर्शाता है जो उन पर राष्ट्रहित, लोकव्यवस्था, न्यायालय अवमानना, मानहानि, सदाचार इत्यादि के आधार पर लगाये जा सकते हैं। हमारे देश में विभिन्न वर्ग ,जाति, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय विद्यमान है जिनके शांति पूर्ण सह–अस्तित्व के लिए अभिव्यक्ति की आजादी को बंधनमुक्त अधिकार बनाना असंभव है क्योंकि इससे समाज अराजक एवं अस्वस्थ हो जाएगा। इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मूल परिसीमायें प्रत्येक प्रकरण में व्यक्ति और समाज के परस्पर विरोधी हितों के समायोजन के लिए निर्धारित की गई है तथा अन्य परिसीमायें मानवाधिकारों को बचाने के लिए परिभाषित है। हमारे संविधान की उद्देशिका जिसे सामान्यतः प्रस्तावना भी कहा जाता है, में भी इस तथ्य का स्पष्ट रूप से समावेश करते हुए इसी अवधारणा को स्पष्टतया उल्लिखित किया गया है कि :–

''विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढाने के लिए दृढ संकल्प होकर-- आत्मार्पित करते हैं''।

इस संविधान के संकल्प में, न केवल राष्ट्र की एकता, अखण्डता तथा उसकी संप्रभुता को अक्षुण्ण रखने की सम्पूर्ण व्यवस्था है अपितु नागरिकों के सर्वांगीण एवं चहुमुखी विकास हेतु भी प्रावधान शामिल हैं। यही कारण है कि राष्ट्र एवं नागरिक के

समेकित विकास हेतु अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मर्यादा को रखने के लिए बंधनों से सर्वथा मुक्त नहीं रखा गया है।

यदि हम नैतिकता का उदाहरण लेते हैं तो साइबर अपराध वर्तमान में आम है। निरंकुश स्वतंत्रता स्वच्छंदता को जन्म देती है तथा उसी का परिणाम अथवा विस्तार साइबर अपराध है। किसी व्यक्ति या समाज पर अभद्र टिप्पणी करना भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दुरूपयोग है। इसी दुरूपयोग पर अंकुश लगाने के लिए एस॰सी॰–एस॰टी॰ एक्ट/साइबर एक्ट/सूचना अधिनियम आदि कुछ नवीन विधियों का निर्माण किया गया है। जिससे कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति को संरक्षित किया जा सके। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में यह आवश्यक है कि इसका उपयोग कोई इस तरह न करें जो किसी व्यक्ति समाज के विपरीत हो अथवा नैतिकता को प्रभावित करता हो। इस स्वतंत्रता का दुरूपयोग, समाज में न केवल विषमता को बढावा देता है बल्कि राष्ट्र के निर्बाध विकास में भी एक बहुत बड़ी बाधा है।

भारत एक लोकतांत्रिक गणराज्य होते हुए भी नागरिकों के मानवाधिकारों का संरक्षण पूर्ण रूपेण नहीं कर पाता है। देश में व्याप्त गरीबी, अशिक्षा, मूलभूत सुविधाओं का अभाव, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, आतंकवाद, बढ़ते अपराध एवं देह–व्यापार की बढ़ती संख्या, भ्रष्ट राजनीति, भ्रष्ट प्रशासनिक तंत्र, यहां तक कि कतिपय भ्रष्ट जनता आज भारतीय लोकतंत्र को कलुशित और विकृत कर रहे हैं। सुस्त न्याय व्यवस्था खर्चीली होने के कारण धनी लोगों के लिए एक वरदान तथा गरीबों के लिए एक अवसाद का अनुभव कराती है। भारतीय मीडिया संवैधानिक रूप से भले ही स्वतंत्र हो लेकिन बहुतायतन इसका दृष्टिकोण, रवैया तथा प्रस्तुतिकरण निष्पक्ष नहीं जान पड़ता। इस परिस्थिति में, मीडिया सत्य से दूर एक प्रायोजित यंत्र के रूप में दिखाई देता है। समाचार के प्रस्तुतिकरण के तौर–तरीकों को लेकर मन में नाना प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं। आज के इस उपभोक्तावादी युग में भ्रामक तथा असहज करने वाले विज्ञापन एवं अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का दुरुपयोग, लोकतंत्र के लिए अच्छे संकेत नहीं हैं। मध्य वर्ग के लोग इन सबसे एक दूरी बनाते हुए अभिव्यक्ति से कतराते हैं, जिससे सामाजिक चेतना एवं स्वच्छंद विचारधारा मुखरित नहीं हो पाती है। हमारा लोकतंत्र गुणात्मक की जगह गणनात्मक गणराज्य बनकर रह गया है। जाति, समुदाय तथा अन्य समूहों में विभक्त वोट बैंक लोकतंत्र के के लिए एक खतरा है अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के समुचित संचालन एवं सम्प्रेषण के अभाव में आज लोकतंत्र कभी लाचार, कभी भ्रामक, तो कभी दिषाहीन प्रतीत होता है। बाहुबलि, अमीर एवं प्रभावशाली हस्ती वाले लोग ही चुनाव लड़ पाते हैं। कोई गरीब, नैतिक व्यक्ति न तो चुनाव लड़ने का साहस जुटा पाता है न ही

राजनीतिक दल इनको टिकट दे पाते हैं। यही कारण है कि भय के माहौल में महिलाएं चुनाव लड़ने एवं वोट देने में सदा से पिछड़ती रही हैं।

लोकतंत्र में स्वतंत्र तथा बंधन मुक्त अभिव्यक्ति का मूल अधिकार होना, सम्प्रभुता के अस्तित्व को प्रभावित कर सकता है। सम्प्रभु राष्ट्र में उसके निर्माण हेतु नागरिको को एक समान अधिकार एवं कर्त्तव्यों से परिपुष्ट किया जाना वर्तमान परिदृश्य में उचित है। राष्ट्रीयता की अवधारणा इतनी व्यापक है कि इसमें लोगों की भिन्न–भिन्न प्रकार की ऐसी प्रतिक्रियाएं होती हैं जो कहीं न कहीं उचित भी होती हैं, यह समझने की आवश्यकता है कि ऐसी प्रतिक्रियाओं को सकारात्मक रूप से अंगीकृत करने के लिए केवल लोक अभिव्यक्ति को ही आधार नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की अवधारणा के लिए संविधान की उद्देशिका में अवधारित प्रतिज्ञा का उल्लेख यथासमय समीचीन है। व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता को अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम संविधान की उद्देशिका का गहनता से विचार एवं मनन करें। इन अपरिहार्य परिसीमाओं के अतिरिक्त हमारा यह भी दायित्व है कि हमारा समाज जिस पड़ाव पर खड़ा है उसके प्रत्येक अवयव का न केवल समुचित संरक्षण हो बल्कि उसके प्राकृतिक क्रमिक विकास को भी सुरक्षित एवं संरक्षित किया जाये। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये हमारे देश के संविधान में कुछ संवर्गों/समूहों के व्यापक हितों को सुरक्षा भी प्रदान की गई है। उदाहरणार्थ वृद्धों के लिए सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम, अनुसूचित एवं अनुसूचित जनजाति के लिए अधिनियम आदि प्रभावी है। संविधान में समाज के प्रत्येक वर्ग के हितो की रक्षा के लिए संरक्षण प्रदान किया जाना सराहनीय है।

उक्त के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान की सीमा व्यापक है। कितना सम्मान किया जाये यह निर्धारित नहीं है। किसी विषय पर टीका टिप्पणी करने की आजादी अच्छी है। हम अधिकारों को सुरक्षित रखें तथा उनका अनुपालन कराये यह उचित है परन्तु हर समाज की अपनी परिसीमायें तथा मान्यतायें व परम्परायें है। एक तरफ हम स्वतंत्रता के पक्ष की तो दूसरी तरफ विपक्ष की बात करने लगते हैं जिसके कारण विरोधाभास की स्थिति पैदा होती है। हम लोगों की अवधारणा बन गयी है कि किसी घटना पर हम केवल उसके एक पक्षीय पहलू का परीक्षण करते है तथा इसी पहलू पर जनसाधारण की अभिव्यक्ति इतनी हावी हो जाती है कि इस घटना के अन्य दूसरे पहलुओं पर हम लोगों का कोई ध्यान नहीं जाता है। उदाहरणार्थ निर्भया काण्ड के कारण समाज के विभिन्न वर्गों की मांग के आधार पर जुवैनाइल/पास्को एक्ट में किये गये संशोधन पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता लेकिन इस तरह की घटनाओं

के उपरांत उपजी तात्कालिक अवधारणा/अभिव्यक्ति के आधार पर अधिनियमन नहीं होना चाहिए। लोकमत का राष्ट्र निर्माण में अत्यंत महत्व है परन्तु विधि के मूलभूत सिद्धान्तों को केवल लोकमत के आधार पर परिवर्तित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ निर्वाचन आयोग द्वारा विधि के मूल सिद्धान्तों के अनुसार बिना लोकमत प्राप्त किये भी वोटिंग प्रणाली में अनेक परिवर्तन किये गये है तथा इस परिर्वतन के परिणामस्वरूप पूर्व की अपेक्षा वोटिंग प्रतिशत में भी काफी वृद्वि हुई है। प्रत्येक अपेक्षा विधि अथवा शासकीय नियमों द्वारा पूरी हो यह राज्य की परिसीमाओं पर भी निर्भर करता है।

उक्त के अतिरिक्त यह विचारणीय है कि जब मूल अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त एवं संरक्षित है तो कर्त्तव्य को मूल अधिकारों के साथ अनिवार्य क्यों नहीं किया जाता? शायद इसलिए क्योंकि इसको अनिवार्य करने के लिए लोकप्रियता का अभाव है अथवा समुचित मापदण्ड नहीं है। कर्तव्यों के प्रति आम नागरिकों में अपेक्षित जागरूकता की भी कमी है। इसलिए भी इनको अनिवार्य नहीं किया गया कि जब हमारे मूल अधिकार प्रत्याभूति हो जायेंगे तभी कर्तव्यों की बात उठेगी। परन्तु मूल कर्त्तव्यों के बिना मूल अधिकारों की अवधारणा सर्वथा निर्मूल है। उदाहरणार्थ रेल की दोनों पटरियां साथ–साथ बिछायी जाती हैं। पहले एक पटरी बिछा लें उसके बाद फिर दूसरी पटरी यदि बिछायी जाये तो उसमें विषमता आना स्वभाविक है। वर्तमान में सरकार द्वारा स्वच्छ भारत मिशन की शुरुआत हमारे द्वारा स्वच्छता के प्रति जागरूकता के अभाव के कारण है। स्वच्छता हर व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है परन्तु इस कार्य हेतु सभी नागरिकों को समान रूप से उसके प्रति समर्पित होने की आवश्यकता है। यदि स्वच्छता को हम अपने विहित कर्त्तव्यों में समाविष्ट कर ले तो इस स्वच्छता के व्यापक परिणाम परिलक्षित हो सकते हैं। इसी प्रकार से अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी समन्वयन आवश्यक है जिससे कि विधि के प्रावधानों में भी समरसता एवं एकरूपता परिलक्षित हो सकेगी।

संविधान में 42 वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा (भाग 4–क) अनुच्छेद 51–क में 11 मूल कर्त्तव्यों[4] का समावेश किया गया है। उक्त मूल कर्त्तव्यों के सीधे प्रवर्तन के लिए या उनके उल्लंघन के निवारण के लिए किसी अधिशास्ति का कोई उपबंध नहीं है। लेकिन यह संविधान प्रदत्त एवं संविधान संगत है कि किसी विधि की संवैधानिकता निर्धारित करते हुये, यदि कोई न्यायालय यह पाता है कि इन कर्त्तव्यों में से किसी को प्रभावी करने के लिए इस विधि को बनाया गया है तो न्यायालय ऐसी विधि को अनुच्छेद 14 या 19 के सबंध में युक्तियुक्त मानेगा और वह विधि न्यायिक एवं संवैधानिक रूप से उचित मानी जाएगी। सबसे मूलभूत बात यह है कि हमने अपने अधिकारों के साथ अपने कर्त्तव्यों को समान महत्व प्रदान नहीं किया है। अधिकारों व कर्त्तव्यों के

सम्बन्ध में मूल समस्या यही है कि अधिकारों पर जितना बल दिया जाता है अपने कर्त्तव्यों को उतना ही नजरंदाज किया जाता है। हमने अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के सामंजस्य को समझने का प्रयास नहीं किया है। जो दूसरे व्यक्ति का अधिकार है वह हमारे कर्त्तव्य से आबद्ध है और दूसरे के कर्तव्य से ही हमारे अधिकारों की पूर्ति संभव है।

अनुच्छेद 21 में दैहिक स्वतंत्रता को काफी व्यापक किया गया है। दैहिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त बाद के संशोधनों में शिक्षा का अधिकार, ई–गर्वनेंस आदि भी संविधान प्रदत्त है परन्तु अपने अधिकारों की इस मरीचिका में कर्त्तव्यों की अनदेखी करने के कारण हम अपने अभीष्ट को पाने में समय से काफी पीछे रह गये हैं। हम में से अधिकांश अपने अधिकारों को तो थोड़ा बहुत जानते हैं परन्तु अधिकांशतः अपने कर्त्तव्यों को जानने का प्रयास तक नहीं करते। उदाहरणार्थ ट्रैफिक नियमों का उदाहरण ले सकते हैं। ट्रेफिक नियम सभी पर एक समान लागू हैं, प्रभावी है। सड़क पार करते समय कोई पैदल यात्री किसी वाहन से दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है तो उस दुर्घटना की जिम्मेदारी सामान्यतया वाहन चालक पर डाल दी जाती है। जबकि पैदल यात्री द्वारा लापरवाही पूर्वक सड़क पार करने से भी अधिकांश दुर्घटनायें होती हैं। यदि सड़क पार करने हेतु पैदल यात्रियों या साईकिल सवार हेतु पृथक से नियम बने हों अथवा सड़क पार करने के नियम उनके कर्त्तव्यों में सन्निहित हो तो इस प्रकार की दुर्घटनाओं पर नियंत्रण किया जा सकता है। नियम विरूद्ध पैदल सड़क पार करने अथवा गलत तरीके से साइकिल चलाने पर चालान की व्यवस्था होनी चाहिऐ। गरीब के साथ संवेदनशीलता आवश्यक है परन्तु प्रत्येक को अपने कर्त्तव्यों का भी समुचित ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है।

अधिकांश अभिव्यक्तियां लोकप्रियता पर आधारित होती हैं। जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी केस में अफजल गुरु की फांसी की आलोचना की गई। यह अलग विषय है कि अफजल गुरु की फांसी उचित थी अथवा नहीं परन्तु इस प्रकरण में कुछ आपत्ति जनक बातों को नकारा नहीं जा सकता। जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी के ऑडिटोरियम में जिस तरह से अफजल गुरु को लेकर नारेबाजी की गई तथा विरोध प्रकट किया गया उसको किसी भी परिस्थिति में अभिव्यक्ति की आजादी का हवाला देकर उचित नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार का विरोध तथा नारेबाजी, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति हमारी नकारात्मक सोंच एवं उद्दण्डता का परिचायक है। इस प्रकार के कृत्यों को हम अपने वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मापदण्डों में नहीं माप सकते। प्रत्येक व्यक्ति के चिन्तन का अपना एक सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक अभिमत होता है

जो उस व्यक्ति के विचार को दर्शाता है। निष्पक्ष होने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि उस व्यक्ति की अपनी कोई समझ नहीं होती। एक निष्पक्ष व्यक्ति वह होता है जो प्रत्येक विचार अथवा विचारधारा का उसके गुण–दोषों के आधार पर विश्लेषण एवं मूल्यांकन करे। साथ ही, निष्पक्ष होने का अर्थ यह भी नहीं है कि वह अपने पक्ष या अभिमत के साथ न रहे। अपितु प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा सतर्क रहना चाहिए तथा विचारधारा के नाम पर हो रही तमाम गतिविधियों के बीच के फर्क को सही ढंग से पहचाने। चाहे वामपंथी विचारधारा हो या दक्षिणपंथी विचारधारा, दोनों तथ्यात्मक रूप से अपनी जगह सही हैं। लेकिन जो लोग इन विचारधाराओं से बेमेल चेहरा बनकर या बनाकर या उसके नाम पर जो परचम लहराते हैं वह उन व्यक्तियों की वैचारिक दारिद्रय का द्योतक है। वामपंथ के नाम पर भारत की बर्बादी या टुकड़े–टुकड़े करने का आह्वान करना इत्यादि वामपंथ विचार से मेल नहीं खाता। बल्कि इन्हीं कारणों से वामपंथ की मूल भावना को ही नुकसान पहुंचता है। इसी प्रकार दक्षिणपंथ में राष्ट्रभक्ति और संस्कृति के नाम पर अथवा गोमांस के नाम पर अराजकता फैलाना, लोगों को अपमानित करना, विचारधारा का तिरस्कार है। विद्वेशपूर्ण विद्वेश–कलापों से नुकसान अन्ततः विचारधारा का ही होता रहा है। राजनैतिक दलों में जब विचारधारा से ज्यादा महत्व, व्यक्तियों को मिलने लगता है अन्ततः नुकसान दल का तथा उसकी विचारधारा का ही होता है।

अभिव्यक्ति और विचारों की समान रूप से स्वतंत्रता की अपनी परिसीमायें हैं। भारत में प्रत्येक तथ्य पर विभिन्न स्तरों पर विचार प्रकट करने हेतु कई प्रकार के मंच विद्यमान है तथा कोई भी व्यक्ति अपने विचारों को स्वतंत्रता पूर्वक व्यक्त कर सकता है। इन मंचों में मुख्य रूप से सोशल मीडिया तथा इलेक्ट्रॉनिक व प्रिंट मीडिया मुख्य है जिनमें अक्सर लगभग प्रत्येक घटना पर विस्तृत चर्चा या प्रतिक्रिया होती है। इन चर्चाओ में कुछ चर्चायें समाजोपयोगी होती है तो उसके साथ साथ कुछ हास्य प्रधान। परन्तु इनमें से महत्वपूर्ण एवं उपयोगी अभिव्यक्तियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी नैतिक अपराध या एस॰सी॰–एस॰सी॰ एक्ट या सैक्सुअल अपराध अथवा राष्ट्र–विरोधी कार्य में किसी व्यक्ति को यदि दण्डित किया जाता है तो उसके गलत कृत्य को उचित ठहराते हुये उस पर अपना अभिमत व्यक्त करने को उचित नहीं ठहराया जा सकता। यदि कोई कृत्य किसी व्यक्ति के विरूद्ध होता तो वह अलग है परन्तु राष्ट्र विरोधी कार्य पर किसी को दण्डित किया जाना अपने आप में एक बृहद अपराध है। इस पर अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के आधार पर नारेबाजी करना तथा गलत तथ्यों के उद्‌बोधन को अपना मौलिक अधिकार अवधारित करना कदाचित स्वीकार्य नहीं हो सकता।

हम अपने मूल अधिकारों के साथ साथ अपने विहित कर्त्तव्यों के प्रति भी उतने ही सजग रहेंगे तो हमको दूसरे के विरोध का सामना नहीं करना पड़ेगा और यदि हम दूसरे के अधिकारों को अतिक्रमित करने से अपने आपको रोकने में सफल होते हैं तो हम अपने कर्त्तव्यों का स्वतः पालन करने में सफल हो जायेंगे। कानून एवं व्यवस्था की लचरता इस कारण से है कि हमने संविधान में दर्शित नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों एवं संविधान के नीति निदेशक तत्वों को कानूनी जामा अभी तक नहीं पहनाया है। व्यक्ति और समाज के परस्पर विरोधी हितों के समायोजन के लिए परिसीमाएं मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए परिभाषित है। हमारे संविधान की उद्देशिका में भी इसी सामंजस्य और सर्वांगीणता की अक्षुण्णता मुखरित होती है। एक सजग नागरिक के लिए अधिकारों एवं कर्त्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करना अत्यंत अनिवार्य है। भारत सदियों से सभ्यता एवं सौहार्दता का एक प्रतीकात्मक देश रहा है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर देश, समाज, दल और व्यक्ति को अपमानित करना अथवा चोट पहुँचाना सर्वथा अनुचित है। अनेकता में एकता रूपी भारतीय समाज में मूल्यविहीन विरोध की स्थिति, समाज में कटुता एवं असमरता को उत्पन्न करती है। इसलिए सतत् विकास के पथ पर निरंतरता को बनाये रखने के लिए प्रत्येक नागरिक को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के समुचित बोध के साथ–साथ उसके सार्थक उपयोग का ज्ञान आवश्यक है। किसी राष्ट्र का सजग नागरिक ही उसका सृजनकर्ता एवं प्रहरी होता है।

---

1. इस उपबन्ध में उल्लिखित किया गया है किः–

   ''उक्त खंड के उपखंड (घ) और उपखंड (ड) की कोई बात उक्त उपखंडों द्वारा दिए गए अधिकारों के प्रयोग पर साधारण जनता के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के हितों के संरक्षण के लिए युक्तियुक्त निर्बधन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बधन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेंगी।

   उक्त खंड के उपखंड (छ) की कोई बात उक्त उपखंड द्वारा दिए गए अधिकार के प्रयोग पर साधारण जनता के हितों में युक्तियुक्त निर्बधन जहां तक कोई विद्यमान विधि अधिरोपित करती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या वैसे निर्बधन अधिरोपित करने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी और विशिष्टया उक्त उपखंड की कोई बात–

   (i) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के लिए आवश्यक वृत्तिक या तकनीकी अर्हताओं से, या

   (ii) राज्य द्वारा या राज्य के स्वामित्व या नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई व्यापार, कारबार, उद्योग या सेवा, नागरिकों का पूर्णतः या भागतः अपवर्जन करके या अन्यथा, चलाए जाने से, जहां तक

कोई विद्यमान विधि संबंध रखती है वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या इस प्रकार संबंध रखने वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित नहीं करेगी।''

2. कन्हैया एवं उसके साथियों के अपराध को पुलिस द्वारा आई.पी.सी. की धारा 124–ए (देशद्रोह) तथा धारा 120–बी (आपराधिक षड़यंत्र) के अन्तर्गत दर्ज किया गया था।

3. हार्दिक पटेल की अपनी पटेल जाति के लिए आरक्षण आंदोलन के दौरान, घटित हिंसात्मक घटनाओं तथा कानून व्यवस्था बिगड़ने पर पुलिस द्वारा आई.पी.सी. की धारा 124–ए (देशद्रोह), धारा 121–ए (षड़यंत्र) तथा तथा धारा 120–बी (आपराधिक शड़यंत्र) के मामले दर्ज किए गए थे।

4. (क) संविधान का पालन करें और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्रगान का आदर करें,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखें और उनका पालन करें,

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण रखें,

(घ) देश की रक्षा करें,

(ङ) भारत के सभी लोगो में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करें,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझें और उसका परिरक्षण करें,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और उसका संवर्द्धन करें,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण और ज्ञानार्जन की भावना का विकास करें,

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखें,

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करें,

(ट) माता पिता अथवा अभिभावक अपने छः से चौदह साल के बच्चों को शिक्षा के लिए अवसर प्रदान करें,

❖❖❖❖❖

खण्ड – दो

स्त्री संवेदी बजट

भारत में जेंडर संवेदी बजट का यथार्थ

डॉ॰ सुप्रिया पाठक •

भारत में जेंडर संवेदी बजट पर विगत 10 वर्षों से निरंतर प्रयास जारी है जिसका मूल्यांकन करने पर मिश्रित तस्वीर देखने को मिलती है। हालांकि कई सकारात्मक परिवर्तन हुए भी हैं जैसे नीति निर्माण में, बजटीय आवंटन तथा जेंडर संवेदी प्रकोष्ठों की स्थापना के माध्यम से। फिर भी, कुछ महत्वपूर्ण चुनौतियां भी बनी हुई हैं जैसे GRB जेंडर संवेदी प्रकोष्ठों की सीमित संख्या, आवंटनों में निरंतर कमी तथा जेंडर एजेण्डे के प्रति व्याप्त पूर्वाग्रह। उन पहलुओं को शामिल करते हुए सरकार से सुधारों की अपेक्षा है।

मुख्य शब्द : जेंडर, जेंडर संवेदी बजट, लक्ष्य, उपलब्धि, मूल्यांकन एवं अनुशंसा

जेंडर बजटिंग अथवा जेंडर संवेदी बजट से तात्पर्य ऐसे बजट से है जिससे समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों के बीच समानता की समझ विकसित कर राज्य की विभिन्न नीतियों एवं कार्यक्रमों हेतु धनराशि आबंटित की जाए। यह कोई लेखांकन कार्य नहीं बल्कि सतत प्रक्रिया है जिसके जरिये यह सुनिश्चित किया जाता है कि विकास के लाभ एवं अवसर बिना किसी लिंगभेद के सभी को समान रूप से प्राप्त हो सकें। जेंडर बजट के अंतर्गत कार्यक्रम एवं नीति निर्माण, लक्षित वर्गों की आवश्यकताओं का आकलन, वर्तमान नीतियों एवं दिशा निर्देशों की समीक्षा, संसाधनों का वितरण, कार्यक्रमों का क्रियान्वयन, परिणामों का आकलन, संसाधनों का प्राथमिकता के आधार पर पुनः निर्धारण जैसे विभिन्न चरणों में महिलाओं के परिप्रेक्ष्य से भी ध्यान रखा जाता है। इसके तहत, स्त्री पुरुष असमानता के तत्वों का पता लगाने एवं महिलाओं के प्रति प्रतिबद्धता को बजटीय प्रतिबद्धताओं में परिणित करने हेतु सरकारी बजट का आवंटन किया जाता है। इस प्रक्रिया के तहत अलग से बजट नहीं बनाया जाता बल्कि महिलाओं की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सकारात्मक कदम उठाने का प्रावधान किया जाता है।

• सहायक प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

जेंडर संवेदी बजट बीते दो–तीन दशकों से चर्चित हुआ शब्द है। इसके जरिए राष्ट्र–राज्य की कोशिश होती है कि किसी भी सरकारी योजना के लाभ को महिलाओं तक इस तरह पहुंचाया जाए ताकि लैंगिक तौर पर पुरुषों और महिलाओं के बीच जो विकास की खाई बनी हुई है, उसको पाटा जा सके। महिलाओं को बेहतर जीवन–स्तर मुहैया कराने की कोशिश की जाती है जिससे सामाजिक तौर पर पुरुषों की तुलना में वे पीछे न छूट जाएं। अवधारणा के स्तर पर यह महिला सशक्तिकरण का ही विस्तार है जिसमें महिलाओं के विकास को स्वतंत्र रूप से न देखकर पुरुषों के बराबर पहुंचाने की कोशिश की जाती है। जेंडर बजट का यह मतलब कतई नहीं है कि महिलाओं के लिए अलग से बजट पेश किया जाए बल्कि इसका मतलब यह है कि मुख्य बजट में ही कुछ ऐसी व्यवस्था की जाए ताकि सामाजिक व लैंगिक दरार को भरने में ये मदद कर सके। खर्च और आमदनी को सरकार यदि इस तरह व्यवस्थित करती है कि सामाजिक विकास में पीछे छूटती आधी आबादी को मदद पहुंच सके तो इसे ही लैंगिक तौर पर संवेदनशील बजट कहा जाता हैं। इसमें वंचित, कमजोर और बेसहारा महिलाओं पर ज्यादा जोर होता है। प्रयोग के स्तर पर ऑस्ट्रेलिया से इसकी शुरुआत मानी जाती है जहां पर 1980 के दशक में पहली बार इसका इस्तेमाल किया गया। इस समय भारत सहित दुनिया में तकरीबन 70 देश ऐसे हैं जहां जेंडर बजट के प्रयोग हो रहे हैं। भारत में औपचारिक तौर पर 1997–98 के बजट में इसको पेश किया गया, लेकिन सातवीं पंचवर्षीय योजना से ही महिला एवं बाल विकास विभाग के तहत इसको लेकर प्रयास शुरू हो चुके थे।[1]

भारत में जेंडर संवेदी बजट की आवश्यकता

भारत में मानव विकास संबंधी उपलब्धियां भारत की 586 मिलियन महिलाओं के विकास और सशक्तीकरण पर निर्भर करती है जो वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत की कुल जनसंख्या का 48.9 प्रतिशत है। इसके बावजूद उनकी संसाधनों तक पहुंच एवं उन पर नियंत्रण के संबंध में वह घोर असमानता की शिकार हैं। इन असमानताओं को स्वास्थ्य, शिक्षा, पोषण, रोजगार, कौशल विकास तथा अन्य क्षेत्रों में देखा जा सकता है। लिंगानुपात की दृष्टि से भी स्त्रियों की स्थिति अत्यंत शोचनीय है जहां प्रत्येक 1000 पुरुष पर महिलाओं की संख्या मात्र 940 है। इसके अतिरिक्त, निजी एवं सार्वजनिक जीवन की बाध्यताएं भी उनकी गतिशीलता को प्रभावित करती है। श्रम के क्षेत्र में समुचित भागीदारी ना हो पाने के कारण भी आर्थिक प्रक्रियाओं में उनकी उपलब्धि संतोषप्रद नहीं है। यह सिर्फ भारत ही नहीं, बल्कि किसी भी देश की

अर्थव्यवस्था के लिए उचित नहीं है। अतः महिलाओं के सशक्तीकरण हेतु जेंडर संवेदी बजट महत्वपूर्ण साधनों में से एक है। इसका प्रयोग सैद्धांतिक स्तर पर विभिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है जैसेः

1. स्त्रियों के दृष्टिकोण को शामिल करते हुए आर्थिक प्राथमिकताओं का पुनः निर्धारण।
2. आर्थिक नीतियों के निर्माण में महिलाओं को मुख्यधारा में लाना।
3. महिलाओं के लिए किए जाने वाले सार्वजनिक व्यय और विकास संबंधी नीतिगत संकल्पनाओं की निगरानी।
4. यथासंभव स्त्री पुरुष समानता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रयास।

वस्तुतः सरकार द्वारा इस प्रक्रिया को शामिल करने का प्रमुख उद्देश्य समाज में जेंडर समानता को स्थापित करना है जिसे निम्नलिखित चित्र के माध्यम से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

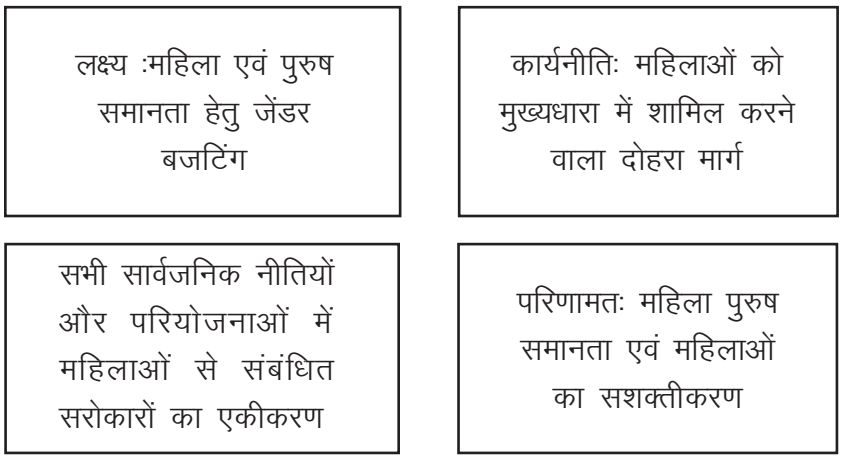

विगत कुछ वर्षों में वैश्विक स्तर पर भी महिलाओं की स्थिति में सुधार हेतु कई सम्मेलन एवं सभाएं आयोजित की गईं जिसमें भारत सहित अन्य कई देशों ने भी जेंडर संवेदनशीलता के लिए गहरी प्रतिबद्धता व्यक्त की। इनमें कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण वैश्विक समझौते भी थे जिन पर भारत सरकार ने भी हस्ताक्षर किए। जैसे *CEDAW* विएना सम्मेलन 1993, *IECDP* 1994, बीजिंग सम्मेलन 1995, राष्ट्रमंडल कार्य योजना 1995, संयुक्त राष्ट्र सभा का 23वाँ विशेष सत्र 2000, सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्य इत्यादि। भारत

में 1974 में महिलाओं की स्थिति संबंधी समिति द्वारा समानता की ओर विषय पर एक प्रतिवेदन प्रकाशित किए जाने के बाद भारत सरकार को देश में महिलाओं की वास्तविक स्थिति का आभास हुआ, जिसके बाद सरकार ने उनकी आर्थिक, सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए कई सकारात्मक प्रयास किए। इसी बीच संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महिलाओं से संबंधित प्रथम सम्मेलन 1975 में आयोजित किया गया जिसे बाद में क्रमशः 1980, 1985, 1995 में भी आयोजित किया गया जिनमें राष्ट्रों की सरकारों ने महिलाओं के विकास एवं लिंग समानता हेतु तंत्र विकसित करने की शपथ ली गई। इसी क्रम में जेंडर संवेदी बजट को भी समझा जा सकता है। सर्वप्रथम दसवीं योजना (2002 से 2007) के दौरान स्त्री पुरुष असमानता के प्रभाव का पता लगाने और लिंग संबंधी प्रतिबद्धताओं को बजटीय प्रावधानों में बदलने के लिए सरकार के बजट को विभाजित करने की प्रक्रिया को जारी रखकर जेंडर बजटिंग करने की भारत सरकार ने शुरुआत की। वर्ष 2004–05 में औपचारिक रूप से जेंडर बजटिंग प्रकोष्ठ की स्थापना के आदेश दिए गये एवं बजटीय आंकड़ों को इस प्रकार प्रस्तुत करने पर बल दिया जाने लगा जिससे कि बजटीय आवंटनों में लैंगिक संवेदनशीलता स्पष्ट रूप से दिख सके।[1]

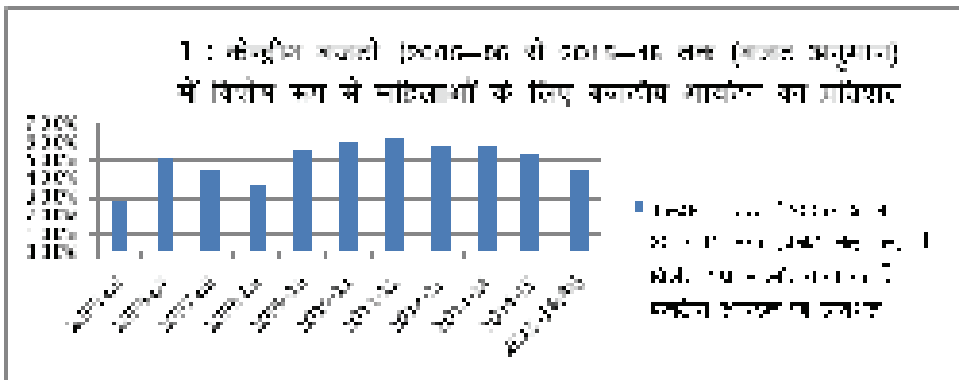

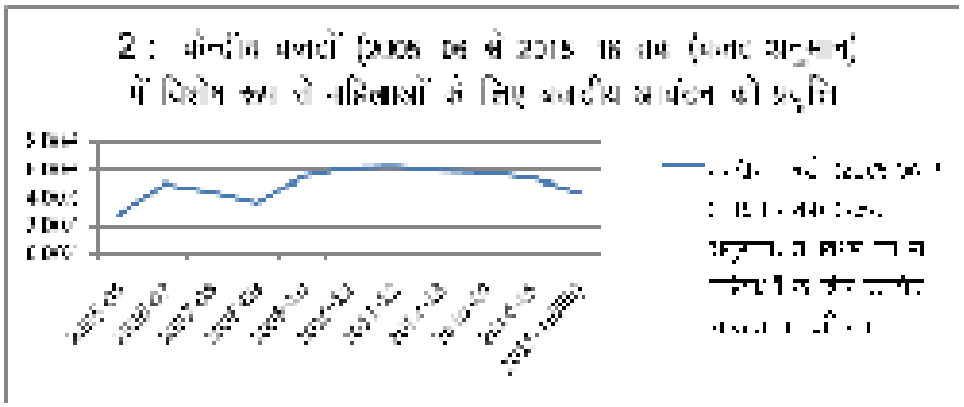

वर्ष 2016–17 के जेंडर संवेदनशील बजट में अंतर्निहित समीक्षात्मक पहलू

वर्ष 2015 विकास की नीतियों को तय करने के संबंध में कई कारणों से युगांतकारी रहा। समेकित विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने तथा जेंडर समानता के प्रति प्रतिबद्धता को बनाए रखने के लिए भी यह महत्वपूर्ण था। साथ ही, यह वर्ष 2004–05 में महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के द्वारा अभियान में अपनाए गए महत्वपूर्ण लक्ष्य ''जेंडर समानता के लिए बजटिंग'' के मूल्यांकन का भी वर्ष था। 2005 में प्रस्तुत किए गए बजट में शामिल जेंडर बजट प्रस्ताव न सिर्फ भारत में बल्कि पूरी दुनिया में चर्चा का केंद्र बना, जिसने न सिर्फ अब तक सार्वजनिक दुनिया में प्रचलित बजट प्रावधानों में हस्तक्षेप किया अपितु बजट निर्माण के दौरान जेंडर के मुद्दे को गंभीरतापूर्वक केंद्र में रखने के लिए जमीन भी तैयार की। उसके बाद से ही, यह जेंडर संवेदी बजट बहुत रोचक तरीके से भारत में वृद्धि करता गया। हालांकि इसके प्रारंभिक चरणों के सभी पहलुओं पर चर्चा करना जटिल है परंतु व्यापक स्तर पर तीन मुख्य प्रवृत्तियां थीं जिन पर कार्य किया गया

1. सर्वप्रथम, जेंडरगत मुद्दों को समझने का प्रयास किया गया जिसके दौरान बहुत सारी संकल्पनाओं पर बहसें हुईं। कुछ समय बाद जेंडर संवेदी बजट से प्राप्त आंकड़ों और संख्याओं को चुनौतियों एवं फेरबदल से गुजरना पड़ा।
2. दूसरा चरण केंद्र से राज्य स्तर पर जेंडर संवेदनशील बजट के प्रावधानों को शामिल करने का था। हालांकि, यह चिन्हित कर पाना थोड़ा मुश्किल है कि वास्तव में कितने राज्यों ने इसकी सबसे पहले शुरुआत की परंतु महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के दस्तावेजों के अनुसार, कुल 9 राज्यों ने सबसे पहले इसे अपनाया।
3. तीसरी सबसे चुनौतीपूर्ण प्रक्रिया थी वित्त मंत्रालय द्वारा स्थापित जेंडर बजटिंग प्रकोष्ठ को सभी मंत्रालयों एवं सचिवालयों में क्रियान्वित करना। वर्तमान में सिर्फ 57 मंत्रालय एवं विभाग ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकोष्ठ की स्थापना की है।

विगत एक दशक में जेंडर संवेदी बजट की दिशा में कई प्रयास किए गए हैं। इसलिए इस क्षेत्र में हुए परिवर्तनों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। हालांकि, इसके मूल्यांकन की प्रविधि को लेकर भी कई दृष्टिकोण मौजूद हैं। उदाहरण के लिए शार्प और एल्सन (2008) यह मानते हैं कि प्राथमिक तौर पर तीन आयामों से इसका मूल्यांकन किया जा सकता है

(1) प्रक्रिया एवं कार्यपद्धति

(2) सरकारी गतिविधियों से प्राप्त दूरगामी परिणाम

(3) महिला सशक्तिकरण एवं बालिका शिक्षा पर प्रभाव इत्यादि।

इसके अतिरिक्त शार्प एवं ब्रूमहिल (2002) ने तीन आलोचनात्मक बिंदुओं के आधार पर इसका मूल्यांकन किया

(1) क्या जेंडर संवेदी बजट ने बजट एवं नीतियों के निर्माण के दौरान निहित जेंडर पूर्वाग्रहों के प्रति चेतना पैदा की ?

(2) क्या इसने सरकार द्वारा जेंडर समानता के लिए की गई प्रतिबद्धताओं के प्रति उसे उत्तरदायी बनाया ?

(3) क्या इसने बजट के दौरान एवं नीतियों के निर्धारण में कोई परिवर्तन लाने में अपनी भूमिका निभाई जिससे समाज में सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर जेंडर समानता के दावे को जमीनी हकीकत में बदलने में कोई सहायता मिली हो ?

ये कुछ महत्वपूर्ण सवाल हैं जो जेंडर संवेदी बजट के संदर्भ में प्रासंगिक हैं।

"I make a promise…We have a collective responsibility to ensure the dignityand safety of women…We stand in solidarity with our girl children and women. And we pledge to do everything possible to empower them and to keep them safe and secure… I have made sufficient allocations to programmes relating to women and children. Hon'ble Members will find from the budget documents that the gender budget has Rs 97,134 crore."

—पी. चिदंबरम, वित्त मंत्री, बजट सत्र, 2013—14[1]

वित्त मंत्री पी. चिदंबरम. द्वारा वर्ष 2013 का बजट प्रस्तुत करते वक्त महिलाओं के संबंध में इस वक्तव्य का उद्देश्य सरकार को जेंडर संवेदी सरकार के रूप में प्रस्तुत करने का था। सरकार ने अपने दावे से यह बताने का प्रयास किया कि वित्त मंत्रालय एवं रक्षा मंत्रालय के बाद महिला एवं बाल विकास मंत्रालय को ही सर्वाधिक बजट आवंटित किया गया है ताकि स्त्रियों एवं बालिकाओं से किए गए वादों को पूरा किया जा सके। यह अपने आप में हास्यास्पद बात थी क्योंकि किसी भी अन्य मंत्रालय की तुलना रक्षा या वित्त मंत्रालय से करना न्यायसंगत नहीं था। यहां यह भी ध्यातव्य है कि वास्तव में जेंडर संवेदी प्रकोष्ठ का बजट 88,143 करोड़ (2012—13) से बढ़ाकर 97,134 करोड़ (2013—14) किया गया था परंतु उसके व्यय में 5.9% से 5.8% की गिरावट भी दर्ज हुई। 2008—09 के केंद्रीय बजटों की समीक्षा करने पर पाया गया कि 2011—12 में गिरावट 6.2 प्रतिशत थी और औसतन 5.5 प्रतिशत बनी रही। यह महत्वपूर्ण उपलब्धि थी कि अब

विदेश मंत्रालय ने भी इस प्रकोष्ठ की शुरुआत की तथा पुलिस विभाग ने भी स्त्री संबंधी कई शुरुआतें की।[2]

यह भी दिलचस्प रहा कि 12वीं पंचवर्षीय योजना के स्त्री स्वायत्तता तथा बाल अधिकार के अध्याय में महिला मंत्रालयों के सुदृढ़ीकरण पर विशेष बल दिया गया। साथ ही, यह वादा भी किया गया कि इन मंत्रालयों के लिए एक विशेष मानव संसाधन योजना तथा संपूर्ण जेंडर संरचना को नये तरीके से समझा जायेगा एवं उसे और प्रभावशाली बनाया जाएगा। हालांकि 12वीं पंचवर्षीय योजना की स्त्री विषयक योजनाओं की समीक्षा की जाए तो कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचनात्मक बिंदु उभरते हैं। अफस्पा कानून के तहत महिलाओं के प्रति हुई हिंसा तथा भारत में तृतीय लिंग (ट्रांसजेंडर) के लोगों की संख्या की गणना, उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति का आकलन ताकि उनकी स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन किए जा सकें, जैसे सवालों पर कम ध्यान दिया गया है, जो इस समय के ज्वलंत मुद्दे हैं।[3] इसके अतिरिक्त 12 वीं योजना में स्टेप जैसी योजना को ही और सुदृढ़ करने पर जोर दिया गया ताकि महिलाओं में प्रशिक्षण, कौशल विकास तथा रोजगार के अवसर ज्यादा से ज्यादा पैदा किए जा सकें। 'प्रियदर्शिनी' योजना के तहत आजीविका के स्थायी अवसरों तथा कामकाजी स्त्रियों के लिए छात्रावास बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। 'स्वयंसिद्धा' योजना को स्त्री सशक्तीकरण के लिए महत्वपूर्ण कारक के रूप में देखा गया और नये प्रयासों के रूप में आवास, पुलिस मदद केंद्र, वैधानिक, चिकित्सकीय तथा स्त्री सहायता हेतु परामर्श केंद्रों की स्थापना को इस योजना में उच्च प्राथमिकता दी गई। लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि क्या 2013–14 के केंद्रीय बजट में इन हस्तक्षेपों के लिए पर्याप्त दबाव बनाया गया ? अगर हम विगत कुछ वर्षों के बजटीय आवंटन क्रमवार देखें तो पाते हैं कि जहां यह 2008–09 में 6,919 करोड़ रुपये था, वहीं 2013–14 में 20,440 करोड़ रुपये हो गया।[4] फिर भी, यदि हम महिला कल्याण (बाल विकास को घटाकर) के बजट को अलग करा दें तो पाते हैं कि यह आवंटन बहुत ज्यादा नहीं बढ़ा। 2013–14 के केंद्रीय बजट में भी महिला कल्याण के लिए कुल बजट 914.68 करोड़ रुपये था जिसमें से अधिकतर धनराशि इंदिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना के मद में खर्च की जानी थी। साथ ही, नये प्रयासों के रूप में आवास, पुलिस मदद केंद्र, वैधानिक, चिकित्सकीय तथा स्त्री सहायता हेतु परामर्श केंद्रों की स्थापना, घरेलू हिंसा कानून इत्यादि की सिर्फ शुरुआत भर की जा सकी। 12वीं पंचवर्षीय योजना (भारत सरकार 2012) में स्त्रियों की स्वायत्तता एवं सशक्तिकरण पर कार्य कर रहे एक महिला समूह ने यह पाया कि वर्तमान में चल रही नियमित योजनाओं जैसे केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड, प्रियदर्शिनी, स्वाधार गृह इत्यादि को ही 484 करोड़

रुपये प्रति वर्ष की आवश्यकता है। यहां यह ध्यान देना आवश्यक है कि इस मद को बजटीय आवंटन में शामिल नहीं किया गया।[5]

बजट 2016–17 पेश हो चुका है और हर बार की तरह इस बार भी बजट पर महिलाओं की नजर रही। बजट का अगर जेंडर विश्लेषण करें तो इसे बहुत उत्साही नहीं कहा जा सकता। यह कितना संतोषजनक है अभी यह कहना मुश्किल होगा, लेकिन सरकार द्वारा मिली रकम और योजनाओं को देखते हुए इस बजट पर सवाल उठाना जरूरी हो जाता है। बीते 6 वर्षों से सरकारी मंत्रालयों और विभागों ने जिन 33 मांगों को जेंडर बजट की खातिर पेश किया उसमें इस बार भी किसी तरह की बढ़ोतरी नहीं देखी गई। नवीकरणीय ऊर्जा मंत्रालय के अलावा किसी भी विभाग के लिए नई पहलकदमी नहीं हुई। पुरानी योजनाओं के मद को जरूर बढ़ाया गया, लेकिन योजनाओं की नए सिरे से समीक्षा नहीं की गई। बजट के कुल आकार में हुई बढ़ोतरी के मुताबिक इन योजनाओं में भी वृद्धि हुई। ये एक तरह से आनुपातिक और स्वाभाविक वृद्धि है। मिसाल के तौर पर 'सबला' योजना के मद को बढ़ाकर 750 करोड़ कर दिया गया।

स्वर्णजयंती ग्राम रोजगार योजना को राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन के तहत लाने के बाद इसमें उप–घटक के तौर पर महिला किसान सशक्तीकरण परियोजना को इसमें शामिल किया गया था। इस परियोजना के लिए बीते बजट में आवंटित 2914 रुपए को इस बार बढ़ाकर 3915 करोड़ कर दिया गया। हालांकि खेती–बारी में संलग्न महिला श्रम के आकार को देखते हुए ये बहुत सुकूनदेह तस्वीर अब भी नहीं है। इसी तरह 'महिला स्व–सहायता समूह विकास निधि' के मद को 200 करोड़ रुपए से बढ़ाकर 300 करोड़ रुपए कर दिया गया। इसके अलावा, बच्चों और महिलाओं में व्यापक रूप से फैले 'कुपोषण पर लगाम कसने' की खातिर वित्त मंत्री ने सोया प्रोटीन पर सीमा शुल्क घटाकर 10 फीसदी कर दिया। हालांकि कुपोषित महिलाओं और बच्चों तक इस सोया प्रोटीन को किस तरह पहुंचाया जाएगा, इसकी कोई रूप रेखा सरकार द्वारा अब तक पेश नहीं की गई है। जब तक कुपोषित आबादी को लेकर ठोस योजना नहीं बनेगी, तब तक सीमा शुल्क के घटे दर का सीधे तौर पर इनके बीच कोई मजबूत प्रभाव नहीं पड़ सकता। असल सवाल यह है कि किस तरह देश में बड़ी तादाद में मौजूद इस आबादी की क्रयशक्ति को इस रूप में बढ़ाया जाए कि वह सोया खाद्य–पदार्थों को अपने रोजमर्रा के भोजन में शामिल कर सकें।

जेंडर नजरिए से देखें तो कामकाजी महिलाओं को प्रोत्साहित किए जाने की पुरानी योजना में कटौती के साथ ये बजट हमारे बीच पेश हुआ है। आत्मनिर्भरता को लेकर

महिलाओं के बीच जिस आत्मविश्वास को, हल्के स्तर पर ही सही, राज्य द्वारा समर्थन दिया जा रहा था, मौजूदा बजट में उससे हाथ खींच लिया गया। दफ्तर में काम करने वाली निम्न–मध्यवर्गीय महिलाओं के लिए यह बजट एक तरह से हताश करने वाला है। बीते वर्ष सामान्य लोगों के लिए टैक्स माफी की न्यूनतम सीमा 1.80 लाख और महिलाओं के लिए 1.90 लाख थी। इस तरह महिलाओं के 10 हजार रुपए की अतिरिक्त कमाई को राज्य ने करमुक्त कर रखा था। ये एक तरह से काम–काजी महिलाओं के आत्मविश्वास को थोड़ा बेहतर करने वाली कवायद थी। वित्त वर्ष 2012–13 के लिए पेश मौजूदा बजट में कर माफी की जो न्यूनतम सीमा रखी गई है, उसमें पहले के मुकाबले बढ़ोतरी हुई है। इसे बढ़ाकर 2 लाख रुपए कर दिया गया, लेकिन अब महिला और सामान्य श्रेणी के बीच के अंतर को खत्म कर दिया गया।

इसे दूसरे तरीके से देखें तो अगर सामान्य श्रेणी के लोगों को वित्त मंत्रालय ने साल में 2000 रुपए के बचत की सुविधा दी है तो महिलाओं को महज 1000 रुपए की। इस तरह लैंगिक संवेदनशीलता के जरिए समाज में बराबरी की जो कोशिश थी, उसे वेतन और कर में मिलने वाली छूट में बराबरी के स्तर पर ला दिया गया! वित्त मंत्रालय के मुताबिक समाज की असमानता अब भी बरकरार है, लेकिन महिलाओं को कर सीमा में मिलने वाली 1000 रुपए के अतिरिक्त छूट को मंत्रालय ने कतर लिया। बजट में ऐसी कोई ताजी पहलकदमी और दृष्टिकोण भी नहीं झलकता जिसके आधार पर ये कहा जा सके कि सरकार महिला मुद्दों पर मंथन की प्रक्रिया में है। बीते एक दशक में बजट में शामिल विषयों और उसकी प्रकृति में स्थिरता बरकरार है और उसमें समय के साथ कुछ नई चीजें शामिल करने की जो उम्मीद इस बजट में की जा रही थीं, उसे झटका ही लगा है।

पिछले वर्ष (2015–16 वित्तीय वर्ष) महिलाओं को प्रावधान के तहत कुल 16,657 करोड़ रुपया मिला था। इस आबंटित रकम में 5000 करोड़ रुपए की कटौती की गई जो उपयोग के समय या अक्सर साल की शुरुआत में की जाती है। इस कटौती के बाद महिला सम्बंधित योजनाओं के लिए कुल 11,388 करोड़ पुनः आवंटित हुआ। इस वर्ष (2016–17 वित्तीय वर्ष) का आवंटन मात्र 755 करोड़ रुपए की बढ़ोतरी के साथ 17,412 करोड़ रुपए है। यह आवंटन, सरकार की बढ़ा–चढ़ा कर की गई बातों के इतर सरकार की सीमित मानसिकता को दर्शाता है। इस बजट में सिवाय रसोई गैस सिलेंडर के महिलाओं के लिए कुछ भी खास नहीं है।[6] बजट 2016 के अनुसार गरीब परिवारों की महिलाओं को रसोई गैस उपलब्ध करायी जा रही है। इसके लिए 2000 करोड़ रुपए का आवंटन किया गया है। यहां एक समस्या यह भी है कि रसोई गैस बीपीएल कार्ड होने

पर ही दिया जाएगा। जबकि, जमीनी हकीकत यह है कि कई दलित और आदिवासी महिलाओं के पास बीपीएल कार्ड है ही नहीं। इस पहल को यदि छोड़ दिया जाये तो दलित और आदिवासी महिलाओं के लिए इस बजट में कुछ भी खास नहीं बचा है। प्रत्येक वंचित समूह, दलित हो या आदिवासी या महिलाएं, सभी को एक ही श्रेणी में रख कर उनके लिए प्रावधान बनाना सही नहीं है। पिछले कुछ वर्षों के बजट को देखा जाये तो दलित और आदिवासी महिलाओं के कल्याण के लिए केंद्र और राज्य सरकार द्वारा संतोषजनक पैसा आवंटित किया जा चुका है। हालांकि, यह बात अलग है कि बाद में उस पैसे को अन्य प्रावधान में लगाया गया। बजट 2016–17 में आईसीडीएस (जिसमें आंगनवाड़ी योजना, मिड डे मील, आशा कार्यकर्ता इत्यादि हैं) के आवंटित रकम में पिछले साल की अपेक्षा 1394 करोड़ कम रकम आवंटित की गई है। यानी यह माना जाए कि इस वर्ष आंगनवाड़ी योजना पर काफी दबाव रहेगा और राज्य सरकार को भी ज्यादा खर्च करना पड़ेगा। हालांकि, सरकार ने घोषणा की थी कि इस बार महिलाओं से जुड़ी योजनाओं के लिए 55 प्रतिशत अधिक आवंटन किया जायेगा। लेकिन बजट आने के बाद महिलाओं और किशोरियों की खास आईसीडीएस योजना के पर कुछ विशेष रियायत नहीं की गयी।[7]

घरेलू हिंसा रोकने वाली योजना को भी कोई आबंटन नहीं दिया गया। यही नहीं, इंदिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना को इस बार सिर्फ 400 करोड़ रूपए आबंटित किये गये हैं जो प्रत्येक जिले में लागू करने के लिए काफी नहीं है। रेलवे बजट में महिलाओं की सुरक्षा और सुविधा के लिए 182 सुरक्षा हेल्पलाइन की घोषणा के अलावा कोई नई पहल नहीं की गयी। जबकि यह हेल्पलाइन भी पिछले वर्ष की योजनाओं में है। भारत सरकार ने 2005 में जेंडर संवेदनशील नजरिए से बजट पर काम करने की प्रक्रिया लागू की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य केंद्रीय या राज्य स्तर पर तय किये गये बजट द्वारा महिलाओं की विशेष स्थिति व मुद्दों के प्रति संवेदनशील होकर काम करना है।

इस पूरी बजट प्रक्रिया से पता चलता है कि सरकार ने महिलाओं की जरूरतों को कितनी हद तक ध्यान में रखा है। इस वर्ष कई महिला विशेष योजनाओं को जोड़कर एक बड़ी योजना बनाने की कोशिश के चलते आवंटित रकम को कम किया गया है, जिसके कारण बजट के आवंटन और खर्च की पारदर्शिता कम हो गयी है। इसकी पृष्ठभूमि में भारत सरकार द्वारा निम्न कदम उठाये जाने चाहिएः

1. बजट निर्माण के दौरान जेंडर संवेदी प्रकोष्ठ को प्राथमिकता दी जाए जिससे कि वह सिर्फ औपचारिकता ना होकर "अर्थपूर्ण" नीति निर्माण एवं बजटीय प्रावधानों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके।

2. वित्त मंत्रालय एवं महिला एवं बाल विकास मंत्रालय को संयुक्त रूप से कार्य करने की आवश्यकता है ताकि विगत 10 वर्षों में जेंडर संवेदी बजट में किन महत्वपूर्ण लक्ष्यों को शामिल किया गया, कौन सी योजनाएं बनाई गईं, उनकी आम स्त्री तक पहुंच की स्थिति, वितरण की स्थिति तथा अन्य अति आवश्यक पहलकदमियों को सुनिश्चित किया जा सके।
3. निर्णय प्रक्रिया में समाज के सर्वाधिक पिछड़े तबके की स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए, इसके लिए विशेष रूप से प्रयास किए जाने चाहिए।

स्त्री सशक्तीकरण तथा जेंडर समानता हेतु केंद्रीय बजट में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं, वहीं दूसरी तरफ जेंडर संवेदी बजट के बजटीय आवंटनों निरंतर ह्रास हो रहा है, जिससे स्त्री एवं बालिकाओं के कल्याण कार्यक्रमों को अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं।

संदर्भ सूचीः

1. http://dakhalkiduniya.blogspot.in, dilip khan
2. Sen, G (2000): "Gender Mainstreaming in Finance Ministries", World Development, 28(7): 1379–90
3. लोक सभा सचिवालय, शोध एवं सूचना प्रभाग, मार्च 2016, पृष्ठ संख्या 7
4. लोक सभा सचिवालय, शोध एवं सूचना प्रभाग, मार्च 2016, पृष्ठ संख्या 7
5. The Paradox of Gender Responsive Budgeting, Bhumika Jhamb, Yamini Mishra, Navanita Sinha, Economic & Political Weekly EPW may 18, 2013 vol xlvIiI no 20
6. United Nations (1995): "Report of the Fourth World Conference on Women", viewed on 12 March2013(http://www.un.org/womenwatch/daw/beijing/pdf/Beijing%20full%20report%20E.pdf).
7. Ibid , page no. 36
8. Gender Responsive Budgeting in India Time to Ask Questions Bhumika Jhamb, Yamini Mishra DECEMBER 12, 2015 vol l no 50 EPW Economic & Political Weekly
9. Government of India (2011): "Swadhar Greh – New Guidelines", viewed on 17 March 2013 (www. wcd.nic.in).
10. Mishra, Y and N Sinha (2013): "Gender Responsive Budgeting in India: What Has Gone Wrong?" Economic & Political Weekly, 47(17): 50-57
11. Government of India, Union Budget (2012-13): "Expenditure Budget Volume II, Ministry of Women and Child Development", viewed on 16 March 2013 (http://indiabudget.nic.in/vol2.asp).

❖❖❖❖❖

घरेलू हिंसा का यथार्थ : राजस्थान के विशेष संदर्भ में

डॉ. अनिला •

महिला एवं पुरुष दोनों परिवार के मूल आधार और सृष्टि के निर्माता हैं। इन दोनों की भूमिका परिवार एवं समाज के परिवर्धन एवं विकास के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। किसी भी एक पक्ष चाहे वो पुरुष हो या नारी को पीछे धकेल देना या कदम मिलाकर न चलने से परिवार व समाज पिछड़ जायेगा। इससे राष्ट्र की उन्नति अवरुद्ध हो जाती है, उसकी उत्पादन शक्ति कमजोर हो जाती है। पुरुष व महिला परिवार व समाज की धुरी के दो पहिए हैं जो समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इन दोनों में से महिला को बराबरी का दर्जा प्राप्त नहीं है क्योंकि भारतीय समाज पुरुष प्रधान है। चाहे वह पुत्री हो, पत्नी हो, बहन हो, या फिर माँ या दादी। इन सभी को पुरुष संरक्षक के अधीन ही रहना पड़ता है और जब भी स्त्री आवाज उठाती है या अपने अधिकारों की बात करती है, उसकी आवाज पुरुष दबा देता है। उसे अपने वर्चस्व या सर्वश्रेष्ठता पर आंच स्वीकार नहीं होती। इसके लिए वह सभी हथकण्डे अपनाता है चाहे वह मानसिक हिंसा हो, उत्पीड़न हो या अन्य तरीके। भारत ही नहीं बल्कि विश्व के सभी देशों में महिलाएं हिंसा की शिकार हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि कहीं पर यह व्यापक स्वरूप में मौजूद है तो कहीं इसकी दर कुछ कम है। चूंकि हिंसा परिवार का एक सदस्य महिला या बच्चे या वृद्ध के साथ करता है, इसलिए इसे घरेलू हिंसा कहते हैं। ब्लैक्स की लॉ डिक्शनरी के अनुसार ''घरेलू हिंसा का तात्पर्य गृहस्थी के सदस्यों, सामान्यतया दम्पति के बीच हिंसा, गृहस्थी के एक सदस्य द्वारा दूसरे के विरुद्ध किया गया हमला या अन्य उग्र कार्य से है।''

भारत में राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (2005–06) में यह तथ्य सामने आया है कि यहां महिलाएं अपने घर में भी सुरक्षित नहीं हैं। इसके अनुसार प्रत्येक तीन में से एक महिला ने माना कि उसे पति द्वारा थप्पड़ मारा गया और 12 से 15 प्रतिशत महिलाओं ने स्वीकार किया है कि उसका हाथ उमेठा गया, धक्का, झकझोरा या लात मारी गई या फिर घसीटा गया या उसे किसी वस्तु से मारा गया। अंतरराष्ट्रीय महिला शोध केन्द्र, वांशिगटन के अनुसार भारत में दस महिलाओं में से चार महिलाएं घरेलू हिंसा

• व्याख्याता, डॉ अनुष्का विधि महाविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

का सामना करती हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा 2011 में किए गए एक अध्ययन में महिलाओं के साथ उनके जीवनसाथी द्वारा की गई हिंसा को देखा गया। बांग्लादेश में शारीरिक हिंसा से 40 प्रतिशत एवं लैंगिक हिंसा से 37 प्रतिशत एवं दोनों प्रकार की हिंसा से 53 प्रतिशत महिलाएं पीड़ित थीं। ब्राजील में 27 प्रतिशत महिलाएं लैंगिक हिंसा व 10 प्रतिशत शारीरिक हिंसा एवं 29 प्रतिशत दोनों प्रकार की हिंसा से पीड़ित थीं। थाइलैण्ड में 23 प्रतिशत शारीरिक, 29 प्रतिशत लैंगिक एवं 41 प्रतिशत महिलाएं दोनों प्रकार की हिंसा से ग्रस्त थीं। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि महिलाओं की स्थिति केवल भारत में ही दोयम दर्जे की नहीं है बल्कि विश्व के लगभग सभी देशों में किसी न किसी प्रकार का भेदभाव एवं हिंसा अवश्य हो रही है।

भारत में घरेलू हिंसा की रोकथाम के लिए 'घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम' 2005 बनाया गया। अधिनियम बनाने का मुख्य उद्देश्य था कि महिलाओं को एक ही आवेदन के द्वारा आवास, भरण–पोषण, सुरक्षा तथा संरक्षण आदेश प्राप्त हो सके। उक्त अधिनियम के माध्यम से घरेलू हिंसा को परिभाषित किया गया। पीड़ित महिला की मदद के लिए सेवा प्रदाता की व्यवस्था उक्त अधिनियम में की गई तथा साथ ही साथ घरेलू घटना रिपोर्ट तैयार करने हेतु संरक्षण अधिकारी की व्यवस्था की गई। इस तरह से इस कानून को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए विभिन्न संस्थागत साधनों को इसके साथ जोड़ा गया। घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम 2005 के क्रियान्वयन में विभिन्न एजेंन्सियों की भूमिका को सुनिश्चित किया गया। राजस्थान के संदर्भ में इन अभिकरणों की भूमिका का अध्ययन करने के लिए द्वितियक स्त्रोतों द्वारा तथ्यों का संकलन किया गया। उन तथ्यों के विश्लेषण से निम्न निष्कर्ष उभर कर सामने आये हैं।

(क) संरक्षण अधिकारी : संरक्षण अधिकारी एक ऐसा अधिकारी होगा जो अधिनियम की धारा 8 के अन्तर्गत नियुक्त किया जाएगा। इस संरक्षण अधिकारी का दायित्व है कि वह घरेलू हिंसा की शिकायत पर निर्धारित प्रारूप में घरेलू घटना रिपोर्ट प्रस्तुत करे तथा महिला को कानूनी एवं पुलिस की सहायता उपलब्ध करवाने में मदद करे। पीड़ित महिला को जरूरत पड़ने पर आश्रय गृह पहुंचाने का जिम्मा भी अधिकारी को दिया गया है। राजस्थान में संरक्षण अधिकारियों की नियुक्ति तथा उनकी भूमिका का विश्लेषण करने से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं:

(1) राजस्थान सरकार द्वारा संरक्षण अधिकारियों का जिम्मा महिला व बाल विकास विभाग के उपनिदेशक, परियोजना अधिकारी, सी.डी.पी.ओ तथा प्रचेताओं को दिया गया है अर्थात् संरक्षण अधिकारी का कार्यभार इन्हें

अतिरिक्त दिया गया है जबकि अधिनियम में अतिरिक्त कार्यभार देने का प्रावधान नहीं है। श्रुति सिंह एडवोकेट बनाम प्रेस कौंसिल ऑफ इण्डिया, 2008 (71) ए आइ सी 758 (घटना) के बाद में न्यायालय ने कहा, ''धारा 8 के प्रावधानों की प्रकृति आज्ञापक है और सरकार को वास्तव में संरक्षण अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए और किसी अन्य अधिकारी को संरक्षण अधिकारी का अतिरिक्त प्रभार देना उचित नहीं है'' अतिरिक्त कार्यभार देने से अधिनियम के क्रियान्वयन एजेन्सी की भूमिका को शुरुआती दौर में ही कमजोर कर दिया गया।

(2) सन् 2013 में राजस्थान में कुल 607 संरक्षण अधिकारी अतिरिक्त कार्यभार देख रहे थे जिसमें 337 महिला संरक्षण अधिकारी तथा 270 पुरुष संरक्षण अधिकारी कार्यरत हैं जबकि अधिनियम में समाजकार्य क्षेत्र का न्यूनतम तीन वर्ष का अनुभव रखने वाले तथा यथासंभव महिलाओं को नियुक्त किया जाना आवश्यक है जबकि नवीन नियुक्त अधिकारियों एवं प्रचेताओं को बिना अनुभव के ही अतिरिक्त कार्यभार दे दिया जाता है। राजस्थान में नियुक्त संरक्षण अधिकारियों में से 44.49 प्रतिशत संरक्षण अधिकारी पुरुष हैं जो अधिनियम की भावना के विरुद्ध हैं।

(3) राजस्थान के उदयपुर जिले में सन् 2013 में 26 संरक्षण अधिकारी कार्यरत थे जिसमें से 23 महिलाएं हैं। सन् 2009 में भी 23 महिला संरक्षण अधिकारी एवं 2 पुरुष संरक्षण अधिकारी कार्यरत थे। उक्त संरक्षण अधिकारियों ने सन् 2009 से 2013 तक एक भी घरेलू घटना रिपोर्ट तैयार नहीं की तथा न ही किसी महिला को पुलिस की सहायता पहुंचायी। जिला एवं सेशन न्यायालय, उदयपुर के सांख्यिकी विभाग के उपलब्ध रिकॉर्ड द्वारा सन् 2009 से 2013 तक कुल 727 घरेलू हिंसा से सम्बन्धित मामले दर्ज हुए। अतः स्पष्ट है कि उदयपुर के सरंक्षण अधिकारी की भूमिका शून्य होना गंभीर तथा असंवेदनशीलता को दर्शाता है।

(ख) सेवा प्रदाता की भूमिका : व्यथित महिला की सहायता के लिए स्वयंसेवी संगठनों का पंजीयन कर सेवा प्रदात्ता के रूप में नियुक्त करने की व्यवस्था अधिनियम के तहत की गई है। सेवा प्रदाता को व्यथित महिला की घरेलू घटना रिपोर्ट तैयार करने, पुलिस की सहायता दिलाने, जरूरत पड़ने पर आश्रय गृह तक पहुंचाने का जिम्मा सौंपा गया। राजस्थान सरकार द्वारा 112 सेवा प्रदाता संस्थाओं

द्वारा को पंजीकृत किया गया है जिसमें सर्वाधिक संस्थाएं उदयपुर जिले में कार्यरत हैं।

(ग) परामर्शदाता : अधिनियम की धारा 14 के अंतर्गत परामर्शदाता की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है। उनकी नियुक्ति का जिम्मा राज्य सरकार को सौंपा गया है एवं परामर्शदाता का दायित्व है कि वह न्यायालयों द्वारा परामर्श के निर्देश का पालन करते हुए महिलाओं के पारिवारिक संबंधों को पुनः स्थापित करने, घर के भीतर सम्मानजनक स्थान, स्वाभिमान तथा आत्मसम्मान बनाए रखने की दिशा में काम करें। सम्पूर्ण राजस्थान में सन् 2009 से 2013 के मध्य 7 परामर्शदाता नियुक्त किये गए जिसमें चुरु जिले के 5 परामर्शदाता तथा जैसलमेर के 2 परामर्शदाता नियुक्त किये गए थे। इससे स्पष्ट है कि राज्य सरकार द्वारा परामर्शदाता की नियुक्ति के संबंध में गंभीर नहीं है जबकि उक्त अधिनियम के संबंध में परामर्शदाता जैसी एजेन्सी की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(घ) पुलिस : अधिनियम की धारा 5 में पुलिस की भूमिका एवं कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। पुलिस को अतिरिक्त भूमिका प्रदान की गई है जिसमें महिला का आवेदन तैयार करने, सेवाप्रदाता एवं संरक्षण अधिकारी की जानकारी प्रदान करने तथा निःशुल्क विधिक सेवा की जानकारी सम्मिलित है। राजस्थान सरकार के निदेशालय महिला अधिकारिता द्वारा तैयार त्रैमासिक प्रगति रिपोर्ट के तथ्यों से ज्ञात होता है कि पुलिस विभाग द्वारा 31 दिसम्बर 2013 तक 174 शिकायतों के आवेदन तैयार कर न्यायालय में प्रस्तुत किये गए जो बहुत ही न्यून हैं जबकि राजस्थान में 14 महिला पुलिस थाने, 22 महिला सेल हैं जबकि समूचे राज्य में 803 पुलिस थाने तथा 1102 पुलिस चौकियां हैं। इस दृष्टि से घरेलू घटना रिपोर्ट की संख्या बहुत कम है। उदयपुर ऐसा जिला है जहां 2013 तक एक भी घरेलू घटना रिपोर्ट तैयार नहीं की गई। इससे स्पष्ट है कि पुलिस की भूमिका इस अधिनियम को लागू करने में उदासीन है तथा घरेलू हिंसा पर उसमें संवेदनशीलता की कमी है।

(च) आश्रय गृह : अधिनियम की धारा 6 के अंतर्गत आश्रय गृह की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। आश्रय गृह के माध्यम से महिलाओं को अल्प समय के लिए आवास स्थल उपलब्ध कराया जा सकता है। आपातकाल में यह सुविधा बहुत ही कारगर एवं सुरक्षित होती है। राजस्थान के 33 जिलों में 12 आश्रय गृह हैं। इनमें 6 सरकारी तथा 6 गैर सरकारी संस्थाएं आश्रय गृह की भूमिका निभा रही हैं। यह आंकड़ा बढ़ती घरेलू हिंसा को देखते हुए बहुत कम है। आश्रय गृह के

अभाव में महिलाओं को घर से निकालने पर आश्रय देना संरक्षण अधिकारियों एंव सेवा प्रदाओं के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती बन जाता है।

(छ) न्यायिक प्रक्रिया : घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत महिलाओं को विशेषज्ञ आदेश, अंतरिम आदेश, निवास आदेश, संरक्षण आदेश, मुआवजा संबंधी आदेश तथा आर्थिक सहायता जारी करने का अधिकार न्यायपालिका को ही है। राजस्थान के सभी न्यायालयों में 15055 वाद प्रेषित हुए हैं जिसमें से 5251 वादों का निस्तारण किया गया है। जो दर्ज वादों की तुलना में बहुत ही कम है। हस्तगत अधिनियम के अंतर्गत सम्पूर्ण वाद का निस्तारण 60 दिन के अंदर किया जाना अनिवार्य है तथा अंतरिम आदेश अविलम्ब जारी करने की व्यवस्था की गई है।

निष्कर्ष

विभिन्न आंकड़ों तथा अधिनियम के प्रावधानों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि अधिनियम का निर्माण करते समय तथ्य सामने आया कि महिलाओं में शिक्षा का अभाव है। कानूनी जानकारी नगण्य है तथा सामाजिक दबावों में वह स्वयं आगे आकर वाद दायर नहीं कर सकतीं। अधिनियम के प्रावधानों का केवल कागजी रूप से क्रियान्वयन करने का प्रयास किया गया है। अभिकरणों के कर्तव्यों के निर्वाहन एवं उनकी मोनिटरिंग के लिए कोई व्यवस्था स्थापित नहीं की गई। इस अधिनियम को भी पूर्व में बनाये गये अधिनियम एवं नियमों की भांति लागू करने का प्रयास किया गया है, जिसका परिणाम यह रहा कि महिलाएं न्याय के लिए तरस रही हैं। उन्हें पुनः वकीलों का सहारा लेना पड़ रहा है। वाद निर्धारित प्रारूप में प्रस्तुत नहीं हो पा रहे हैं। घरेलू घटना रिपोर्ट के अभाव या देरी के कारण वाद निर्धारित समयावधि में निस्तारित नहीं हो पा रहे हैं। परामर्शदाताओं के अभाव में महिलाएं उचित निर्णय में सफल नहीं हो पा रही हैं। जिन मामलों में महिलाओं के संरक्षण संबंधी आदेश पारित किए गए हैं, उनके क्रियान्वयन में सेवा प्रदाता, पुलिस, संरक्षण अधिकारियों की भूमिका नगण्य है जिसके कारण महिलाओं की स्थिति और भी कमज़ोर हो रही है। ऐसी स्थिति में महिलाएं मानसिक तनाव में हैं। राजस्थान में क्रियान्वयन एजेंसियों की भूमिका ठीक करने के लिए निम्न संस्थागत बदलाव करने की आवश्यकता है:

(1) पूर्णकालीन संरक्षण अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए तथा व्यवहारिक ज्ञान हेतु अनिवार्य रूप से प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(2) पुलिस विभाग को भी घरेलू हिंसा की अवधारणा तथा अधिनियम के दायित्वों एवं कर्तव्यों के संबंध में जानकारी दी जानी चाहिए तथा महिलाओं को संरक्षण अधिकारियों व कानूनी जानकारी थाने से दी जानी चाहिए क्योंकि महिलाएं संकट में सबसे पहले पुलिस के सम्पर्क में आती हैं।

(3) संरक्षण अधिकारी को घरेलू घटना रिपोर्ट तैयार करने के साथ–साथ महिलाओं की सुरक्षा, न्यायालय के आदेषों के क्रियान्वयन में अपनी व्यावहारिक भूमिका निभानी चाहिए। उन्हें इसी अधिनियम के क्रियान्वयन में अपनी व्यावहारिक भूमिका निभानी चाहिए तथा उन्हें केवल इसी अधिनियम के क्रियान्वयन का जिम्मा दिया जाना चाहिए।

(4) न्यायालय में समयावधि के अंतर्गत निर्णय किए जाने चाहिए। इस अधिनियम को अन्य अधिनियमों की भांति क्रियान्वित नहीं किया जाना चाहिए। संवेदनशीलता के साथ इसका निर्णय किया जाए।

(5) जो संस्थाएं सेवा प्रदाता के रूप में कार्य नहीं कर रही हैं, उन्हें हटाया जाए तथा प्रावधान के अनुसार कार्य मूल्यांकन के आधार पर तीन वर्ष में पुनः नियुक्ति प्रक्रिया अपनानी चाहिए।

(6) परामर्शदाता की नियुक्ति की जाए तथा उसे व्यावहारिक ज्ञान हेतु निरंतर प्रशिक्षण दिया जाए।

संन्दर्भ

1. राज, सुमन, घरेलू हिंसा के महिला संरक्षण अधिनियम 2005, ओरियेन्ट पब्लिक कम्पनी, नई दिल्ली।
2. पत्र क्रंमाक/ एफ/म.अ/ जिमविअ/उदय/2014–15/2692–93 दिनांक 17/3/15, कार्यक्रम अधिकारी, महिला अधिकारिता, उदयपुर
4. पत्र क्रंमाक/एफ 16 (1) (44)/निमअ/ मसुख के/2010/23032 दिनांक 28/3/15, निदेशालय महिला अधिकारिता राजस्थान सरकार, जयपुर
5. पत्र क्रंमाक/ आर. टी आई/स्था/2015/85 दिनांक 17/1/15 सांख्यिकी शाखा, जिला एवं सेशन न्यायालय, जयपुर
6. पत्र क्रंमाक/एफ 16 (5) (1) निमअ/सु अं/2014/36267/दिनांक 28/11/14
7. पत्र क्रंमाक/ लोक सूचना अधिकारी एवं अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक जिला, उदयपुर, पत्र क्रमांक 5066 दिनांक 12/12/2014

❖❖❖❖❖

डॉ. अम्बेडकर, महिला सशक्तीकरण और आरक्षण

डॉ. सुधांशु शेखर •

भूमिका : महिला–सशक्तीकरण समकालीन समय का बेहद जरूरी मुद्दा है। इसके साथ महिला जाति के सर्वांगीण विकास और समग्र–मुक्ति के सपने जुड़े हुए हैं। यह महिलाओं के लिए स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, न्याय एवं शक्ति की मांग करता है। इस तरह इसके साथ पूरे समाज के सशक्तीकरण का मुद्दा भी जुड़ा हुआ है; क्योंकि कोई भी समाज अपनी आधी आबादी को उपेक्षित, पीड़ित एवं वंचित रखकर अपना विकास नहीं कर सकता है।

डॉ. अम्बेडकर और महिला सशक्तीकरण : सामान्यतः डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलितों के मसीहा के रूप में याद किया जाता है। लेकिन, हमें यह मालूम होना चाहिए कि उन्होंने दलितों सहित पूरी मानवता के उत्थान के लिए संघर्ष किया है और इस क्रम में महिला सशक्तीकरण हेतु किए गए उनके कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

महिला संगठन एवं शिक्षा : डॉ. अम्बेडकर ने सभी वर्गों की महिलाओं को जाति–धर्म के बंधनों को तोड़कर समाज की मुख्यधारा में आने के लिए प्रेरित किया और महिलाओं के मजबूत संगठन बनाने की वकालत की। जुलाई 1942 को नागपुर में संपन्न हुए 'दलित वर्ग परिषद्' के सम्मेलन में उन्होंने कई हजार महिलाओं की सभा को संबोधित करते हुए कहा– "मैं महिला संगठनों पर अधिक उम्मीद रखने वाला इंसान हूं। दलितों की उन्नति के लिए पुरुषों के साथ–साथ महिलाओं को भी संगठित होना चाहिए। महिला जगत की प्रगति जिस अनुपात में हुई होगी, उसी मानदंड से मैं उस समाज की प्रगति को आंकता हूँ।" आगे उन्होंने महिलाओं से कहा– "आप सफाई से रहना सीखो, सभी अनैतिक बुराइयों से बचो, हीनभावना को त्याग दो, शादी–विवाह की जल्दी मत करो और न अधिक संतानें पैदा करो। पत्नी को चाहिए कि वह अपने पति के कार्य में एक मित्र, एक सहयोगी के रूप में अपना दायित्व निभाए। लेकिन, यदि पति गुलाम के रूप में बर्ताव करे, तो उसका खुलकर विरोध करे, उसकी बुरी आदतों का निषेध करना चाहिए और समानता का आग्रह करना चाहिए।"

• संपादक, दर्शना, भागलपुर (बिहार)

डॉ. अम्बेडकर महिला–शिक्षा को भावी पीढ़ी की उन्नति के लिए आवश्यक मानते थे। इस बाबत अप्रैल 1927 में महिलाओं की एक सभा में उन्होंने कहा– "बहिनों! हर समाज में महिला का अपना अलग ही महत्व होता है। जिस घर की महिला शिक्षित एवं सुसंस्कृत होती हैं, उसके बच्चे भी सदैव उन्नति के पथ पर अग्रसर रहते हैं। महिलाओं से ही घर बनता और बिगड़ता है। आप अपने बच्चों को खूब पढ़ाइए और उन्हें इस देश का शासक बनाइए।" डॉ. अम्बेडकर ने महिलाओं को भी पुरुषों की बराबरी का अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष किया। 10 नवंबर 1938 को बंबई विधान सभा में बहस के दौरान उन्होंने जोरदार तरीके से महिलाओं के हित में आवाज उठाई। वहां उन्होंने दृढ़तापूर्वक परिवार नियोजन के उपायों को अपनाने की वकालत की और कहा कि कई बच्चों को जन्म देने से माँ (महिला) का स्वास्थ्य कुप्रभावित होता है। बाद में 1942 में गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् में श्रम मंत्री के रूप में उन्होंने महिलाओं के लिए मातृत्व लाभ विधेयक पेश किया। वास्तव में, वे कानून बनाकर महिलाओं पर धर्म के नाम पर लादी गई सभी निर्योग्यताओं को हटाना चाहते थे।

हिंदू कोड बिल : डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों से स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुच्छेद 14–16 में महिलाओं को पुरुषों की बराबरी का दर्जा दिया गया और महिलाओं की खरीद–बिक्री पर प्रतिबंध लगाया गया। आगे देश के प्रथम कानून मंत्री के रूप में उन्होंने महिलाओं की स्थिति में सुधार हेतु संसद में ऐतिहासिक 'हिंदू कोड बिल' प्रस्तुत किया। इस बिल में महिलाओं के लिए अपनी मर्जी का वर चुनने, विवाह विच्छेद (तलाक), उत्तराधिकार में संपत्ति प्राप्त करने एवं गोद लेने (दत्तक संतान) का अधिकार सहित कई महत्वपूर्ण अधिकारों की वकालत की गई थी। यह महिला–अधिकारिता की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था। इसमें हिंदू महिलाओं के लिए उन सभी लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रावधान था, जिससे वे 'मनुस्मृति' जैसे क्रूर हिंदू विधि शास्त्रों द्वारा वंचित कर दी गई थीं।

मगर, रूढ़िवादी हिंदुओं ने 'हिंदू कोड बिल' के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। शंकराचार्य स्वामी करपात्री ने 'हिंदू कोड बिल' को हिंदू धर्म, हिंदू संस्कृति और हिंदू समाज–व्यवस्था के मूल पर कुठाराघात बताया। पं. मदनमोहन मालवीय ने भी संसद के भीतर और बाहर दोनों जगह 'हिंदू कोड बिल' को धर्म–विरुद्ध कहा। संविधान सभा के अध्यक्ष और देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने भी इस बिल का विरोध किया। सांसद गोपालास्वामी आयंगर ने तो पं. जवाहरलाल नेहरू को यहां तक कह दिया कि यदि वे 'हिंदू कोड बिल' को लागू करने हेतु ज्यादा जिद करेंगे, तो उन्हें प्रधानमंत्री पद छोड़ना पड़ सकता है। विरोधियों में एक मुस्लिम सांसद अजीमुद्दीन अहमद भी थे,

जिनका तर्क यह था कि यदि 'हिंदू कोड बिल' नहीं रोका गया, तो सरकार कल मुसलमानों की शरीयत (पर्सनल लॉ) में भी हस्तक्षेप कर सकती है। संसद में, डॉ. अम्बेडकर ने इन तमाम आपत्तियों का बहुत ही अकाट्य जवाब दिया था। उन्होंने विवाह को पवित्र मानने वालों का यह कहकर मुंह बंद कर दिया था कि पवित्र संस्कार वाला विवाह पुरुष के लिए बहुविवाह की और महिला के लिए लगातार दासता की प्रथा है। डॉ. अम्बेडकर द्वारा 'हिंदू कोड बिल' पर 06 फरवरी 1951 को अंतरिम संसद में दिया गया भाषण कई मायनों में महत्वपूर्ण है। समाजवादी विचारक मधु लिमये ने भी उसकी भूरी–भूरी प्रशंसा की है। लिमये के शब्दों में– "अम्बेडकर ने 'हिंदू कोड बिल' के लिए हिंदू शब्द की व्यापक व्याख्या की थी। हिंदू शब्द की कानून के अनुसार व्याख्या करते हुए अम्बेडकर ने जो युक्तियां प्रस्तुत की थीं, वे अकाट्य हैं। अज्ञान में डूबे आज के शासक पक्ष और विपक्ष को इसका मनन करना चाहिए।"

डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में पार्लियामेंट के सेन्ट्रल हॉल में 'हिंदू कोड बिल' पर बहस के लिए भारत के चोटी के विद्वानों की सभा बुलायी गई थी, जिसमें बख्शी टेकचंद, सर गोकलचंद नारंग, ईलारी कृष्णास्वामी, दुर्गा देवी, पी.वी. काणे, रघुनाथ शास्त्री लोणेवाला, देवनायकाचार्य और माधवाचार्य आदि विद्वान शामिल हुए थे। इनमें अधिकांश ने बिल का विरोध किया था। एक रूढ़िवादी महिला वक्ता ने तलाक का विरेाध करते हुए सीता, सावित्री और द्रोपदी का उदाहरण देकर अटूट विवाह का समर्थन किया था। इसका कटु प्रतिवाद दुर्गा बाई ने यह कहकर किया था कि द्रोपदी के पांच पति थे, तो क्या यह हिंदू महिला का आदर्श होना चाहिए? उन्होंने कहा था कि आज के युग में महिला दासी बन कर नहीं रह सकती, उसे पुरुष के बराबर के अधिकार चाहिए। आर्यसमाजी बख्शी टेकचंद तलाक के पक्ष में थे, पर पिता की संपत्ति में पुत्री को हिस्सा दिए जाने के पक्ष में नहीं थे। पर, धर्मशास्त्र के विद्वान पी.वी. काणे ने बिल का समर्थन किया था और हिंदुओं का पर्सनल लॉ बनाने के लिए डॉ. अम्बेडकर की प्रशंसा की थी।

डॉ. अम्बेडकर ने उक्त सभा में उपस्थित लोगों को 'हिंदू कोड बिल' के पक्ष में लाने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि भारत के नए गणतांत्रिक संविधान ने यह सकारात्मक निर्देश दिया है कि सरकार को संपूर्ण देश के लाभ के लिए एक समान नागरिक संहिता तैयार करनी चाहिए। 'हिंदू कोड बिल' इसी समान नागरिक कानून की दिशा में एक सही कदम है। आगे उन्होंने बताया कि जो 'कोड' बनाया गया है, वह हिंदूशास्त्रों और स्मृतियों पर आधारित है। संपत्ति के कानून के लिए 'दायभाग' प्रथा मौजूद थी। विवाह–विच्छेद (तलाक) का समर्थन 'अर्थशास्त्र' और 'पाराशरस्मृति' ने

किया है और संपत्ति में महिला के अधिकारों का समर्थन 'बृहस्पतिस्मृति' में किया गया है। इस तरह उन्होंने यह बोध कराने की भी काफी कोशिश की कि जो लोग बिल का विरोध कर रहे हैं, वे महिलाओं की स्वतंत्रता के विरोधी हैं और उन्हें हिंदू धर्म के प्रगतिशील शास्त्रों एवं विधानों में आस्था नहीं है। मगर, डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों के बावजूद रूढ़िवादी हिंदुओं का मन–मिजाज नहीं बदला। वैसे लोगों ने किसी भी कीमत पर इस बिल को रोकने की ठान ली थी।

सोहन लाल शास्त्री के अनुसार कि जब किसी तरह 'हिंदू कोड बिल' की चार धाराएं पारित हो गईं, तो विरोधी पक्ष के सीने पर सांप लोटने लगा। वे राजेंद्र प्रसाद को कहने लगे कि अब इस बिल को रोकने के लिए एक ही हथियार कारगर हो सकता है कि वह प्रधानमंत्री को लिखकर भेज दें कि वह बिल के विरोध में इस्तीफा देना चाहते हैं, या तो उनका इस्तीफा मंजूर किया जाए या 'हिंदू कोड बिल' पर विचार स्थगित किया जाए। राजेंद्र प्रसाद ने शिमला से इस आशय का पत्र प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को लिखा। परिणामतः 'हिंदू कोड बिल' की जो धाराएं पारित हो चुकी थीं, वे भी राजेंद्र प्रसाद के इस्तीफे की धमकी से निरस्त हो गईं और उन पर अगले चुनावों के बाद निर्वाचित संसद में विचार करने का निश्चय किया गया।

डॉ. अम्बेडकर ने रूढ़िवादियों की इस हठधर्मिता से क्षुब्ध होकर नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। इस संबंध में उन्होंने कहा– "चार वर्ष बीत जाने के बाद बिल की हत्या कर दी गई। जब इसकी चार धाराएं पारित की गईं, तो यह मर गया और किसी ने भी उस पर शोक नहीं मनाया। उन्होंने कहा कि 'हिंदू कोड बिल' इस देश की संसद में समाज सुधार का महानतम कदम था। भारतीय संसद द्वारा अतीत में और भविष्य में भी पारित किए जाने वाले किसी भी कानून की तुलना महत्त्व के आधार पर इससे नहीं की जा सकती। इसी (बिल) की खातिर मैं मतभेदों के बावजूद मंत्रिमंडल में बना रहा। लेकिन, मुझे अपने प्रति सच्चे रहना है और वह मंत्रिमंडल से बाहर होकर ही संभव है।"

अपने इस्तीफे के बाद डॉ. अम्बेडकर ने कहा– "जब समाज अपने भूतकाल को छोड़ रहा हो और भविष्य का अंदाजा लगाया जा रहा हो, तब बस विवेक ही एक कसौटी है, जिस पर किसी भी बात को परखना चाहिए। इसलिए, जिस हिंदू समाज की आपसी वर्गों और महिला–पुरुषों में विषमता ही आत्मा है, उसे झकझोरे बगैर यदि हम केवल आर्थिक पहलू पर ही एक के बाद एक कानून बनाते रहे, तो यह संविधान का माखौल उड़ाने के समान है, या रेत पर किला खड़ा करने का प्रयास है।"

बाद में, हिंदू कोड बिल चार टुकड़ों में पारित हुआ, जिनके नाम हैं– 'हिंदू विवाह अधिनियम 1955', 'हिंदू अवयस्कता एवं संरक्षकता अधिनियम 1956', 'हिंदू दत्तक ग्रहण एवं भरणपोषण अधिनियम 1956' और 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956'। लेकिन, इन अधिनियमों में वह क्रांतिकारी सुधार नहीं था, जो 'हिंदू कोड बिल' में डॉ. अम्बेडकर ने किया था। इन अधिनियमों ने हिंदू विवाह के पवित्र और अटूट बंधन की सनातनी परंपरा को ही मान्यता दी। नेहरू ने 6 दिसंबर 1956 को डॉ. अम्बेडकर के निधन पर बोलते हुए नए हिंदू कानूनों को लेकर यह स्वीकार किया– "हिंदू कानून में सुधार उस ऐतिहासिक एवं यादगारी ढंग से तो नहीं हो सके, जिस तरह डॉ. अम्बेडकर ने हिंदू कानूनों के मसौदे तैयार किए थे, फिर भी मुझे खुशी है कि डॉ. अम्बेडकर अपने जीवन में हिंदू कानूनों में कुछ सुधार देख सके।"

जाति उन्मूलन : डॉ. अम्बेडकर वर्ण–व्यवस्था को भारतीय महिलाओं की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार मानते थे। उनका कहना था कि वर्ण, जाति और लिंग को अलग–अलग करके नहीं देखा जा सकता है। इस क्रम में वे विशेष रूप से 'मनुस्मृति' के विधानों को संदर्भित करते थे। मनु के पहले महिलाएं स्वतंत्र थीं और उन्हें पुरुष के समान हक–अधिकार भी प्राप्त थे। लेकिन, मनु ने उसे पदानवत कर दिया। ऐसा करने के पीछे मनु उसका मूल उद्देश्य वर्ण–व्यवस्था की जकड़न को मजबूत करना था, जो कि विशेष रूप से बौद्ध धर्म के प्रभाव में ढीली पड़ गई थी। वास्तव में, मनु शूद्रों के प्रति जितने अनुदार थे, महिलाओं के प्रति भी उनके विचार उतने ही अनुदार थे।"

प्रारंभ में चातुर्वण्य–व्यवस्था एक उदार व्यवस्था थी और इसमें अंतरवर्णीय विवाहों पर कोई प्रतिबंध नहीं था। किसी भी वर्ण का पुरुष विधिपूर्वक दूसरे वर्ण की महिला के साथ विवाह कर सकता था। उस समय शिशु की स्थिति उसके पिता के आधार पर निर्धारित की जाती थी। माँ के वर्ण का कोई महत्व नहीं था। इस तरह प्रतिलोम विवाह होने पर उच्च वर्ण की माताओं के बच्चे निम्न वर्ण के कहलाते थे, जो उनके पिता का वर्ण होता था। अनुलोम विवाह होने पर निम्न वर्ण की माताओं के बच्चे अपने पिता का उच्च वर्ण ग्रहण करते थे। लेकिन, मनु ने प्रतिलोम विवाह पर रोक लगा दी और साथ ही साथ अनुलोम विवाह की स्थिति में भी शिशु के वर्ण का निर्धारण पिता की बजाय माता की वर्ण से करना सुनिश्चित कर दिया। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार इससे उच्च वर्ण के पुरुष अपने उन बच्चों के प्रति उत्तरदायित्व से मुक्त हो गए, जो उनके निम्न वर्ण की महिलाओं से विवाह (या जार–कर्म) द्वारा उत्पन्न हुए थे। यह एक तरह से उच्च वर्ण को निम्न वर्ण की महिलाओं के साथ कानूनी रूप से व्यभिचार करने का साधन बन गया।

अंतरवर्णीय या अंतरजातीय विवाहों का निषेध ही वर्ण–व्यवस्था या जाति–व्यवस्था को टिकाए रखने का मूल आधार था। वैसे इसकी शुरुआत ब्राह्मणों ने की, लेकिन जल्द ही यह अन्य जातियों में भी फैल गई। कुछ जातियों ने स्वयं अपने दरवाजे अन्य जातियों के लिए बंद कर लिए और कुछ को दूसरे के द्वार अपने लिए बंद होने के कारण ऐसा करना पड़ा। वास्तव में जाति–प्रथा के निर्माताओं ने इसके उल्लंघन के खिलाफ कठोर दंडों का विधान किया था। जिन लोगों ने इसका विरोध किया या कोई नई विचारधारा देनी चाही, उन्हें एक अलग बेड़े में डाल दिया गया। इसी तरह, सजातीय विवाह या अन्य विधानों का उल्लंघन करने वालों को भी कड़ी से कड़ी सजा दी गई। यह सजा होती थी– हुक्का पानी बंद और इसकी परिणति होती थी– एक अन्य जाति का जन्म।

सजातीय विवाह–प्रथा को बनाए रखने के लिए आंतरिक दृष्टि से दांपत्य अधिकारों का विधान आवश्यक है। फिर यदि यह विधान बनाया जाए, तो जाति–संरचना की सफलता हेतु विवाह योग्य महिला–पुरुष संख्या लगभग समान रखनी होगी। प्राकृतिक रूप से ऐसा तभी हो सकता है, जब पति–पत्नी की मृत्यु एक ही साथ हो, जो कि असंभव है। सामान्यतः पति के मरने पर पत्नी बच जाती है और पत्नी के मरने पर पति बच जाता है। ऐसे में इस विवाह–व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रत्येक जाति में विवाह योग्य जोड़ों के अतिरिक्त विधुरों एवं विधवाओं की समस्या का हल करना जरूरी था। क्योंकि, बचे हुए विधुर या विधवा को यदि स्वतंत्र छोड़ा जाता, तो वे सजाति में उपलब्ध विवाह योग्य महिला–पुरुषों के अनुपात को गड़बड़ा सकते थे, अथवा सजातीय विवाह बंधन को तोड़कर जाति में विजातीय लोगों को भर ले सकते थे।

अतः डॉ. अम्बेडकर के अनुसार हिंदू समाज में जाति–प्रथा को टिकाए रखने के लिए महिलाओं से संबंधित तीन असाधारण रीतियां प्रस्तुत की गयी हैं– (अ) विधवा (सती) को उसके मृत पति के साथ जलाना, (ब) विधवा को आजीवन विधवा ही बनाए रखना, और (स) बालिका विवाह।

प्रथम दो रीतियां समाज में पतियों के मरने के बाद विधवाओं को ठिकाने लगाने के लिए बनाई गई थीं। इन दोनों रीतियों के पालन के बाद किसी विधवा द्वारा समाज के विवाह योग्य पुरुष से शादी कर उसकी संख्या घटाने अथवा अंतरजातीय विवाह करके जाति को भ्रष्ट करने की कोई गुंजाइश नहीं बचती थी। तीसरी रीति, अर्थात् बालिका विवाह का प्रावधान पत्नी की मृत्यु के पश्चात् विधुरों की समस्या के समाधान हेतु किया गया था। विधुरों को विधवा की तरह अपने जीवन साथी के साथ जला डालने से जाति का एक तगड़ा व्यक्ति खो जाता और उसे आजीवन विधुर रखने से भी समाज की भौतिक सुख–समृद्धि कुप्रभावित होती। इसलिए, विधुरों को पुनर्विवाह की अनुमति दी

गई। मगर, सामान्यतः जब जातियों की परिधियां बनती हैं, तो विवाह योग्य महिला–पुरुष की संख्या एक तरह से संतुलित हो जाती है। इस परिस्थिति में इस संतुलन को कायम रखने के लिए विधुरों का पुनर्विवाह उन बालिकाओं से किया जाता था, जो अभी विवाह योग्य नहीं हुई थी। इस तरह सतीप्रथा, अनिवार्य वैधव्य और बालिका विवाह आदि समस्याओं की जड़ जाति व्यवस्था ही थी, यही कारण है कि डॉ. अम्बेडकर ने महिला–सशक्तीकरण के लिए जाति को जड़ से मिटाने की जरूरत बताई।

आरक्षण : भारत में आरक्षण का मामला सीधे–सीधे वर्ण–व्यवस्था से जुड़ा है। इस व्यवस्था के तहत समाज को चार वर्णों, यथा–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में बांटा गया और उनके लिए अलग–अलग कार्य आरक्षित किये गये। वर्ण–व्यवस्था के विधानों के अनुसार राज पुरोहित, राजगुरु, न्यायाधीश एवं मंत्रियों के पद ब्राह्मणों के लिए आरक्षित थे। साथ ही शिक्षा पर उनका एक तरह से एकाधिकार था। इसी तरह क्षत्रियों के लिए 'राजा' का पद और सेना का क्षेत्र आरक्षित था और वैश्यों को खेती, पशुपालन एवं व्यापार में आरक्षण दिये गये थे। वर्ण–व्यवस्था के निर्माताओं ने शूद्रों के हिस्से बेकारी एवं बंधुआ मजदूरी दी थी। इतना ही नहीं, उनकी योग्यताओं एवं क्षमताओं को कुंद करने के लिए उन पर तरह–तरह के प्रतिबंध एवं निर्योग्यताएं भी लागू कर दी थीं। उदाहरण के लिए, उन्हें न तो शिक्षा का अधिकार था, न संपत्ति का और न ही अपनी आत्मरक्षा हेतु अस्त्र–शस्त्र रखने का। शूद्रों से भी दयनीय स्थिति महिलाओं एवं दलितों की थी।

जाहिर है कि वर्ण–व्यवस्था के कठोर एवं क्रूर विधानों की वजह से शूद्रों–अतिशूद्रों एवं महिलाओं की क्षमताएं एवं प्रतिभाएं कुंद हुईं। ऐसे में शूद्रों–अतिशूद्रों एवं महिलाओं को विशेष सुविधाएं प्राप्त करने का हक है, ताकि वे सदियों की दासता से मुक्त होकर समाज की मुख्यधारा में आएं। इसलिए, स्वतंत्रता के पूर्व आरक्षण आंदोलन का समर्थन करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा, "जब मेहनतकश जातियां आरक्षणों की मांग करती है, तो वह कोई नई बात या अजूबा नहीं है। यह कोई अनुचित मांग नहीं है और न ही यह पाप है। वास्तव में, यह मांग उन शासक जातियों और संप्रदायवादियों की ज्यादतियों से सुरक्षा की मांग है, जो मेहनतकश जातियों पर हर क्षेत्र में प्रभुत्व जमाना चाहती हैं।"

दरअसल, डॉ. अंबेडकर की आरक्षण–नीति का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष को अनुचित लाभ पहुंचाना नहीं था। वे तो आरक्षण को सामाजिक समानता की प्राप्ति का एक साधन मानते थे। उन्होंने कभी भी चिरस्थायी या अमानवीय आरक्षण (जैसा कि वर्ण–व्यवस्था में द्विजों को प्राप्त थे) का समर्थन नहीं किया। यहां उनका यह सवाल उल्लेखनीय है, "क्या आपको लगता है कि हम संविधान द्वारा प्रदत्त सहूलियतों के लिए

सदा–सदा के लिए अछूत बने रहें? हम मनुष्यत्व पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। क्या संविधान द्वारा दी गयी विशेष सहूलियतों के लिए ब्राह्मण लोग अछूत बनेंगे ?"

डॉ. अंबेडकर के उक्त सवाल में अछूतपन की असह्य वेदना छिपी है और शायद ही कोई किसी विशेष सहूलियतों के बदले उस 'वेदना' को स्वीकार करे। लेकिन, आज स्थिति थोड़ी बदली है। अछूतपन का दंश कम हुआ है, यह सच्चाई है। साथ ही आज 'दलित' एवं 'महादलित' बनना 'घुटन' की बात नहीं, वरन 'सौभाग्य' का मामला हो गया है। आज प्रायः सभी जातियां यह चाहती हैं कि उन्हें निम्नतम दर्जा मिले, ताकि वे आरक्षण का अधिकतम लाभ ले सकें। कई सवर्ण जातियां 'ओबीसी', ओबीसी जतियां 'इबीसी', ईबीसी जातियां 'दलित' और दलित जातियां 'महादलित' 'केटेगरी' में शामिल होने के लिए आंदोलन कर रही हैं। दरअसल, आज विभिन्न जातीय समूहों को आरक्षण की 'मलाई' का स्वाद पता चल गया है और वे इसके लिए कुछ भी करने को तैयार हैं। यह सब डॉ. अम्बेडकर के विचारों के बिल्कुल प्रतिकूल है।

भारतीय समाज एवं राजनीति में आरक्षण की पहेली को सुलझाना काफी कठिन है। इसके समर्थन एवं विरोध में कई तर्क दिये जाते हैं। मसलन यह कि प्रत्येक वर्ग अपने लिए आरक्षण लेते समय उसके पक्ष में तर्क ढूंढ़ लेता है और जब दूसरों की बारी आती है, तो उसके विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करने लगता है। उदाहरणार्थ, आज सवर्णों द्वारा महिला–आरक्षण हेतु हाय तौबा मचाई जा रही है, लेकिन जब पिछड़ों के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान किया गया था, तो उसके विरोध में सवर्ण तबका आत्मदाह तक करने में लगा था। इसी तरह पिछड़ों को दलितों के लिए दी गई विशेष सुविधाएं रास नहीं आतीं। दलित भी महादलितों का उत्थान होते नहीं देखना चाहते।

आरक्षण के संदर्भ में अक्सर 'योग्यता' को लेकर सवाल उठाये जाते हैं। यह वाजिब सवाल है और इस पर गंभीरता से सोचा जाना चाहिए। लेकिन यहां मुख्य सवाल योग्यता के मापदण्ड का है। यदि योग्यता का मापदंड पारिवारिक पृष्ठभूमि, शारीरिक सौन्दर्य, पूंजी आदि रहेगा, तो फिर मेहनतकश मजदूरों–किसानों, आदिवासियों एवं गरीबों के बच्चों का 'कम्पीट' करना अपवाद ही होगा।

इसलिए, सामाजिक न्याय का तकाजा है कि सर्वप्रथम योग्यता की कसौटी को बदलकर जनपक्षीय बनाया जाए। यहां 'योग्यता–योग्यता' चिल्लाने वाले लोगों की नियत भी देखने की जरूरत है। क्योंकि, जो लोग 'योग्यता' की आड़ में वंचित वर्गों के आरक्षण का विरोध करते हैं, वही लोग 'डोनेशन' एवं 'पैरवी' के दम पर अपने लोगों को शिक्षा, रोजगार या अन्य सहूलियतें दिलाते अघाते नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्हें 'योग्यता' की चिंता नहीं, बल्कि वंचितों का उत्थान देखकर उनको तकलीफ होती है।

इसी तरह 'समता' के संदर्भों को भी समझा जाना चाहिए और वहां यह हमेशा याद रहे कि असमान लोगों के बीच समता का व्यवहार करना असमानता को बढ़ावा देना है। अतः 'योग्यता', 'क्षमता' एवं 'समता' आदि को उसके सही अर्थ संदर्भों में समझाने की जरूरत है।

अंत में, समाजवादी विचारक किशन पटनायक के कथन उल्लेखनीय है, "आरक्षण एक ऐतिहासिक अनिवार्यता बन चुका है। जो लोग इसका विरोध कर रहे हैं, वे भारतीय समाज के स्वतः विकास में बाधक हैं। आरक्षण का चक्र तब पूरा होगा, जब इसकी जरूरत नहीं रहेगी, और इसको पूरा होने में विलंब नहीं होना चाहिए। इस चक्र को पूरा करने के लिए, आरक्षण को तार्किक नतीजे तक ले जाने के लिए, आर्थिक नीतियों तथा शिक्षा–व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन होने चाहिए।" यहां यह भी ध्यातव्य है कि वास्तव में 'आरक्षण' एक 'दोधारी' औजार है। हमें इसका प्रयोग सामाजिक न्याय के लिए करना है, सामाजिक अन्याय के लिए नहीं। इसका प्रयोग करते हुए हमें व्यक्तिगत एवं वर्गीय स्वार्थों से ऊपर उठकर समाज के अंतिम व्यक्ति के हितों को ध्यान में रखना चाहिए।

निष्कर्ष : डॉ. अम्बेडकर को विशेष रूप से दलितों के मसीहा के रूप में याद किया जाता है। इसमें हमें यह हमेशा याद रखना चाहिए कि डॉ. अम्बेडकर केवल दलितों के मसीहा नहीं थे। वे तो दुनिया के सभी व्यक्तियों को मान–सम्मान एवं हक–अधिकार दिलाने के पक्षधर थे और उन्होंने इसके लिए हर संभव प्रयास किया भी। इस क्रम में दलितों के अलावा श्रमिकों, किसानों और विशेष रूप से स्त्रियों के लिए किए गए उनके कार्यों को रेखांकित किया जा सकता है। विशेषकर 'हिंदू कोड बिल' के लिए अम्बेडकर ने जो संघर्ष एवं त्याग किया, वह अविस्मरणीय रहेगा। आज जबकि दुनिया भर में महिला–विमर्श उफान पर है और भारत में भी महिला–विमर्श के अलावा विधायिका में महिलाओं के लिए तैंतीस प्रतिशत आरक्षण का मुद्दा गर्म है, तो स्त्री–सशक्तीकरण संबंधी अम्बेडकर के विचारों को जानने–समझने की आवश्यकता बढ़ गई है।

संदर्भ

1. अम्बेडकर, डॉ. बी.आर.; बाबा साहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड–7, संपादक– कैलाश चंद्र सेठ एवं मोनदास नैमिशराय, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– अप्रैल 1998, पृ. 330.
2. अम्बेडकर, डॉ. बी.आर.; बाबा साहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड–1, प्रधान संपादक– डॉ. श्याम सिंह शशि, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– अप्रैल 1993, पृ. 32.

3. शेखर, सुधांशु; वर्ण–व्यवस्था और सामाजिक न्याय : डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विषेष संदर्भ में, शोध–प्रबंध (अप्रकाशित), मानविकी संकाय (दर्शनशास्त्र विभाग), तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार), 2011, पृ. 62.

4. भारती, कंवल; समाजवादी आंबेडकर, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण–2009, पृ. 150.

5. लिमये, मधु; डॉ. अम्बेडकर : एक चिंतन, सरदार वल्लभ भाई पटेल एजुकेशन ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1986, पृ. 100.

6. कीर, धनंजय; डॉ. अम्बेडकर : लाइफ एंड मिषन, पॉपुलर प्रकाशन, बंबई (महाराष्ट्र), 1981

❖❖❖❖❖

महिला उत्थान और महिला संवेदी बजट

डॉ. विश्वास पटेल, डॉ. तुहिना जौहरी ·

प्रकृति की संपूर्ण सृजनात्मकता और अलौकिक चेतना का मूर्त रूप नारी है। किसी भी देश की परम्परा और संस्कृति वहां की महिलाओं से परिलक्षित होती है। किसी भी समाज के निर्माण एवं विकास में महिला एवं पुरुष की परस्पर सहभागिता व साझेदारी अत्यंत आवश्यक है। महिलाओं के अधिकार में कमी मानव सभ्यता के विकास के साथ ही रही है। हर व्यक्ति जन्म से ही कुछ अधिकार लेकर आता है, चाहे वह जीने का अधिकार हो या विकास के लिए अवसर प्राप्त करने का, परन्तु इस पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं के साथ लैंगिक आधार पर किए जा रहे भेदभाव की वजह से महिलाएं इन अधिकारों से वंचित रह जाती हैं। उत्पीड़न, प्रताड़नाओं और अवहेलना के कंटीले तारों से बींधता शरतीय स्त्री का जीवन इस धरा पर आने के लिए ही संघर्ष करता है। जन्म से पूर्व ही लिंग आधारित भेदभाव शुरू हो जाता है। जीवन के मूलभूत अधिकारों से वंचित महिलाएं अनवरत रूप से असमानताओं के दंश को झेल रही हैं। महिलाएं जब तक हर क्षेत्र में मजबूत नहीं होंगी तब तक देश का विकास नहीं हो सकता। किसी भी देश अथवा समाज की बुनियाद महिला के सशक्त होने पर निर्भर होती है। जिस प्रकार हर वृक्ष का फलना–फूलना उसके जड़ के स्वस्थ होने पर निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार किसी भी देश के चहुंमुखी विकास के लिये महिला रूपी जड़ का मजबूत और स्वस्थ रहना भी बहुत जरूरी है। देश के प्रायः सभी समाजों में पुरुष और स्त्रियों के काम के बंटवारे में, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों की भूमिका में स्त्रियों को वंचित या कमतर ही रखा गया है। इन वंचनाओं की वजह से महिलाएं हर क्षेत्र में पिछड़ जाती हैं। इस भेदभाव के कारण स्त्रियां विकास के लिए बनाई गई नीतियों व कार्यक्रमों का लाभ नहीं उठा पातीं और विकास का ज्यादा लाभ पुरुष उठा ले जाते हैं।

महिलाओं की स्थिति में सुधार तथा उनके सशक्तिकरण के विषय में सर्वत्र चिन्तन, मनन तथा जागरूकता अभियान चलाया जा रहा है। आज नारी, शिक्षा, राजनीति, विज्ञान–प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, खेल, उद्योग, कला–संगीत, समाज सेवा आदि क्षेत्रों में ख्याति अर्जित कर रही हैं, वह पुरुषों से कहीं भी कम नहीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के 6 दशकों

· सहायक प्राध्यापक, संत अलॉयसियस महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

के पश्चात् भी भारत में संसाधनों तक पहुंच और उन पर नियंत्रण के मामले में ज्यादातर महिलाओं के साथ भेदभाव किया जाता है। यह भेदभाव स्वास्थ्य, पोषण, साक्षरता, शैक्षणिक उपलब्धि, कौशलों के स्तर, व्यावसायिक स्तर जैसे महत्वपूर्ण सामाजिक विकास संसूचकों में दिखाई देता है।

महिला संवेदी बजट की अवधारणा :–

लगभग दो–तीन दशकों में महिला संवेदी बजट या लैंगिक बजट की अवधारणा सामने आई है। इसके माध्यम से किसी भी सरकारी योजना के लाभ को महिलाओं तक इस तरह पहुंचाया जाए जिससे लैंगिक आधार पर पुरुष व महिलाओं के बीच में जो खाई बनी हुई है, उसे समाप्त किया जा सके। महिलाओं और पुरुषों को भिन्न भिन्न बाध्यताओं का सामना करना पड़ता है तथा उनकी अलग–अलग सामाजिक जिम्मेदारियां हैं और उसी के अनुरूप सामाजिक प्राथमिकताएं भी हैं। घर के अंदर और बाहर महिला–पुरुष प्रतिकूल संबंधों की विरासत, महिलाओं को उनकी वैध भूमिका निभाने, अर्थव्यवस्था में योगदान देने और आर्थिक लाभों में उनका उचित हिस्सा पाने से रोकती है। अतः महिलाएं बजटीय नीतियों से अलग ढंग से प्रभावित होती हैं और उस पर पुरुषों से अलग ढंग से प्रतिक्रिया करती हैं। महिलोन्मुखी बजट अपने आप में महिला–पुरुष परिप्रेक्ष्य से महिलाओं की समस्याओं को दूर करने में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है। महिला संवेदी बजट के माध्यम से सरकार द्वारा महिलाओं के विकास, कल्याण व सशक्तिकरण से संबंधित योजनाओं और कार्यक्रमों के लिए प्रतिवर्ष बजट में एक निर्धारित राशि की व्यवस्था सुनिश्चित करने के प्रावधान किए जाते हैं। महिला संवेदी बजट प्रक्रिया अपेक्षाकृत एक नई अवधारणा है। इसका तात्पर्य है– सार्वजनिक निधियों के आवंटन से देश में महिलाओं और लड़कियों पर पड़ने वाले प्रभावों का पता लगाकर उनके बीच समानता लाना। इस प्रक्रिया में महिलाओं के लिए न तो अलग से बजट बनाने या विशेष बजट की आवश्यकता होती है और न ही उनके लिए अधिक राशि की व्यवस्था करने की जरूरत होती है बल्कि मुख्य बजट में ही कुछ ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे सामाजिक लैंगिक दरार को भरने के लिए मदद मिल सके। वास्तव में इसका उद्देश्य समाज का बहुमुखी विकास के लिए सार्वजनिक संसाधनों का उचित न्यायोचित और कुशल वितरण है। विश्व स्तर पर महिलाओं की स्थिति सुधारने और जेण्डर समानता को सुनिश्चित करने के लिए अनेक प्रयास किए गए। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1946 में महिलाओं की स्थिति व विभेदों को समाप्त करने के लिए आयोग का गठन किया गया। इस आयोग का उद्देश्य यह था कि विश्व की आधी आबादी यानी महिलाओं को, उनके

बुनियादी मानवाधिकार, गरिमा एवं मान, पुरुषों के समान ही बराबरी से दिलाए जा सकें। सर्वप्रथम 1980 में आस्ट्रेलिया में इसकी शुरुआत हुई। 1989 में ब्रिटेन में महिलाओं के हित में बजट को लेकर एक स्वतंत्र समूह का गठन किया गया, जो सरकार के साथ निरन्तर सम्पर्क में रहता था। वर्तमान में लगभग 70 देश ऐसे हैं जहां महिला संवेदी बजट से प्रयोग हो रहे हैं। भारत में पहले भी महिलाओं के कल्याण की दृष्टि से बजट में प्रावधान होते थे। 1990 में नई आर्थिक नीति द्वारा कल्याण का स्थान सशक्तिकरण ने ले लिया। देश की आबादी का 48 प्रतिशत हिस्सा होने के बाद भी देश के कुल संसाधनों पर उनकी हिस्सेदारी बहुत कम है। ये महिलाएं न केवल देश के बहुमूल्य मानव संसाधनों का बड़ा हिस्सा हैं, बल्कि वे अपने आप में अलग व्यक्तित्व हैं और उनका सामाजिक–आर्थिक विकास ही अर्थव्यवस्था और संपूर्ण समाज के सतत् विकास का आधार है। वास्तविकता यह है कि भारत में अभी महिलाओं की संसाधनों तक पहुंच तथा उन पर नियंत्रण के संबंध में असमानताओं का सामना करना पड़ता है। संसाधनों के आवंटन में महिलाओं के मुद्दों के प्रति संचेतना सातवीं योजना से आरंभ हुई।

महिला संवेदी बजट का उद्देश्य :–

समानता बनाम दक्षता :– महिला–पुरुष असमानता विकास की प्रक्रिया में अक्षमता लाती है। अतः दक्षता के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है कि महिलाओं के संबंध में किए गए निवेश से समाज को लाभ हो। यदि महिलाओं के संबंध में किए गए अधिक निवेश से उनके सामाजिक स्तर में सुधार होता है तो इसे दक्षता लाभ माना जाएगा, क्योंकि यह विकास की प्रक्रिया को अधिक कुशल और परिणामोन्मुखी बनाएगा।

महिला–पुरुष के बीच सर्वांगी भेद :– महिलाओं व पुरुषों को भिन्न–भिन्न बाध्यताओं का सामना करना पड़ता है, उनकी भिन्न–भिन्न सामाजिक जिम्मेदारियां निर्धारित हैं और परिणामस्वरूप उनकी भिन्न–भिन्न सामाजिक प्राथमिकताएं हैं। महिलाएं बजटीय नीतियों से अलग ढंग से प्रभावित होती हैं और उस पर पुरुषों से अलग ढंग से प्रतिक्रिया करती हैं। महिलोन्मुखी बजट अपने आप में महिला–पुरूष परिप्रेक्ष्य से महिलाओं की समस्याओं को दूर करने में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है।

पारदर्शिता और जवाबदेही सुनिश्चित करना :– भारत जैसे पुरुष प्रधान समाज में स्त्री–पुरुष संबंधी भेदभाव की भावना अधिक है। महिला संवेदी बजट के माध्यम से बजटीय आवंटन में महिलाओं के लिए पारदर्शिता सुनिश्चित करना और तदनुसार ऐसे आवंटनों के उपयोग में जवाबदेही को बढ़ाता है।

महिला संवेदी बजट की आवश्यकता :–

देश को आजाद हुए 70 वर्षों के बाद भी हमारे मानव संसाधन का अहम् हिस्सा– महिलाएं व बालिकाएं विकास के सभी आयामों में जैसे– स्वास्थ्य, पोषण, साक्षरता, शिक्षा, कौशल निर्माण, रोजगार एवं सामाजिक सुरक्षा आदि पैमानों पर पुरुषों व बालकों के सापेक्ष सामाजिक असमानताओं के कारण प्रगति की दौड़ में पिछड़ी हुई हैं। महिलाओं के साथ बरकरार सामाजिक, सांस्कृतिक बाधाओं की वजह से देश की चहुंमुखी तरक्की व प्रगति के बाद भी उनकी हालत प्रतिकूल बनी हुई है। जब तक देश की नियोजन एवं विकास प्रक्रिया, शासन तंत्र के हर स्तर पर केन्द्र सरकार, राज्य सरकार एवं जिला सरकारों (शहरी निकाय एवं पंचायती राज संस्थाएं) के माध्यम से इन लैंगिक विषयक बाधाओं को मिटाने एवं लैंगिक भेदभाव को दूर करने के सशक्त प्रयास, नीतिगत रूप से नियत नहीं करेगी, तब तक आर्थिक प्रगति के सुखद परिणाम, देश की आधी आबादी की पहुंच से दूर ही बने रहेंगे। अतः देश व समाज में महिलाओं की समानता व सशक्तिकरण हेतु सकारात्मक सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए महिला संवेदी बजट प्रक्रिया एक महती आवश्यकता है। जब तक लैंगिक समानता संबंधी नीतियों व कार्यक्रमों के लिए उपयुक्त मात्रा में बजट आवंटित नहीं किया जायेगा, तब तक ऐसी नीतियां महज कागजी बनकर रह जायेंगी।

महिला संवेदी बजट इस नए सोच पर आधारित सशक्तिकरण का हथियार है कि बजट प्रक्रिया मात्र एक लेखा संधारण या लेखा–जोखा रखने की किताबी कार्यवाही ही नहीं है, बल्कि बजट प्रक्रिया से ही देश की नीतियों व कार्यक्रमों को क्रियान्वयन का आधार मिलता है। अतः यदि जैण्डर समानता का हक एक मौलिक अधिकार के रूप में दिया है तो देश की नीतियों व कार्यक्रमों को भी इस मौलिक अधिकार की अनुपालना जमीनी स्तर पर लागू करने हेतु महिला संवेदी बजट नियत करने की प्रतिबद्धता भी दर्शानी पड़ेगी। सार्वजनिक मदों और सेवाओं में अपना उचित हिस्सा पाने में महिलाओं को विशेष रूप से जेंडर संबंधी अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

महिला संवेदी बजट : भारतीय संदर्भ

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–90) से लिंग संवेदनशीलता पर बल देना आरंभ किया गया, जबकि महिलाओं हेतु विभिन्न लाभार्थी उन्मुख योजनाओं की निगरानी की संकल्पना को मूर्त रूप दिया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992–97) में जेण्डर परिदृश्य और सामान्य विकासात्मक क्षेत्रों से महिलाओं के लिए निधियों के निश्चित प्रवाह को सुनिश्चित करने

की जरूरत को पहली बार उजागर किया गया। योजना दस्तावेज में कहा गया है कि, ''विभिन्न क्षेत्रों के विकास के लाभ से महिलाओं को वंचित न रखा जाए और सामान्य विकास कार्यक्रमों के साथ–साथ महिलाओं के लिए विशेष कार्यक्रम भी चलाए जाने चाहिए। सामान्य विकास कार्यक्रमों में अधिक जेण्डर संवेदनशीलता परिलक्षित की जानी चाहिए।

नवीं पंचवर्षीय योजना (1997–2002) के अंतर्गत 1997–98 में महिला घटक योजना लागू किए जाने के साथ महिलाओं हेतु निधियों के औपचारिक निर्धारण की शुरुआत की गई। केन्द्र व राज्य सरकारों को यह सुनिश्चित करने के लिए निर्देश दिए गए कि महिलाओं से संबंधित सभी क्षेत्रों में कम–से–कम 30 प्रतिशत निधियां/लाभ उद्दिष्ट किए जाएं।

दसवीं योजना (2002–2007) के दौरान, स्त्री–पुरुष असमानता के प्रभाव का पता लगाने और लिंग संबंधी प्रतिबद्धताओं को बजटीय प्रतिबद्धताओं में बदलने के लिए सरकार के बजट को विभाजित करने की प्रक्रिया को जारी रखकर जेंडर बजटिंग करने की भारत सरकार की प्रतिबद्धता को और अधिक बल मिला।

ग्याहरवीं पंचवर्षीय योजना (2007–2012) में जेंडर बजट की प्रतिबद्धता को दोहराया गया और कहा गया कि महिला–पुरुष समानता के लिए सभी मंत्रालयों और विभागों में नीतियों और योजनाओं में पर्याप्त प्रावधान किए जाने की आवश्यकता है।

बारहवीं पंचवर्षीय योजना (2012–2017) में सभी मंत्रालयों, विभागों और राज्य सरकारों को शामिल करके जेंडर बजटिंग की प्रक्रिया को और सुदृढ़ बनाने पर बल दिया गया।

सारणी : महिला संवेदी बजट 2005–06 से 2016–17 में दर्षाए अनुसार महिलाओं हेतु आवंटन

वर्ष	मंत्रालयों/विभागों की संख्या	मांगों की संख्या	महिला संवेदी बजट की कुल मात्रा	कुल बजट के प्रतिशत के रूप में
2005–06	9	10	14,379	2.79
2006–07	18	24	28,737	5.09
2007–08	27	33	31,178	4.5
2008–09	27	33	27,662	3.68

वर्ष	मंत्रालयों / विभागों की संख्या	मांगों की संख्या	महिला संवेदी बजट की कुल मात्रा	कुल बजट के प्रतिशत के रूप में
2009–2010	28	33	56,858	5.57
2010–2011	28	33	67,750	6.11
2011–2012	29	34	78,251	6.22
2012–2013	29	34	88,143	5.91
2013–2014	30	35	97,134	5.83
2014–2015	36	39	98,030	5.46
2015–2016	35	35	79,258	4.46
2016–2017			90,624	4.5

राज्यों में महिला संवेदी बजट

हिंसा एवं भेदभाव से मुक्त वातावरण में महिलाएं सम्मान के साथ रहें और विकास में पुरुषों के समान भागीदारी निभा सकें। महिला संवेदी बजट के माध्यम से विकास नीतियों व कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में महिला संवेदी जवाबदेही, पारदर्शिता, जेण्डर, ऑडिट युक्त सामाजिक अंकेक्षण आदि पहलुओं को भी सुदृढ़ किया जा सकता है। इस प्रक्रिया से विकास कार्यक्रमों के प्रति जनभागीदारी, विशेषकर महिला भागीदारी व रुझान बढ़ाने में भी मदद मिलेगी। कई राज्यों ने सफलतापूर्वक महिला संवेदी बजट को कार्यान्वित किया है। कर्नाटक, केरल, राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और अनेक अन्य राज्यों ने खामियों को दूर करने के लिए महिला संवेदी बजट को संस्थागत बनाने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं। विपत्तिग्रस्त और बेसहारा महिलाओं के साथ ही उनके कानूनी अधिकारों और उनके हित में चलाई जा रही योजनाओं की जानकारी जागृति शिविरों के माध्यम से दी जा रही है। कठिन परिस्थिति में जीवन–यापन करने वाली महिलाओं को आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध करवाने के लिए स्वाधार योजना का क्रियान्वयन हो रहा है। प्रत्येक राज्य में महिला संवेदी बजट पर उच्च अधिकार प्राप्त समिति / कार्य बल गठित किया जाए जिसमें वित्त, योजना तथा महिला एवं बाल विकास के प्रतिनिधि हों। क्षेत्रीय नीतियों का उस सीमा तक मूल्यांकन करना, जहां तक वे महिलाओं की स्थिति में सुधार लाती हैं। चाहे वह पर्याप्त बजट आवंटन से संबंधित हों, जो महिलानुकूल नीति के कार्यान्वयन हेतु पर्याप्त होते हैं।

त्रिपुरा :– त्रिपुरा सरकार ने महिला संवेदी बजट को औपचारिक रूप से वर्ष 2005–06 में अंगीकृत किया। 45 वर्ष से अधिक आयु की अविवाहित महिलाओं व विधवा महिलाओं के लिए पेंशन की सुविधा, घरेलू हिंसा, बलात्कार आदि से पीड़ित के लिए क्षमता निर्माण प्रशिक्षण कार्यक्रम जिसके अंतर्गत ड्राइविंग, ब्यूटीशियन, टेलरिंग, चॉक मेकिंग आदि का प्रशिक्षण दिया जाएगा।

मध्यप्रदेश :– मध्यप्रदेश सरकार महिलाओं की आवश्यकता और प्राथमिकताओं के अनुसार लोक व्यय में उनकी सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए जेण्डर बजट का निर्धारण और क्रियान्वयन पिछले 5 वर्षों से कर रही है। मध्यप्रदेश सरकार ने महिलाओं के उत्थान से जुड़े महिला–बाल विकास विभाग के बजट में पिछले नौ वर्षों में लगातार वृद्धि की है। विभागवार महिलाओं के लिए अलग से बजट पेश करने वाला मध्यप्रदेश पहला राज्य है। पिछले वर्ष यह 12 फीसदी था, लेकिन अब यह बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया है। लाड़ली लक्ष्मी योजना, उषा किरण, गांव की बेटी, प्रतिभा किरण, जागृति शिविर, तेजस्विनी ग्रामीण महिला सशक्तिकरण कार्यक्रम, स्व–सहायता समूह, ममत्व मेला आदि का प्रावधान सरकार ने महिलाओं को प्रदान किए हैं।

झारखण्ड :– 2016–17 के बजट में पहली बार महिलाओं के हित में जेंडर बजट का प्रावधान किया गया, जिसके अंतर्गत सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र की योजनाओं में कम–से–कम 30 प्रतिशत या उससे अधिक की राशि महिलाओं के हित में कामों के लिए होंगी। ट्रैफिकिंग से मुक्त कराई गई महिलाओं के लिए देवघर में नारी निकेतन बनेगा। दुमका, बोकारो, देवघर, हजारीबाग, सरायकेला और पलामू में कामकाजी महिलाओं के लिए हॉस्टल बनाये जाएंगे। पुलिस नियुक्ति में महिलाओं को 33 फीसदी आरक्षण प्रदान करना।

छत्तीसगढ़ :– छत्तीसगढ़ सरकार ने 2007–08 में महिला संवेदी बजट को औपचारिक रूप से अंगीकृत किया। रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग में कामकाजी महिलाओं के लिए 15 करोड़ की लागत से महिला हॉस्टल प्रारंभ किए जाएंगे। बालिकाओं में उच्च तथा तकनीकी शिक्षा विस्तार हेतु 4 हजार सीटों के 80 छात्रावासों का निर्माण किया जायेगा।

राजस्थानः– महिला विकास और सशक्तिकरण हेतु 2009–10 में महिलाओं से संबंधित योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए महिला संवेदनशील बजट बनाने का निर्णय लिया गया। राज्य के बजट को महिलोन्मुखी बनाने के उद्देश्य से महिला अधिकारिता विभाग में जेण्डर प्रकोष्ठ की स्थापना की गयी है। विभिन्न विभागों के बजट योजनाओं व उनके वित्तीय प्रावधानों को संकलित कर जेण्डर दृष्टिकोण के आधार पर विश्लेषण

करना। विभिन्न विभागों में जेण्डर प्रकोष्ठ की स्थापना करना। जेण्डर संबंधी मुद्दों पर केन्द्र बिन्दु के रूप में कार्य करने के लिए 42 विभागों में जेण्डर डेस्क स्थापित किए गए।

उत्तर प्रदेश :– उत्तर प्रदेश सरकार ने 2005–06 से महिला संवेदी बजट को अंगीकृत किया। बजट के अंतर्गत गर्भवती महिलाओं हेतु फीडिंग कार्यक्रम, पति की मृत्यु के उपरान्त निराश्रित महिलाओं और उनके बच्चों हेतु अनुदान, अनुसूचित जाति व जनजाति की निराश्रित महिलाओं के लिए व्यवस्था, स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से संचालित वृद्ध महिला आश्रम योजना की व्यवस्था, रानी लक्ष्मीबाई आशा ज्योति केन्द्र के अंतर्गत विभिन्न सुविधाएं सुलभ कराने के लिए प्रावधान किए गए हैं।

महिलाओं के लिए बड़े पैमाने पर सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन की आवश्यकता है। महिला समानता के पक्षधर गांधीजी का विचार था– ''मैं एक ऐसे संविधान के लिए प्रयास करूंगा, जो भारत को दासता से मुक्ति दिलाए। मैं ऐसे भारत के लिए काम करूंगा जिसमें ऊंच–नीच का भेद न हो, महिलाओं को भी वही अधिकार मिलें जो पुरुषों को प्राप्त है।'' यदि महिलाओं की विशिष्ट आवश्यकताओं को देश की आयोजना और विकास प्रक्रिया में शामिल नहीं किया गया तो यह संभावना है कि देश की कुल जनसंख्या का एक बड़ा भाग आर्थिक विकास के लाभ से वंचित रह जाएगा। वास्तव में नारी की सुदृढ़ एवं सम्मानजनक स्थिति एक उन्नत, समृद्ध एवं मजबूत समाज या प्रदेश का द्योतक है। लैंगिक आधारित तयशुदा भूमिकाओं में, पितृसत्तात्मक समाजों में प्रायः महिलाओं में बच्चों की देखभाल, संभाल व लालन पालन की जिम्मेदारी, पुरुषों से कहीं अधिक होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि महिलाओं की पहचान, आवश्यकताओं, अधिकारों एवं वंचनाओं को बच्चों की आड़ में नज़रअंदाज कर दिया जाए। यह बेहद जरूरी है कि नीतिगत तौर पर एवं हर विभाग के बजट प्रावधानों में महिलाओं के मानव–अधिकारों को केन्द्रित करते हुए, उनकी वर्तमान स्थिति व वंचनाओं को मद्देनज़र रखकर, समुचित लक्ष्य/उद्देश्य, योजनाबद्ध गतिविधियॉ एवं वांछित मात्रा में स्पष्ट बजट प्रावधान किये जाएं, ताकि विकास के हर आयाम में व्याप्त लैंगिक अंतर मिटाये जा सकें। महिला संवेदी बजट की अवधारणा का सूत्रपात और विभिन्न राज्यों द्वारा उसका क्रियान्वयन 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते तत्र रमन्ते देवता' की संस्कृति वाले देश में देवी स्वरूपा नारी की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सुधारने की दिशा में एक शुभ संकेत हैं जो हमें आशान्वित करता है कि समाज रूपी गाड़ी का यह कमजोर पहिया भविष्य में अपनी नैसर्गिक गति को प्राप्त कर सकेगा।

❖❖❖❖❖

आदिवासी स्त्रियों के हक

डॉ. कन्हैया त्रिपाठी•

सारांश

आदिवासी समाज का सौन्दर्यबोध ही उसकी अपनी अस्मिता है। भारत में अब भी आदिवासी समाज, लोगों के बीच मुख्यधारा का सम्मान पाने से वंचित है। एक तरफ दुनिया की सरकारें आदिवासियों को विभिन्न योजनाओं से संपृक्त करने की कोशिश में संलग्न हैं तो दूसरी ओर स्व–घोषित सभ्य समाज द्वारा उन्हें सभ्य बनाने की मुहिम जारी है। ऐसे में, उन्हें अपनी सतत साभ्यतिक अस्मिता से दूर करके क्या मुख्यधारा का समाज उन्हें सभ्य बना सकता है ? क्या उनका अपना जन–जीवन, उनका प्रकृति के साथ सान्निध्य एवं संसर्ग उनकी विशिष्टता के लिए अच्छा नहीं है ? यदि है, तो यह कोशिश आखिर क्यों की जा रही है ? इससे उनके प्राकृतिक रूप से जो मानवाधिकार हैं, उनका भी अतिक्रमण हो रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुख्यधारा का सभ्य समाज जानबूझकर उनके साथ खेल रहा है। ऐसे में, आदिवासी संस्कृति में रह रही स्त्री समाज को क्या खतरे हैं, इसे इस प्रपत्र में जानने–समझने का प्रयास किया गया है। आदिवासी स्त्रियों का मानवाधिकार आज सबसे बड़े प्रश्न के रूप में दस्तक दे रहा है। खासकर, आजादी के बाद उनके सम्पूर्ण गरिमा, स्वतंत्रता, सुरक्षा और स्वास्थ्य के खतरे को किस प्रकार राज्य प्रदान करने में विफल हुआ है और उनके बीच से उठी नक्सल जैसी समस्या, विस्थापन से जूझती स्त्री आबादी की वास्तविक छवि या स्थिति क्या है, इसको प्रपत्र में देखने की कोशिश की गयी है। निःसंदेह उत्तर औपनिवेशिकता के युग में आदिवासी समाज की स्त्री की स्थिति नव विमर्श का आमंत्रण है।

प्रस्तावना

स्त्री का अपना स्वदेश है किन्तु स्त्री उपेक्षिता के सवाल पूरी दुनिया में विमर्श के केन्द्र में है। पश्चिम की स्त्रीवादी चिंतक सिमोन दे बूआ ने स्त्री की अस्मिता, स्वतंत्रता एवं समान अवसर की अनिवार्यता के साथ स्त्री मुक्ति को अपनी पुस्तक 'द सेकेण्ड

• सहायक प्रोफेसर, यूजीसी–अकादमिक स्टाफ कॉलेज, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सेक्स' में रेखांकित किया था। इसके बाद पूरब और पश्चिम में स्त्री प्रश्न पर बातचीत व्यापक पैमाने पर हुई। आज पूरी दुनिया में स्त्रीवादी विमर्श, स्त्री हित की मांगें और स्त्री स्वातंत्र्य की जरूरत को समझा जा रहा है। यह पितृसत्तात्मक समाज के लिए चुनौती है। पितृसत्तात्मक समाज कभी नहीं चाहता कि स्त्री आजाद हो। वह स्त्री को वस्तु के रूप में देखने की आदत बनाए रखता है जो आधी आबादी के लिए और मानवीय गरिमा के लिए कभी भी उचित नहीं है। आधी आबादी की लड़ाई के बीच स्त्री समाज का वह तबका भी है जो अभी भी आगे नहीं आ सका है। हम उन स्त्रियों की बात कर रहे हैं जो आदिवासी समाज से हैं। कुछ आदिवासी समाज में मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था होने के बावजूद आदिवासी स्त्रियों की अपनी चुनौतियां हैं जो स्त्री आन्दोलनों की भी आवाज़ नहीं बन सकी हैं। ऐसे में स्त्री 'अस्मिता' एवं उसका 'स्व' को खतरा है, लेकिन उससे भी बड़ा खतरा उसके जीवन जगत से जुड़ा हुआ है क्योंकि उदारीकरण के दौर में नव–उपनिवेशवाद ने जल–जंगल–जमीन पर अतिक्रमण करना शुरू किया है तो आदिवासी समाज की स्त्री आबादी नई चुनौतियों का सामना करने को मजबूर हुई हैं। जनजातीय या आदिवासी समुदाय, जो सामाजिक विकास क्रम में आदिम–व्यवस्था के अधिक निकट रहे हैं, उनमें अब भी मातृ–सत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं। जो कबीले मातृ–वंशीय हैं, वे प्रायः मातृ–स्थानीय भी हैं, वहां पति परिवार का स्थायी या अस्थायी सदस्य होता है। पूर्वोत्तर का ही उदाहरण लें तो गारो कबीले में तो वह आगंतुक मात्र है, जो रात भर का मेहमान होता है। वहीं जिन मातृ–वंशीय और मातृ–स्थानीय कबीलों में मुखिया पुरुष है, उनमें भी स्त्री के अधिकारों और प्रतिष्ठा की दृष्टि से पितृ–वंशीय और पितृ–स्थानीय कबीलों की अपेक्षा इनकी स्थिति प्रायः अच्छी है। कई पितृ–वंशीय कबीलों में भी नर और नारी का दर्ज़ा लगभग समान है। बहुत सारे आदिम कबीलों में विवाह विच्छेद और पुनर्विवाह का नियम है और इस संबंध से स्त्री और पुरुष को प्रायः समान अधिकार हैं। मातृ–स्थानीय कबीलों में परिवार अधिक स्थायी दिखाई पड़ता है। यह रक्त–संबंधियों का नैसर्गिक समूह मालूम पड़ता है, लेकिन स्त्रियों के लिए काम का बंटवारा हो या उनके प्रति दृष्टिकोण का, सभी में पुरुष का वर्चस्ववाद और अंहकार हावी रहना आदिवासी स्त्री समाज के लिए अवश्य प्रश्नवाचक है।

हैराल्ड जे. लॉस्की (1934) के अनुसार, 'अधिकार वस्तुतः सामाजिक जीवन की वे दशाएं हैं जिनके बिना कोई भी व्यक्ति सामान्य रूप से अपना सर्वोत्तम स्वत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता।' [1]आदिवासी स्त्री के अधिकार यदि वास्तविक जिन्दगी में उन्हें नहीं प्राप्त हुए/या नहीं हो रहे हैं, तो इसका मतलब है कि अब भी हम स्त्रियों को मानवाधिकार से संपृक्त नहीं कर पाए हैं।

लैंगिक मुद्दे क्यों आदिवासी समाज के लिए महत्त्वपूर्ण हैं ?

विभिन्न संस्कृति एवं समाज में महिलाओं और पुरुषों के लिए अलग–अलग मूल्य और मानदंड हैं। स्त्रियों और पुरुषों के लिए सामान्यतया ये चीजें औपनिवेशिकता, संस्कृति, शुचिता, अर्जन करने वाले, कमाने वालों पर निर्भरता के आधार पर होती हैं। 'जेंडर एण्ड इण्डीजेनस पीपुल्स' नामक प्रपत्र में कहा गया है– आदिवासी वर्ग की महिलाएं मानवाधिकारों के लिए बहुत सी चुनौतियों का सामना कर रही हैं। उनके साथ भेदभाव के कई स्वरूप महसूस किए गए जिसमें उपयोगी शिक्षा की कमी, स्वास्थ्य सुरक्षा और पैतृक भूमि में भेदभाव, गरीबी की अधिकता आदि के साथ–साथ हिंसा भी शामिल है। घरेलू हिंसा, यौन शोषण और तस्करी तथा सैन्य संघर्ष की भी चुनौतियों से उन्हें दो–चार होना पड़ता है। यूनाइटेड नेशन्स पर्मानेंट फोरम ऑन इण्डीजेनस पीपल्स इस्यूज (यूएनपीएफ–द्वितीय) का संकेत है कि विश्व में भूमण्डलीकरण अतिरिक्त चुनौतियों को पैदा कर रहा है।[2]

यह आज जनस्वीकृति है कि भूमण्डलीकरण के बाद आदिवासी क्षेत्र के संसाधनों पर मल्टीनेशनल्स की निगाहें ज्यादा सक्रिय हो गई हैं। वन क्षेत्र के बड़े भू–भाग पर आदिवासी समाज के प्राकृतिक जनजीवन में यह अतिक्रमण है। राज्य से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा इन क्षेत्रों में बहुत ही चालाकी के साथ समझौते करके ये अतिक्रमण किए जा रहे हैं। इन अतिक्रमण से सबसे ज्यादा प्रभावित तबका उस परिक्षेत्र में रह रहे बच्चे व स्त्रियां हैं। स्त्रियों को ज्यादा समस्याओं का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनके साथ कई नैसर्गिक चुनौतियां भी होती हैं।

आदिवासी महिलाओं की चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आयोजन किए जाते रहे हैं। यह सिलसिला 1982 से शुरू हो चुका है। प्राथमिक दिनों में यूनाइटेड नेशन्स वर्किंग ग्रुप ने जिनेवा में अपना कार्य प्रारम्भ किया था। लेकिन प्रश्न यह है कि 1982 से अब तक जनजातीय महिलाओं की दशाएं कितनी बदली हैं ? क्या उनको सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं स्वास्थ्य के वे सभी सुअवसर प्राप्त हो सके जो उन्हें चाहिए थे ? 'डोमेस्टिक वायलेंस एण्ड ट्रायबल प्रोटेक्शन ऑफ इण्डीजेनस वीमेन इन द यूनाइटेड नेशन्स' नामक प्रपत्र में ग्लोरिया वैलेन्सिया वेबर और क्रिस्टीन पी. जूनी ने लिखा है, 'विश्व श्रम संगठन (आईएलओ) का कन्वेशन 169 लैंगिक भेदभाव का निषेध करता है। आई.एल.ओ. इस बात की वकालत करता है कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों और प्रथाओं को संरक्षित करना चाहिए। यद्यपि आईएलओ ऐसी कोई भी अवधारणा को संकेत नहीं कर सका है कि कैसे आदिवासी महिलाओं के

वैयक्तिक अधिकारों को आदिवासी समुदायों में समादृत किया जा सकता है।[3] आईएलओ के कन्वेंशन 169 के बाद दुनिया में कई प्रसंविदाएं, प्रतिज्ञापत्र और सम्मेलन आयोजित किए जा चुके हैं। आदिवासी महिलाओं की वास्तविक स्थिति अभी भी वैश्विक स्तर पर या सरकारों के स्तर पर तय नहीं की जा सकी है, जो कि चिंताजनक है।

भारत की इण्डीजेनस विमेन (आदिवासी स्त्रियां)

विश्व की सात अरब बीस करोड़ से अधिक जनसंख्या में देशज लोगों की संख्या 370 मिलियन है। यह जनजातीय लोग 90 देशों में 5000 मूल निवासी समूहों में फैले हैं[4] जबकि भारत में ताजा आंकड़े के अनुसार कुल जनजातीय लोगों की संख्या 104,228,034 है जिसमें से 93,819,162 ग्रामीण एवं शहरी इलाकों में 10,461,872 लोग रहते हैं। अब एक दशक बाद कुल जनसंख्या में 23.7 प्रतिशत का इजाफा हुआ है।[5] जनजातीय कार्य मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2012–2013 बताती है कि लैंगिक अनुपात प्रत्येक 1000 जनजातियों पर 978 जनजातीय महिलाओं का है।[6] आदिवासियों के मानवाधिकार से संबंधित दूसरा अहम मुद्दा है जंगल के साथ उनका जुड़ाव या संबंध। पारंपरिक रूप से जंगल और वन–भूमि ही जनजातीय लोगों का आश्रय थी और जीविकोपार्जन का माध्यम भी। धीरे–धीरे प्राकृतिक संसाधन के नाम पर जंगल का रख–रखाव सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और आदिवासी तथा सरकार के बीच लगातार तनाव का माहौल बनता गया। सरकार ने इस बात की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया कि जंगल आदिवासियों की सामाजिक प्रथा और रीति–रिवाज का केन्द्र बिन्दु रहा है। गरीब, सूदखोरी और बेरोजगारी आदि आदिवासियों के मानवाधिकार से जुड़े अन्य मुद्दे हैं। इसमें भी स्त्रियां सबसे ज्यादा प्रभावित रहीं।

अतः यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि आदिवासी समाज का कितना बड़ा तबका भारत में अपने अधिकारों की मांग कर रहा है। यह मांगें राज्य से हैं। साथ ही आदिवासी महिलाओं की उस स्वदेशी समुदाय से भी जिनसे उन्हें प्रतिदिन संघर्ष करना पड़ता है।

आदिवासी महिलाओं के अधिकार

संयुक्त राष्ट्र सार्वभौम घोषणा पत्र के आर्टिकल 1 में कहा गया है – सभी मुनष्य प्रतिष्ठा और अधिकारों के संदर्भ में स्वतंत्र और समान पैदा हुए हैं। वे तर्क और विवेक से सम्पन्न हैं और उन्हें परस्पर भाईचारे के भावना से व्यवहार करना चाहिए।[7] जनजातीय महिलाओं को जन्म से वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो उन्हें मिलने चाहिए, किन्तु उन

अधिकारों से वे वंचित होने के साथ अपने समुदाय के समक्ष खड़ी चुनौतियों से भी ज्यादा मुश्किलों में हैं। संयुक्त राष्ट्र का जेंडर एण्ड इण्डीजेनस पीपुल्स प्रपत्र यह बताता है कि दुनिया की कबायली स्त्रियों की अन्य स्त्रियों की अपेक्षा चुनौतियां भी अलग हैं जबकि गरीबी, मानव अधिकारों का अतिक्रमण, शिक्षा का अभाव, स्वास्थ्य की देखरेख और सामाजिक–आर्थिक विकास जैसी उनकी चुनौतियां एक सी हैं। रिपोर्ट यह बताती है कि इसके अलावा जो जनजातीय महिलाओं को सहना पड़ता है, उसमें शामिल हैं –

1. पर्याप्त भेदभाव
2. हिंसा
3. भूमण्डलीकरण और विकास की चुनौतियाँ और
4. अन्य आम मुद्दे [8]

वास्तव में, जनजातीय महिलाएं लिंग, जाति/नस्ल, भाषा, संस्कृति, धर्म और वर्ग आदि पर्याप्त भेदभाव की शिकार हैं तो वहीं उन्हें युद्ध आदि के समय जबरन विवाह, बाल विवाह, बहुविवाह, पिटाई और बेगारी जैसी अनचाही हिंसाएं झेलनी पड़ती है। आदिवासी महिलाओं को मानव तस्करी के जरिए जबरन वेश्यावृत्ति के लिए विवश किया जाता है। कुछेक ऐसे भी मामले प्रकाश में आए हैं कि इन्हें सजावटी सामग्री, यौन उद्देश्य और अध्ययन सामग्री की भांति मीडिया एवं संचार माध्यमों ने प्रयोग में लाना शुरू किया है जो मानवीय गरिमा के खिलाफ है। भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारवाद ने जनजातीय लोगों को उनकी जमीन से विस्थापन का दंश देकर काफी परेशानियों में ला खड़ा किया है। संयुक्त राष्ट्र के जेंडर एण्ड इण्डीजेनस पीपुल्स प्रपत्र का अगर हम अवलोकन करें तो यह पता चलता है कि प्राकृतिक संसाधनों से बनाए जाने वाले सामान अब बेकार हो गए हैं और उपभोक्तावादी संस्कृति के चक्र में मुख्यधारा का आदमी फंसता जा रहा है। वस्तुतः आदिवासी समाज की आजीविका को छीनने का काम भूमण्डलीकरण ने किया है। गरीबी के कारण विस्थापन हो रहे हैं। जब आजीविका की खोज में पुरुष बाहर जाते हैं तो उनके साथ स्त्रियां भी शहर की ओर जाती हैं। इन शहरों में स्त्रियों के गरिमा पर अतिक्रमण किया जाता है। उनके साथ अमानवीय व्यवहार किए जाते हैं। दुनिया के कई आदिवासी लोगों को राजमार्गों, खदानों, राष्ट्रीय पार्कों व बड़े बांधों के निर्माण के कारण विस्थापित होना पड़ा है। बुनियादी सुविधाओं और जीवन की आवश्यक जरूरतों का अभाव भी आदिवासी स्त्रियों से कोसों दूर है। अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमेरिका की जनजातीय महिलाएं पानी से होने वाले संक्रमण एवं

बीमारियों से त्रस्त हैं। बहुत से निर्णय आदिवासी समाज में पुरुष निर्णीत होते हैं। आदिवासी महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मामलों में प्रतिभागिता भी पुरुष के इच्छा पर आधारित होती है।[9]

वैश्विक पहल

ऐसे में, इन महिलाओं की आजादी, गरिमा, सुरक्षा, प्रतिभागिता का प्रश्न आज संवेदनशील मुद्दे के रूप में हमारे सामने है। राष्ट्रीय महिला आंदोलनों की ऊर्जा का उपयोग करते हुए 1975 में मेक्सिको सिटी 1980 में कोपेनहेगन, 1985 में नैरोबी और 1995 में पेइचिंग में आयोजित संयुक्त राष्ट्र सम्मेलनों ने दुनियाभर में महिला सशक्तीकरण और लैंगिक समानता के संदर्भ में समझ, संकल्प और कार्रवाई को नई गति दी है। 1995 में चौथे विश्व महिला सम्मेलन में 189 सरकारों के प्रतिनिधियों ने सार्वजनिक और निजी जीवन के सभी क्षेत्रों में भेदभाव एवं असमानता मिटाने तथा महिला सशक्तिकरण सुनिश्चित करने के लिए बीजिंग डिक्लेरेशन एंड प्लेटफार्म फॉर एक्शन पारित किया। इन सबमें महिला प्रश्नों पर जमकर विचार–विमर्श हुए। महिलाओं के प्रति हिंसा समाप्ति के लिए यूनाइट कार्यक्रम के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र के महासचिव बान की मून ने आह्वान किया था कि ''हम सबको एकजुट होना होगा। महिलाओं के प्रति हिंसा किसी भी रूप में, किसी भी संदर्भ में, किसी भी परिस्थिति में, किसी राजनीतिक नेता द्वारा अथवा किसी सरकार द्वारा सहन नहीं की जा सकती'' और साथ ही उन्होंने यूनाइट का उद्देश्य 2015 तक सभी देशों में निम्नलिखित पांच लक्ष्य हासिल करने का संदेश भी दिया था जिसमें शामिल हैं : • महिलाओं और लड़कियों के प्रति हिंसा के सभी रूपों का सामना करने और दंड देने के लिए राष्ट्रीय कानून अपनाना एवं लागू कराना; • राष्ट्रीय कार्य योजनाएं अपनाना और लागू कराना; • महिलाओं और लड़कियों के प्रति हिंसा के चलन के बारे में आंकड़े संग्रह करने की व्यवस्था मजबूत करना; • जन जागरूकता एवं सामाजिक एकरूपता बढ़ाना; • संघर्ष में यौन हिंसा की समस्या का सामना करना;[10] किन्तु विडम्बना यह है किडोमेस्टिक वायलेंस एण्ड ट्रायबल प्रोटेक्शन ऑफ इण्डीजेनस वीमेन इन द यूनाइटेड नेशन्स प्रपत्र यह बताता है कि अमेरिका, कनाडा तथा वायलेंस अगेन्स्ट एबोरीजनल विमेन इन ऑस्ट्रेलियाः पॉसिविलिटीज फॉर रीड्रेस विदिन द इण्टरनेशनल ह्यूमन राइट्स फ्रेमवर्क में पेन्लोपे एण्ड्रूज ने ऑस्ट्रेलिया में कानूनों की स्थिति चिंताजनक बताई है और कुछ नए कानून की भी मांग है।[11] भारत में इण्डीजेनस कल्चर एवं मुख्यधारा में रह रही जनजातीय महिलाओं की स्थितियों को भी नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। उन्हें पूर्व में गिनाई गई तमाम चुनौतियों से कैसे उबारा जा सकता है, इसके

प्रति सामूहिक जिम्मेदारी जरूरी है। उसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जब राज्य, समाज, आदिवासी समाज, आदिवासी समुदायों, उनके अध्ययनकर्ताओं द्वारा सामूहिक प्रयास किया जाएगा।[10] मानवाधिकार उच्चायुक्त नवनीतम पिल्लै ने राष्ट्रीय मानव अधिकार के विशिष्ट सदस्यों के समक्ष मानवाधिकार की रक्षा के लिए कहा था – मैं जोर देकर भारत से निवेदन करूंगी कि जहां भी उसे लगे कि वह मानवाधिकार के जिन मूल्यों के प्रति समर्पित है और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए तत्पर रहता है, वे अगर दूसरे स्थानों में चिंता के विषय हों, तो अपनी आवाज़ भी उठाएं और दूसरों के साथ सम्वेत स्वर बुलंद करें।[12] निःसंदेह आदिवासी महिलाओं के लिए आज भारत ही नहीं दुनिया के सभी मानवाधिकार के हिमायतियों को चाहिए कि वे सम्वेत स्वर में उनके अधिकारों के लिए एकजुट हों जिससे उनका वर्तमान और भविष्य अभिशाप की जगह वरदान साबित हो।

संदर्भ

1. **हेराल्ड जे. लास्की** (1934), राजनीति का व्याकरण, (अनु. बीरेन्द्रपाल सिंह), ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 112
2. यूनाइटेड नेशन्स, थर्ड सेशन रिपोर्ट ऑफ दपर्मानेंट फोरम ऑन इण्डीजेनस इसूज, ई/2004/43, पैराग्राफ–3
3. **ग्लोरिया वैलेन्सिया वेबर और क्रिस्टीन पी. जूनी,** डोमेस्टिक वायलेंस एण्ड ट्रायबल प्रोटेक्शन ऑफ इण्डीजेनस वीमेन इन द यूनाईटेड नेशन्स, सेंट जॉन्स लॉ रिब्यू, अंक 69, पृ. 80
4. **STATE OF THE WORLD'S INDIGENOUS PEOPLES**, Department of Economic and Social Affairs Division for Social Policy and Development Secretariat of the Permanent Forum on Indigenous Issues, United Nations New York, 2009, No. 09.VI.13 Introduction, page-1
5. **जनजातीय प्रोफाइल एक नज़र में,** मई 2013, पृष्ठ–2/tribal profile at a glance may 2013, http://tribal.nic.in/WriteReadData/CMS/Documents/20130606100114692782 3 STProfileata Glance.pdf
6. Annual Report 2012-13, Ministry of Tribal Afairs, Government of India, page 30,http://tribal.nic.in/WriteReadData/CMS/Documents/201305090204592676637Annualreport.pdf
7. संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकारों का सार्वभौम घोषणा पत्र (1948)
8. **जेंडर एण्ड इण्डीजेनस पीपुल्स,** यूनाइटेड नेशन्स ऑफिस ऑफ द स्पेशल एडवाइजर ऑन जेण्डर इसूज एण्ड एडवांसमेंट ऑफ विमेन एण्ड द सेक्ट्रिएट ऑफ द यूनाइटेड नेशन्स पर्मानेंट फोरम ऑन इण्डीजेनस इसूज, पृ. 3, 4

9. वही
10. **संयुक्त राष्ट्रः** कुछ बुनियादी तथ्य, संयुक्त राष्ट्र सूचना केन्द्र, नई दिल्ली, 2012, पृ. 256
11. पेन्लोपे एण्ड्रूज, वायलेंस अगेन्स्ट एबोरीजनल विमेन इन आस्ट्रेलियाः पॉसिविलिटीज फॉर रीड्रेस विदिन द इण्टरनेशनल ह्यूमन राइट्स फ्रेमवर्क, अल्बानी लॉ रिव्यू, पप. 917–941, देखें : ग्लोरिया वैलेन्सिया वेबर और क्रिस्टीन पी. जूनी, डोमेस्टिक वायलेंस एण्ड ट्रायबल प्रोटेक्शन ऑफ इण्डीजेनस वीमेन इन द यूनाईटेड नेशन्स, सेंट जॉन्स लॉ रिब्यू, अंक 69, पृ. 79, देखेंः डिस्क्रिमिनेशन एण्ड वायलेंस अगेंस्ट इण्डीजेनस विमेन इन कनाडाः अ समरी ऑफ एमनेस्टी इण्टरनेशनल कन्सर्न्स
12. मानवाधिकार उच्चायुक्त नवनीतम पिल्लै का वक्तव्य, स्रोतः संयुक्त राष्ट्र सूचना केन्द्र, नई दिल्ली वेबसाइट।

❖❖❖❖❖

खेल में उत्पीड़न और जेंडर बजट

सोना चौधरी •

जब मैंने नब्बे के दशक में फुटबॉल खेलना शुरू किया था तो वर्षों तक नियमित रूप से इस 'मर्दाने' खेल को खेलने वाली मैं पूरे प्रदेश में अकेली लड़की होती थी। उस दौर के खेल मैदान के लैंगिक अनुभवों को मैने इस वर्ष प्रकाशित अपने तीसरे उपन्यास 'गेम इन गेम' में क्या उतारा कि मानो सारा मीडिया मुझ पर टूट पड़ा, जबकि खेलों के शासक–प्रशासक और प्रबंधकार चुप्पी साधे रहे। अब मुझसे प्रायः पूछा जाने लगा है कि क्या इस उपन्यास में वर्णित महिला खिलाडियों का लैंगिक और यौनिक शोषण मेरी आपबीती है। सोचती हूं क्या लोगों को वाकई वह दिखायी–सुनायी नहीं देता जो उनके आस–पास घट रहा है या वे देखना–सुनना नहीं चाहते? खेलों की दुनिया में जेंडर बजटिंग का पूर्ण अभाव भी उनकी आंखों पर बंधी पट्टी और कानों में ठुंसी रुई को तार्किकता दे रहा होगा।

दरअसल, इतना कम बदलाव आया है कि मुझे अपना यह उपन्यास आज के समय की खिलाड़ियों को ही समर्पित करना चाहिए था।

मध्य प्रदेश से एथलीट सीता साहू को जो जीवनयापन के लिए गोलगप्पे बेचती हैं; बिहार की कबड्डी खिलाड़ी शांति देवी जो सब्जी बेच कर गुजरा कर रही है; नौरी मुंडू जिसे हॉकी खेलना छोडकर झारखंड में पांच हजार महीने पर शिक्षक बनना पड़ा; झारखंड से ही तीरंदाज निशा रानी दत्त जिसे अपने मिट्टी के घर की मरम्मत कराने के लिए तीर–धनुष बेच कर बेरोजगारों की कतार में लगना पड़ा; दोहा के एशियाई खेल में रजत पदक विजेता तमिलनाडु की एथलीट एस. सांथी जो अब ईंट के भट्टे पर काम कर रही है; ओडिशा की एथलीट रश्मिता पत्रा जो सुपारी बेच कर गुजारा कर रही है; धावक आशा रॉय जिसे दो जून रोटी के लाले पड़े हैं; उत्तर प्रदेश की मीनाक्षी रानी जिसे अपने दो बच्चों के साथ आत्महत्या करने की धमकी देनी पड़ी जब सरकारी वादे के मुताबिक उसे नौकरी नहीं दी गयी; हरियाणा की मुक्केबाज रिशु मित्तल जो स्कूल फीस देने के लिए घरेलू नौकरानी का काम कर रही है; आदि।

2016 ओलिंपिक वर्ष भी रहा है। आश्चर्य, भारत को सिन्धु, साक्षी और कर्मकार के रूप में जेंडर चौंपियन तो मिल गए, रियो में अन्य महिला भागीदारों की आंखों में तैरते

• पूर्व कप्तान, राष्ट्रीय महिला फुटबॉल टीम, भारत

सफलता के सपनों की कशिश भी देश ने शिद्दत से महसूस की। हालांकि तब भी जेंडर बजट का मुद्दा हमारी चर्चा से नदारद है। बेशक, ओलिंपिक बाद के तमाम विश्लेषणों के केंद्र में खिलाड़ियों की तैयारी पर होने वाला खर्च का आंकड़ा जरूर उद्धृत हो रहा है। ओलिंपिक के दौरान ही पटियाला में राष्ट्रीय स्तर की हैंडबॉल की एक लड़की ने प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी को पत्र लिखकर इसलिए आत्महत्या कर ली कि उसे कॉलेज के छात्रावास में रहने की जगह नहीं दी गयी जबकि उसके पिता घर से रोज उसके आने–जाने का लगभग तीन हजार महीने का खर्च उठाने में असमर्थ थे। पिछले दिनों महाराष्ट्र के एक गांव में पंद्रह वर्षीय कबड्डी खिलाड़ी की अभ्यास से लौटते हुए स्थानीय लम्पटों ने सामूहिक बलात्कार के बाद हत्या कर दी। तो क्या अब शौच स्थलों के बाद क्रीड़ा स्थल भी गावों में यौन अपराधों के अड्डे बनते जा रहे हैं? गत वर्ष केरल के साई हॉस्टल में रहने वाली ग्रामीण पृष्ठभूमि की तीन व्यथित तैराक लड़कियों ने आत्महत्या कर ली थी। उनसे दुर्व्यवहार के आरोपों की पृष्ठभूमि में साई ने एक आतंरिक जांच बिठाई जिसकी प्रगति को आज तक साझा नहीं किया गया है। ऐसे सैकड़ों–हजारों दृष्टांत हैं जो खेलों में जेंडर बजट के मोहताज हैं।

इस माहौल में, रियो ओलिंपिक में महज लड़कियों के ही खाते में दो पदक आने से आम भारतीय बेहद भावुक हो उठा है। वह इस तर्क का कायल लगता है कि एक मध्यवर्गीय खेल परिवार की बेटी (पी वी सिन्धु), एक किसान की बेटी (साक्षी मालिक) और एक श्रमिक की बेटी (दीपा कर्मकार) के ओलिंपिक में क्रमशः रजत पदक, कांस्य पदक और चौथे स्थान की कीमत भारत जैसे देश के लिए कई–कई स्वर्ण पदकों जितनी होनी चाहिए! आखिर भारत वह देश है जहां एक ओर आम किसान–श्रमिक का जीवन कर्ज और शोषण से भरा रहता है और दूसरी ओर पूंजीशाहों को देश के लाखों करोड़ हड़पने दिए जाते हैं। जहां सामान्य नागरिक के बच्चे ट्रेनों–बसों में भेड़–बकरियों की तरह ठूंस कर प्रतियोगिता/अभ्यास के लिए निकलते हैं और सरकार की प्राथमिकता में लाख करोड़ की बुलेट ट्रेन समायी होती है, जहां भ्रष्ट नौकरशाह व मंत्री और कानून को ठेंगे पर रखने वाले फिल्मी सितारे के सान्निध्य में खिलाड़ियों पर मार्गदर्शक सवारी गांठते मिलते हैं जबकि साक्षी मालिक के गांव मोखरा खास (रोहतक, हरियाणा) में लिंग अनुपात है 1000 पुरुषों के पीछे 800 स्त्रियों का !

नीतिकारों–योजनाकारों और शासकों–प्रशासकों का समूह ही खेल की दुनिया में भी महिलाओं को जेंडर बजटिंग से वंचित रखे हुए है। तमाम सभ्य संसार में महिलाओं को समान अवसर व सामाजिक सुरक्षा देने और यौनिक हिंसा के विरुद्ध सुरक्षा–हर्जाना–परामर्श कवच के रूप में जेंडर बजटिंग की अवधारणा एक सफल

रणनीति की तरह इस्तेमाल हो रही है। क्या हमारे पास धन की कमी है? लैंगिक क्रम में बने 'निर्भया फण्ड' में गत तीन वर्षों में तीन हजार करोड़ रुपये जमा हो चुके हैं पर जुमलेबाजी से सरकारों को इतनी भी फुर्सत नहीं कि इस मद से एक पैसा भी खर्च कर सकें। अन्यथा, देश की बेटियों ने शायद मेडल की बाढ़ लाने की जिद बेहतर निभायी होती! छोटे–छोटे शहरों और दूर–दराज के गावों से लड़कियां राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं को जीतने के सपने ले रही हैं। साक्षी मालिक ने रियो में मेडल जीतने पर कहा कि पहलवान बनने का निर्णय उसका अपना था और ओलंपिक का सपना उसने बारह वर्ष जिया। दरअसल, भारतीय स्त्रियों ने शिक्षा के मोर्चे पर डटने के बाद खेल के मैदान में लैंगिक असमानता को दूर करने को अपना लक्ष्य बना लिया है।

महिला विकास मंत्रालय देखने वाली मंत्री मेनका गांधी ने माना कि सिन्धु, साक्षी और दीपा ने अपने दम पर ओलिंपिक सफलताएं हासिल की हैं और इसका विशेष तौर पर संज्ञान लेना चाहिए। काश संबंधित मंत्री को यह जानने की फुर्सत भी होती कि निर्भया काण्ड के साढ़े तीन वर्ष बाद भी उनका मंत्रालय एक भी रेप क्राइसिस सेंटर क्यों नहीं स्थापित कर सका। सरकार ने तब वर्मा कमीशन की सिफारिश पर देश भर में सिंगल पॉइंट रेप क्राइसिस सेंटर बनाने का फैसला लिया था। भावना यह थी कि बलात्कार पीड़ित को जगह–जगह धक्के न खाने पड़ें और उसे तुरंत एक ही स्थान पर मेडिकल उपचार, कानूनी सहायता, मनोवैज्ञानिक परामर्श, आर्थिक सहयोग, सामाजिक सशक्तीकरण जैसी तमाम सुविधाएं दी जा सकें। होना तो यह चाहिए था कि पीड़ित का घर ही स्वतः रेप क्राइसिस सेंटर में बदल दिया जाता जहां पहुंच कर डॉक्टर, पुलिस, मैजिस्ट्रेट, जज, मनोचिकित्सक, परामर्शदाता, आर्थिक–सामाजिक प्रदाता अपना–अपना योगदान पहुंचाने के जिम्मेदार होते। लेकिन इतना सुगम कदम उठाना आसान कहां होता है।

सरकारी–सामाजिक नजरिये के बावजूद, रियो में भारतीय लड़कियों की रिकॉर्ड तोड़ भागीदारी, उनके समाज की मुख्यधारा में बढ़ती दस्तक का जीवंत सूचक भी है। इनमें सानिया मिर्जा और साइना नेहवाल जैसे ग्लैमर भरे विश्व चैंपियन नामों के साथ तीरंदाजी, कश्ती, हॉकी जैसे पारंपरिक पुरुष खेलों की महिला भागीदार भी शामिल हैं। दरअसल, ग्रामीण अंचलों, कस्बों और दूर–दराज के शहरों में आज अभिभावक अपनी बेटियों के लिए खेल की दुनिया में निहित अवसरों को पहचानने लगे हैं। लड़कियां भी खेल के मैदान को पारंपरिक लैंगिक जुए से मुक्ति की प्रणाली के रूप में देखने लगी हैं। लैंगिक पूर्वाग्रह से भरे समाज में उन्होंने इसकी कीमत भी चुकाई होती है।

लड़कियों को समाज की मुख्यधारा में लाने में खेलों की चौतरफा भूमिका को देखते हुए खेल मैदानों को उनके लिए सुरक्षित व संतुलित करना पूर्व–शर्त की तरह होना

चाहिए। निःसंदेह, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक महिला खिलाड़ियों का निरंतर उदय उन्हें उपलब्ध हो रही आधुनिक खेल सुविधाओं और खर्चीले प्रशिक्षण कार्यक्रमों की देन कहा जा सकता है। इस वर्ष का केंद्र सरकार का खेल बजट लगभग नौ सौ करोड़ है जबकि गत वर्ष लगभग साढ़े छह सौ करोड़ रहा था। खेल संघों को भी एक सौ पचासी करोड़ की सहायता राशि दी जा रही है। यहां तक कि एंटी डोपिंग मद में बारह करोड़ और प्रतिभा तलाश पर पांच करोड़ का प्रावधान किया गया है। तो भी खेल की दुनिया में भी एक जेंडर निरपेक्ष बजट ही बनता है। खेलों में यदि जेंडर सापेक्ष बजट की अवधारणा लागू की जाती तो महिला खिलाड़ियों की शारीरिक क्षमता और खेलगत कौशल के साथ–साथ निश्चित ही उनकी सामाजिक सुरक्षा व भावनात्मक स्थिरता और उनके लिए जरूरी मनोवैज्ञानिक परामर्श व यौनिक हिंसा से बचने के उपायों को भी खेल पर खर्च का अभिन्न हिस्सा बनाया जा रहा होता। जेंडर बजट होने का मतलब होता इस कार्यान्वयन के लिए वांछित वित्त की नियोजित व्यवस्था और खर्च जवाबदेही की समुचित लेखा प्रणाली।

महिला सशक्तिकरण की दिशा में उठाए गए विभिन्न कदम, जेंडर बजट न होने की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकते। इसे हम इजराइल के उदाहरण से समझ सकते हैं, जहां स्त्रियां जीवन के हर क्षेत्र में, यहां तक कि सेना की कॉम्बैट भूमिका में भी, बराबरी की मिसाल के रूप में देखी जाती हैं। सवाल है कि अपनी तमाम जीवटता के बावजूद वे खेलों में पिछड़ी हुई क्यों हैं? इजराइल में टीम खेल सुविधाओं का इस्तेमाल करने वालों में 67 प्रतिशत पुरुष और 33 प्रतिशत महिलायें हैं। इन सुविधाओं की देख–रेख विभिन्न रीजनल कौंसिल के हाथ में है। मासे अशर रीजनल कौंसिल ने 2014–15 के खेल बजट की विशेष जेंडर ऑडिटिंग कराई जो मुख्यतया दो बिन्दुओं पर केन्द्रित रही – स्त्रियों और पुरुषों की अलग खेल जरूरतों को चिन्हित करना और उन्हें पूरा करने में राजनीतिक निर्णयों, जन सेवाओं और बजट आवंटन की भूमिका का विश्लेषण। इस कवायद के निष्कर्ष बहुत कुछ भारतीय सामाजिक–लैंगिक स्थितियों पर भी खरे उतरते लगते हैं।

उन्होंने पाया कि पेशेवर खेलों की भागीदारी में तो पुरुष और लड़के छाये हुए हैं ही, बल्कि समय व अवसर आबंटन में भी महिलाओं और लड़कियों की अपेक्षा उन्हीं की सुविधा व जरूरत को तरजीह मिलती है। जहां प्रारम्भिक स्कूलों में छब्बीस प्रतिशत लड़कियां खेलों में भागीदारी कर रही थीं, वहीं माध्यमिक/हाई स्कूलों तक आते–आते यह संख्या ग्यारह प्रतिशत रह गयी। प्रतियोगी खेलों से इतर, मनोरंजन के लिए पूर्ण वयस्कों की श्रेणी में 93 प्रतिशत महिलायें खेलों में भाग लेती मिलीं, मुख्यतया थ्रो बॉल

में। ऑडिट ने पाया कि तैंतीस प्रतिशत महिला प्रतियोगी होने के बावजूद खेल बजट का इक्कीस प्रतिशत ही उन पर खर्च किया जा रहा था। जहां स्त्रियों में सर्वाधिक लोकप्रिय खेल जिम्नास्टिक को पूरी तरह भागीदारों के फंड से ही चलाया जा रहा था, वहीं पुरुषों में सर्वाधिक लोकप्रिय खेल वॉलीबॉल को व्यापक पब्लिक फंडिंग मिल रही थी। पाया गया कि कुल पब्लिक फंडिंग का सत्तर प्रतिशत पुरुष और तीस प्रतिशत महिला खेलों पर खर्च हो रहा था। यहां तक कि महिलाओं के लिए वॉलीबॉल कोर्ट की मांग कौंसिल ने अनसुनी कर दी। एक वर्ष में मासे अशर कौंसिल ने 23 प्रतियोगिताओं में अपनी टीम भेजी जिनमें बारह पुरुषों की, पांच स्त्रियों की और शेष छह मिली–जुली टीम थीं। कौंसिल की केवल 25 प्रतिशत कोच ही महिलाएं थीं।

ऑडिट का मुख्य निष्कर्ष रहा कि जेंडर बजटिंग को लेकर मासे अशर कौंसिल की न कोई नीति थी और न योजना। लिहाजा, तमाम खेल संसाधनों का इस्तेमाल पुरुषों के लिए होता आ रहा था। ऑडिट ने स्त्रियों को बढ़ावा देने के लिए एक स्टीयरिंग समिति और एक मास्टर प्लान की सिफारिश की, ताकि लैंगिक नजरिये से खेल सुविधाओं के बजट/समय/अवसर का पुनर्गठन हो और यातायात को चाक–चौबंद किया जाए। प्रतियोगी खेलों में लड़कियों की कम संख्या को देखते हुए उन्हें जागरूक करने के अभियान चलाए जाएं। क्या ये सारे कदम भारत के सन्दर्भ में भी अभीष्ट नहीं? बस इनमें यौनिक हिंसा को और जोड़ना होगा।

भारत में कितनी लड़कियों ने अपनी माताओं को खेलते हुए देखा होगा? मासे अशर कौंसिल ऑडिट की एक सिफारिश यह भी थी कि खेल के माध्यम से फिट रहने वाली माएं अपनी बेटियों–बेटों के लिए रोल मॉडल हो जाती हैं। ओलिंपिक मेडल में सारे देश की अपार दिलचस्पी ने महिलाओं/लड़कियों की खेल में भागीदारी को लैंगिक समानता के स्वीकार्य आयाम के रूप में स्थापित कर दिया है। सुखद है कि न कहीं से कपड़ों का रोना रोया गया और न कोई असुरक्षा का राग अलापता मिला। इस समय को नीतिकारों और योजनाकारों के लिए जेंडर बजट पर केन्द्रित होने और जेंडर चैंपियनों की बड़ी फौज खड़ी करने का सही समय भी कहा जा सकता है।

मेरे उपन्यास 'गेम इन गेम' की फुटबॉल की खिलाड़ी नायिका जीवन और खेल प्रपंच की जद्दोजेहद में हार कर भी एक सच्ची जेंडर चैंपियन साबित होती है। आज की जेंडर चैंपियन खिलाड़ी को तो हर हाल में जीतना ही होगा।

❖❖❖❖❖

खण्ड – तीन

भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली

भारत में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्था

डॉ. सुभाष शर्मा, आई.ए.एस.*

भारत में स्वास्थ्य के बारे में सबसे पहले 1946 में भोरे समिति की रपट ब्रिटिश सरकार को सौंपी गई थी जिसमें अनुशंसा की गई थी कि भावी स्वास्थ्य विकास का मुख्य सिद्धान्त यह हो कि कोई भी व्यक्ति भुगतान करने की असमर्थता के कारण उचित चिकित्सीय देखभाल से वंचित न हो। इसके अलावा, स्वास्थ्य सेवाएं पूरी तरह विकसित करके सभी स्तरों पर सभी प्रकार की परामर्शी, प्रयोगशाला परक एवं संस्थागत सुविधाएं उचित निदान तथा उपचार के लिए उपलब्ध कराये। दूसरे, दो चरणों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का विकास हो। तीसरे, प्रत्येक जिले के लिए जिला चिकित्सा बोर्ड हो। चौथे, चिकित्सा शिक्षा में मूलभूत परिवर्तन भी हो। पांचवें, निरोधात्मक स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था हो। छठे, स्वास्थ्य सेवा के लिए अन्तर–क्षेत्रीय (इंटर–सेक्टोरल) दृष्टिकोण अपनाया जाए। 1983 में पुनः राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति बनी और बाद में 2002 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति फिर बनी जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं : (क) स्वास्थ्य में विभिन्न राज्यों के बीच अन्तर, ग्रामीण–शहरी क्षेत्र के बीच अन्तर, अमीर–गरीब के बीच अन्तर आदि को पाटा जाए (ख) प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं को विस्तारित करना तथा सुधार करना; (ग) स्थानीय स्वशासन के जरिये जन–स्वास्थ्य कार्यक्रमों को लागू करना; (घ) चिकित्सा शिक्षा का स्तर बढ़ाना (ङ) विशेषज्ञों की कमी को दूर करना; (च) चिकित्सा–नर्स अनुपात एवं बिस्तरों को बढ़ाना; (छ) जरूरी सस्ती जेनरिक (बिना ब्रांड) दवाओं को उपलब्ध कराना; (ज) खाद्य एवं औषधि प्रशासन को सुदृढ़ करना। नयी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का मसौदा (2015) जनता की राय के लिए प्रस्तुत किया गया है।

भारत में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्था स्वतन्त्रता प्राप्ति (15 अगस्त 1947) के बाद से प्रायः सार्वजनिक क्षेत्र में उपलब्ध रही है जिसमें केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों एवं स्थानीय निकायों द्वारा भिन्न–भिन्न स्तरों पर तमाम चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध कराई जाती हैं किन्तु यह कटु सत्य है कि भारत में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं पर सभी सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का मात्र 1.3 प्रतिशत (अधिकतम) ही खर्च किया जाता रहा है जबकि विकसित देशों यथा संयुक्त

* वरिष्ठ लेखक, कवि एवं कहानीकार, दिल्ली

राज्य अमेरीका, कनाडा, स्वीडन, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि द्वारा इस पर औसतन 7–8 प्रतिशत खर्च किया जाता है। हमारे कुछ विकासशील पड़ोसियों यथा श्रीलंका और बंग्लादेश द्वारा भी इस पर सकल घरेलू उत्पाद का करीब 3 प्रतिशत खर्च किया जाता है। विश्व बैंक के अनुसार प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य पर खर्च करने के मामले में 190 देशों में भारत का स्थान 143 है (+ 146 क्रय शाक्ति सममूल्यता, पी.पी.पी. पर) तथा प्रति व्यक्ति स्वास्थ्य पर सरकार द्वारा खर्च किये जाने में भारत का स्थान 157 है (मात्र + 44 क्रय शक्ति सममूल्यता पर)। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है कि यद्यपि संयुक्त राष्ट्र की अलमाती (अलमा अता) घोषणा (1978) में सार्वभौमिक रूप से 'सबके लिए स्वास्थ्य' (हेल्थ फॉर आल) का निर्णय समतामूलक न्याय एवं सामुदायिक जरूरतों के मद्देनजर लिया गया था और भारत ने भी उसका समर्थन किया था, किन्तु इक्कीसवीं सदी में 'सबके लिए स्वास्थ्य' की जगह 'सार्वभौमिक स्वास्थ्य विस्तार' ने ले लिया है जिसमें सार्वजनिक, निजी एवं संयुक्त क्षेत्रों से धन जुटाकर प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का एक पैकेज देना है जिसमें निजी योगदान भी शामिल है; जैसे, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना के तहत व्यक्ति को प्रीमियम देना होता है और थोड़ी–सी स्वास्थ्य सेवाओं के लिए बीमा कराया जाता है। जहां 'सबके लिए स्वास्थ्य' निरोधात्मक आयाम पर जोर देता है, वहीं 'सार्वभौमिक स्वास्थ्य विस्तार' छांटने वाला और ऊपर से नीचे की ओर है। दुर्भाग्यवश, भारत की स्वास्थ्य–चिकित्सा व्यवस्था सबके लिए पूर्णतः सुलभ नहीं है बल्कि इसमें भी एक जटिल सोपान–क्रम हैः केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए नाम मात्र के मासिक शुल्क पर मुफ्त चिकित्सा सुविधा, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना के तहत बीमित गरीबों के लिए मुफ्त सीमित चिकित्सा सुविधा, लालकार्ड धारियों के लिए मुफ्त सीमित चिकित्सा सुविधा, सशस्त्र सेनाओं के लिए अलग चिकित्सा सुविधा किन्तु आम लोगों के लिए नाम मात्र की सुविधा (सिर्फ मुफ्त परामर्श, मुफ्त दवाएं नहीं) उपलब्ध कराई जाती हैं। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय स्तर पर 80 प्रतिशत चिकित्सा सुविधाएं निजी क्षेत्र (निजी चिकित्सक, निजी अस्पताल, निजी चिकित्सा महाविद्यालय एवं अस्पताल) द्वारा जनता को उपलब्ध कराई जाती हैं और मात्र 20 प्रतिशत चिकित्सा सुविधाएं ही जनता को सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उपलब्ध कराई जाती हैं। निजी क्षेत्र द्वारा तथा सरकारी क्षेत्र के कई चिकित्सकों द्वारा प्रायः सभी मरीजों का आर्थिक शोषण निम्नलिखित रूपों में किया जाता हैः

(क) चिकित्सकों द्वारा कम गम्भीर बीमारियों के लिए भी रोगियों को अस्पताल में भर्ती कर लिया जाता है और उनसे अनावश्यक तथा अतिरिक्त मोटी राशि विभिन्न मदों

में ली जाती है (कमरे का किराया, बिस्तर, बिजली, पानी, भोजन, शौचालय का उपयोग आदि)।

(ख) वे महंगी जांचें कराने की सलाह देते हैं जो अस्पताल में की जाती हैं अथवा उनके करीबी व्यक्तियों/समूहों द्वारा की जाती हैं।

(ग) अधिकतर चिकित्सक महंगी दवाएं एवं जांचें लिखकर दवा दुकानों और चिकित्सा जांच– घरों से 40 से 50 प्रतिशत कमीशन लेते हैं।

(घ) वे अनावश्यक चीड़फाड़ (सर्जरी) करते हैं– गर्भवती महिलाओं के प्रसव को सामान्य तरीके से कराने की बजाए ऑपरेशन (सी.सेक्शन) करके कराते हैं जिसमें अधिक खर्च होता है, मरीज को काफी कष्ट होता है, मरीज के शरीर (पेट) में बड़ा स्थायी निशान बन जाता है, पेट बाहर की ओर निकल आता है, अगला प्रसव प्रायः पुनः ऑपरेशन के जरिये होता है आदि। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार न्यूनतम 5 प्रतिशत और अधिकतम 15 प्रतिशत प्रसव के जटिल मामलों में सी.सेक्शन (ऑपरेशन) की जरूरत होती है जबकि निजी चिकित्सालयों में 60–70 प्रतिशत मामलों में ऑपरेशन किये जाते हैं, विशेषकर तमिलनाडु, तेलंगाना, आन्ध्र प्रदेश, त्रिपुरा एवं प. बंगाल में। निःसंदेह, यह गर्भवती महिलाओं के मानवाधिकार का उल्लंघन है।

(ङ) तमाम निजी अस्पतालों में दवाओं का बिक्री केन्द्र बना रहता है जहां दवाओं की थोक खरीद उनके उत्पादकों से सीधे की जाती है और उसमें इन अस्पतालों को अधिकतम बिक्री मूल्य पर 45 से 85 प्रतिशत तक छूट मिलती है किन्तु वे मरीजों को छपे हुए अधिकतम बिक्री मूल्य पर ही दवाएं देते हैं। उदाहरणार्थ, शालिनी पाहवा नामक एक महिला मरीज (कैंसर) को गुड़गांव के एक मशहूर चिकित्सालय में नोवारतिस दवा उत्पादक कम्पनी की इंजेक्शन 'जोमेटा' खरीदने को कहा गया जिसकी कीमत रुपये 15200 थी। उसे बंगलुरू के एक अस्पताल ने वही इंजेक्शन रुपये 4000 में दे दी। जब उसने गुड़गांव के उस मशहूर अस्पताल में जाकर उसकी कीमत में इतना ज्यादा फर्क होने के बाबत शिकायत की, तो उसने उसी कम्पोजीशन की सिपला कम्पनी की 'जोल्ड्रिया' इंजेक्शन मात्र रुपये 2800 में देने का ऑफर दिया। उसके बाद वह महिला मरीज तीसरे अस्पताल में पता लगाने गयी, तो उसी कम्पोजीशन की नैटको कम्पनी की 'जोल्डोनैट' इंजेक्शन उसे मात्र 800 रुपये में मिल गयी। कहां रुपये 15200, कहां मात्र

रुपये 800 इसी तरह गम्भीर इंफेक्शन से पीड़ित मरीज को गहन देखभाल इकाई (आई.सी.यू.) में भर्ती होने पर दस दिनों तक 21 खुराक सिपला कंपनी की एंटी–बायोटिक 'मेरोक्रिट' दी जाती है जो अस्पताल को रुपये 700–900 प्रतिग्राम 'मेरोपेनेम' की दर से मिलती है किन्तु अस्पताल मरीजों से उसके लिए नब्बे हजार से एक लाख अस्सी हजार तक वसूल लेते हैं। इसी दवा का छपा दाम जुवेन्टस कम्पनी में मात्र रुपये 698 और लुपिन कम्पनी में मात्र रुपये 988 प्रतिग्राम 'मेरोपेनेम' है।

(च) केन्द्र सरकार और कुछ राज्य सरकारों ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि सरकारी चिकित्सक बिना ब्रांड वाली 'जेनरिक' (सस्ती) दवाएं चिकित्सा पुर्जा पर लिखें किन्तु इसे नजरअंदाज करते हुए वे प्रायः ब्रांड वाली महंगी दवाएं ही 'गुणक्ता' के नाम पर लिखते हैं जिसमें उन्हें काफी कमीशन मिलता है। भारत सरकार और कुछ राज्य सरकारों ने प्रमुख सरकारी अस्पतालों के परिसरों में 'जन औषधि' बिक्री केन्द्र सर्वसाधारण की सुविधा हेतु खुलवाये हैं। उल्लेखनीय है कि भारत में कई जेनरिक दवाओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है और 'बिना सरहद के चिकित्सक' की पहल पर इसका निर्यात साठ देशों में किया जाता है जिसका दो–तिहाई भाग एच.आई.वी., टी.बी. और मलेरिया के मरीजों के इलाज में प्रयुक्त होता है। एम.एस.एफ. द्वारा एच.आइ.वी. मरीजों के इलाज में प्रयुक्त 87 प्रतिशत दवाएं भारत में बनी जेनरिक दवाएं होती हैं। 2001 में एच.आई.वी./एड्स के एक मरीज के सालाना इलाज में दस हजार डॉलर खर्च होता था जो भारतीय जेनरिक दवाओं के उपयोग के कारण मात्र एक सौ डॉलर (2016) हो गया। इससे विश्व के 1.60 करोड़ मरीजों का इलाज सम्भव हो सका।

(छ) निजी अस्पताल अपने दवा बिक्री केन्द्रों पर दवाओं से इतर चीजें भी महंगी दरों पर बेचते हैं– डायपर्स, सैनिटरी नैपकिन आदि।

(ज) निजी अस्पताल/क्लीनिक खोलना आकर्षक व्यवसाय हो गया है जिसमें सेवाभाव की जगह 'विशुद्ध लाभ' कमाना निवेशक का मुख्य ध्येय होता है। जो निवेशक तमाम आधारभूत संरचनाओं और मशीनों–उपकरणों तथा दक्ष मानव–शक्ति पर जितना ज्यादा खर्च करता है, वह उससे कई गुना ज्यादा लाभ कम समय में कमाना चाहता है।

(झ) कई सरकारी चिकित्सकों ने भी निजी अस्पताल खोल लिये हैं और अपनी कार्यावधि के बाद (या कभी–कभी बीच–बीच में सरकारी कार्य छोड़कर) उसमें पूरा समय देते हैं। इस तरह ये दोहरा लाभ कमाते हैं जबकि वे सरकार से प्रेक्टिस न करने का भत्ता लेते हैं। इसके अलावा, ऐसे कई सरकारी चिकित्सकों ने अपने दलाल (एजेंट) सरकारी अस्पतालों में लगा दिये हैं जो मरीजों को फुसलाकर या झांसा देकर उनके निजी अस्पतालों में ले जाते हैं। कुछ दबंग सरकारी चिकित्सकों ने सरकारी अस्पतालों से महंगी मशीनें/उपकरण भी चुरा लिये हैं और उनका उपयोग अपने निजी अस्पतालों में करते हैं। कुछ सरकारी चिकित्सक सरकारी अस्पतालों के महंगे उपकरणों को बिगाड़ देते हैं, जिससे मरीज मजबूरन निजी जांच घरों में अपनी जांच करायें और उन्हें उनसे कमीशन मिले।

(ञ) कई सरकारी अस्पतालों में प्रायः कई चिकित्सक/नर्स आदि पूरी कार्यावधि में उपलब्ध नहीं होते जिससे मरीजों को मजबूरन निजी अस्पतालों में जाना पड़ता है।

(ट) कई सरकारी अस्पतालों में सफाई का घोर अभाव होता है और कई सुरक्षात्मक सामान (दस्ताने आदि) पर्याप्त मात्रा में हमेशा उपलब्ध नहीं होते जिसके कारण मरीजों को अक्सर इंफेक्शन हो जाता है। उसका प्रभाव अन्य मरीजों पर भी पड़ता है।

(ठ) तमाम सरकारी अस्पतालों में चिकित्सकों, विशेषज्ञों और नर्सों आदि के बहुत सारे पद रिक्त हैंः जैसे राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन में 2011 में उ.प्र. में विशेषज्ञों के 70 प्रतिशत, म.प्र. में 80 प्रतिशत तथा झारखंड में 95 प्रतिशत पद रिक्त थे। इसी प्रकार पूरे देश में 2015 में सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों में 83 प्रतिशत पद रिक्त थे। कई दशकों से बढ़ती आबादी के अनुपात में उनकी संख्या नहीं बढ़ाई गई है– अर्थात् एक ओर स्वीकृत पद ही कम हैं और दूसरी ओर उनमें रिक्तियां काफी हैं जिससे चिकित्सकों/नर्सों आदि पर काफी अतिरिक्त कार्य भार पड़ता है और चिकित्सा–सेवा की गुणवत्ता भी प्रभावित होती है।

इस खंड में हम भारत सरकार द्वारा विभिन्न प्रशासनिक स्तरों पर अपनाई गई स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्था के विविध आयामों पर चर्चा करेंगे। भारत में विभिन्न प्रशासनिक स्तरों पर स्वास्थ्य एवं चिकित्सा हेतु निम्नलिखित तन्त्र कार्यरत हैं (तालिका 1)।

तालिका 1 : जनसंख्या के आधार पर चिकित्सा तन्त्र

चिकित्सा तन्त्र	जनसंख्या का आधार	सुविधाएं
1. स्वास्थ्य उपकेन्द्र	5000 (पहाड़ी क्षेत्र में 3000) पर जोर।	अस्थायी/किराये का कमरा, एक नर्स का पदस्थापन सम्पर्क/सलाह देने हेतु, मातृत्व एवं बाल स्वास्थ्य
2. प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र	30,000 (पहाड़ी क्षेत्र में 20,000)	एक चिकित्सक, एक नर्स, एक मिश्रक, दवाएं, 4–6 बिस्तर, 6 उपकेन्द्रों के लिए, परिवार कल्याण के उपाय, कैम्प आदि, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के तहत स्थापित, ब्लॉक स्तर पर रोगी कल्याण समिति।
3. सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र	1,20,000 (पहाड़ी क्षेत्र में 80,000)	4 चिकित्सा विशेषज्ञ, 21 स्टाफ, 30 बिस्तर, 4 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के लिए रेफरल, ब्लॉक से बड़ा क्षेत्र, मशीन, उपकरण, रोगी कल्याण समिति।
4. अनुमंडलीय/ उपजिला अस्पताल	अनुमंडल भर की जनसंख्या के लिए	रोगी कल्याण समिति का पर्यवेक्षण अनुमंडल/तहसील /तालुक स्तर पर विशेषज्ञों का पदस्थापन, मशीन, उपकरण (मध्यम स्तर), 30 से अधिक बिस्तर।
5. जिला अस्पताल	जिला भर की जनसंख्या के लिए	सभी बड़ी बीमारियों के विशेषज्ञ पदस्थापित, मशीन, उपकरण (मध्यम स्तर), रोगी कल्याण समिति को पर्यवेक्षण का अधिकार, कई दर्जन बिस्तर उपलब्ध।
6. मेडिकल कॉलेज एवं अस्पताल	प्रमंडल स्तर या कई जिलों पर	कई सुपर–स्पेशलिस्ट का पदस्थापन, उच्च कोटि की मशीनें, उपकरण, सैकड़ों बिस्तर।

भारत सरकार ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन का गठन किया है जिसमें राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 2005 में गठित) तथा राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन शामिल हैं। इसका मुख्य उद्देश्य है कि एक पूर्णतः कार्यशील, समुदाय के स्वामित्व वाली, विकेन्द्रित स्वास्थ्य व्यवस्था कायम हो जिसमें विभिन्न क्षेत्रों का समागम सभी स्तरों पर हो जिससे स्वास्थ्य के तमाम निर्धारकों (यथा पानी, स्वच्छता, शिक्षा, पोषाहार, सामाजिक एवं लैंगिक समानता) पर एक साथ समुचित कार्रवाई सुनिश्चित हो सके। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन में 'आशा' कार्यकर्ता को समुदाय का संगठक, सुविधादाता तथा सम्पर्क कार्यकर्ता के रूप में रखा गया है तथा निजी–लोक भागीदारी की अवधारणा भी शामिल की गई है, और स्वास्थ्य उपकेन्द्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों तथा सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों को सुदृढ़ करने का निर्णय लिया गया है। मगर, वास्तव में, परिवार कल्याण (प्रजनन एवं शिशु स्वास्थ्य सहित) के बजट को भी इसमें मिला दिया गया। व्यवहार में इसमें दी गई निधि से दवाओं/उपकरणों की खरीद तथा संरचना विकास में काफी गडबड़ी विभिन्न राज्यों में की गई जिनमें उ.प्र. (जहां दर्जनों चिकित्सकों की हत्या कर दी गई और कई उच्चाधिकारी, मंत्री, चिकित्सक, स्टॉफ जेल भी गये), बिहार आदि प्रमुख हैं। इसके कारण पारदर्शी प्रक्रिया और अनुश्रवण का अभाव मुख्य रूप से रहा है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन से राज्य सरकारों को आधारभूत संरचनाओं, मानव–शक्तियों (विशेषज्ञों से लेकर नर्सों/आशा कर्मियों तक) में वृद्धि, बहु–कौशल प्रशिक्षण, क्षमता विकास, आयुष सेवाएं प्रदान की जाती हैं। इसमें 33 प्रतिशत राशि (गहन ध्यान वाले राज्यों में) आधारभूत संरचना के लिए खर्च की जा सकती है। 2014–15 में 30750 नये निर्माण कार्य हेतु तथा 32847 जीर्णोद्धार/उच्चीकरण कार्य हेतु आवश्यक निधि राज्यों को दी गई थी। इसके अलावा, 1.88 लाख अतिरिक्त मानव संसाधन (संविदा पर नियुक्त) उपलब्ध कराये गये। पूरे देश में जिला अस्पतालों, उपजिला अस्पतालों, सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में 31763 रोगी कल्याण समितियां गठित की गईं जिससे स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्था में जन– भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन चाहता है कि समतामूलक, व्यय वहन करने योग्य तथा गुणवत्ता पूर्ण स्वास्थ्य सुविधाएं सार्वभौमिक रूप से सबको उपलब्ध हों जो जनता की जरूरतों को पूरी करें तथा जिम्मेदारी के साथ उनका इलाज हो सके। इसीलिए 'आशा' कार्यकर्ताओं को जनता तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के बीच की कड़ी बनाया गया है और उनके हुनर, दक्षता और ज्ञान को बढ़ाने हेतु राष्ट्रीय खुला विद्यालयीय संस्थान की सेवा ली जा रही है जो प्रशिक्षण के बाद उन्हें प्रमाण–पत्र भी देते हैं। इसके अलावा, जननी सुरक्षा योजना के तहत मातृ–मृत्यु दर घटाने हेतु आर्थिक सहायता (रुपये 1400 नगद ग्रामीण क्षेत्र में और रुपये 700 शहरी क्षेत्र में तथा आशा कार्यकर्ता को रुपये 600

प्रति प्रसव) दी जाती है अस्पताल में प्रसव कराने के लिए। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन की शुरूआत (2005) से 2014–15 तक 8.55 करोड़ गर्भवती महिलाएं इससे लाभान्वित हुईं। इसके अलावा, जननी–शिशु सुरक्षा कार्यक्रम के तहत मुफ्त में हक दृष्टिकोण के आधार पर दवाएं, जांच, अस्पताल में भर्ती अवधि में भोजन, आवश्यक रक्त, परिवहन सुविधा आदि उपलब्ध कराई जाती हैं। 2014–15 में पूरे देश में 89 प्रतिशत गर्भवती महिलाओं ने मुफ्त दवा, 82 प्रतिशत ने मुफ्त जांच, 75 प्रतिशत ने मुफ्त भोजन, 49 प्रतिशत ने मुफ्त परिवहन आदि सुविधाएं प्राप्त कीं। इसके अलावा, 73 प्रतिशत बीमार शिशुओं ने मुफ्त दवा, 40 प्रतिशत शिशुओं ने मुफ्त जांच, तथा 10 प्रतिशत शिशुओं ने मुफ्त परिवहन आदि सुविधाएं प्राप्त कीं। साथ ही, पूरे देश में राष्ट्रीय एम्बुलेंस सेवा उपलब्ध कराई गई है– 108 पर दूरभाष से सूचना देने पर संकट में पड़े मरीजों यथा दुर्घटना, उपघात (ट्रॉमा) आदि के लिए मुफ्त एम्बुलेंस पहुंचती है तथा 102 पर दूरभाष से सूचना देने पर गर्भवती महिलाओं और बच्चों के लिए मुफ्त एम्बुलेंस पहुंचती है। वर्तमान में 7358 गाड़ियां 108 सेवा के लिए और 7836 गाड़ियां 102 सेवा के लिए उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त, एलोपैथी पद्धति से भिन्न आयुर्वेद, होम्योपैथी, यूनानी, सिद्ध आदि देसी पद्धतियों के लिए 24890 आयुष चिकित्सकों का पदस्थापन विभिन्न राज्यों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, उपजिला स्वास्थ्य केन्द्रों, सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों, जिला अस्पतालों आदि में राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के तहत उपलब्ध कराई गई राशि से किया गया है। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के तहत उन राज्यों को आवंटित की गई राशि का 5 प्रतिशत अतिरिक्त हिस्सा मिलता है जो मुफ्त दवा वितरण मरीजों को करते हैं। राष्ट्रीय किशोर स्वास्थ्य कार्यक्रम जनवरी 2014 से शुरू किया गया जिससे भारत के 25.3 करोड़ किशोर लाभान्वित हों। इसमें प्रजनन और यौन सम्बन्धी स्वास्थ्य के अलावा जीवन के हुनर, पोषाहार, चोट, हिंसा (घरेलू लैंगिक हिंसा सहित), असंक्रमणीय बीमारियां, मानसिक स्वास्थ्य और नशा आदि को भी सम्मिलित किया गया है।

दिसम्बर 2014 में स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा गठित कार्यबल ने 'विस्तृत प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल' शुरू करने की अनुशंसा की थी जिसमें कार्रवाई करने के दस क्षेत्र निम्नलिखित हैं :

(क) सांस्थिक संरचनाओं को सशक्त बनाना तथा प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं को संगठित करना।

(ख) विस्तृत प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल के लिए तकनीकी, दवाओं और जांचों की सुगम उपलब्धता।

(ग) सूचना, सम्प्रेषण तथा तकनीकी के उपयोग को बढ़ाना।

(घ) स्वास्थ्य देखभाल की निरंतरता को बढ़ाना– इसे मरीज–केन्द्रित करना।

(ङ) स्वास्थ्य देखभाल की गुणवत्ता बढ़ाना।

(च) स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारकों पर ध्यान देना।

(छ) सामुदायिक भागीदारी पर जोर देना और स्वास्थ्य में समतामूलक न्याय के सरोकारों को सम्बोधित करना।

(ज) प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल के समर्थन हेतु मानव संसाधन नीति विकसित करना।

(झ) सुशासन (वित्तपोषण, भागीदारी तथा उत्तरदायित्व सहित) को सशक्त बनाना।

(ञ) मौजूदा उपकेन्द्रों को सशक्त बनाने हेतु राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के कार्यक्रम कार्यान्वयन योजना के जरिये राज्यों को समर्थन देना। इस कार्यक्रम कार्यान्वयन योजना में पांच खंड होते हैं– राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य लचीला पूल, राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन लचीला पूल, संक्रमणीय रोगों के लिए लचीला पूल, असंक्रमणीय रोगों, घावों एवं उपघातों के लिए लचीला पूल, आधारभूत संरचना का रखरखाव आदि।

किन्तु उपरोक्त सभी अनुशंसाओं को अभी तक अमलीजामा नहीं पहनाया जा सका है। इसके अलावा, उल्लेखनीय है कि भारत सरकार का राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन का बजट पिछले कुछ वर्षों में घटा है जैसे, 2012–13 में रुपये 20542 करोड़ से यह घटकर 2015–16 में रुपये 18295 करोड़ हो गया। फिर भी इस दौरान पूरा बजटीय उपबन्ध खर्च नहीं हो सका। यूं भारत सरकार (स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय) का दावा है कि 1951 से 2013 के दौरान स्वास्थ्य के निम्नलिखित सूचकांकों में प्रगति हुई है:

(क) अपरिमार्जित जन्म दर (क्रूड बर्थ रेट) प्रति हजार जनसंख्या में 40.8 से घटकर 21.4 हो गई।

(ख) अपरिमार्जित मृत्यु दर प्रति हजार जनसंख्या में 25.1 से घटकर 7 हो गई।

(ग) सकल सन्तानोत्पत्ति दर प्रति स्त्री 6 से घटकर 2.3 हो गई।

(घ) मातृ–मृत्यु दर प्रति लाख जीवित जन्मों में 1991–2013 के दौरान 437 से घटकर 167 हो गई।

(ङ) शिशु मृत्यु दर प्रति हजार 146 से घटकर 40 हो गई।

(च) जीवन प्रत्याशा 1981 से 2013 के दौरान 55.4 वर्ष से बढ़कर 67.5 वर्ष हो गई।

किन्तु ये उपलब्धियां विकसित देशों ही नहीं, बल्कि कई विकासशील देशों यथा श्रीलंका, दक्षिण कोरिया, इंडोनेशिया, फिलिपीन्स, चीन, लातिनी अमेरीका आदि की

तुलना में नगण्य हैं और दुर्भाग्यवश भारत सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों को 2015 तक प्राप्त नहीं कर सका। विभिन्न राज्यों की स्थिति भयावह है जैसे असम में 2011–13 में मातृ मृत्यु दर सर्वाधिक (300) थी और उसके बाद उ.प्र./उत्तराखंड (285), राजस्थान (244), ओडिशा (222), म.प्र. (221) तथा बिहार/झारखंड (208) की स्थिति भी दयनीय है। दूसरी ओर केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश ने 2011–13 में मातृ मृत्यु दर 100 या उससे कम पायी गयी जबकि गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक और पश्चिम बंगाल ने सहस्राब्दी विकास लक्ष्य 5 (139 मातृ–मृत्यु दर प्रति लाख जीवित जन्म) प्राप्त कर लिया। भारत सरकार ने वचन दिया है कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित सतत विकास लक्ष्य के तहत उसकी मातृ मृत्यु दर 2030 तक घटकर 70 हो जाएगी।

इसके अलावा, भारत में संस्थागत प्रसव 47 प्रतिशत (2007–08) से बढ़कर 78.7 प्रतिशत (2013–14) हो गया और साथ–साथ सुरक्षित प्रसव इस दौरान 52.7 प्रतिशत से बढ़कर 81 प्रतिशत हो गया। किन्तु भारत में अभी भी बाल मृत्यु दर (पांच वर्ष तक) 49 प्रति हजार है जबकि सहस्राब्दी विकास लक्ष्य के तहत इसे 2015 तक घटकर 45 प्रति हजार होना चाहिए था। भारत में नवजात मृत्यु दर 28 प्रति हजार है। भारत में प्रति वर्ष 12.7 लाख पांच वर्ष तक की उम्र के बच्चे काल के गाल में समा जाते हैं। इसमें 4 बड़े राज्यों में सबसे ज्यादा (58 प्रतिशत) बाल मृत्यु होती हैः उ.प्र. (3.5 लाख), बिहार (1.5 लाख), म.प्र. (1.3 लाख), एवं राजस्थान (1 लाख)। उल्लेखनीय है कि इन बाल–मृत्युओं में 45 प्रतिशत मृत्यु जन्म के सात दिनों में, 57 प्रतिशत मृत्यु जन्म के एक माह में और 81 प्रतिशत मृत्यु जन्म के एक वर्ष में हो जाती है जिन्हें समय पर उचित स्वास्थ्य–चिकित्सा सुविधाओं से रोका जा सकता है। भारत में पांच वर्ष तक के बच्चों की मृत्यु के प्रमुख कारणों में नवजात शिशुओं की मृत्यु (57 प्रतिशत), निमोनिया, कै–दस्त, खसरा आदि के साथ–साथ 33 प्रतिशत मामलों में कुपोषण भी बड़ा कारक है। नवजात शिशु मृत्यु दर भारत में 28 प्रति हजार जीवित जन्म (2013) है अर्थात् प्रति वर्ष 7.3 लाख नवजात शिशु मर जाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा 2000 में निर्धारित सहस्राब्दी विकास लक्ष्य में स्वास्थ्य से सम्बन्धित 7 लक्ष्य निम्नलिखित थेः

(क) 1990–2015 के दौरान भूख से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या को आधी करना।

(ख) 1990–2015 के दौरान पांच वर्ष तक के बच्चों की मृत्यु दर दो–तिहाई कम करना।

(ग) 1990–2015 के दौरान मातृ मृत्यु दर को तीन–चौथाई कम करना।

(घ) 2015 तक प्रजनन स्वास्थ्य सभी महिलाओं को उपलब्ध कराना।

(ङ) 2015 तक एच.आई.वी./एड्स को फैलने से रोकना तथा ऐसे रोगियों का इलाज कराना।

(च) 2015 तक मलेरिया और अन्य बड़ी बीमारियों की घटनाओं को फैलने से रोकना।

(छ) 2015 तक स्वच्छ पेय जल तथा बुनियादी स्वच्छता से वंचित आबादी को आधी करना।

किन्तु कार्यान्वयन की शिथिलता तथा इच्छाशाक्ति में कमी के कारण भारत इन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सका। अभी भी 47 प्रतिशत बच्चे निर्धारित मापदंड से कम वजन के हैंः मातृ मृत्यु दर 139 प्रति लाख जीवित जन्म के लक्ष्य के विरूद्ध 167 (2013 में) प्रति लाख जीवित जन्म हैः बाल मृत्यु दर के लक्ष्य 42 प्रति हजार के विरूद्ध हमारी कम उपलब्धि 49 प्रति हजार हैः भारत में 50 प्रतिशत से अधिक लोग खुले मैदान में शौच करते हैं (केरल में मात्र 5 प्रतिशत, बिहार में 77 प्रतिशत छत्तीसगढ़ में 75 प्रतिशत, झारखंड में 78 प्रतिशत तथा ओडिशा में 78 प्रतिशत लोग खुले में शौच करते हैं। भारत सरकार के स्वच्छता अभियान का लक्ष्य है 2 अक्टूबर 2019 तक पूरे देश को खुले शौच से मुक्त कराना। बच्चों का पूर्ण प्रतिक्षण भारत में मात्र 65.3 प्रतिशत है जबकि राष्ट्रीय बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम के तहत 6 वर्ष के बच्चों के जन्म के समय शारीरिक दोष, बीमारी, कमी, विकास में विलम्ब (विकलांगता सहित) आदि के लिए जांच करने का कार्यक्रम है और 2014–15 में 6 वर्ष तक की उम्र के 10.66 करोड़ बच्चों की जांच की गई और 51.78 बच्चों को इन चार प्रकार की खामियों से युक्त पाया गया और 22.18 लाख बच्चों की 30 स्वास्थ्य दशाओं में सुधार किया गया। भारत सरकार के 'मिशन इन्द्रधनुष' के तहत (दिसम्बर 2014 से शुरू) उन बच्चों का सात बीमारियों से बचाव का टीकाकरण किया जाने लगा है जिन्होंने कोई टीका ही नहीं लगवाया था या आंशिक रूप से लगवाया था तथा प्रभावित जिलों/क्षेत्रों के बच्चों को इन्सेफलाइटिस तथा हेमोफिलस इंफ्लुएंजा टाइप बी का अतिरिक्त टीका भी लगाया जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 24 फरवरी 2012 को भारत को पोलियो मुक्त देश घोषित कर दिया। पल्स पोलियो कार्यक्रम में 24 लाख टीका देने वाले तथा डेढ़ लाख पर्यवेक्षक शामिल रहते थे। किन्तु पूरे देश में करीब 10 प्रतिशत लोगों को स्वच्छ पेयजल की सुविधा नहीं है।

भारत में बड़ी बीमारियों में मलेरिया से ज्यादा लोग प्रभावित होते हैं किन्तु ऐसे मामलों की संख्या और मृत्यु में कमी आयी है। उदाहरणार्थ, 2006 में कुल मलेरिया मामले 17.90 लाख थे और 1707 मृत्यु हुई थी और 2014 में ऐसे 11 लाख मामले थे और 562 मृत्यु हुई थी। भारत में फाइलेरिया के 12 लाख मामले 2014 तक प्रकाश में आये थे जिनमें से 4 लाख हाइड्रोसिल के मामले शामिल थे (उनमें से 1.29 लाख का

ऑपरेशन किया गया)। 2020 तक पूरे विश्व में फाइलेरिया को समाप्त करने का लक्ष्य विश्व स्वास्थ्य असेम्बली ने 1997 में लिया था। भारत ने इसे 2015 तक खत्म करने का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति (2002) में लिया था किन्तु इसे पूरा नहीं किया जा सका। वास्तव में, भारत के 16 राज्यों और 5 संघ शासित क्षेत्रों में 255 जिलों में 63 करोड़ आबादी में फाइलेरिया फैलने का जोखिम है। इसी प्रकार कालाजार भारत के मुख्यतः 54 जिलों (बिहार के 33, झारखंड के 4, प. बंगाल के 11, उ.प्र. के 6 जिले) में फैलता है। 1992 में 77102 व्यक्ति कालाजार से प्रभावित हुए थे जिनमें से 1419 की मृत्यु हो गई थी। 2014 में 9241 लोग कालाजार से प्रभावित हुए और 11 की मृत्यु हो गई थी अर्थात् इलाज के कारण बीमारी फैलने तथा उससे मृत्यु में काफी कमी हुई है। किन्तु राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में कालाजार को 2015 तक खत्म करने का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सका।

इसके अलावा डेंगू विगत पच्चीस–तीस वर्षों से पूरे देश में फैल रहा है। 1996 में 16517 लोग डेंगू से प्रभावित थे जिनमें से 545 की मृत्यु हो गई थी और 2014 में 40571 लोग डेंगू से प्रभावित हुए जिनमें 137 की मृत्यु हो गई। इस प्रकार अब इसका प्रभावी इलाज हो रहा है किन्तु रोगियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है।

भारत में कुष्ठ रोग से प्रभावित व्यक्तियों की संख्या काफी है। उदाहरणार्थ, 2013 में पूरे विश्व में 2,15,656 नये कुष्ट रोगियों की पहचान की गई जिनमें से 1,26,913 (58.8 प्रतिशत) भारत में पाये गये। उनका इलाज एम.डी.टी. पद्धति से शुरू किया गया। मार्च 2015 में इलाज कराने वाले ऐसे रोगियों की संख्या घटकर 88,833 हो गई। भारत के 137 जिले प्रति दस हजार में मात्र एक कुष्ठ रोगी होने का लक्ष्य पूरा नहीं कर पाये हैं (मार्च 2015)। 2014–15 में 2883 कुष्ठ रोगियों की पुनर्निर्माणात्मक सर्जरी की गई।

इसके अलावा, भारत में टी.बी. (यक्ष्मा) के 22 लाख नये मामले प्रति वर्ष प्रकाश में आते हैं अर्थात् प्रति लाख आबादी पर 167 नये मामले। पहले 2005 में प्रतिवर्ष प्रति लाख आबादी पर 365 नये मामले प्रकाश में आते थे। टी.बी. से प्रतिवर्ष 2,20,000 मृत्यु भारत में होती है अर्थात् प्रति लाख आबादी पर 17 मृत्यु (कुल टी.बी. मरीजों में से 5 प्रतिशत को एच.आई.वी. है।) किन्तु चिन्ता की बात यह है कि 2.2 प्रतिशत नये टी.बी. मामलों में टी.बी. की दवा निष्प्रभावी हो जाती है। विश्व के 96 लाख टी.बी. मामलों (2014) में 23 प्रतिशत (22 लाख) मामले भारत में हैं। 2014–15 में टी.बी. उन्मूलन कार्यक्रम के लिए भारत सरकार ने रुपये 640 करोड़ का बजट उपलब्ध किया था।

भारत में स्वास्थ्य का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम बड़ी जनसंख्या है जो 2011 में 121.02 करोड़ थी जो विश्व जनसंख्या का 17.5 प्रतिशत है और पूरे देश में उ.प्र. की

जनसंख्या सर्वाधिक है (20 करोड़) जो ब्राजील की जनसंख्या से अधिक है। दूसरी ओर, भारत के पास विश्व की कुल जमीन का मात्र 2.4 प्रतिशत हिस्सा ही है। एक अनुमान के अनुसार 2026 में भारत की आबादी 140 करोड़ हो जाएगी। इसलिए 2003 में जनसंख्या स्थिरता कोष की स्थापना की गई जिसके अध्यक्ष सचिव, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण होते हैं। भारत में परिवार नियोजन या कल्याण की शुरूआत् 1952 में हुई किन्तु इसके दृष्टिकोण में बदलाव होता रहा है। शुरू में क्लीनिकल (ऑपरेशन–बन्ध्याकरण या नसबन्दी) दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा और इसके तहत 1975–77 में (आपातकाल) जोर–जबर्दस्ती से वन्ध्याकरण या नसबन्दी की गई (अविवाहितों, कई बच्चों वाले उम्र पार अधेड़ों, विधुरों/विधवाओं, नव–विवाहितों)। उसके बाद 1997 में रिप्रोडक्टिव एंड चाइल्ड हेल्थ (प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य) का समेकित स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण का दृष्टिकोण अपनाया गया। इसमें अवांछित गर्भ रोकना, सुरक्षित मातृत्व एवं शिशु उत्तरजीविता के सम्वर्द्धन हेतु सेवाएं, वंचित समूहों के लिए पोषाहार सेवाएं, प्रजनन मार्ग संक्रमण तथा यौन–संचरित संक्रमण को रोकना एवं इलाज करना, किशोरों के लिए प्रजनन स्वास्थ्य सेवाएं, स्वास्थ्य, यौनता एवं लिंग सम्बन्धी सूचना, शिक्षा व परामर्श, तथा प्रभावकारी रेफरल व्यवस्था शामिल थीं। इक्कीसवीं सदी में पूर्णकारी लक्ष्यमुक्त दृष्टिकोण अपनाया गया (जिसमें परिवार कल्याण के निरोधात्मक तरीके, देर से शादी, समय से बच्चा, दो जन्मों के बीच पर्याप्त अंतराल, बालिकाओं की शिक्षा पर जोर, बाल–मृत्यु, शिशु मृत्यु एवं मातृ–मृत्यु घटाने हेतु आवश्यक चिकित्सा सुविधाएं देना आदि हैं)। इस 'प्रतिमान बदलाव' (पैराडाइम शिफ्ट) के कारण 2001–2011 के दौरान जनसंख्या की दशकीय वृद्धि दर 17.64 प्रतिशत हो गई जबकि 1991–2001 के दौरान यह 21.54 प्रतिशत थी– अर्थात् 4.1 प्रतिशत बिन्दु की कमी आयी, विशेषकर उ.प्र., बिहार, झारखंड, म.प्र., छत्तीसगढ़, राजस्थान, ओडिशा एवं उत्तराखंड में कई दशकों तक रुकाव (स्टैग्नेशन) के बाद वृद्धि दर में कमी हुई। सकल सन्तानोत्पत्ति दर (टी.एफ.आर) 2005–2013 के दौरान 2.9 से घटकर 2.3 हो गई– 24 राज्यों और संघ शासित क्षेत्रों में यह दर घटकर 2.1 या उससे कम हो गई। दूसरे, 10 राज्यों में यह दर घटकर 2.1 से 3 के बीच रही (हरियाणा– 2.2. गुजरात– 2.3, अरुणाचल प्रदेश– 2.3, असम– 2.3, छत्तीसगढ़– 2.7, झारखंड– 2.6, राजस्थान– 2.8, म.प्र.– 2.9, मेघालय– 2.9, दादरा एवं नागर हवेली– 2.9। तीसरे, मात्र दो राज्यों में यह दर 3 से ऊपर है– बिहार– 3.4 तथा उ.प्र.– 3.1।

इस प्रकार यदि हम भारत की स्वास्थ्य–चिकित्सा व्यवस्था को समग्रता में देखें, तो निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:

पहला, अभी भी हमारे देश में स्वास्थ्य सामाजिक–आर्थिक दशाओं से जुड़ा है जैसे कुपोषण से वजन की कमी, शारीरिक विकास में कमी तथा खून में लौह तत्व की कमी (एनीमिया) आदि।

दूसरा, हमारी स्वास्थ्य नीति पूर्णकारी एवं समावेशी नहीं है।

तीसरा, एक ओर आवश्यकता से कम पद (चिकित्सक, नर्स, स्टॉफ) सृजित हैं (1700 आबादी पर एक चिकित्सक) और दूसरे उसमें भी आधे से ज्यादा पद रिक्त हैं। हमारी बढ़ती आबादी के आलोक में चिकित्सा महाविद्यालय भी नहीं हैं (उनकी सघनता दक्षिण और पश्चिम भारत में अधिक है, विशेषकर निजी क्षेत्र में)।

चौथा, ग्रामीण क्षेत्रों में अयोग्य/अकुशल/अप्रशिक्षित (झोला छाप) चिकित्सक काफी हैं जो तत्काल सेवा देने के नाम पर और पैसा ऐंठने की मंशा से गलत दवाएं, इंजेक्शन आदि देते हैं जिससे मरीज की स्थिति प्रायः बदतर हो जाती है या प्रायः मृत्यु हो जाती है। न तो उन्हें प्रशिक्षण दिया गया और न वैकल्पिक व्यवस्था की गई।

पांचवां, ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक आधारभूत चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं और जो हैं, वे ठीक से उपयोग में नहीं लाई जा रही हैं तथा प्रायः चिकित्सक, नर्स, स्टॉफ आदि मरीजों के प्रति असंवेदनशील हैं। इसका उदाहरण, (अगस्त 2016 में) ओडिशा के दो जिलों की दो घटनाओं में देखने को मिला। कालाहांडी में एक महिला के मरने पर उसके पति को शव ले जाने के लिए एम्बुलेंस नहीं मिली, तो वह उसे अपने कंधे पर लादकर 10 किमी. तक ले गया और साथ में उसकी छोटी बेटी रोती हुई जा रही थी। दूसरी, बालासोर जिले में एक महिला सोरो रेलवे स्टेशन पर मालगाड़ी द्वारा कुचल दी गई किन्तु एम्बुलेंस नहीं होने से मेहतरों ने उसकी लाश को गर्दन, पैर आदि कई जगहों से तोड़कर बोरे में भरकर बांस से लटकाकर सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र में पोस्टमार्टम हेतु पहुंचाया जबकि सरकारी रेलवे पुलिस बारह घंटे बाद पहुंची। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग तथा ओडिशा राज्य मानव अधिकार आयोग ने जांच के आदेश दिये हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि आजादी के बाद चिकित्सा सुविधाओं के कारण कई महामारियां खत्म हुईं, गर्भवती महिलाओं और बच्चों की मृत्यु में काफी कमी आयी, किन्तु मधुमेह, हृदयरोग, श्वासरोग, गुर्दा रोग, कैंसर आदि गम्भीर बीमारियां काफी बढ़ी हैं जिनके लिए हमारी जीवन–शैली, प्रदूषण, तनाव वगैरह भी काफी जिम्मेदार हैं तथा चिकित्सा तन्त्र की असंवेदनशीलता घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। जरूरत है एक 'प्रतिमान बदलाव' की जिसमें सबको सस्ती दर पर सही चिकित्सा उपलब्ध हो और चिकित्सक–नर्स आदि मरीजों को इन्सान समझकर उनके प्रति पूरी वेदना और संवेदना के साथ पेश आयें।

❖❖❖❖❖

भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली का यथार्थ

विकास मिश्र•

मैं सबसे पहले आपको महाराष्ट्र के गढ़चिरोली जिले के एक गांव हेमलकसा लिए चलता हूं और कुछ आंकड़े आपके सामने रखता हूं, जिससे आपको देश में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा की स्थिति की हकीकत को समझने में मदद मिल सकती है। हेमलकसा में तहसील स्तरीय सरकारी अस्पताल है जहां के ओपीडी में हर रोज मुश्किल से बारह–पंद्रह मरीज उपचार के लिए आते हैं। इस तहसील स्तरीय अस्पताल से थोड़ी ही दूरी पर प्रख्यात समाजसेवी बाबा आमटे के पुत्र डॉ. प्रकाश आमटे द्वारा संचालित हॉस्पिटल है जहां कम से कम 150 मरीज हर रोज ओपीडी में आते ही हैं। यह इलाका नक्सलवाद से गंभीर रूप से जूझ रहा है, इसलिए खून–खराबा भी होता ही रहता है। डॉ. आमटे भी सरकारी अस्पताल की तरह ही मुफ्त उपचार करते हैं। सरकारी अस्पताल में तीन डॉक्टर हैं, लेकिन वहां कोई सर्जरी नहीं होती। यहां तक कि एक्स–रे मशीन तक बंद पड़ी है। इसके ठीक विपरीत डॉ. आमटे के अस्पताल में ब्रेन और हार्ट को छोड़कर सभी तरह की सर्जरी होती है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में सरकारी अस्पताल के प्रति लोगों का विश्वास नहीं पनप सकता है।

यह तो एक उदाहरण है। आप हिंदुस्तान के किसी भी इलाके में चले जाएं, सरकारी हेल्थ सेंटर से लेकर सरकारी अस्पतालों की हालत ऐसी ही मिलेगी। बड़े शहरों में सरकारी अस्पतालों की स्थिति को कुछ हद तक ठीक कहा जा सकता है, लेकिन ग्रामीण इलाकों में तो स्थिति वाकई भयावह है। हम अमूमन इस बात पर खूब माथापच्ची करते हैं कि सरकारी डॉक्टर गांवों में क्यों नहीं जाना चाहते, हम चिकित्सकीय उपकरणों के अभाव की बातें भी करते हैं, लेकिन इस बात पर शायद ही कभी चर्चा होती है कि ग्रामीण इलाकों में सरकारी अस्पतालों में गंदगी क्यों फैली रहती है? आप बिहार से लेकर, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के गांवों में चले जाएं, कहीं भी सरकारी अस्पताल पूरी तरह साफ–सुथरे नहीं दिखेंगे। दरअसल, साफ–सफाई का मुद्दा सबसे गंभीर है। ऐसी स्थिति में सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं के प्रति लोगों का विश्वास पनपे तो कैसे?

• संपादक, लोकमत समाचार, नागपुर

यह कहने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए कि हिंदुस्तान में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को लेकर हमारे भीतर कोई चैतन्यता ही नहीं है। न सरकारी स्तर पर और न जनता के स्तर पर। क्या कभी आपने ऐसी कोई खबर पढ़ी कि फलाने अस्पताल में फैली गंदगी के खिलाफ स्थानीय नागरिकों ने कोई प्रदर्शन किया? हां, मीडिया जरूर ऐसी खबरें उठाता है, लेकिन इस पर जनता की तरफ से कोई प्रतिक्रिया नहीं आती। सरकारी स्तर पर कभी कभार हलचल मचती है और दो–चार दिनों के लिए साफ–सफाई हो जाती है। कुछ दिनों बाद फिर से वही हाल हो जाता है। कमाल की बात है कि यह गंदगी कोई और नहीं फैलाता बल्कि मरीज के साथ आने वाले परिजन ही इसमें योगदान करते हैं। अस्पताल प्रबंधन भी इस पर कोई खास ध्यान नहीं देता। बहुत हुआ तो इधर–उधर थोड़ा सफेद पाउडर डाल देता है। प्राइमरी हेल्थ सेंटर पर तंबाकू की पीक और अस्पतालों में बेड पर गंदगी के निशान आप देख सकते हैं। बिस्तर के गद्दे और चादर की तो बात ही मत कीजिए। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में वहां उपचार के लिए जिसकी मजबूरी होगी, वही जाएगा। जो व्यक्ति थोड़ा सा भी पैसा खर्च कर सकता है, वह पास के किसी शहर में चला जाएगा। निजी अस्पताल की शरण लेगा। स्पष्ट है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा का अस्वस्थ लाभ लेना जिसकी मजबूरी है, वही इन अस्पतालों में आता है, तो सवाल उठता है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा की स्थिति कैसे सुधरे? दरअसल, समस्या के निदान के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि समस्या पैदा कैसे हुई है और इसकी हालत कितनी गंभीर है? आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हमारे देश में अभी भी स्वास्थ्य सेवा को राज्यों के भरोसे ही रखा गया है। केंद्र सरकार ने शुरुआती दौर में ही इससे अपना पल्ला काफी हद तक झाड़ लिया था। राज्यों की आर्थिक स्थिति से आप हम सब परिचित हैं ही। हम जानते हैं कि हर राज्य सरकार घाटे में चल रही है और ऐसी स्थिति में कौन इस पर ध्यान दे? केंद्र सरकार थोड़ा बहुत ध्यान अब देने लगी है, लेकिन हालात इतने बुरे हो चुके हैं कि जल्दी काबू में आने की उम्मीद करना उचित नहीं होगा। इसका नतीजा यह है कि आम हिंदुस्तानी दुनिया के अन्य देशों की तुलना में स्वास्थ्य के मामले में काफी पिछड़ रहा है। जरा सोचिए कि जिस देश का आम आदमी बीमार हो, वह देश प्रगति के पथ पर कैसे आगे बढ़ सकता है? आंकड़े बताते हैं कि हिंदुस्तान में सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी का केवल 4.2 प्रतिशत हिस्सा ही स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च होता है जबकि अमेरिका के कुल जीडीपी का 18 प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च किया जाता है।

यदि हम स्वास्थ्य सेवाओं की आधारभूत संरचना पर नजर डालें तो एक बात स्पष्ट होती है कि हमारी सार्वजनिक चिकित्सा संरचना 1946 की भोर कमेटी की अनुशंसा का

अनुसरण करती है। हालांकि कमेटी ने जो अनुशंसा की थी उस पर सार्वजनिक चिकित्सा की आधारभूत संरचना तैयार नहीं हो पाई। उसने दो प्लान बताए थे। एक 'थ्री मिलियन प्लान' और दूसरी 'दस वर्षीय योजना'। पहली योजना तो यह थी कि एक जिले की 30 लाख की अनुमानित जनसंख्या के हिसाब से कई दशकों के लिए योजना बने। चूंकि यह योजना लंबे समय के लिए बननी थी, इसलिए इसमें एक 'दस वर्षीय प्लान' भी जोड़ दिया गया।

भारतीय चिकित्सा व्यवस्था को बेहतर करने के लिए 1943 यानी अंग्रेजों के समय ही 'हेल्थ सर्वे एंड डेवलपमेंट कमेटी' का गठन किया गया था। उसके चेयरमैन बनाए गए थे सर जोसेफ भोर। उन्होंने 1946 में अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें पहला सुझाव यह था कि चिकित्सा के सभी स्तरों पर आपस में संयोजन हो। इसके साथ ही यह सुझाव भी दिया गया था कि दो स्तरों पर प्राइमरी हेल्थ सेंटर का विकास होना चाहिए। हर 40 हजार की आबादी पर एक प्राइमरी हेल्थ सेंटर हो जिसमें दो डॉक्टर, एक वरिष्ठ नर्स, चार अन्य नर्स, चार दाई, दो सैनिटरी इंस्पेक्टर, दो हेल्थ असिस्टेंट, एक फार्मासिस्ट और पंद्रह चतुर्थवर्गीय कर्मचारी शामिल हों। इस प्राइमरी हेल्थ सेंटर को सहयोग करने और इसके कामकाज पर नजर रखने के लिए सेकेंडरी हेल्थ सेंटर की स्थापना का भी सुझाव दिया गया था। दूसरा सुझाव लंबी अवधि के लिए था जिसे 3 मिलियन प्लान कहा गया। इसके तहत प्रत्येक जिले में 2500 बेड का और इससे नीचे के स्थानों पर 75 बेड का अस्पताल स्थापित करने को कहा गया था।

कोशिशें शुरू हुईं, लेकिन उतनी सफलता नहीं मिली जितनी कि मिलनी चाहिए थी। सरकार ने फिर एक कमेटी का गठन किया। पुराने कागजात बताते हैं कि 1962 में बनी मुदलियार कमेटी ने पब्लिक हेल्थ सेंटर की स्थिति को असंतोषजनक पाया और कहा कि हर 40 हजार की आबादी के लिए एक सर्वसुविधायुक्त हेल्थ सेंटर की स्थापना सुनिश्चित करने की हरसंभव कोशिश की जानी चाहिए। कई साल बीत गए, लेकिन यह लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सका। अंततः 1973 में बनी करतार सिंह कमेटी ने प्राइमरी हेल्थ सेंटर के लिए आबादी का आंकड़ा बढ़ा दिया क्योंकि हमारी जनसंख्या इतनी तेजी से बढ़ रही थी कि 40 हजार की आबादी पर एक प्राइमरी हेल्थ सेंटर का सपना करीब–करीब नामुमकिन नजर आने लगा था। करतार सिंह कमेटी ने कहा कि प्राइमरी हेल्थ सेंटर कम से कम 50 हजार की आबादी के लिए हो। एक प्राइमरी हेल्थ सेंटर के तहत 16 उपकेंद्र भी होने चाहिए। हर केंद्र 3 हजार से साढ़े तीन हजार लोगों के स्वास्थ्य का ध्यान रखे। यह सपना भी पूरा होता नजर नहीं आया। कई पंचवर्षीय योजनाएं बीत गईं, लेकिन हालात में कोई चमत्कारिक परिवर्तन नहीं आया। खासकर

गांवों में हालात बद से बदतर होते चले गए। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यही माना गया कि चूंकि स्वास्थ्य का विषय राज्यों के पास है इसलिए, धन की कमी आ रही है और इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

अंततः 2005 में राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन की स्थापना की गई। इसके तहत पूरे देश में, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवा के सुधार पर तेजी से काम शुरू हुआ। यह वार्ता अभी भी चल रहा है, लेकिन समस्याएं इतनी हैं कि बहुत अच्छे परिणाम मिलने में अभी काफी समय लगेगा। 2012 में इस मिशन का पहला फेज पूरा हुआ और अब दूसरा फेज चल रहा है। निश्चित ही कोशिशें हो रही हैं, लेकिन जिस रफ्तार और संसाधनों के जखीरे की जरूरत है, उतना दिख नहीं रहा है। हिंदुस्तान में करीब 70 प्रतिशत आबादी गांवों में रहती है और उसी के अनुरूप स्वास्थ्य संसाधनों का वितरण भी होना चाहिए, लेकिन देखा यह जा रहा है कि शहरी इलाकों में जिस तरह से ध्यान दिया जाता है, गांवों में ध्यान नहीं दिया जा रहा है। केवल मिजोरम ही ऐसा राज्य है जहां शहरी और ग्रामीण आबादी के लिहाज से बजट राशि का बंटवारा किया जाता है। बाकी सभी जगह शहरों को ज्यादा और गांवों को कम बजट मिल जाता है।

मैं यह ध्यान दिलाना चाहूंगा कि पूर्व राष्ट्रपति और महान वैज्ञानिक अब्दुल कलाम ने ग्रामीण क्षेत्रों के विकास का एक मॉडल पेश किया था, जिसमें कहा गया था कि ग्रामीण क्षेत्रों को एक सर्कल में एक दूसरे से जोड़ दिया जाए। यदि स्वास्थ्य के मामले में भी कलाम के इस मॉडल को माना जाए तो किसी भी गांव से सरकारी अस्पताल की दूरी कम की जा सकती है। उन क्षेत्रों में सरकारी अस्पताल खोले जा सकते हैं जहां गांव के लोगों की पहुंच आसान हो। अब चूंकि प्रधानमंत्री ग्रामीण सड़क योजना भी अपने परवान पर है, इसलिए अस्पताल तक लोगों का पहुंचना आसान होगा। फिलहाल यह व्यवस्था ठीक नहीं है। सरकारी अस्पताल अमूमन तहसील स्तर पर या फिर जिले के स्तर पर हैं। होना यह चाहिए कि जो छोटा शहर गांवों से ज्यादा जुड़ा हुआ हो, वहां अस्पताल खोलना चाहिए। और दूसरी बात यह कि इन अस्पतालों को आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित करना चाहिए। यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि उपकरण काम कर रहे हैं या नहीं। यह भी देखने में आता रहा है कि सरकारी अस्पतालों के उपकरण लंबे समय तक खराब पड़े रहते हैं और इसका फायदा शहरी क्षेत्र की लैबोरेटरी और निजी अस्पतालों को मिलता है।

राजस्थान के बांसवाड़ा जिले के गरीपरतापुर में काफी समय तक तैनात रहे डॉ. विष्णु मंत्री कुछ गंभीर सवाल करते हैं। वे कहते हैं कि जहां मैं पोस्टेड था उस गांव की आबादी करीब पांच हजार थी। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत जननी

एक्सप्रेस एंबुलेस की व्यवस्था तो कागजों पर हो गई थी, लेकिन यह सुनिश्चित नहीं था कि जननी एक्सप्रेस पहुंचेगी कब? इलाके में सड़क ही नहीं है। कितने समय में आएगी? इस पर विश्वास कैसे करें? डॉ. विष्णु मंत्री कहते हैं कि सरकारी चिकित्सा व्यवस्था के साथ सबसे बड़ी समस्या विश्वास का अभाव है। यदि यह अभाव नहीं होता तो क्या पल्स पोलियो अभियान के पच्चीस साल पूरे होने के बाद भी पोलियो के मरीज कहीं दिखाई देते? वे बताते हैं कि दूरदराज के गांवों में आज भी टीकाकरण को लेकर वह जागरुकता नहीं है जिसकी हमें उम्मीद करनी चाहिए। वे एक और गंभीर समस्या की ओर ध्यान दिलाते हैं। उनका कहना है कि भारत में सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति एलोपैथी की है। ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर यूनानी, आयुर्वेद और होम्योपैथी के डॉक्टर हैं लेकिन वे तात्कालिक लाभ के लिए अंग्रेजी दवाइयां लिखते हैं। उन्हें अंग्रेजी दवाइयों के प्रॉपर डोज और ड्यूरेशन के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है। वे या तो कम दवाइयां मरीजों को देते हैं, या फिर ज्यादा देते हैं। नतीजा यह होता है कि कुछ समय बाद मर्ज रेजिस्टेंट हो जाता है। उस व्यक्ति पर एंटीबायोटिक असर नहीं करती। ऐसी स्थिति में नए बैक्टेरिया पैदा होना सहज हो जाता है।

अब जरा इस बात पर चर्चा करें कि ग्रामीण क्षेत्रों के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र या फिर सरकारी अस्पतालों में मानव संसाधन की कमी को कैसे दूर किया जा सकता है। अभी हालात यह हैं कि ज्यादातर डॉक्टर ग्रामीण क्षेत्रों में जाने से बचते हैं। यदि किसी तरह उनका ट्रांसफर हो भी जाए तो वे अपनी पूरी शक्ति इस बात में लगा देते हैं कि ट्रांसफर कैंसिल हो जाए। यदि ट्रांसफर न टला तो ज्वॉइन कर लेते हैं, लेकिन पूरे समय ग्रामीण क्षेत्रों में रहते नहीं हैं। उनकी कोशिश होती है कि सप्ताह में एक–दो दिन वहां चले जाएं और बाकी समय शहर में निजी प्रैक्टिस करें। तो सवाल यह उठता है कि क्या केवल डॉक्टरों को इसके लिए दोषी ठहरा दें? क्या इसमें व्यवस्था का कोई दोष नहीं है? यदि आप गहराई से पड़ताल करेंगे तो पाएंगे कि ग्रामीण क्षेत्र में यदि डॉक्टर जाएं भी तो उनके अकेले रहने और खाने तक की ठीक व्यवस्था नहीं होती है। परिवार को रखने की बात तो बहुत दूर की है। दरअसल, इस समस्या से सरकार भी अच्छी तरह वाकिफ है और डॉक्टर भी इस मामले को हर फोरम पर उठाते रहे हैं लेकिन, इस दिशा में अभी तक कोई प्रयास शुरू भी नहीं किया गया है। सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि ग्रामीण क्षेत्रों में रहवासी व्यवस्थाएं इतनी सुचारू हों और सुविधाएं इतनी हों कि वहां जाने वाले चिकित्साकर्मियों को कोई परेशानी न हो। ग्रामीण क्षेत्रों के आसपास के अर्द्धशहरी क्षेत्रों में चिकित्सकों और दूसरे चिकित्साकर्मियों के लिए रहवासी संकुल बनाए जाने चाहिए। राज्यों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि

चिकित्सकों और चिकित्साकर्मियों के बच्चों को क्षेत्र के अच्छे स्कूलों में दाखिला मिले। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में जाने वाले डॉक्टर के लिए वहां हर तरह की सहूलियत हो, उनके लिए सुविधायुक्त क्वार्टर हों, पास के छोटे शहर में उनके बच्चों की पढ़ाई की अच्छी सुविधा हो तो निश्चय ही कुछ डॉक्टर जरूर ग्रामीण क्षेत्रों की ओर आकर्षित होंगे। डॉक्टरों को भी यह ध्यान में रखना होगा कि उनकी जरूरत ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा है। यह आंकड़ा भयभीत करता है कि 74 प्रतिशत डॉक्टर अर्बन एरिया में रहते हैं जहां केवल 28 प्रतिशत आबादी रहती है। भारत के करीब 50 हजार डॉक्टर केवल अमेरिका में काम कर रहे हैं। दूसरे देशों में गए भारतीय डॉक्टरों की संख्या जोड़ दें तो चिंता और बढ़ जाती है। ऐसे में आम आदमी के मन में एक सवाल जरूर पैदा होता है कि डॉक्टर बनने के लिए इन भारतीयों ने भारतीय संसाधनों का उपयोग किया है, लेकिन सेवाएं दे रहे हैं विदेशों में यह सब केवल और केवल पैसों के लिए कर रहे हैं। देश में सरकारी और निजी मेडिकल कॉलेज की कुल संख्या करीब 387 है जिनमें हर साल करीब 30 हजार डॉक्टर, 18 हजार विशेषज्ञ, वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति (आयुष) के 30 हजार ग्रेज्युएट, 54 हजार नर्सें, 15 हजार एएनएम हर साल देश को मिलते हैं। इसके बावजूद, ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सकों का अभाव देश के स्वास्थ्य को प्रभावित कर रहा है।

स्वास्थ्य मंत्रालय का दावा है कि इस वक्त देश में करीब सात लाख डॉक्टर हैं और 2020 तक 4 लाख अतिरिक्त डॉक्टरों की जरूरत होगी। 1.4 लाख स्वास्थ्य उपकेंद्र एएनएम संचालित कर रही हैं। देश में 7 लाख से ज्यादा आशा वर्कर हैं। यह आंकड़ा सुनने में जरूर अच्छा लग रहा है, लेकिन इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। तो सवाल यह है कि चिकित्सकों और चिकित्साकर्मियों की कमी को कैसे पूरा किया जाए? इस मामले में असम ने एक राह सुझाई है। वहां तीन साल का एक चिकित्सकीय कोर्स शुरू किया गया है जो रूरल मेडिकल प्रैक्टिशनर तैयार करता है। दुनिया के बहुत से देशों ने इस तरह के प्रयोग किए हैं ताकि चिकित्सकों को सहयोग पहुंचाने के लिए बड़ी संख्या में पैरामेडिकल स्टाफ तैयार किए जा सकें और उन देशों को काफी सफलता भी मिली है। भारत के सभी राज्य इस तरह के यदि प्रयास करें तो शायद स्थिति को जल्दी सुधारने में मदद मिल सकती है। मुदलियार कमेटी ने 1960 में अपनी रिपोर्ट में साफ कहा था कि आधुनिक और आयुर्वेद पद्धति को मिलाकर एक चिकित्सा प्रणाली विकसित की जाए जो भारत के अत्यधिक अनुकूल हो। कमेटी की इस रिपोर्ट पर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया। यदि हम ऐसा कुछ कर पाएं तो इससे ग्रामीण क्षेत्रों को निश्चय ही फायदा हो पाएगा। बिहार और झारखंड के आंकड़े वाकई चिंताजनक हैं क्योंकि वहां 20 हजार की जनसंख्या पर एक डॉक्टर है। वहां के गांवों में आप जाएंगे तो डॉक्टरों

के बहुत से बोर्ड मिल जाएंगे क्योंकि वे डॉक्टर नहीं बल्कि झोला छाप डॉक्टर हैं। एक और आंकड़े पर नजर डालिए– विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि चिकित्सा सेवा में मानव संसाधनों की कमी से जूझ रहे दुनिया के 57 देशों में से भारत की रैंकिंग 52 है।

अंग्रेजों के जमाने में प्रति दस हजार जनसंख्या पर अस्पताल में औसतन 0.24 बेड उपलब्ध थे। कमेटी ने कहा कि अगले दस साल में यानी 1956 तक बेड की औसत संख्या कम से कम 1.03 तक पहुंच जाए। चालीस साल में प्रति 1000 की आबादी पर बेड की औसत संख्या न्यूनतम 5.67 पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया, लेकिन हकीकत यह है कि हम अभी भी लक्ष्य से बहुत पीछे हैं। प्रति 1000 की जनसंख्या पर हमारे पास 1 बेड भी नहीं है जबकि हमारे ठीक बगल के देश श्रीलंका में 3.1 बेड, चीन में 3 बेड उपलब्ध हैं। भारत में सब ठीक–ठाक रहा तो 2031 तक हम प्रति 1000 व्यक्ति पर शायद अस्पताल में एक बेड की व्यवस्था कर सकें। दरअसल, हमें इस समस्या के निदान की तरफ जाना है तो चहुंमुखी प्रयास करने होंगे। आधुनिक स्वास्थ्य सेवाएं ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंचाने के लिए हमें पब्लिक हेल्थ फिजिशियन तैयार करने पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। सरकारी अस्पताल में ज्यादा से ज्यादा मरीजों का उपचार करने के लिए आधुनिक तंत्र की मदद लेनी चाहिए। चौबीस घंटे लैबोरेटरी में जांच की सुविधा होनी चाहिए। अस्पतालों में सुबह और शाम दोनों समय ओपीडी खुलें। इसका फायदा यह होगा कि जो मजदूर सुबह मजदूरी छूटने के डर से अपनी चिकित्सा के लिए नहीं आ पाते हैं, वे षाम को आ सकते हैं। प्राथमिक और सेकेंडरी लेवल के हेल्थ सेंटर की संख्या बढ़े और वे बेहतर तरीके से कार्यशील हों। यहां इतनी व्यवस्था हो कि लोगों को सामान्य उपचार के लिए घर से दूर न जाना पड़े। चिकित्सा क्षेत्र की वैकेंसी को भरने की प्रक्रिया अत्यंत तेज होनी चाहिए। मेडिकल ग्रेज्युएट को सबसे पहले आवश्यक तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा जाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में कम से कम दो साल की सेवा के बाद ही उन्हें डिग्री सौंपनी चाहिए या निजी प्रैक्टिस की इजाजत देनी चाहिए। कुछ ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि अस्पतालों के चिकित्सक प्राइमरी हेल्थ सेंटर पर महीने में कुछ दिन जरूर पहुंचें। इससे वहां तैनात मेडिकल ग्रेज्युएट को भी मदद मिलेगी। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को ठीक से चलाने के लिए स्थानीय नागरिकों की एक समिति बनाई जानी चाहिए ताकि संचालन में सुविधा हो।

ध्यान देने वाली बात यह है कि गरीबों के लिए तो सरकारी अस्पताल ही आशा की एकमात्र किरण है। इसलिए यह जरूरी है कि सरकार जो वादे करे, उन्हें पूरा भी करे। 1977 में भारत सरकार ने संकल्प लिया था। 2000 तक सभी के लिए स्वास्थ्य

सेवाएं सुलभ करा दी जाएंगी। निर्धारित अवधि बीतने के 16 साल बाद भी सरकार यह दावा करने की स्थिति में नहीं है कि सबके लिए स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध करा दी गई हैं। वास्तव में हमें एक निर्धारित योजना के तहत लक्ष्य को पूरा करना होगा। छोटे गांवों में प्राइमरी हेल्थ केयर सेंटर में प्रारंभिक उपचार सुनिश्चित होना चाहिए। बड़े अस्पतालों का दायित्व है कि वे निचले स्तर के अस्पतालों और प्राइमरी हेल्थ सेंटर के साथ सहयोग करें। चिकित्साकर्मियों को ट्रेनिंग दें। सभी स्तर के अस्पतालों में सामंजस्य हो, अभी इस सामंजस्य का अभाव दिखाई देता है।

दो और प्रमुख बातें हैं जो स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाने में मदद करेंगी। पहली यह कि सरकारी स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों और शहरी गरीबों के लिए मेडिक्लेम की व्यवस्था की जानी चाहिए। अभी देश में केवल पांच प्रतिशत लोग ही मेडिक्लेम पॉलिसी लेते हैं। इसके प्रति लोगों का रूझान भी नहीं है। सवाल यह है कि जब 100 प्रतिशत लोगों के लिए आधार कार्ड का लक्ष्य रखा जा सकता है तो मेडिक्लेम का लक्ष्य क्यों नहीं निर्धारित किया जा सकता है? और दूसरी सबसे प्रमुख बात है 'भोजन मनुष्य की पहली दवा है।'

उपचार से ज्यादा जरूरी है इस बात की व्यवस्था की कि बीमारी हो ही नहीं।' आज भोजन की गुणवत्ता की बात तो बहुत दूर की है। भोजन केमिकल फ्री हो, यही सुनिश्चित नहीं है। सब्जियों में धड़ल्ले से पेस्टिसाइड का उपयोग किया जा रहा है। धरती को हमने केमिकल फर्टिलाइजर से दूषित कर दिया है तो पोषित अन्न की उम्मीद कैसे करें? मिलावट का अब भी बोलबाला है। पीने के पानी की ठीक व्यवस्था नहीं है। हम पोलियो के समूल नाश के लिए लगे हुए हैं। टीका तो हम लगा रहे हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि पोलियो का मूल कारण दूषित पानी है। हम लोगों को यदि साफ पानी उपलब्ध करा सकें तो ही पोलियो को समाप्त कर पाएंगे। टीबी अभी भी हमारे देश के लिए बड़ा खतरा बना हुआ है। मल्टी ड्रग थेरेपी भी अब तो बहुत से मरीजों में काम नहीं करती है। मधुमेह महामारी का रूप ले चुका है। कहने का आशय यह है कि देश का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। हमारी युवा पीढ़ी शारीरिक रूप से कमजोर हो रही है। स्लिम होने के फेर में लड़कियां कमज़ोर होती जा रही हैं। जाहिर है जिस देश के नागरिक स्वस्थ्य नहीं होंगे, वह देश अपेक्षित गति से प्रगति नहीं कर सकता।

❖❖❖❖❖

भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य की गहन पड़ताल

शंभू जोशी *

सार–संक्षेप

प्रस्तुत लेख में भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली की समीक्षा की गई है। भारतीय संविधान में विद्यमान स्वास्थ्य संबंधी प्रावधानों का भी उल्लेलख किया गया है। देश में विद्यमान स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवाओं की स्थिति से अवगत कराते हुए वर्तमान समय में विद्यमान चुनौतियों और उनके निदानों पर विस्तार से चर्चा की गई है। यह आलेख सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा प्रणाली में सुधार लाने के लिए सरकार और समुदाय दोनों के सहयोग और प्रतिबद्ध प्रयासों का सुझाव प्रस्तुत करता है।

किसी भी देश के नागरिक उसकी सबसे अमूल्य संपत्ति होते हैं। स्वस्थ नागरिक देश के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भारत जैसे विविधतापूर्ण राष्ट्र के लिए अपने नागरिकों का स्वास्थ्य एक महत्वपूर्ण दायित्व और काफी चुनौतीपूर्ण कार्य भी है। यहां एक ओर चिकित्सा की समृद्ध भारतीय परम्परा रही हैं वहीं दूसरी ओर औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त आधुनिक चिकित्सा व्यावस्था भी विद्यमान है। इस समय भारत की स्वास्थ्य सेवा प्रणाली में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं का मिश्रण शामिल है। प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक स्तर पर स्वास्थ्य सेवा सुविधाओं का नेटवर्क, मुख्यतः सरकारों द्वारा चलाया जाता है, मुफ्त या बहुत कम कीमत पर चिकित्सा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। एक व्यापक निजी स्वास्थ्य सुविधा क्षेत्र भी है जिसमें व्यक्तिगत डॉक्टर और उनके क्लिनिक से लेकर सामान्य अस्पताल और सुपर स्पेशियलिटी अस्पतालों का संपूर्ण क्षेत्र आता है।

स्वास्थ्य को केवल बीमारी न होने की स्थिति में ही नहीं बल्कि इसे पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बेहतरी के रूप में भी देखा जाना चाहिए। स्वास्थ्य की व्याप्त परिभाषा से हम केवल उपचारात्मक व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहते बल्कि रोग को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को समाप्त करने पर भी जोर देते हैं। सबके लिए स्वास्थ्य एक बुनियादी मौलिक अधिकार है और पूरी दुनिया के सामाजिक लक्ष्यों में

* सहायक प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला स्थान रखता है। इसकी प्राप्ति तभी संभव है, जब हम स्वास्थ्य के क्षेत्र में अतिरिक्त अन्य सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में भी कदम उठाएं। यह आकस्मिक नहीं है कि हर देश ने अपने नागरिकों के स्वास्थ्य को प्राथमिकता प्रदान करते हुए उसे अपने संविधान में जगह दी है। इस नजरिए से भारतीय संविधान एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

स्वास्थ्य एवं संविधान

भारतीय संविधान में कई ऐसे प्रावधान हैं जो नागरिक होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को एक स्वस्थ एवं सुखकर वातावरण प्रदान करने का प्रावधान करते हैं। इनमें से कुछ प्रावधान सीधे तौर पर तो कुछ प्रावधान अप्रत्यक्ष तौर पर गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सेवाओं की वकालत करते हैं। इन प्रावधानों को निम्नानुसार बताया जा सकता है–

भाग 3ः मूलभूत अधिकार

अनुच्छेद 21 जीवन के मूलभूत अधिकार की गारंटी प्रदान करता है। इस प्रावधान में यह निहित है कि राज्य प्रत्येक नागरिक के जीवन की रक्षा करेगा।

यहां हमें यह मानना होगा कि जीवन की रक्षा में व्यक्ति के जीवन की रक्षा में चिकित्सा प्राप्ति का नैसर्गिक अधिकार समाहित है।

अनुच्छेद 23 मानव के दुर्व्यापार को प्रतिषेध करता है जो देहव्यापार, एड्स आदि बीमारियों के लिहाज से महत्वपूर्ण है।

अनुच्छेद 24 बाल श्रम को प्रतिषेध करता है जो बाल स्वास्थ्य के नजरिए से कल्यायणकारी है।

भाग 4ः राज्य के नीति निर्देशक तत्व

अनुच्छेद 38 राज्य को दायित्व प्रदान करता है कि वह आय, सुविधाओं; चिकित्सा सुविधाओं सहित और अवसरों की असमानता को लगातार कम करने का प्रयास करे।

अनुच्छेद 39 में प्रावधान किया गया है कि–

राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से–

(ङ) पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश

होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों

(च) बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएं दी जाएं और बालकों और अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।

अनुच्छेद 41 कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने के अधिकार को स्वीथकृति प्रदान करते हुए बताता है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर, काम पाने के, शिक्षा पाने के और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और निशक्तता तथा अन्य अभाव की दशाओं में लोक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का प्रभावी उपबंध करेगा।

अनुच्छेद 42 के अंतर्गत 'राज्य काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए और प्रसूति सहायता के लिए उपबंध करेगा'।

अनुच्छेद 47 में पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करने के राज्य के कर्तव्य को बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि राज्य, अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने और लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में मानेगा और राज्य, विशिष्टतया, मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकर औषधियों के, उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।

संविधान की सातवीं अनुसूची में राज्य सूची का विषय है परंतु उनकी सहायता करने में केंद्रीय सरकार की महत्वापूर्ण भूमिका होगी ताकि गुणवत्त संपूर्ण स्वास्थ्य सेवाओं तक सभी नागरिकों की पहुंच हो सके।

अनुच्छेद 243 जी को 1992 में 73वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया जो पंचायतों को पेयजल, स्वास्थ्य स्वछतता, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, परिवार कल्याण, महिला एवं बाल विकास एवं दिव्यांगों के कल्याण से जुड़े मुद्दों पर कार्य करने हेतु विभिन्न शक्तियां प्रदान करता है।

अनुच्छेद 243 डब्ल्यू 1992 में 74वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया जो नगरपालिकाओं को जल आपूर्ति घरेलू, औद्योगिक, व्याावसायिक उद्देश्यों हेतु, जन स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं ठोस कचरा निस्तांरण प्रबंधन, महत्व पूर्ण सांख्यिकीय पंजीकरण आदि से संबंधित मुद्दों पर कार्य करने हेतु विभिन्न शक्तियां प्रदान करता है।

भारतीय संविधान के इतर भी भारत ने विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संविदाओं/ घोषणाओं/ संधियों को अंगीकार किया है जो लोगों को सुविधाएं उपलब्ध कराने के नजरिए से काफी महत्वपूर्ण हैं–

अल्मा अता उद्घोषणा; 1978– इसे सितम्बर 1978 में कजाकिस्तान में प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल पर अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी में स्वीकार किया गया। यह उद्घोषणा सभी सरकारों स्वास्थ्य एवं विकास कार्यकर्ताओं और नागरिकों से सभी के लिए स्वास्थ्य की रक्षा एवं प्रचार–प्रसार हेतु त्वरित कार्रवाई की आकांक्षा करती है। प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल की महत्त्व को प्रकट करने वाली यह पहली अंतरराष्ट्रीय उद्घोषणा थी।

जनसंख्या एवं विकास पर अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी; आईसीपीडी– 1994 – यह जनसंख्या नीति और स्त्री अधिकारों के इतिहास में एक मील का पत्थर थी। इस संगोष्ठी के कार्रवाई कार्यक्रमों पर 179 देशों ने हस्ताक्षर कर स्वीकृति दी। वैश्विक प्राथमिकता के रूप में 'स्त्री– समानता एवं सशक्तिकरण' पर सहमति बनी।

संयुक्त राष्ट्र सहस्त्राब्दि उद्घोषणा; 2000 – इस घोषणा के स्वीकार के बाद वर्ष 2000 में सम्पन्न संयुक्त राष्ट्र सहस्त्राब्दि सम्मेलन में आठ अंतरराष्ट्रीय विकास लक्ष्यों को अंगीकृत किया गया जो सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्य के रूप में स्वीकारे गए और उन्हें प्राप्त करने के लिए समय–सीमा निर्धारित की गई। निर्धारित समय के पश्चात प्राप्त–अप्राप्त लक्ष्यों की समीक्षा भी की जाती है। उस समय के सभी सदस्य राष्ट्रों ने वर्ष 2015 तक इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी प्रतिबद्धता जताई।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में स्वास्थ्य की अवधारणा का एक दृढ़ संवैधानिक आधार है। यह आधार इसके प्रत्येक नागरिक को आश्वस्त करता है कि राज्य उसके स्वास्थ्य की रक्षा और संकट में सहायता करेगा ।

स्वतंत्र भारत में स्वास्थ्य नीतियां

भारत में स्वास्थ्य नीति का इतिहास काफी पुराना है। मिश्रित अर्थव्यवस्था के मार्ग का चयन करने के उपरांत सरकार ने प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं एवं उससे जुड़ी आधारभूत संरचना के विकास पर बहुत जोर दिया। आजादी से पूर्व बनी भोर समिति; 1946 ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट किया था कि कोई भी व्यक्ति निवारक या उपचारात्मक; प्रीवेंटिव या क्यूरेटिव चिकित्सा सुविधा से भुगतान क्षमता न होने के कारण वंचित नही होना चाहिये।

प्रथम दो पंचवर्षीय योजना की समीक्षा व भविष्य की योजना के लिये 1959 में मुदालियर समिति गठित की गई थी, मुदालियर समिति ने ग्रामीण क्षेत्र मे डॉक्टरों व

चिकित्साकर्मियों को आकर्षित करने के लिये सेवा शर्तो मे सुधार के प्रस्ताव दिये थे। 1963 मे चड्ढा कमेटी ने स्वास्थ्य व परिवार नियोजन सेवाओं को एकीकृत करने व प्रति 10000 की आबादी पर एक पुरूष व एक महिला बहुउद्देशीय स्वास्थ्यकर्मी की नियुक्ति की अनुशंसा की थी। 1973 में करतार सिंह कमेटी ने भी एकउद्देशीय महिला व पुरूष स्वास्थ्यकर्मी को बहुउद्देशीय में रूपांतरित कर व ग्रामीण प्राथमिक हेल्थ केअर से एकीकृत कर प्रति 10 से 12 हजार ग्रामीण आबादी पर एक बहुउद्देशीय स्वास्थकर्मी की नियुक्ति की अनुशंसा की थी।

1977 मे श्रीवास्तव समिति ने ग्रामीण आधार वाले युवाओं को तीन माह का प्रशिक्षण देकर सामुदायिक स्वास्थकर्मी के नये केडर बनाने की अनुशंसा की थी। 1978 की विश्व स्वास्थ्य असेम्बली की "अल्मा अता घोषणा" जिसमे सबके लिये वर्ष 2000 तक स्वास्थ्य का लक्ष्य निर्धारित किया गया था तथा विभिन्न समितियों की अनुशंसाओं के आधार पर 1983 में दो की पहली स्वास्थ्य नीति घोषित की गई थी। विकेंद्रित हेल्थकेअर प्रणाली, कम खर्चीली स्वास्थ्य सेवाएं, गैरव्यवसायिक दृष्टिकोण व सामुदायिक भागीदारी पहली स्वास्थ्य नीति के आधार तत्व थे तथा प्रति 30000 की आबादी पर एक प्राथमिक चिकित्सा केंद्र व 5000 की आबादी पर एक उपकेंद्र का लक्ष्य रखा गया था।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति

1983 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति की घोषणा की गयी जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का सुदृढ़ीकरण करके सबके लिए स्वास्थ्य का लक्ष्य प्राप्त करना निर्धारित किया गया। जिसके अंतर्गत स्वास्थ्य सेवाओं का विकेंद्रीकरण चिकित्सा एवं स्वास्थ्य तथा भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के मध्य समन्वयए सर्वव्यापी टीकाकरण मातृ शिशु तथा स्कूल स्वास्थ्य सेवाओं पर नियंत्रण तथा स्वास्थ्य शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया। विगत 50 वर्षों में ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं के सुदृढ़ ढांचे के चलते अनेक स्वास्थ्य समस्याओं से मुक्ति मिली है जिसमें प्लेग, हैजा एवं चेचक का उन्मूलन तथा मलेरिया, इंफ्लूएंजा, पोलियो एवं कुकर खांसी पर नियंत्रण प्रमुख हैं। इसके अलावा मृत्यु दर में कमी, औसत आयु में वृद्धि स्वास्थ्य स्तर में उन्नति भी हुई है। वर्ष 1983 में निर्मित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में भारतीय स्वास्थ्य क्षेत्र के संबंध में निर्धारक तत्वों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। 1983 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में वार्णित कुछ नीतिगत पहल से संतोषजनक परिणाम निकले हैं। किन्तु अन्य अनेक क्षेत्रों में परिणाम आशा के अनुरूप नहीं रहे। 1983 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में कई नीतियां प्रतिपादित की गई थी।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002

भारत सरकार ने 1983 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति की घोषणा करने के 18 साल बाद राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति की घोषणा वर्ष 2002 में की। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण की पहुंच बढ़ाकर देश के जन–साधारण के बीच बेहतर स्वास्थ्य के स्वीकार्य मानक प्राप्त करना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कमी वाले क्षेत्रों में नयी सुविधाएं जुटाने और वर्तमान संस्थानों में उपलब्ध सुविधाओं के स्तर में सुधार लाने हेतु एक योजना बनाई गई है। इस नीति के अंतर्गत सभी को समान स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने पर बल दिया जाएगा। केंद्र सरकार के योगदान द्वारा कुल सार्वजनिक स्वास्थ्य निवेश में वृद्धि पर विशेष जोर दिया जाएगा। इस कदम से सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रशासन को राज्य स्तर पर प्रभावी सेवाएं प्रदान करने की क्षमता में दृढ़ता आयेगी। स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए निजी क्षेत्र से और अधिक सहयोग लिया जाएगा, विशेषकर उस आय वर्ग के लिए जो इन सेवाओं के लिए धन व्यय कर सकते हैं।

सार्वजनिक स्वास्थ्य निवेश की अभिवृद्धि में केंद्र सरकार की मुख्य भूमिका रहेगी। स्वास्थ्य क्षेत्र व्यय में सकल घरेलू उत्पाद का 5.2 प्रतिशत से बढ़ाकर 6 प्रतिशत करने की योजना बनाई गई है, जिसमें वर्ष 2010 तक सार्वजनिक स्वास्थ्य निवेश द्वारा सकल घरेलू उत्पाद का 2 प्रतिशत; मौजूदा 0.9 प्रतिशत योगदान रहेगा। केंद्र व राज्य सरकार का योगदान वर्ष 2010 तक कुल बजट का मौजूदा 15 प्रतिशत और 5.5 प्रतिशत से बढ़कर क्रमशः 25 प्रतिशत और 8 प्रतिशत होने की आशा व्यक्त की गई है।

राष्ट्रीय नीति में मौजूदा प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं को बढ़ाने और मजबूत करने के लिए एकरूप न्याय संगत प्राथमिकता देने पर विशेष बल दिया गया है। इसका प्रस्ताव प्राथमिक स्वास्थ्य क्षेत्र में कुल सार्वजनिक स्वास्थ्य निवेश का 55 प्रतिशत बजट में वृद्धि के माध्यम से किया गया केंद्र द्वारा वित्तीय योगदान के माध्यम से आवश्यक दवाओं के व्यवस्थापन की नई अवधारणा भी शामिल की गई है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों को राज्य स्तर से विकेंद्रीकृत सार्वजनिक स्वास्थ्य तंत्र और राज्य व जिला स्तर के स्वायत निकायों द्वारा क्रियान्वयन पर बल दिया गया है। इस संबंध में राष्ट्रीय नीति में देश के सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में केंद्र व राज्य सरकार की भूमिका को परिभाषित किया गया है। नीति में सार्वजनिक स्वास्थ्य ढांचे और प्राथमिक स्तर पर निर्दिष्ट सभी स्वास्थ्य कार्यक्रमों के अधिक–से–अधिक उपयोग और धीरे–धीरे उन्हें एकल कार्यक्षेत्र प्रशासन में एकाकार करने पर बल दिया गया है।

इसके साथ ही नीति में विशेष आवश्यकता वाले क्षेत्रों और अनेक मुद्दों को जोड़ा गया है। इसमें स्वास्थ्य क्षेत्र में भागीदार तमाम समूहों की अपेक्षित भूमिका भी शामिल हैए जिसमें–सरकार (केंद्र व राज्य दोनों), निजी क्षेत्र स्वैच्छिक संगठन और अन्य नागरिक सोसायटी के सदस्य, बीमारी की देख–रेख, स्वास्थ्य अधिकारी, उनके सिद्धांत और शिक्षा नर्सिंग स्वास्थ्य, राष्ट्रीय स्वास्थ्य लेखा की आवश्यकता, सूचना, शिक्षा और संचार की भूमिका, महिला स्वास्थ्य, स्वास्थ्य क्षेत्र पर वैश्वीकरण का प्रभाव, आदि सम्मिलित हैं।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के अंतर्गत कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समय सीमा निर्धारित कर दी गई। इनमें कुछ इस प्रकार हैं–

- 2003 चिकित्सा संस्थानों और चिकित्सालयों की स्थापना के लिए मानदंडों का निर्धारण और उसके नियमन के लिए विधेयक लाना।
- 2005 पोलियो उन्मूलन–कुष्ठ रोग उन्मूलन स्वास्थ्य के लिए बजट में 5.5 प्रतिशत से 7 प्रतिशत की वृद्धि।
- स्वास्थ्य के क्षेत्र में संपूर्ण बजट का एक प्रतिशत शोध कार्य के लिए खर्च करना, जन स्वास्थ्य कार्यक्रमों का विकेंद्रीकरण करना।
- 2007 एच.आई.वी.–एड्स की वृद्धि को शून्य स्तर पर लाना।
- 2010 कालाजार रोग का उन्मूलन।
- टी.बी., मलेरिया जैसे संक्रामक रोगों से होने वाली मृत्यु की दर में 50 प्रतिशत की कमी लाना।
- अंधापन की वर्तमान स्थिति में 0.5 प्रतिशत की कमी लाना।
- जन–स्वास्थ्य सुविधाओं के उपयोग में 75 प्रतिशत तक की वृद्धि करना। अभी यह 20 प्रतिशत से भी कम है।
- बजट में स्वास्थ्य पर जी.डी.पी. का कुल दो प्रतिशत खर्च।
- 2015 लिम्फैटिक फाइलेरिया का उन्मूलन।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2015, मसौदा

स्वास्थ्य संबंधी विभिन्नी विमर्शों परिवेश बदलाव और आर्थिक पर्यावरण में हुए बदलावों के मद्देनजर वर्तमान सरकार ने एक नयी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2015 का मसौदा तैयार किया। इस मसौदे की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं–

लक्ष्य

समग्र विकासात्मक नीतियों में एक निवारक और स्वास्थ्यवर्धक सुविधा के व्यवस्थापन द्वारा जनता के अच्छे स्वास्थ्य और कल्याण के सर्वोत्तम संभव स्तर को प्राप्त करना और अच्छी गुणवत्ता की स्वास्थ्य सुविधा सेवाओं को सर्व सुलभ बनाना जिसका प्रयोग में लाने के कारण किसी को भी वित्तीय समस्या का सामना न करना पड़े।

3.2 प्रमुख नीतिगत सिद्धांत

साम्यः स्वास्थ्य सुविधा सेवा हेतु सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य सर्वाधिक असक्षम लोग, जो रोगग्रस्तता का सबसे अधिक शिकार होते हैं, को प्राथमिकता प्रदान करते हुए निर्धन व्यक्तियों की इन सेवाओं तक पहुंच सुनिश्चित करने और उन्हें वित्तीय संरक्षण प्रदान करने के लिए बहत्तर निवेश करना है। असाम्य या असमानता कम करने का अर्थ सबसे अधिक निधर्न तबकों तक पहुंच स्थापित करने तथा लिंग, निर्धनता, जाति, अक्षमता, सामाजिक बहिष्करण के अन्य रूपों और भौगोलिक बाधाओं के आधार पर भेदभाव को न्यूनतम करने के लिए सकारात्मक कार्यवाही करना भी है।

सर्वसुलभताः स्वास्थ्य प्रणालियों और सेवाओं को इस प्रकार निर्धारित किया जाए कि उनसे संपूर्ण आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके न कि केवल किसी एक लक्षित उप–समूह की। पर्याप्त सावधानी बरतनी होगी ताकि सामाजिक या आर्थिक आधार पर किसी भी व्यक्ति या समूह को इन प्रणालियों और सेवाओं की परिधि से बाहर न किया जाए।

रोगी केंद्रित और सुविधा की गुणवत्ताः स्वास्थ्य सुविधा सेवाएं प्रभावी, सुरक्षित और सुविधाजनक होंगी तथा लोगों को गोपनीयता एवं प्रतिष्ठा के साथ उपलब्ध होगी। विभिन्न क्षेत्रों में दी जा रही स्वास्थ्य सुविधाओं की गुणवत्ता प्रमाणित करने के लिए मूल्यांकन होगा तथा गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए उन्हें प्रोत्साहन दिया जाएगा।

समावेशी प्रतिभागिताः सभी को स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने का कार्य अकेले सरकार द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता है। इसके लिए उन सभी समुदायों की भागीदारी आवश्यक है जो इस भागीदारी को एक साधन और लक्ष्य के रूप में, एक अधिकार और एक कर्तव्य के रूप में समझें। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शैक्षणिक संस्थाओं, लाभ के लिए काम न करने वाली एजेंसियों के साथ और निजी क्षेत्र के व्यापारिक व स्वास्थ्य सुविधा उद्योग के साथ भी व्यापक प्रतिभागिता की आवश्यकता होगी।

चिकित्सा पद्धति के विकल्पों की सुविधाः जो रोगी आयुष सुविधा का चुनाव करते हैं उन्हें समुचित आयुष सेवा प्रदान करने वाले चिकित्सक तक पहुंचाया जाए जो कि प्रमाणित स्थानीय स्वास्थ्य परम्पराओं के अनुसार इस पद्धति का प्रयोग करते हैं। आयुष व अन्य स्वास्थ्य व चिकित्सा प्रणालियों को सरकार का सहयोग और देखरेख की सुविधा प्राप्त होगी ताकि राष्ट्रीय स्वास्थ्य लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने में उनका योगदान सुनिश्चित किया जा सके। साथ ही साथ इन चिकित्सा व स्वास्थ्य पद्धतियों का मूल्यांकन, अनुसंधान प्रकाशन तथा इन सेवाओं को प्रदान करने वाले चिकित्सा व स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के साथ निरंतर चर्चा और सहयोग बनाए रखना होगा।

निर्णय लेने की क्षमता का विकेंद्रीकरण; आनुशंगिकता : अनुक्रियाशीलता और बृहत्तर भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए व्यावहारिक संदर्भों और संस्थागत क्षमता के आधार पर उपयुक्त समझे जाने वाले अधिकाधिक विकेंद्रित स्तरों पर निर्णयन अधिकारों के अंतरण को प्रोत्साहन प्रदान किया जाएगा। किसी बृहत्त और अधिक जटिल संगठन द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं किया जाएगा जो एक छोटे और सरल संगठन द्वारा भी किया जा सकता है।

उत्तरदेयताः सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली और निजी स्वास्थ्य सुविधा उद्योग दोनों की स्वास्थ्य सुविधा प्रणाली में वित्तीय और कार्यनिष्पादन की उत्तरदेयता, निर्णयन में पारदर्शिता और भ्रष्टाचार का निराकरण आवश्यक होगा।

व्यावसायिकता, न्याय निष्ठा और उचित अनुचित का विचारः स्वास्थ्य कर्मी और प्रबंधक सर्वोच्च स्तर की व्यावसायिकता, न्याय निष्ठा और विश्वास के साथ अपने कार्य का निर्वहन करेंगे तथा उन्हें इसमें सक्षम बनाने के लिए प्रणाली और नियामक परिवेश द्वारा सहायता प्रदान की जाएगी।

अधिगम और अनुकूली प्रणालीः स्वास्थ्य सुविधा के सक्रिय संगठन में निरंतर सुधार लाना जो ज्ञान और साक्ष्य आधारित होए सेवित समुदायों को प्रतिबिंबित करता हो और उनसे प्राप्त ज्ञान तथा प्रयोग में लाए जाने पर स्वयं से और राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान भागीदारों से प्राप्त अनुभव पर आधारित हो।

सुविधा व्यय वहन करने की क्षमताः स्वास्थ्य सुविधा की लागत में वृद्धि होने पर समाज के कुछ लोग ज्यादा प्रभावित होते हैं तथा उनकी वित्तीय सुरक्षा पर ध्यान देने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। जब किसी परिवार द्वारा स्वास्थ्य सुविधा पर किया जाने वाला व्यय उसकी कुल मासिक खपत पर व्यय के 10 प्रतिशत या उसके गैर–खाद्य वस्तुओं की खपत पर व्यय के 40 प्रतिशत से अधिक हो जाए तो उसे स्वास्थ्य पर आपाती व्यय कहा जाता है और इसे स्वास्थ्य सुविधा पर अस्वीकार्य लागत

माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वास्थ्य की देखभाल पर लागत के कारण निर्धनता का शिकार होना, कहीं अधिक अस्वीकार्य स्थिति है।

3.3 उद्देश्यः

3.3.1 सभी क्षेत्रों में एकीकृत नीतिगत कार्य करके आबादी की स्वास्थ्य संबंधी स्थिति में सुधार लाना और सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र द्वारा प्रदान की जा रही निवारक, स्वास्थ्य संवर्धक, उपचारात्मक और स्वास्थ्य हेतु लाभकारी सेवा में विस्तार करना।

3.3.2 स्वास्थ्य सुविधा की लागत के कारण इन सुविधाओं पर अतिरिक्त व्यय में पर्याप्त कमी लाना और स्वास्थ्य सुविधाओं पर आपात व्यय करने और परिणामस्वरूप निर्धनता का सामना करने वाले परिवारों की संख्या में कमी लाना।

3.3.3 सभी प्रकार के प्रजननात्मकों, मातृ, शिशु और किशोर स्वास्थ्य की रक्षा करने तथा जनता को सर्वाधिक व्याप्त संचारी और असंचारी रोगों से बचाने के लिए निःशुल्क, व्यापक प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधा सेवाओं की एक हकदारी के रूप में सर्व सुलभता सुनिश्चित करना।

3.3.4 सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के संबंध में निःशुल्क अनिवार्य औषधियों, निदानों, आपातकालीन ऐम्बुलेंस सेवाओं, और आपातकालीन चिकित्सा और शल्य चिकित्सा सेवाओं तक सभी व्यक्तियों की पहुंच सुनिश्चित करना ताकि आबादी के सभी तबकों के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं की वित्तीय संरक्षण भूमिका में वृद्धि की जा सके।

3.3.5 सरकारी अस्पतालों और निजी स्वास्थ्य क्षेत्र से सेवाओं की आवश्यकता के आधार पर खरीद करके एक संयोजन के माध्यम से द्वितीयक और तृतीयक स्वास्थ्य सुविधा सेवाओं की पहुंच में वृद्धि करना और उन्हें समुचित मूल्य पर उपलब्ध कराना ताकि आम लोग इस खर्च को वहन कर सके।

3.3.6 सार्वजनिक स्वास्थ्य के संबंध में निर्धारित किए गए लक्ष्यों के अनुरूप कार्य करने तथा स्वास्थ्य सुविधा प्रणाली को अधिक प्रभावी, दक्ष, उपयुक्त, सुरक्षित, मितव्ययी और नीतिपूर्ण बनाने में योगदान करने के लिए निजी स्वास्थ्य सुविधा उद्योग तथा चिकित्सीय प्रौद्योगिकियों के विकास को प्रभावी बनाना।

वर्तमान स्थिति

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2014–15 के अनुसार भारत में स्वास्थ्य संबंधी आंकडें निम्नाननुसार हैं:

- मातृ मृत्यु दर – 178 प्रति लाख (2010–12 की अवधि में)
- शिशु मृत्यु दर – 0–1 वर्ष आयु में 40 प्रति हजार (वर्ष 2013)
  1–5 वर्ष की आयु में 49 प्रति हजार (वर्ष 2013)
- नवजात शिशु मृत्यु दर 0–28 दिन की अवधि में 28 प्रति हजार (वर्ष 2013)

स्वास्थ्य सेवाओं के संकेतकों के विकास से संबंधित कुछ अन्य आंकड़े निम्नानुसार हैं –

Sl. No.	Parameter	1951	1981	1991	2001	2013 (Latest available)
1	Crude Birth Rate (Per 1000 Population)	40.8	33.9	29.5	25.4	21.4
2	Crude Death Rate (Per 1000 Population)	25.1	12.5	9.8	8.4	7.0
3	Total Fertility Rate (Per women)	6.0	4.5	3.6	3.1	2.4 (2012)
4	Maternal Mortality Ratio (Per 100,000 live births)	NA	NA	437 (1992-93) NFHS	301 (2001-03) S.R.S.	178 (2010-12) S.R.S.
5	Infant Mortality Rate (Per 1000 live births)	146 (1951-61)	110	80	66	40

स्रोत : वार्षिक रिपोर्ट (2014–15) स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार

- वर्ष 2014 में मलेरिया के 8,51,372 (नवंबर 2014 तक) मामले आए जिनमें से 316 मरीजों की मृत्यु हुई।
- वर्ष 2014 में कालाजार के 7856 (अक्टूबर तक) मामले सामने आए और 9 मरीजों की मृत्यु हुई।

- वर्ष 2014 में डेंगू के 33320 (नवंबर 2014 तक) मामले दर्ज किए गए और 86 लोगों की मृत्यु हुई।
- वर्ष 2013 में चिकनगुनिया के 18840 एवं वर्ष 2014 में (नवंबर, 2014 तक) 12694 मामले दर्ज किए गए और किसी की मृत्यु नहीं हुई।
- 34 राज्य एवं केंद्र षासित प्रदेश कुष्ठ उन्मूलन की स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं। केवल छत्तीसगढ़ एवं दादर व नागर हवेली ही बचे हुए हैं।

भारत में टीबी रोग से संबंधित आंकड़े निम्नानुसार हैं–

Estimated TB burden in India

Incidence : 2.1 million new TB cases annually-171 cases per 100,000 population

Prevalence : 2.6 million cases - 211 cases per 100,000 population

Deaths : About 240,000 deaths each year – 19deaths per 100,000 population

Approximately 5% of TB patients estimated tobe HIV +ve

DR-TB (Drug resistant-TB):-

2.2% in new cases and- 15% in previously treated casesOf the estimated 9 million people who developed TB in 2013, India accounted for 24% of total cases, 2-2.3 million were estimated to have occurred in India, with a best case estimate of 2.1 Million cases as per the WHO Global Report 2014.

Achievements of the programme to prevent TB

Progress towards Millennium Development Goal achieved for Incidence and Prevalence;

- The Incidence of Tuberculosis has come down from 209/lakh population in 2005 to 171/lakh population in 2013;
- The Prevalence has come down from 365/lakh population in 2005 to 211/lakh population in 2013 and
- The Mortality from Tuberculosis has reduced from 36 in 2005 to 19 in 2012.

भारत में चिकित्सीय संरचना की स्थिति (31 मार्च 2014 तक)

- उपकेंद्र – 1,52,326
- प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र – 25,020
- सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र – 5363
- उपखंड अस्पताल – 1024
- जिला अस्पताल – 755

इनमें उपकेंद्रों में 20 प्रतिशत, प्राथमिक स्वास्थ्य 63 केंद्रों में 23 प्रतिशत एवं सामुदायिक स्वास्थ्य और केंद्रों में 32 प्रतिशत आधारभूत संरचना की कमी है।

- देश में लगभग 8.96 लाख आशा कार्यकर्ता नियुक्त हैं।
- मेडिकल काउंसिल ऑफ इंडिया के अनुसार 2014 में 404 मेडिकल कॉलेज हैं जिनमें से 189 सरकारी एवं 215 निजी संस्थान हैं। जिनमें 54,348 एमबीबीएस एवं 25,346 पीजी पाठ्यक्रम की सीटें हैं। 31 दिसम्बर 2014 तक देश में 9,36,488 चिकित्सक पंजीकृत थे।
- डेंटल काउंसिल ऑफ इंडिया के अनुसार 2014 में 304 डेंटल कॉलेज थे जिनमें से 43 सरकारी एवं 261 निजी संस्थांन हैं। इनमें 26,190 बीडीएस एवं 5020 पीजी पाठ्यक्रम की सीटें हैं।
- फॉर्मेसी काउंसिल ऑफ इंडिया के अनुसार 2014 में 710 संस्थान है जिनमें 42,282 विद्यार्थी डी.फॉर्मा की तथा 930 संस्थानों में 62,375 विद्यार्थी फॉर्मेसी में डिग्री हेतु प्रवेश लेते हैं।
- इंडियन नर्सिंग काउंसिल के अनुसार अक्टूबर 2014 तक उसके अंतर्गत आने वाले पाठ्यक्रम अनुसार पंजीकृत संस्थासनों का आँकड़ा निम्नानुसार है –
- एएनएम – 1938
- जीएनएम – 2968
- बी.एससी. (नर्सिंग) – 1700
- पी.बी.बी.एस. (नर्सिंग) – 755
- एम.एससी. (नर्सिंग) – 582
- पोस्टम बेसिक डिप्लोमा प्रोग्राम – 264

- 31 दिसम्बर 2013 तक भारत में 16,24,476 नर्सें, 7,36,262 एएनएम और 55,689 हेल्थ विजिटर थे।
- 7.2 लाख आयुष चिकित्सक भारत में कार्यरत थे।

स्रोत : वार्षिक रिपोर्ट (2014–15) स्वास्थ्य एवं परिवार कल्यांण मंत्रालय, नई दिल्ली, भारत सरकार।

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने सात रंगों का प्रदर्शन करने वाला 'मिशन इंद्रधनुष' शुरू किया है जिसके तहत ऐसे 89 लाख बच्चों को टीके लगाए जाने हैं जिन्हें किसी कारणवश पहले टीके नहीं लगे या जिन्हें पूरे टीके नहीं लगे। उन्हें जीवन के लिए खतरा होने वाले 7 रोगों के खिलाफ सुरक्षा देना है। इनमें डिप्थेथरिया, खांसी, टिटनेस, पोलियो, टीबी, खसरा और हेपेटाइटिस–बी शामिल हैं। इसके अलावा चुने हुए जिलों एवं राज्यों में जापानी बुखार और टाइप–बी हेमोफाइलस इन्यूं जा के टीके भी लगाए जाएंगे। गर्भवती महिलाओं को भी टिटनेस का टीका लगाया जाएगा।

7 अप्रैल, 2015 को विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर पहले चरण के पहले दौर के टीकाकरण की शुरूआत की गई जिसके तहत 28 राज्यों के 201 जिलों को केंद्र में रखा गया।

देश के 352 जिलों में 7 अक्टूबर 2015 को दूसरा चरण शुरू किया गया। दूसरे चरण के दौरान चार विशेष टीकाकरण अभियान शुरू किया गया। यह अभियान 7 अक्टूबर से 7 दिनों के लिए चलाया गया। इसके अलावा ऐसा ही अभियान 7 नवंबर, 7 दिसंबर, 2015 तथा 7 जनवरी 2016, को भी दोहराया जाएगा। इसके तहत दो वर्ष से कम आयु के बच्चों और गर्भवती महिलाओं को टिटनेस का टीका लगाया गया।

राष्ट्रीय किशोर स्वास्थ्य कार्यक्रम (आरकेएसके) यौन और प्रजनन स्वास्थ्य, पोषण, देश के 253 मिलियन किशोरों की मानसिक स्वास्थ्य और मादक द्रव्यों के दुरुपयोग संबंधी चिंताओं का निवारण, चोट और हिंसा (लिंग आधारित हिंसा सहित) का निवारण करने के व्यापक उद्देश्य के साथ जनवरी 2014 में शुरू किया गया था।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (एनएचएम)

राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (एनएचएम) में दो उप–मिशन शामिल हैं –

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम) और

राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन (एनयूएचएम)।

भारत जैसे विशाल देश में इतनी आधारभूत संरचना के बावजूद भी स्वास्थ्य के क्षेत्र में निर्धारित मानकों से हम काफी दूर हैं।

- भारत में 1700 की जनसंख्या पर एक डॉक्टर है जबकि वैश्विक मानक लगभग 1000 की जनसंख्याम पर एक डॉक्टर का है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 10000 लोगों पर 25 लोगों का चिकित्सीय स्टाफ होना चाहिए जबकि भारत में यह आंकड़ा केवल 19 का ही है। भारत में 2020 तक 4 लाख चिकित्सकों की और आवश्यकता होगी।
- विश्व का हर तीसरा कुपोषित बच्चा–बच्ची भारत का है
- भारत में आज भी लगभग 50 प्रतिशत लोग खुले में शौच करते हैं, यह आदत बीमारियों को जन्म देती है।
- एक बड़ी जनसंख्या को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध नहीं है।
- 640 जिलों में 193 जिलों में ही मेडिकल कॉलेज हैं।

फारूक आफरीदी (2015) ने भारत में स्वास्थ्य की गंभीर चुनौती को प्रस्तुत करते हुए लिखा कि 'ब्राजील जैसे विकासशील देश में प्रति हजार लोगों पर अस्पतालों में शैयाओं की उपलब्धता 2.3 है पर भारत में यह आंकड़ा केवल 0.7 को छू पाता है। श्रीलंका में यह आंकड़ा 3.6 का और चीन में 3.8 का है। डॉक्टरों की उपलब्धता का वैश्विक औसत 1.3 है जबकि भारत में यह केवल 0.7 है। हमारे पास 4 लाख डाक्टरोंए 7 लाख शैयाओं और लगभग 40 लाख नर्सों की कमी है। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों, जिनसे 30 हजार की आबादी और उप–केंद्रों, जिनसे पांच हजार की आबादी कवर करने की उम्मीद की जाती है, का या तो अस्तित्व ही नहीं है या फिर जहां वे हैं, उनमें कर्मचारियों की भारी कमी बनी है। केवल 38 फीसदी केंद्रों के पास ही आवश्यक कर्मचारी और 31 फीसदी के पास जरूरी सामान हैं। यद्यपि 73 फीसदी भारतीय देश के ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं जबकि 75 फीसदी से ज्यादा डॉक्टर शहर आधारित हैं। आज भी 90 फीसदी से अधिक ग्रामीण आबादी को बुनियादी चिकित्सा सुविधाओं के लिए न्यूनतम आठ से दस किलोमीटर की यात्रा करनी पड़ती है।

भारत की सबसे बड़ी चुनौती संक्रामक और असंक्रामक बीमारियों, कैंसर, मधुमेह और तपेदिक में बढ़ोतरी से मौतों की बढ़ती संख्या है। इसके अलावा नित–नई नई बीमारियों का पता चलता रहता है, जिनसे निपटने की हमारी कोई तैयारी नहीं होती। भारत में मधुमेह के रोगियों की संख्या पहले 2020 तक 3.6 करोड़ आंकी गई थी, जो अब 7.5 करोड़ से आगे निकल चुकी है। जल्द ही दुनिया में हर पांचवां मधुमेह रोगी भारतीय होगा। भारत दुनिया में तपेदिक का सबसे ज्यादा बोझ वाला देश भी है। भारत

में कुल 26 फीसदी टीबी के मरीज हैं। हमारी स्लम बस्तियों तो 'रोग के घर' ही हैं। भारत में स्वास्थ्य सेवा खर्च का 70 फीसदी निजी क्षेत्र से आता है जबकि वैश्विक औसत 38 फीसदी है और जब विकसित देशों के साथ तुलना करें तो यह आंकड़ा और भी ज्यादा है। इसके अलावा चिकित्सा पर निजी व्यय का 86 फीसदी तक अपनी जेब से चुकाना होता है, जो यह प्रदर्शित करता है कि देश में बीमा की पैठ कितनी कम है।'

एक अन्य लेखक के अनुसार स्वास्थ्य का क्षेत्र अभी भी क्रांति की उम्मीद कर रहा है। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति आजादी के 67 साल बाद भी अपने उच्च स्तर तक नहीं पहुंच सकी है। 21वीं सदी में देश तेजी से विकास पथ पर बढ़ रहा है पर बुनियादी स्वास्थ सेवाओ में वह अभी भी पीछे है, जिसे एक नई क्रांति की दरकार है। अभी भी जीडीपी का महज 1.04 प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च होता है, जबकि श्रीलंका, थाईलैंड, चीन और ब्राजील जैसे देशों में स्वास्थ्य सेवाओं पर तीन फीसदी के करीब खर्च किया जाता है जो भारत की तुलना में काफी ज्यादा है। (मिश्रा, 2014)

चुनौतियां एवं संभावनाएं

भारत जैसे देश में सामुदायिक स्वास्थ्य के विकास के समक्ष कई चुनौतियां मौजूद हैं। विभिन्न विद्वानों और समूहों ने सामुदायिक स्वास्थ्य के मौजूदा स्वरूप पर गहन चिंतन किया और अपना पक्ष रखा है। हम यहां इन विभिन्न विद्वानों और समूहों द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों और उनके निदानों पर विचार करेंगे।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्यांण संस्थानए नई दिल्ली के पूर्व निदेशक डॉ. एम.सी. कपिलाश्रमी (2000) ने भारतीय स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में निम्नलिखित समस्याओं का उल्लेख किया–

- संचारी रोगों का प्रसार
- जीवन शैली, तनाव और तनाव के कारण गैर–संचारी रोगों का तेजी से प्रसार
- दिव्यांग लोगों की समस्याएं
- वृद्ध जनों की समस्याएं
- पर्यावरणीय विनाश के कारण उत्पन्न नवीन स्वास्थ्य समस्याएं

उपर्युक्त चुनौतियों का उल्लेख करने के साथ उन्होंने कुछ समाधान भी प्रस्तावित किए–

- जनसंख्या के स्थिरीकरण पर जोर दिया जाए
- स्वास्थ्य सुविधाओं तक सभी की समान पहुंच बनाने हेतु संसाधनों का विस्तार
- स्वास्थ्य क्षेत्र में मानव संसाधन प्रबंधन
- स्वास्थ्य शिक्षा एवं प्रोत्साहन कार्यक्रमों का विकास
- स्वास्थ्य सेवाओं के विकास हेतु सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का आपसी सहयोग
- क्षेत्र विशेष की आवश्यकता अनुसार रोग उन्मूलन कार्यक्रम निर्माण
- अद्यतन तकनीक का प्रयोग
- अंतरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना

लीना वी.गांगुली, रवि दुग्गोल और अभय शुक्ला ने अपनी संपादित पुस्तक 'रिव्यू ऑफ हेल्थ केअर इन इंडिया' (2005) में भारतीय सामुदायिक स्वास्थ्य की चुनौतियों को निम्नानुसार बताया है–

- आधुनिक चिकित्सा पद्धति द्वारा भारतीय चिकित्सा प्रणाली को हेय मानकर उपेक्षा की गई जो कि काफी हद तक स्थानीय जरूरतों के अनुकूल एवं कम खर्चीली थी।
- स्वास्थ्य सेवाओं में ग्रामीण एवं शहरी भेद विद्यमान है।
- सामुदायिक स्वास्थ्य में एलोपैथिक पद्धति हावी है। निजी चिकित्सकों और उनके अस्पतालों को नियंत्रित करने को कोई कानून नहीं है। मरीज को देखने की फीस, विभिन्न जांच की फीस भर्ती करने और कमरे का शुल्क आदि बातों को नियंत्रित करने का कोई कानून नहीं है।
- नई तकनीक ने स्वास्थ्य सेवाओं का वस्तुकरण (कमोडिफिकेशन) किया है जिससे कॉरपोरेट जगत का ध्यान मुनाफे के कारण इस ओर बढ़ा है। जिसका गठजोड़ दवा उद्योग के साथ है।

संपादकों ने अपने कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं–

- उपेक्षित एवं हाशिए के समूह के लिए विशिष्ट स्वास्थ्य कार्यक्रम हो।
- सस्ती दवाएं उपलब्धे की जाएं।
- जन स्वास्थ्य अभियान जैसे प्रयासों को प्रोत्साहित किया जाए।

मोनिका दास गुप्ता ने 'पब्लिक हेल्थ इन इंडिया : डेंजरस नेग्लेट' (2005) में स्पष्ट किया कि भारत में सामुदायिक स्वास्थ्य की अवधारणा में ज्यादा जोर चिकित्सा सुविधाओं को प्रदान करने पर रहा है जबकि प्रयास यह होना चाहिए कि बीमारियां

उत्पन्न ही न हो। पेयजल, स्वच्छता, पोषण, खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, कचरा निस्तारण आदि तत्वों पर भी समान रूप से जोर दिया जाना चाहिए।

12वीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत स्वास्थ्य विषय पर व्यापक विचार–विमर्श किया गया और उसके मसौदे (2013) में स्वास्थ्य विषय पर चर्चा करते हुए निम्नलिखित समस्याओं को रेखांकित किया गया –

1. अपर्याप्त स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता – यदि सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता को एक साथ मिला लिया जाए तो ये मात्रात्मक दृष्टि से अपर्याप्त हैं। यह प्रति लाख जनसंख्या पर डॉक्टरों या नर्सों की संख्या से संबंधित आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। ग्यारहवीं योजना के शुरू में प्रति लाख जनसंख्या पर डॉक्टरों की संख्या केवल 45 थी जबकि वांछित संख्या 85 प्रति लाख जनसंख्या है। इसी प्रकार नर्सों और सहायक नर्सों तथा मिड वाइफ (एएनएम) की संख्या भी प्रति लाख जनसंख्या पर ये 75 ही उपलब्ध थी जबकि वांछित संख्या 255 है। देश की व्यापक भौगोलिक विविधता के कारण समूचे देश में इनकी उपलब्धता की और भी अधिक कमी हो सकती है।
2. सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र की सेवा सुविधाओं में अंतर – निजी क्षेत्र में प्रैक्टिस करने वाले कई डॉक्टर, अर्हता प्राप्त डॉक्टर नहीं हैं। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के अस्पतालों को नियंत्रित करने वाले मानक पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हैं और किसी भी स्थिति में उन्हें प्रभावी रूप से लागू नहीं किया जाता है।
3. गंभीर स्वास्थ्य चुनौती – लोगों की आयु बढ़ने के कारण स्वास्थ्य सुविधाओं की कीमतों में भी वृद्धि होने की आशा है, हमारी जनसंख्या का एक बड़ा भाग पुरानी गैर–संक्रमणीय बीमारियों का शिकार होगा जिसके लिए महंगे उपचार की जरूरत होगी। उपचार की संभावनाओं के प्रति भी लोगों के जागरूकता बढ़ रही है और इससे फिर चिकित्सा देखभाल की मांग में वृद्धि होगी। आने वाले वर्षों में भारत को बीमारियों के दोहरे बोझ अर्थात गैर–संक्रामक बीमारियों और घावों की बढ़ती लागत को नियंत्रित करने में परिलक्षित स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं से निपटना होगा जबकि यह अभी भी संक्रामक बीमारियों को दूर नहीं कर सका है और जो लोक स्वास्थ्य, मृत्यु दर और अपंगता, दोनों के संदर्भ में सार्वजनिक स्वास्थ्य की एक मुख्य चुनौती बनी हुई है।

उपर्युक्त समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए योजना आयोग ने निम्नलिखित कार्यनीति को प्रस्तुत किया –

1. सार्वभौमिक स्वास्थ्य क्षेत्र; यूनिवर्सल हेल्थ कवरेज की प्रणाली स्थापित करना। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की वहन करने योग्य कीमत पर दवाइयों और उपचार की एक निश्चित आवश्यक रेंज तक आश्वस्त पहुंच होगी जो अधिसंख्य लोगों को पूरी तरह से मुफ्त होनी चाहिए। अंततः बजट संबंधी बाधाओं द्वारा आश्वस्त सेवाओं को सीमित किया जाएगा। लेकिन इसका उद्देश्यों समय पर लगातार कवरेज का विस्तार किया जाना चाहिए।
2. ग्रामीण और यहां तक कि शहरी क्षेत्रों की स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों को पूरा करना है तो सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी सुविधा प्रणाली का पर्याप्त विस्तार और सुदृढ़ीकरण किया जाना चाहिए।
3. केंद्र और राज्यों द्वारा स्वास्थ्य क्षेत्र के व्यय, योजना और योजनोत्तर दोनों में बारहवीं योजना के अंत तक काफी वृद्धि करनी होगी।
4. उपलब्ध संसाधनों का अधिक कुशल उपयोग सुनिश्चित करने और बेहतर स्वास्थ्य संबंधी परिणाम प्राप्त करने के लिए वित्तीय और प्रबंधकीय प्रणालियों को पुनः तैयार करना होगा।
5. स्वास्थ्य संबंधी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक और निजी सेक्टर के बीच समन्वय को प्रोत्साहित करने का उचित तरीके खोजने के लिए प्रयास किए जाएंगे।
6. वर्तमान राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आरएसबीवाई) जो बीमा आधारित प्रणाली के माध्यम से पात्र लाभार्थियों के लिए अंतरंग रोगियों के "नकदी" उपचार प्रदान करती है, में सुधार किए जाने की जरूरत होगी ताकि व्यापक प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक सुविधा तक निरंतर पहुंच हो सके।
7. स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने में कुशल मानव संसाधनों की उपलब्धता हमेशा ही मुख्य रुकावट रही है। स्वास्थ्य को समर्पित वित्तीय संसाधनों का विस्तार मात्र तब तक वांछित परिणाम नहीं देगा जब तक स्वास्थ्य से संबंधित कार्मिक उपलब्ध न हों। मेडिकल स्कूलों, नर्सिंग कॉलेजों आदि का व्यापक प्रसार इसलिए आवश्यक है और सार्वजनिक सेक्टर के मेडिकल स्कूलों को भी इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। चूंकि ऐसे कॉलेजों का वर्तमान वितरण भौगोलिक दृष्टि से असमान है इसलिए ऐसे राज्यों में चिकित्सा शिक्षा के प्रसार पर विशेष प्रयास किए जाएंगे जिन राज्यों में यह कम है। इसके अलावा, पैरामेडिकल और सामुदायिक स्तर के स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की भर्ती और प्रशिक्षण के गहन प्रयास करने होंगे।

8. स्वास्थ्य प्रणाली के स्तंभों को सुदृढ़ बनाने पर बल दिया जाए ताकि यह उन प्रत्येक विशिष्टि चुनौतियों को रोक सके, पता लगा सके और उनका प्रबंधन कर सके जो देश के विभिन्न भागों के सामने आ रही हैं।
9. दवा निर्धारण सुधारों की श्रृंखला, आवश्यक, सामान्य औषधियों का संवर्धन और आवश्यक स्वास्थ्य पैकेज के एक भाग के रूप में सार्वजनिक सेवा सुविधा केंद्रों में सभी रोगियों को इन्हें सार्वभौमिक रूप से मुफ्त उपलब्ध कराना प्राथमिकता होगी।
10. लोगों को जोखिम और अनैतिक प्रैक्टिस से सुरक्षित रखने के लिए मेडिकल प्रैक्टिस खाद्य और दवाइयों में कारगर विनियम आवश्यक है।
11. बारहवीं योजना की स्वास्थ्य प्रणाली में सार्वजनिक और निजी सेवा प्रदाताओं का मिश्रण जारी रहेगा। लोक स्वास्थ्य और क्लिनिकल सेवाएं, दोनों देने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ बनाए जाने की जरूरत है। दिक्काल सेवा प्रदान करने के लिए सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों को भी आपस में समन्वय स्थापित करने की जरूरत है। प्रदान की गई सेवाओं की गुणवत्ता पर नजर रखने के लिए एक मजबूत विनियामक प्रणाली होगी। समूचे सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में क्लिनिकल सेवाओं के आधार पर मानक उपचार दिशानिर्देश तैयार किए जाने चाहिए जिसमें सेवा की गुणवत्ता में सुधार करने और सेवा की लागत पर नियंत्रण रखने के लिए विनियामक निकायों पर पर्याप्त नजर रखी जाए।

उपर्युक्त विवरणों के अवलोकन पश्चात हम इस स्थिति में हैं कि भारतीय सामुदायिक स्वास्थ्य की चुनौतियों को सार रूप में बता सके जो निम्नानुसार हैं –

1. सरकारों द्वारा स्वास्थ्य सेवा पर घटता व्यय
2. आधारभूत संरचना की कमी
3. प्रशिक्षित मानव संसाधनों की कमी
4. बीमारियों के उन्मूलन पर कम जोर और कार्यक्रमों पर अधिक जोर
5. क्षेत्र ग्रामीण–शहरी आय (निर्धन–अमीर), लिंग (पुरूष–स्त्री) आधारित असमानता
6. निजी क्षेत्र को नियंत्रित करने में कानून की गैर–मौजूदगी
7. मेडिकल शिक्षा की अपर्याप्तता
8. उपलब्ध भौतिक एवं मानव संसाधनों का अकुशल प्रयोग।

इन चुनौतियों से निपटने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं –

1. रोग उन्मूलन के साथ–साथ रोग को उत्पन्न होने से रोकने वाली परिस्थितियों पर अधिक जोर
2. स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारकों पर ज्यादा जोर देना। इनमें जीवन सुविधाएं शहर नियोजन, आजीविका कौशल, शिक्षा, आधारभूत संरचना में वृद्धि जेंडर समानताएं, गरीबी उन्मूलन पोषण, स्वस्थ्य सुविधाएं, सामाजिक सुरक्षा, खाद्य सुरक्षा, बीमा, पर्यावरण सुरक्षा, सामुदायिक सहभाग आदि पर जोर देना शामिल है।
3. 12वीं पंचवर्षीय योजना तक कुल जीडीपी का 2.1 प्रतिशत स्वास्थ्य पर व्यय करना जिससे आधारभूत संरचना एवं मानव संसाधन उपलब्ध कराने हेतु आर्थिक सहयोग उपलब्ध हो सके।
4. आउट ऑफ पॉकेट व्यय को कम करना।
5. स्वास्थ्य संबंधी शोध को प्राथमिकता देना।
6. स्थानीय रोग उन्मूलन कार्यक्रमों को प्राथमिकता देना।
7. स्थानीय स्तर पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता प्रशिक्षण कार्यक्रम विकसित करना।
8. निजी क्षेत्र के नियमन हेतु कानून का निर्माण।
9. नवीन तकनीक का प्रयोग।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि सामुदायिक स्वास्थ्य सेवा एक ऐसा क्षेत्र है जिसे केवल सरकार के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है। इस बारे में सामुदायिक पहल एवं प्रोत्साहन की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं की बहुत बड़ी फौज की आवश्यकता होगी। नीति निर्माण से लेकर कार्यक्रम क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन में जन सहभागिता से ही सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम सफल हो सकेगा। इस मार्ग पर चल कर देश का हर नागरिक स्वास्थ्य के बुनियादी अधिकार को मूल अधिकार की भांति प्राप्त कर सकेगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. ANNUAL REPORT (2014&15)- New Delhi : Department of Health & Family, Welfare, Ministry of Health & Family Welfare,Government of India-Website : www-mohfw-nic-in

2. Das Gupta, Monica (2005)- Public Health in India : Dangerous Neglect- Economic and Political Weekly- December 3,2005- Pp- 5159&5164-

3. Gangoli, L-V-, Duggal,R- & Shukla, A-(Ed-)(2005)-Review of Healthcare in India- Mumbai: CEHAT-

4. Gupta, M- C- (2002)-Health& Law&A guide for Professionals & Activists- New Delhi: Kanishka Publishers-

5. Kapilashrami,M-C-(2000)- Review of the present Health Status of India, Emerging Health Problems and their Solutions- Health and Population – Perspective and Issues- 23(1), pp- 1&10-

6. Lakshminarayanan, Subitha(2011)- Role of government in public health: Current scenario in India and future scope- Journal of Family & Community Medicine, 2011 Jan&Apr; 18(1), pp-26–30-

7. MANUAL ON HEALTH STATISTICS IN INDIA(2015)- New Delhi: Central Statistical Office, Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India-

8. Sunder, D-K-, Garg,S- & Garg, I-(Ed-)(2015)- Public Health in India : Technology, Governance and Service Delivery- New Delhi : Routledge-

9. https://en-wikipedia-org/wiki/Health_in_India

10. https://en-wikipedia-org/wiki/Healthcare_in_India

11. आफरीदी फारूक (11 फरवरी 2015). भारत में स्वास्थ्य की गंभीर चुनौतियां http://meresampadakiy-blogspot-in/2015/02/blog&post-html

12. मिश्रा, अभिषेक; 3 सितम्बर 2014 स्वस्थ भारत की राह नहीं आसान http://hindi-webdunia-com/current&affairs/healthy&india&114090300015_1-html

13. योजना आयोग 2013. बारहवीं पंचवर्षीय योजना 2012–17–ए सामाजिक क्षेत्रक खण्ड–3. नई दिल्ली, भारत सरकार।

❖❖❖❖❖

स्वस्थ भारत की मंजिल की राह

प्रो॰ संदीप भट्ट •

12 जून 2016 को मध्यप्रदेश राज्य के दमोह के जिलाधिकारी की माता जी को स्वास्थ्य खराब होने पर बड़े अस्पताल ले जाने हेतु एंबुलेंस नहीं मिली। प्रदेश के समाचार पत्रों में प्रकाशित खबरों के अनुसार बाद में अस्पताल ले जाते वक्त उनका निधन हो गया। ठीक इसी दिन राज्य के एक अन्य जिले टीकमगढ़ के जिला अस्पताल में बच्चों के आईसीयू वार्ड में अचानक आग लग गई। खबरों में ब्योरा दिया गया था कि 15 घंटों की अवधि में उस अस्पताल के बच्चों के इसी वार्ड में दो बार आग लगी। उस दरम्यान वहां 25 नवजात शिशु भर्ती थे जिनकी जान पर यह एक गंभीर खतरा था। 10 जून 2016 को हिंदुस्तान टाइम्स नामक अखबार में राजस्थान राज्य में 24 घंटों के भीतर अस्पतालों में 10 से अधिक नवजात शिशुओं की मौत की खबर प्रकाशित हुई। अखबार ने अपनी खबर में लिखा है कि ''साल 2015–2016 के दरम्यान राज्य में 15 लाख प्रसव हुए जिनमें 83 प्रतिशत संस्थागत प्रसव थे। कुल जन्मे नवजातों में से 70500 की मृत्यु हो गई''। ये किस्से देश के दो बड़े राज्यों के सरकारी अस्पतालों के हैं। देश के मीडिया में खबरों का विश्लेषण करें तो इस तरह के समाचार लगभग हर राज्य के अखबारों में आयेदिन मिल जाते हैं। इसी साल 30 मई 2016 को टाइम्स ऑफ इंडिया नामक अंग्रेजी सामाचार पत्र में मध्यप्रदेश के इंदौर शहर के सरकारी सुपर स्पेशियलिटी अस्पताल एमवाई हॉस्पिटल में बच्चों को ऑक्सीजन के बदले नाइट्रस ऑक्साइड नामक गैस देने की खबर बड़ी सुर्खी बनी थी। इस हादसे में एक आठ वर्षीय बच्चे की मौत हो गई और एक बच्चा गंभीर अवस्था में पहुंच गया था। यह वाकया ''मिनी मुंबई'' कहे जाने वाले इंदौर में स्थित राज्य के सबसे बड़े सरकारी अस्पताल की स्वास्थ्य सुविधाओं का है।

देश–दुनिया के मीडिया में भारत की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में इस तरह के समाचार अमूमन प्रकाशित होते रहते हैं। अमेरिकी अखबार ''डेली मेल'' ने वर्ष 2012 में पश्चिम बंगाल के मालदा जिले में एक सप्ताह में 37 बच्चों की हुई मौतों पर एक विस्तृत समाचार प्रकाशित किया था। रिर्पोट में कहा गया है कि जिले की 97

• प्रभारी प्राचार्य, कर्मवीर विद्यापीठ परिसर, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल, (मध्यप्रदेश)

फीसद आबादी ग्रामीण है जहां 12–13 वर्ष की बहुत कम उम्र में भी लड़कियों का विवाह कर दिया जाता है। इस उम्र में मां बनने पर उनके और उनके बच्चों के स्वास्थ्य पर बहुत प्रतिकूल असर पड़ता है। पूरे पश्चिम बंगाल में 2012 में यह प्रकरण बहुत चर्चित रहा और सरकार की भारी किरकिरी भी हुई। स्वास्थ्य का जिक्र जब भी होता है तो समाज और सरकारों का गंभीर होना स्वाभाविक है। स्वास्थ्य किसी भी देश और समाज के विकास का एक प्रमुख संकेतक होता है। तमाम शोध, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के आंकड़े, मीडिया रिर्पोट्स को देखा जाए तो भारत में ''स्वास्थ्य सेवाएं'' खुद बहुत अस्वस्थ हैं। यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य की बात करें तो हमारे यहां हालात और भी गंभीर हैं। सवा अरब से अधिक लोगों के इस देश में सबको स्वास्थ्य सेवाओं की बेहतर उपलब्धता अभी भी बड़ी चुनौती है।

9 जून 2016 में बीबीसी हिंदी पर जन स्वास्थ्य विशेषज्ञ चपल मेहरा ने अपनी एक रिर्पोट में कहा है कि हमे 100 स्मॉर्ट शहरों के बजाय 100 हेल्थ सिटी की आवश्यकता है। भारत में गत 17 महीनों में संक्रमित खून चढ़ाने के कारण 2234 लोगों को एचआईवी संक्रमण होने पर उन्होंने यह टिप्पणी लिखी। स्वास्थ्य क्षेत्र में कार्यरत तमाम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सर्वेक्षण बताते हैं कि हमारे देश में सार्वजनिक चिकित्सा व्यवस्था बेहतर होने के बजाय दिनोंदिन बदहाल होती जा रही है। शोध और आंकड़े बताते हैं कि भारत में स्वास्थ्य सेवाएं शहर केंद्रित हैं। चिंताजनक बात ये भी है कि अधिकतर निजी प्रयासों से ही चल रहे संस्थानों के कारण ही छोटे शहरों में स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता है। एनएसएस (नेशनल सैम्पल सर्वे) के 71 वें दौर की रिर्पोट में कहा गया है कि भारत में 72 फीसदी ग्रामीण व्यक्ति निजी चिकित्सकों से इलाज करवाते हैं। ये निजी स्वास्थ्य सेवाएं बहुत खर्चीली होती हैं और हर आदमी इन्हें वहन करने में समर्थ नहीं होता है। निम्न और मध्यम आय वर्ग के लोगों के लिए स्वास्थ्य पर बड़ी राशि खर्च करना बेहद परेशानी का सबब बन जाता है। हमारे देश में लाखों–करोड़ों लोग अपने खेत, जमीनें, गहने और यहां तक कि घर भी गिरवी रखकर निजी अस्पतालों में इलाज करवाने को मजबूर होते हैं। ''समावेश'' नामक एक वेबसाइट के अनुसार भारत में ग्रामीण इलाकों में इलाज करवाने वाले लोगों को लगभग 8 किलोमीटर चलकर आने पर ही डॉक्टर की उपलब्धता हो पाती है।

भारत के संविधान में ''स्वास्थ्य सेवाओं'' के बारे में उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ''राज्य अपने लोगों के पोषाहार और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में मानेगा और राज्य, विशिष्टतया, मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकर औषधियों के, औषधियों के प्रयोजनों से भिन्न,

उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा''। अर्थात् सरकारें हमारे देश में आमजन को बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करवाने के लिए उत्तरदायी संस्थाएं हैं। यह जिम्मेदारी उन्हें हमारे देश का संविधान देता है। सरकारों के अंर्तगत राज्य तथा केंद्र दोनों ही सरकारें शामिल है। इनका कार्य देश के हर नागरिक हो बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं देना, स्वास्थ्य संबंधी नीतियों का निर्माण और क्रियान्वयन, स्वास्थ्य के क्षेत्र से जुड़ी संस्थाओं और संगठनों को नियंत्रित करना इत्यादि शामिल है। सरकारें ही समय–समय पर स्वास्थ्य कार्यक्रमों के मूल्यांकन और आवश्यकताओं के विश्लेषण का कार्य भी करती हैं। नेशनल हेल्थ पोर्टल के आंकड़ों के अनुसार देश में 26 तरह के राष्ट्रीय स्तर के स्वास्थ्य कार्यक्रम संचालित हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा भी अपने क्षेत्रों में आवश्यकता अनुसार कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। हमारे देश में पहली ''राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति'' 1983 में बनी। इसका उद्देश्य देश के लोगों को सस्ती और सुलभ स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करना था। विस्तृत करने के उद्देश्य से वर्ष 2002 में इसे अद्यतन किया गया। साल 2015 में एक नये विस्तार के साथ भारत की ''राष्ट्रीय 'स्वास्थ्य नीति–2015'' का खाका तैयार हुआ है।

''रार्बट बर्न्स'' ने अपनी पुस्तक, ''इंडियाज हेल्थकेयर इंडस्ट्रीः इनोवेशन इन डिलीवरी, फाइनेंसिंग एंड मैन्युफैक्चरिंग'' में लिखा है कि स्वास्थ्य क्षेत्र में भारत में सरकार तीन अलग–अलग भूमिकाओं में है। अदाकर्ता, प्रदाता और नियंत्रक की भूमिकाओं में सरकार विभिन्न कार्य करती है। सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्यरत लोगों, कमजोर आयवर्ग तबकों को हमारी सरकारें बतौर अदाकर्ता, स्वास्थ्य बीमा और सामाजिक सुरक्षा देने के लिए उत्तरदायी हैं। इसके साथ ही ग्रामीण इलाकों में निवेश और बीमे की व्यवस्था भी सरकारें ही करती है। सेवा प्रदाता की भूमिका में भारत की केंद्र और राज्य सरकारें अपने चिकित्सालयों, दवाखानों और स्वास्थ्य केंद्रों के नेटवर्क का प्रबंधन करती हैं। ऐलोपैथिक और परंपरागत चिकित्सा पद्धतियों के इन संस्थाओं की अलग–अलग इकाइयां हैं। उपकेंद्र से लेकर प्राथमिक, सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र, सब–डिस्ट्रिक्ट स्तर के चिकित्सा केंद्र, जिला चिकित्सालय स्तर के इन केंद्रों के जरिये राज्य सरकारें अपने नागरिकों को स्वास्थ्य संबंधी समस्त सेवाएं मुहैया करवाती हैं। बर्न्स ने आगे लिखा है कि भारत में सरकारें 42 किस्म के अलग–अलग कार्यक्रमों के जरिये रोगों की रोकथाम एवं स्वास्थ्य जागरूकता के प्रयास करती है।

भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था एक ऐसा विशाल तंत्र है जिस पर देश की अधिकांश आबादी निर्भर करती है। इलाके ग्रामीण हों या कस्बाई अथवा शहरी सेवाएं मुहैया करवाने का प्राथमिक जिम्मा इन्हीं सरकारी अस्पतालों या केंद्रों पर है। ये सेवाएं

देश के स्वास्थ्य तंत्र की रीढ़ हैं। दरअसल भारत के स्वास्थ्य तंत्र में कई इकाइयां हैं जिनके कार्य और जिम्मेदारियां तय हैं। ये अपनी विशिष्ट भूमिकाओं में हैं और आम आदमी को विभिन्न स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करती हैं। सब–सेंटर्स या उप केंद्र भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की सबसे बुनियादी इकाई हैं। ये केंद्र किसी क्षेत्र विशेष में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और वहां की आबादी अथवा समुदाय को जोड़ने का कार्य करते हैं। ग्रामीण इलाकों में स्वास्थ्य संबंधी बुनियादी सुविधाएं और जानकारियों का केंद्र भी ये संस्थाएं होती हैं। इसके साथ ही मातृ–शिशु स्वास्थ्य रक्षा के समस्त कार्यक्रम इन्हीं केंद्रों के जरिये संचालित होते हैं। भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग के पास इन उपकेंद्रों का एक विशाल नेटवर्क है जिसके जरिये देश के अंतिम जरूरतमंद व्यक्ति तक भी स्वास्थ्य सेवाओं को आसानी से पहुंचाया जा सकता है। आईपीएचएस (इंडियन पब्लिक हेल्थ स्टैंडर्डस) 2012 के अनुसार किसी एक उपकेंद्र में एक एएनएम तथा एक पुरूष स्वास्थ्य कार्यकर्ता होना आवश्यक है। उस इलाके में अधिक आबादी होने पर वहां के उपकेंद्र में दो अतिरिक्त एएनएम की तैनाती की जा सकती है। एमसीएच सब सेंटर्स (मैटरनल चाइल्ड हेल्थ सब सेंटर्स या मातृ–शिशु स्वास्थ्य उप केंद्र) पर आवश्यक तौर पर एक एएनएम तथा एक स्टॉफ नर्स की तैनाती होनी चाहिए।

स्वास्थ्य सेवाओं में उपकेंद्र से बड़ी इकाई प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र या पीएचसी (प्राइमरी हेल्थ सेंटर) होता है। आईपीएचएस (इंडियन पब्लिक हेल्थ स्टैंडर्डस) 2012 के अनुसार प्रत्येक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों का वर्गीकरण श्रेणी ए तथा बी में किया गया है। श्रेणी ए के अंर्तगत वे पीएचसी हैं जिनमें प्रतिमाह 20 या उससे कम बच्चों का जन्म होता है। प्रतिमाह 20 से अधिक बच्चों के जन्म की सुविधाओं वाले पीएचसी केंद्रों को श्रेणी बी के अंर्तगत रखा गया है। श्रेणी ए–पीएचसी में आईपीएचएस के मानकों के अनुसार में एक चिकित्सक (एमबीबीएस) अनिवार्य रूप से होना चाहिए तथा एक अन्य चिकित्सक (आयुष) की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही एक फार्मासिस्ट, 3 स्टॉफ नर्स, 1 महिला और 1 पुरूष स्वास्थ्य कार्यकर्ता, एक हेल्थ विजिटर और एक लैब तकनीशियन आदि सहयोगी स्टॉफ इन केंद्रों में मानकों के अनुसार अनिवार्य तौर पर होना चाहिए। पीएचसी केंद्रों पर एक फार्मासिस्ट आयुष के अंर्तगत रखा जा सकता है। बी श्रेणी के पीएचसी केंद्रों पर अनिवार्य रूप से 1 चिकित्सक (एमबीबीएस), 1 फार्मासिस्ट, 4 स्टॉफ नर्स,1 महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ता, 1 पुरूष स्वास्थ्य सहायक, 1 हेल्थ विजिटर और 1 लैब तकनीशियन आदि की पदस्थापना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन केंद्रों में 1 अतिरिक्त एमबीबीएस चिकित्सक, 1 आयुष चिकित्सक 1 फार्मासिस्ट आयुष, 1 हेल्थ एजुकेटर आदि की नियुक्ति की जा सकती है।

हमारे देश की स्वास्थ्य तंत्र की अगली कड़ी में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों के पश्चात सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र या सीएचसी (कम्युनिटी हेल्थ सेंटर्स) होते हैं। 1 सीएचसी के अधीन 4 पीएचसी आते हैं। आदिवासी बहुल तथा पर्वतीय इलाकों में 80000 (अस्सी हजार) की आबादी पर एक सामुदायिक केंद्र स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करवाता है। भारतीय स्वास्थ्य मानक–2012 के अनुसार इन केंद्रों पर 10 अलग–अलग तरह के चिकित्सकों और विशेषज्ञों की नियुक्तियों का प्रावधान है। इनमें पब्लिक हेल्थ स्पेशलिस्ट, मेडिकल सुपरिंटेंडेंट, जनरल सर्जन, फिजिशियन, स्त्री एवं प्रसूति रोग विशेषज्ञ, शिशु रोग विशेषज्ञ, एनेस्थेटिस्ट, डेंटल सर्जन, मेडिकल ऑफिसर सामान्य तथा आयुष शामिल हैं। सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों पर अतिरिक्त 10 स्टॉफ नर्स, 1 पब्लिक हेल्थ नर्स, 1 फार्मासिस्ट सामान्य और 1 फार्मासिस्ट आयुष, 2 लैब तकनीशियन,1 रेडियोग्राफर,1 नेत्र चिकित्सा सहायक, 1 डेंटल असिस्टैंट,1 ओटी सहायक,1 कोल्डचेन एंड वैक्सीन लॉजिस्टिक सहायक, 1 रिहैबिलिटेशन वर्कर, 1 ड्रेसर और 5 वार्ड ब्वायज की तैनाती अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। इन केंद्रों पर 84 अलग–अलग किस्म के मानकों वाले उपकरण भी होने आवश्यक हैं। सीएचसी केंद्रों पर 176 प्रकार की आवश्यक दवाईयों के साथ–साथ 103 प्रकार की आयुर्वेदिक, 75 यूनानी, 79 सिद्धा तथा 474 होम्योपैथी की दवाईयां होनी चाहिए। इन केंद्रों पर नियमानुसार 36 विभिन्न प्रकार की जांचें की जा सकती हैं। ये केंद्र वर्ष भर चौबीसों घंटे सातों दिन कार्य करते हैं।

सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों से बड़े केंद्र सब–डिस्ट्रिक्ट चिकित्सालय होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। इनमें श्रेणी ए के अंर्तगत 31 से 50 बिस्तरों वाले तथा श्रेणी बी में 21 से 100 अस्पतालों वाले केंद्र शामिल हैं। श्रेणी एक के सब–डिस्ट्रिक्ट चिकित्सालयों में 20 अलग–अलग प्रकार के विशेषज्ञ चिकित्सकों की अनिवार्य तैनाती का प्रावधान होता है। वहीं श्रेणी बी के इन चिकित्सालयों में 24 चिकित्सकों की तैनाती होनी चाहिए। हलांकि इनकी आवश्यकता क्रमशः 23 तथा 31 होती है। एक 31 से 50 बिस्तरों की क्षमता वाले सब–डिस्ट्रिक्ट चिकित्सालय में 45 तथा बी श्रेणी में 73 पैरामेडिकल स्टॉफ की नियुक्ति भी होनी चाहिए। इन केंदों में 263 तरह के अलग–अलग उपकरण होने चाहिए। यहां स्वास्थ्य संबंधी 51 प्रकार की जांचें करवाई जा सकती हैं। इन केंद्रों में 397 किस्म की दवाईयां मिलती हैं।

जिला अस्पताल, भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के सबसे बड़े केंद्र होते हैं। किसी बीमार व्यक्ति को गहन चिकित्सा या विशेषज्ञों की राय की आवश्यकता होती है तो उसे सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों से जिला मुख्यालयों में स्थित जिला अस्पतालों में भेजा जाता है। इन चिकित्सालयों में 101 से 500 बिस्तरों की क्षमता होती है। भारत में

एक जिला अस्पताल अपने क्षेत्र की लगभग 15 लाख तक की आबादी को सेवाएं मुहैया करवाता है। भारतीय मानकों के अनुसार 100 बिस्तरों वाले जिला चिकित्सालयों में 32 चिकित्सक होने चाहिए जिनमें 11 मेडिकल ऑफिसर, 1 फोरेंसिक विशेषज्ञ,1 माइक्रोबायलॉजी विशेषज्ञ, 1 आयुष चिकित्सक,1 साइकेट्री तथा अन्य विशेषज्ञ शामिल होते हैं। अस्पतालों की क्षमता के साथ–साथ यह आंकड़ा भी बढ़ता है और अधिकतम 500 बिस्तरों वाले चिकित्सालयों में भारतीय स्वास्थ्य मानकों के अनुसार 68 चिकित्सक होने चाहिए। 100 बिस्तरों के जिला अस्पतालों में 76 तथा 500 बिस्तरों वाले अस्पताल में 325 नर्सिंग और पैरामेडिकल स्टॉफ होने चाहिए। इन अस्पतालों में 17 अलग–अलग श्रेणियों के कुल 409 उपकरण होने चाहिए जिनमें 62 प्रकार के लैब तथा 53 तरह के शल्य चिकित्सा के उपकरण शामिल हैं। ये एक किस्म से स्पेशियलिटी अस्पताल होने चाहिए जिनमें 97 प्रकार की स्वास्थ्य जांचें होनी चाहिए।

अलग–अलग स्तरों वाली स्वास्थ्य सेवाओं की प्रणाली भारत में आमजन के स्वास्थ्य की देखभाल के लिए उत्तरदायी है। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं को अपने कार्यक्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक विविधताओं वाली विशाल आबादी, संसाधनों की कमी, प्रशिक्षित मानव संसाधनों का जबरदस्त अभाव, देश की भौगोलिक बनावट आदि व्यवहारिक कठिनाइयों का सामाना करना पड़ता है। हमारे देश की आबादी का अधिकतर हिस्सा अपने स्वास्थ्य के लिए इन्हीं सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थाओं पर निर्भर है। ''आर्गेनाइजेशन फार इकॉनोमिक कॉपरेशन एंड डेवलपमेंट'' नामक एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था ने जनवरी 2015 में प्रकाशित ''इम्प्रुविंग हेल्थ आउटकम्स एंड हेल्थकेयर इन इंडिया'' नामक शोधपत्र में लिखा है कि भारत के अधिक आबादी वाले 18 राज्यों में से केवल दिल्ली और पंजाब में ही प्रति हजार व्यक्तियों पर 1 चिकित्सक उपलब्ध है। इसी शोध में बताया गया है कि केवल दिल्ली, केरल, ओडिशा, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल में 1000 व्यक्तियों पर 1 नर्स मौजूद है। इन सभी 18 राज्यों में केवल केरल एक ऐसा राज्य है जहां 1000 लोगों पर 3 स्वास्थ्य कार्यकर्ता उपलब्ध हैं।

निश्चित ही भारत में ''स्वस्थ भारत'' को हकीकत बनने में अभी लंबा समय लगेगा। ''नई 'स्वास्थ्य नीति–2015''' सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में मानव संसाधनों की उपलब्धता पर भी संवेदनशील है। हमारे देश में चिकित्सा क्षेत्र में अधोसंरचनाओं और संसाधनों का अभाव भी एक बड़ी समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य केंद्रों को खोलना और चिकित्सकों को छोड़कर पैरामेडिकल कर्मियों की नियुक्तियों को ही बड़े पैमाने पर स्वास्थ्य क्षेत्र की उपलब्धियों से जोड़ कर देखा जाता रहा है। भारत में सरकारी स्वास्थ्य विभाग का दखल यदि किन्हीं क्षेत्रों में अधिकांशतया समझा जाता है तो वे हैं परिवार

कल्याण या नियोजन, टीकाकरण और टी.बी. एड्स या दस्त उल्टी जैसी बीमारियों से बचाव इत्यादि। सिर्फ ग्रामीण भारत ही नहीं बल्कि कस्बाई और छोटे शहरों वाले भारत में भी बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं का बड़ा अभाव है। अकेले महिला स्वास्थ्य की बात करें तो भारत एक ऐसा देश है जहां सालाना दस लाख से अधिक गर्भवती महिलाएं उचित इलाज के अभाव में मौत के मुहं में समा जाती हैं।

भारत जैसे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक विविधताओं वाले मुल्क में सरकारों के लिए विशाल और विविधताओं से परिपूर्ण आबादी में सबके लिए बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध करवाना बड़ी और असली चुनौती है। अलग–अलग राज्यों और इलाकों में परिस्थितियां बिल्कुल भिन्न होने के चलते स्वास्थ्य सेवाओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। देश के ग्रामीण इलाकों, कस्बाई क्षेत्रों तथा नगरों में स्वास्थ्य सेवाओं और स्वास्थ्य के प्रति लोगों का रूझान अलग–अलग है। ग्रामीण क्षेत्रों में जहां अस्वच्छता, जलजनित बीमारियों, अशिक्षा आदि की प्रमुख कारण हैं तो आदिवासी क्षेत्रों में एनीमिया और कुपोषण की गंभीर समस्याएं व्याप्त है। ''सेंट्रल ब्यूरो ऑफ हेल्थ इंटेलिजेंस'' ने वर्ष 2013 में एक रिर्पोट प्रकाशित की थी जिसमें कहा गया है कि ग्रामीण भारत में सरकार द्वारा नियुक्त 33 फीसद चिकित्सक ही काम कर पाते हैं। भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय की एक रिर्पोट के अनुसार वर्ष 2015 में 31 मार्च तक 8.1 प्रतिशत प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों बिना चिकित्सकों के ही संचालित हो रहे थे। वहीं 38.1 प्रतिशत पीएचसी केंद्रों में लैब तकनीशियन नहीं थे तो 21.9 फीसदी कोई फार्मासिस्ट तैनात नहीं था। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की इतनी लचर व्यवस्था अन्य कई विकासशील देशों में भी नहीं है।

भारत की विशाल स्वास्थ्य सेवा के ढांचे में बहुत से सुधारों की गुंजाइश है। हम स्वास्थ्य के मामले में बहुत से दूसरे देशों से सीख ले सकते हैं। देश में ''डिजिटल इंडिया'', ''स्वच्छ भारत अभियान'' जैसे अभियान भी चिकित्सा क्षेत्र में बहुत कारगर और सहायक हो सकते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी ने स्वास्थ्य सेवाओं के आधुनिकीकरण में भी अहम भूमिका अदा की है। टेलीमेडिसिन, स्वास्थ्य सेवाओं के ऑटोमेशन, बीमारियों के आंकड़ों और तथ्यों के रिकॉर्ड अनुरक्षण, चिकित्सा शोध के परिणामों, विशेषज्ञों की राय के आदान–प्रदान आदि क्षेत्रों में सूचना प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग चमत्कारिक हो सकते हैं। टेलीमेडिसिन जैसी विधा का विकास आईटी और चिकित्सा शिक्षा के अनुप्रयोगों के कारण ही संभव हुआ है। इसमें कोई अस्वस्थ व्यक्ति अपने गांव या शहर से कहीं अन्यत्र गये बिना ही इंटरनेट के जरिये चिकित्सक से सलाह–मशविरा ले सकता है। किसी अस्पताल के चिकित्सक बड़े और आधुनिक स्वास्थ्य संस्थानों के अथवा दुनिया के अन्य

देशों के विशेषज्ञों से भी इस विधि के जरिये सलाह ले सकते हैं। इसका सीधा फायदा बीमार व्यक्ति को मिलता है। भारत में वर्तमान में कई टेलीमेडिसिन केंद्र हैं जो बहुत अच्छी सेवाएं दे रहे हैं। इस दिशा में अभी बहुत कुछ विकास होना आवश्यक है। पिछले दशक से, भारत आईटी इन्फ्रास्ट्रक्चर तैयार कर रहा है जो टेलीमेडिसिन और रिमोट स्वास्थ्य सेवाओं, इंटरनेट किओस्क और मोबाइल फोन नेटवर्क को अच्छी तरह फिट कर सकेगा। इससे पूर्व टेलीमेडिसिन प्रणाली को बनाने के लिए सही सूचना प्रणाली की आवश्यकता है जो डॉक्टरों को देश के उन कोनों से जोड़ सके जो पहुंच से बाहर हैं।

''मोबाइल–हेल्थ'' या ''एम–हेल्थ'' भी एक अन्य क्षेत्र है जिसके उपयोग से भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य में बदलाव लाया जा सकता है। मोबाइल संचार और मल्टिमीडिया तकनीकों के मिलेजुले उपयोगों से स्वास्थ्य क्षेत्र में नयापन आ सकता है। इस प्रक्रिया में बीमार व्यक्ति द्वारा स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंचने के लिए मोबाइल तकनीक का उपयोग किया जाता है वहीं दूसरी ओर चिकित्सकों तथा नर्स इत्यादि द्वारा भी बीमार व्यक्ति की जानकारियां तथा डेटाबेस जानने के लिए इसे इस्तेमाल किया जाता है। बीमार व्यक्ति की हालत का विश्लेषण करने वाले उपकरणों, माइक्रोकंप्यूटर्स, डेटा कलेक्शन साफ्टवेर्यस, मोबाइल टेलीमेडिसिन उपकरणों, मोबाइल एप्लिकेशन इत्यादि के जरिये मोबाइल चिकित्सा देश में लोगों के स्वास्थ्य को बेहतर रखने में कारगर साबित हो सकती है। विकसित देशों में मोबाइल–हेल्थ प्रणाली स्वास्थ्य के क्षेत्र में कारगर साबित हुई है। भारत में कुछ वर्षों पूर्व एक मोबाइल सेवा प्रदाता कंपनी ने इस तरह का प्रयोग किया भी था। इस क्षेत्र के विस्तार की संभावनाएं हमारे यहां मौजूद हैं।

स्वास्थ्य बीमा एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है जिससे भारत के स्वास्थ्य जगत में बहुत कुछ बदलाव आ सकता है। ऐसे बहुत से लोग जो आर्थिक तंगी के चलते इलाज नहीं करवा पाते हैं उनके लिए स्वास्थ्य बीमा सेवाएं बहुत आवश्यक है। हमारे देश में अधिकतर लोगों में स्वास्थ्य बीमा को लेकर भारी उदासीनता है। ग्रामीण इलाकों में तो स्थिति और भी गंभीर है। इन इलाकों में तो जीवन बीमा जैसी योजनाओं के प्रति भी कोई खासी जागरूकता नहीं दिखाई देती है। सरकार द्वारा संचालित स्वास्थ्य बीमा योजनाओं का दायरा भी बढ़ाना होगा। इन योजनाओं के प्रचलन से ऐसे इलाके जहां लोगों की आय कम है अथवा वे गंभीर बीमारियों के इलाज करवाने में असमर्थ हैं, वहां भी स्वास्थ्य की बेहतर सेवाओं की पहुंच हो सकती है। केंद्र समर्थित राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना का संचालन वर्ष 2008 से किया जा रहा है। इस योजना की वेबसाइट के अनुसार सितंबर 2015 तक इस योजना के कार्डधारी लोगों की संख्या 40430279 (चार करोड़ चार लाख तीस हजार दो सौ उन्नासी) थी। निर्धन और कमजोर तबके के लोगों को इस तरह की

योजनाओं से बहुत लाभ मिल सकता है और वे बीमा राशि से स्वास्थ्य सेवाओं को आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। भारत में स्वास्थ्य बीमा योजनाओं को लेकर कार्य करने की असीमित संभावनाएं हैं।

एक समाचार रिर्पोट के अनुसार स्वास्थ्य व्यवस्थाओं पर खर्च करने के मामले में भारत वर्ष 2015 तक अपने पड़ोसी बांग्लादेश और श्रीलंका से भी पीछे था। गत वर्ष तक श्रीलंका की सरकार अपने सकल घरेलू उत्पाद का कुल 1.6 प्रतिशत तथा बांग्लादेश 1.4 प्रतिशत खर्च अपने देश की स्वास्थ्य सेवाओं की बेहतरी पर खर्च हुआ। भारत इस मामले में बहुत बेहतर नहीं कर सका। भारत सरकार की ''नई स्वास्थ्य नीति–2015'', स्वास्थ्य क्षेत्र में बहुत कुछ बदलाव लाने की एक पहल है। 2002 में बनी स्वास्थ्य नीति के 13 वर्षों बाद आई इस नीति की सबसे महत्वपूर्ण बात है कि इसमें स्वास्थ्य को शिक्षा की ही भांति एक ''मौलिक अधिकार'' बनाने की बात कही गई है। यही नहीं इससे वंचित रखने पर दंड का प्राधान भी सुनिश्चित किया जाना है। इससे भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र में बड़ा बदलाव आएगा। नई स्वास्थ्य नीति के अनुसार यदि सरकारी अस्पतालों में इलाज करवाने पर प्रत्येक नागरिक को निःशुल्क दवाईयां और स्वास्थ्य बीमा मुहैया करवाया जाना सुनिश्चित हो जाता है और सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थानों की दशा में आवश्यक सुधार हो जाता है तो भारत के करोड़ों नागरिकों के लिए यह एक वरदान ही होगा। ''नई स्वास्थ्य नीति–2015'', में अतिरिक्त स्वास्थ्य क्षेत्र पर सार्वजनिक व्यय को जीडीपी के 2.5 प्रतिशत तक करने का लक्ष्य रखा गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के साथ–साथ निजी क्षेत्र की भागीदारी पर जोर दिया गया है। स्वास्थ्य में सहायक सेवाएं निजी क्षेत्र को ठेके पर दिये जाने का प्रस्ताव भी इसमें शामिल है। मौजूदा स्वास्थ्य नीति में ''टेलीमेडिसिन'' और ''मोबाइल–हेल्थ'' पर जोर देने की बात कही गई है। इसमें कहा गया है कि इंटरनेट जैसी तकनीक के जरिये टेली–कंसल्टेशन पर जोर दिया जाएगा ताकि मेडिकल कॉलेजों से जिला अस्पतालों और सब–डिस्ट्रिक्ट सेंटर्स को जोड़ा जा सके और बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करवाई जा सकें। इसी ड्राफ्ट में कहा गया है कि स्वास्थ्य शोध पर पूरे स्वास्थ्य पर खर्च होने वाली कुल राशि का 5 प्रतिशत खर्च किया जाएगा।

स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में प्रशिक्षित मानव संसाधनों की उपलब्धता भी देश में एक बड़ी चुनौती है। इस ओर भी सरकारों को तुरंत ध्यान देने की आवश्यकता है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2015 तक भारत में 763 जिला चिकित्सालय थे जिनमें कुल 18437 चिकित्सक कार्यरत थे। इस लिहाज से एक जिला चिकित्सालय में महज 24 चिकित्सक ही उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त इन चिकित्सालयों में 55642 पैरामेडिकल

स्टाफ भी कार्यरत थे। विशाल जनसंख्या वाले देश में सार्वजनिक स्वास्थ्य से जुड़ा यह आंकड़ा बेहद नाकाफी है। भारतीय चिकित्सा परिषद (एमसीआई) की वेबसाइट पर उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार भारत में कुल 412 मेडिकल कॉलेज हैं जिनमें एमबीबीएस पाठ्यक्रम संचालित होता है और देशभर में इस पाठ्यक्रम में कुल 52965 सीटें हैं। राज्यों में खुले मेडिकल कॉलेजों में विशेषज्ञता वाले अध्यापकों की भी जबरदस्त कमी है। कमोबेश यही आलम पैरामेडिकल कॉलेजों में भी है। अच्छे चिकित्सकों को विकसित करवाने में ऐसे चिकित्सा महाविद्यालयों की नितांत आवश्यकता है जिसमें न सिर्फ आधुनिक उपकरण, तकनीक हो बल्कि योग्य और अनुभवी शिक्षक भी मौजूद हों।

हमारे देश में सामान्य अवधारणा और बहुत हद तक हकीकत भी है कि भारत में चिकित्सा की पढ़ाई कर नौजवान चिकित्सक ग्रामीण इलाकों में जाना ही नहीं चाहते। यही नहीं ये नौजवान चिकित्सक सरकारी अस्पतालों में भी काम नही करना चाहते। इस तरह की समस्याओं से निपटने के लिए कई राज्य सरकारों ने चिकित्सा की पढ़ाई कर रहे छात्रों से ग्रामीण इलाकों में अनिवार्य रूप से सेवाएं देने के करार भी किये हैं। इन अनुबंधों के तहत राज्यों के मेडिकल कॉलेजों में पढ़कर बने डॉक्टर अनिवार्य रूप से ग्रामीण इलाकों में एक निश्चित समायावधि तक सेवाएं देंगे। सरकारों को इन बिंदुओं पर गंभीर रवैया अख्तियार करना चाहिए ताकि चिकित्सक ग्रामीण इलाकों में भी बेहतर ढंग से सेवाएं दे सकें। सरकारें बहुत खर्च कर एक डॉक्टर तैयार करती हैं। उन्हें तमाम तरह की रियायतें देकर अनुसंधान की डिग्रियां मिलती हैं। अंग्रेजी अखबार ''डेक्कन क्रॉनिकल'' में 29 सितंबर 2015 को प्रकाशित एक समाचार के अनुसार कर्नाटक सरकार ने वहां के हाईकोर्ट में जानकारी दी कि, ''राज्य सरकार एक मेडिकल छात्र पर कुल 25 लाख रूपये की राशि खर्च करती है''। ये सब सार्वजनिक निवेश के पैसे से होता है। लेकिन जब तमाम सरकारी रियायतों से सरकारी कॉलेजों में पढ़े लिखे ये ही छात्र प्रशिक्षण के बाद चिकित्सक बन जाते हैं तो देश के ग्रामीण इलाकों में जाना पसंद नहीं करते। देश का अधिकांश हिस्सा ग्रामीण आबादी वाला है। गांवों में हमारी सबसे अधिक आबादी रहती है। सरकारों को इस नीति में अनिवार्य रूप से स्पष्टता लानी होगी। अगर ऐसा नही हुआ तो स्वास्थ्य सेवाएं केवल शहरों तक ही सीमित रहेंगी और अधिकतम ग्रामीण आबादी वाले इस देश में जनसामान्य को इससे वंचित होना पड़ेगा। इस दिशा में सरकारों को तत्काल प्रभावी कदम उठाने होंगे।

अक्टूबर 2007 में भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद ने अपने शोध ''हेल्थ रिसर्च पॉलिसी'' में कहा है कि भारत में केवल 10 प्रतिशत मेडिकल कॉलेज ही शोध में कार्यरत हैं। इसी पॉलिसी पेपर में कहा गया है कि वर्ष 1990 से 1994 के दरम्यान भारत के 53

प्रतिशत मेडिकल कॉलेजों के केवल 10 से भी कम शोध पत्र इंडेक्सिंग वाले शोध जर्नल्स में प्रकाशित हुए हैं। स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यरत चिकित्सकों और विशेषज्ञों का निरंतर शोध करना भी अनिवार्य है। ऐसा करने से वे न सिर्फ नई जानकारियों के साथ बेहतर सेवाएं मुहैया करवा सकेंगे बल्कि इसका सीधा फायदा समाज के आखिरी आदमी तक भी पहुंच सकेगा। अभी चिकित्सा संबंधी अधिकतर शोध ''अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थानों (एम्स)'', और ''पीजीआई'' जैसे संस्थानों में ही होते हैं। इन संस्थानों पर भी काम का दबाव इतना अधिक होता है कि वे शोध कार्यों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते हैं। देश में अभी केवल 7 एम्स हैं। इनमें से भी 6 संस्थान वर्ष 2012 में, भोपाल, भुवनेश्वर, जोधपुर, पटना, रायपुर और ऋषिकेश आदि शहरों में स्थापित हुए हैं। इन संस्थानों में हुए शोधकार्य देश की चिकित्सा व्यवस्था की बेहतरी में सहायक सिद्ध होंगे। शोध कार्यों में संलग्न ऐसे संस्थानों के हालातों को सरकारों को तुरंत बेहतर करना होगा।

एक रिर्पोट के मुताबिक भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का बाजार वर्तमान में 40 बिलियन डॉलर का है। उम्मीद है कि यह बाजार वर्ष 2020 तक 280 बिलियन डॉलर का हो जाएगा। ''स्वास्थ्य नीति–2015'' में कहा गया है कि भारत विकसित विश्व की सबसे बड़ी फार्मेसी है लेकिन यहां की आधी आबादी के पास जीवन रक्षक दवाओं को खरीदने की क्षमता नहीं है। रिर्पोट आगे कहती है कि हालात और बदतर हो जाते हैं जब चिकित्सकीय उपकरणों के उपयोग और खरीदने की बारी आती है। हमारी सरकारों को चाहिए चिकित्सा उपकरणों, दवाईयों के उत्पादन आदि क्षेत्रों में कार्यरत संस्थाओं को रियायती सुविधाएं उपलब्ध करवाई जानी चाहिए ताकि वे ऐसी तकनीकों, उपकरणों और दवाइयों का उत्पादन और विकास कर सकें जिसे आम आदमी कम लागत में खरीद सके।

भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र में निवेश की राशि सरकार और निजी क्षेत्र से आती है। पहला सार्वजनिक निवेश है जिसमें केंद, राज्य सरकारें बड़े निवेष करती हैं और लोगों को स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करवाती हैं। दूसरा निवेश, निजी क्षेत्र से आता है जिसमें कोई व्यक्ति, गैर–सरकारी संस्थाएं, कंपनियां इत्यादि हो सकती हैं। ये भी स्वास्थ्य सेवाओं में निवेश करते हैं। इनके द्वारा मुहैया स्वास्थ्य सेवाएं बहुत महंगी होती है। इसलिए सरकारों को स्वास्थ्य पर निवेश बढ़ाने की आवश्यकता है। वर्ष 1943 में भारत में स्वास्थ्य संबंधी सुधारों के लिए सर जोसेफ भोरे की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इसे ''भोरे समिति'' भी कहा जाता है। समिति ने वर्ष 1946 में पेश की गई अपनी अनुशंसाओं में कहा है कि भारत में सरकारों को जीडीपी का 6 प्रतिशत तथा कुल खर्च

का 15 प्रतिशत खर्च करना चाहिए। भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश की बात की जाए तो हमारे जीडीपी का 4 से 4.5 प्रतिशत ही होता है। यह आंकड़ा पिछले 15 वर्षों की अवधि के दौरान एक समान रहा है। सरकार का दायित्व है कि वह स्वास्थ्य सेवाओं के कार्यरत विभागों से आवंटित वित्त का सदुपयोग सुनिश्चित करवाए।

केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा सतत चलाये जा रहे स्वास्थ्य मिशन कार्यक्रमों के बावजूद हम अभी तक बेहतर स्थिति में क्यों नहीं पहुंच पाए हैं? यह एक विचारणीय और गंभीर प्रश्न है। हलांकि भारत में स्वास्थ्य के क्षेत्र में कुछ बेहतरीन उपलब्धियां भी हासिल की हैं। साल 2010 से 2015 तक के दरम्यान सभी गर्भवती महिलाओं और होने वाले बच्चों के विवरण पांच वर्ष तक की अवधि के लिए सहेजने की प्रणाली ''मदर एंड चाइल्ड ट्रैकिंग स्स्टिम'' (एमसीटीएस) के अंर्तगत 14 करोड़ से भी अधिक गर्भवती महिलाओं की जानकारियां दर्ज की हैं। वर्ष 2020 तक करीब 90 लाख बच्चों को पूर्ण टीकाकारण के जरिये सात जानलेवा बीमारियों से बचाने के उद्देश्य से ''मिशन इंद्रधनुष'' 24 दिसंबर 2014 से आरंभ किया गया है। 28 राज्यों के 201 जिलों में शुरूआती चरण में इस अभियान को चलाया गया। मिशन इंद्रधनुष के पहले चरण में कुल 5.8 लाख गर्भवती महिलाओं और 20.8 लाख बच्चों को टीके लगवाए गए। इनमें से 4.7 लाख बच्चों और 2.5 लाख महिलाओं का पूर्ण प्रतिरक्षण करवाया गया। संयुक्त राष्ट्र के मिलेनियम डेवलपमेंट गोल संबंधी 2015 की रिर्पोट में भी कहा गया है कि भारत ने स्वास्थ्य के क्षेत्र में बेहतर प्रदर्शन किया है। इसी रिर्पोट में यह भी कहा गया है कि देश में परंपरागत बीमारियों के अतिरिक्त नॉन कम्युनिकेबल डिसीज (एनसीडीज) जैसे दिल का दौरा, कार्डियोवैस्कुलर बीमारियां, श्वसन संबंधी गंभीर बीमारियां, मधुमेह, कैंसर जैसे रोगों का दायरा तेजी से बढ़ता जा रहा है। इन परिस्थितियों को देखते हुए भारत में ''सबके लिए स्वास्थ्य'' और ''यूनिवर्सल हेल्थ इंश्योरेंस स्कीम्स'' जैसी कार्यक्रमों को लागू करने की तत्काल आवश्यकता है। हमारे देश में ''पीपीपी'' (पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) व्यवस्था के अंर्तगत स्वास्थ्य क्षेत्र में कुछ अभिनव प्रयास किये जा रहे हैं। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों में इस दिशा में बेहतर कार्य हुए हैं।

भारत में स्वास्थ्य को लेकर अभी लंबी दूरी तय करनी है। इस दिशा में देश में बुनियादी स्तर से लेकर उच्च स्तर तक गंभीर प्रयासों की आवश्यकता है। तथ्यों से स्थिति और स्पष्ट हमारा देश एक ऐसा मुल्क है जहां दूषित पेयजल से प्रतिवर्ष होने वाली मौतों की संख्या एड्स जैसे गंभीर रोग से होने वाली सालाना मौतों से कई अधिक होती हैं। बच्चों के टीकाकरण की बात हो या फिर मातृ–शिशु स्वास्थ्य सुरक्षा कार्यक्रम, ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता हो या बड़े शहरों में सभी के

लिए सुलभ स्वास्थ्य सेवाओं का मुद्दा, हर स्तर पर गहन सुधारों की आवश्यकता है। ''स्वच्छ भारत'' जैसे अभियानों से भी स्वस्थ भारत का बेहतर निर्माण हो सकता है। भारत में प्रचलित परंपरागत स्वास्थ्य प्रणालियां, आयुर्वेद, होम्योपैथी, यूनानी इत्यादि भी ग्रामीण तथा कस्बाई क्षेत्रों में स्वास्थ्य समस्याओं के हल में बहुत सहायक हो सकती हैं। ये चिकित्सा पद्धतियां विश्वसनीय और बहुत कम खर्चीली होती हैं। आंकड़ों के विश्लेशण से पता चलता है कि भारत में सबके लिए स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करवाने के लिए वर्तमान बजट का 15–20 गुना सार्वजनिक निवेश करना होगा। प्रशिक्षित मानव संसाधनों की कमी भी इसमें एक बड़ी चुनौती होगी। ऐसे में ''आयुष'' (आयुर्वेद, यूनानी, सिद्धा और होम्योपैथी) जैसी पद्धति बहुत कुछ बदलाव ला सकती है। ममता रानी ने अपने शोध आलेख में लिखा है कि वर्ष 2015 तक देश में आयुष के तहत बुनियादी ढांचे में 62649 बिस्तरों की क्षमता के साथ 3277 अस्पताल, 24289 औषधालय, 495 अंडर ग्रेजुएट कॉलेज,106 पीजी कॉले और आयुष पद्धति के कुल 785185 चिकित्सक पंजीकृत थे। इस प्रकार आयुष पद्धति से चिकित्सा सेवाक्षेत्र में कार्यरत मानव संसाधनों का भी एक विशाल नेटवर्क तैयार हो सकता है जो देशभर में स्वास्थ्य सेवाओं की पंहुंच का दायरा बढ़ाने में बहुत मददगार हो सकते हैं।

हमारे यहां ''स्वास्थ्य शिक्षा'' की भी बड़ी आवश्यकता है। लोग अपने स्वास्थ्य को लेकर हमारे देश में अधिक गंभीर नहीं होते हैं। अगर देश की स्वास्थ्य सेवाओं के ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है तो आमजन के जागरूक होने और स्वास्थ्य संबंधी अभियानों में सक्रियता से भाग लेने की भी जरूरत है। भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय की वर्ष 2009 से 2014 तक की पंचवर्षीय मूल्यांकन रिर्पोट के अनुसार सरकार द्वारा ''मिलेनियम डेवलपमेंट गोल'' (एमजीडी) हासिल करने की दिशा में गंभीर प्रयास किये जा रहे हैं। निश्चित ही इस तरह के कदम सार्वजनिक स्वास्थ्य पर भी बहुत अनुकूल असर डालेंगे। स्वस्थ भारत के निर्माण के लिए सरकारों के साथ–साथ नागरिकों को भी कदमताल कर चलना होगा। अंत में कहा जा सकता है कि ''स्वस्थ भारत'' की मंजिल की राह कठिन जरूर है लेकिन सामूहिक और सतत सकारात्मक प्रयास हों तो मंजिल दूर नहीं है।

संदर्भ स्रोत

पुस्तकें

1. Raut himanshu Shekhar and Padmaj Mishra, *Ed,Social Sectors in India: Issues and Challenges*, 2015,Cambridge Scholar Publishing, New Delhi,2015,P-

2. Urns Lawton Robert, 2014, *Ed. India's Healthcare Industry: Innovations in Delivery, Financing and Manufacturing*, Cambridge University Press, New Delhi, P-62, 65.

रिपोट्स

1. विश्व स्वास्थ्य संगठन की भारत की स्वास्थ्य रिपोर्ट, 2015
2. भारत में स्वास्थ्य, एनएसएस 71वें दौर के सर्वेक्षण की रिपोर्ट, जून 2014
3. स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की पंचवर्षीय रिपोर्ट (2009–2014)
4. राष्ट्रीय 'स्वास्थ्य नीति–2015' का मसौदा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ 9
5. राष्ट्रीय 'स्वास्थ्य नीति–2015' का मसौदा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ 23
6. राष्ट्रीय 'स्वास्थ्य नीति–2015' का मसौदा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ 56
7. राष्ट्रीय 'स्वास्थ्य नीति–2015' का मसौदा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ 9
8. स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय भारत सरकार की पंचवर्षीय रिपोर्ट (2009–2014), पृष्ठ 16।
9. भारत के संविधान में नीति निर्देशक तत्व, https://india.gov.in/sites/upload_files/npi/files/constitution/PartIV.pdf
10. राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति–2002 का मसौदा, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ 8
11 सांख्यिकी और कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय की रिपोर्ट, MANUAL ON HEALTH STATISTICS IN INDIA, 2015, भारत सरकार
12. रिपोर्ट ऑफ हेल्थ सर्वे एंड डेवलपमेंट कमेटी, 1946 गर्वनमेंट प्रेस, शिमला
13. India and the MGDs: Towards a sustainable future for all, United Nation report on India, februray 2015, P-10,17.
14. भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद की रिपोर्ट ऑन हेल्थ रिसर्च पॉलिसी, 2007 पृष्ठ 29

आलेख

1. दाधीच बालेन्दु, स्वास्थ्य सुविधाओं और चिकित्सा तंत्र के ई–कायाकल्प की ओर, कुरूक्षेत्र, जुलाई 2015 सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
2. अभिषेक मिश्रा, स्वस्थ भारत की राह नहीं आसान, 3 सितंबर 2014, वेबदुनिया हिंदी समाचार पोर्टल, http://hindi.webdunia.com/current-affairs/healthy-india-1140903000015_1.html

शोधपत्र

1. Joumard Isabelle and Kumar Ankit, *Improving health outcomes and Health care in India*, ECONOMICS DEPARTMENT WORKING PAPERS No. 1184, Jan 2015, Organisation for Economic Co-operation and Development

वेब स्रोत

1. Retrived on 16 June2016, http://paricharcha.com
2. Retrived on 14 June2016, http://www.jansatta.com/politics/health-in-india-who-report/58223/
3. Retrived on 12 June2016, http://www.bbc.com/hindi/india/2016/06/160609_blood_transfusion_hiv_india_tk
4. Retrived on 16 June2016, http://nrhm.gov.in/images/pdf/guidelines/iphs/iphs-revised-guidlines-2012/sub-centers.pdf
5. Retrived on 11 June2016, http://nrhm.gov.in/images/pdf/guidelines/iphs/iphs-revised-guidlines-2012/primay-health-centres.pdf
6. Retrived on 11 June2016h, ttp://nrhm.gov.in/images/pdf/guidelines/iphs/iphs-revised-guidlines-2012/community-health-centres.pdf
7. Retrived on 16 June2016, http://nrhm.gov.in/images/pdf/guidelines/iphs/iphs-revised-guidlines-2012/district-hospital.pdf
8. Retrived on 15 June2016, http://nrhm.gov.in/images/pdf/media/publication/five-years-of-nhm-2009-2014/5_years_nhm_final.pdf
9. Retrived on 14 June2016, http://www.mciindia.org/InformationDesk/ForStudents/ListofCollegesTeachingMBBS.aspx
10. Retrived on 25 June2016, https://nrhm-mis.nic.in/hmisreports/frmstandard_reports.aspx
11. Retrived on 13 June2016, http://www.dailymail.co.uk/indiahome/indianews/article-2091391/Malda-crib-deaths-37-children-died-West-Bengal-hospital-week.html
12. Retrived on 14 June2016, https://www.cia.gov/library/publications/resources/the-world-factbook/geos/in.html
13. Retrived on 15 June2016, http://www.hindustantimes.com/jaipur/19-newborns-die-in-rajasthan-hospitals-10-of-them-in-24-hours/story-r7bFkmnAFdfcf8YqlecMtK.html
14. Retrived on 15 June2016, http://timesofindia.indiatimes.com/city/indore/Child-given-nitrous-oxide-instead-of-oxygen-dies/articleshow/52496320.cms
15. Retrived on 10 June2016, http://www.mohfw.nic.in/WriteReadData/l892s/18048892912105179110National%20Health%20policy-2002.pdf
16. Retrived on 15 June2016, http://www.deccanherald.com/content/503394/govt-spends-rs-25l-each.html
17. Retrived on 14 June2016, http://www.nhp.gov.in/healthprogramme/national-health-programmes

❖❖❖❖❖

खण्ड – चार

आरक्षण के आयाम

लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और आरक्षण व्यवस्था

कंचन शर्मा •

"जब डेढ़ सौ वर्ष पुरानी अंग्रेजी शासन–व्यवस्था में प्रतिनिधित्व न मिलने के कारण भारतीय सवर्ण अपनी क्षमताओं का उपयोग नहीं कर पा रहे थे, तो भारत के दलित समाज की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है"।

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

भारत जैसे विविधता भरे देश में समय समय पर अनेक मुद्दे राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से न केवल चर्चित रहे हैं बल्कि देश के अस्तित्व से भी जुड़े रहे हैं, जैसे भाषा का मुद्दा, राष्ट्रीयता का मुद्दा, मानवाधिकारों के संरक्षण का मुद्दा आदि। इन सभी मुद्दों के मध्य बहुचर्चित मुद्दों के रूप में आरक्षण भी यदा–कदा भारतीय राजनीति व भारतीय समाज का हिस्सा रहा। जातीय, वर्गीय, भाषाई व सांस्कृतिक दृष्टि से न केवल विविध बल्कि पदसोपानीय व्यवस्था वाले देश भारत के लिए यह कार्य बहुत ही चुनौती भरा है कि आधुनिक विकास कि राह को मजबूत करने के साथ ही सामाजिक न्याय की स्थापना की जाए। इस प्रयास की राह में सदियों से उपेक्षित व वंचित वर्गों को समावेशित करते हुए विकास की राह को मजबूत करने के लिए तकनीकी तौर पर आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि आरक्षण के मुद्दों पर चर्चा करते ही आम बहस का केंद्र नौकरियों में जातिगत आरक्षण जैसी संकुचित व्यवस्था तक व आजादी के पश्चात दस साल तक की व्यवस्था के रूप में ही देखा व समझा जाता है। परंतु इतिहास के पन्नों को उलटने पर तथ्य निकल कर आता है कि भारतीय समाज में समय–समय पर वंचितों को न्याय दिलाने हेतु आवाज उठती रही है। जैसे आजादी से पहले ही नौकरियों और शिक्षा में पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण देने की शुरुआत कर दी गई थी। महाराष्ट्र में कोल्हापुर के महाराजा छत्रपति साहूजी महाराज ने 1901 में पिछड़े वर्ग से गरीबी दूर करने और राज्य प्रशासन में उन्हें उनकी हिस्सेदारी (नौकरी) देने के लिए आरक्षण शुरू किया था। यह भारत में दलित वर्गों के कल्याण के लिए आरक्षण

• शोध छात्रा, केंद्रीय शिक्षण संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उपलब्ध कराने वाला पहला सरकारी आदेश है। इसके पश्चात, 1908 में अंग्रेजों ने प्रशासन में हिस्सेदारी के लिए आरक्षण शुरू किया। 1921 में मद्रास प्रेसिडेंसी ने ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती देने के लिए एक सरकारी आदेश जारी किया जिसमें गैर–ब्राह्मणों के लिए 44 फीसदी, ब्राह्मण, मुसलमान, भारतीय–एंग्लो ईसाई के लिए 16–16 फीसदी और अनुसूचित जातियों के लिए 8 फीसदी आरक्षण दिया गया। 1935 में भारत सरकार अधिनियम में सरकारी आरक्षण को सुनिश्चित किया गया। इसके बाद 1942 में बाबासाहेब अम्बेडकर ने सरकारी सेवाओं और शिक्षा के क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण की मांग उठाई।

जिन नीतियों को भारत में आरक्षण के नाम से जाना जाता है, दुनिया के अन्य देशों में उन्हीं से मिलती–जुलती नीतियों को एफर्मेटिव एक्शन का नाम दिया गया है। सदियों से कमजोर पड़े तबकों को सामाजिक और राजनीतिक रूप से मजबूत करने और उनके लिए आर्थिक अवसर बढ़ाने के लिए भारतीय संविधान में अनेक प्रावधान शामिल किए गए। जैसे अनुच्छेद 15 में प्रावधान है कि किसी व्यक्ति के साथ जाति, प्रजाति, लिंग, धर्म या जन्म के स्थान पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। 15(4) के मुताबिक यदि राज्य को लगता है तो सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े या अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के लिए वह विशेष प्रावधान कर सकता है। अनुच्छेद 16 में अवसरों की समानता की बात कही गई है। 16(4) के मुताबिक यदि राज्य को लगता है कि सरकारी सेवाओं में पिछड़े वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह उनके लिए पदों को आरक्षित कर सकता है। अनुच्छेद 330 के तहत संसद और 332 में राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सीटें आरक्षित की गई हैं।

संविधान में शामिल अनेक प्रावधानों व वर्तमान में लागू की जा रही योजनाएं मुख्य रूप से छुआछूत का शिकार रही अनुसूचित जतियों और अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक और आर्थिक दुर्बलताओं को खत्म करना चाहती हैं। साथ ही सामाजिक रूप से कमजोर और वंचित समुदायों को शिक्षा, सरकारी नौकरियों व विधायिकाओं में भागीदारी के समान मौके व सामाजिक न्याय और सुरक्षा की गारंटी को सुनिश्चित करना चाहती हैं। संविधान सभा की बहसों पर नजर डालने से साफ हो जाता है कि हमारे संविधान निर्माता इन नीतियों के जरिए सामाजिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित सभी भारतीयों को राजनीतिक समुदाय बनाने के इच्छुक थे। जैसे जब आरक्षण की व्यवस्था पर संविधान सभा में बहस हो रही थी तो डॉ. अम्बेडकर ने गोपाल कृष्ण गोखले की उस बात का उल्लेख किया, जिसमें उन्होंने कहा था कि ब्रिटिश कर्मचारी

तंत्र में भारतीयों का प्रतिनिधित्व न होने के कारण समाज कुंठित हो रहा है। इसलिए समाज के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, नैतिकता के आधार पर उनकी क्षमताओं के उपयोग के लिए उन्हें आरक्षण दिया जाना चाहिए। अम्बेडकर ने कहा कि जब डेढ़ सौ वर्ष पुरानी अंग्रेजी शासन–व्यवस्था में प्रतिनिधित्व न मिलने के कारण भारतीय सवर्ण अपनी क्षमताओं का उपयोग नहीं कर पा रहे थे, तो भारत के दलित समाज की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इन तर्कों के साथ यह सर्वमान्य हुआ कि भारत जैसे जातीय पदसोपानीयता व धार्मिक विविधता से युक्त समाज में लोकतंत्र की बहाली के लिए शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक व लैंगिक स्तर पर वंचित, उपेक्षित व कमजोर वर्गों को आवश्यक रूप से शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक सहभागिता आदि स्तर पर शामिल किया जाएगा।

गहरे रूप से भारत में शामिल एफर्मेटिव एक्शन (विशेष अवसरों की व्यवस्था) जैसे मेट्रो में महिलाओं के लिए अलग डिब्बा, स्कूलों में विकलांगों के लिए विशेष सुविधाएं, वंचित वर्गों के छात्रों के लिए विशेष छात्रवृति व सुविधाएं, शिक्षा व रोजगार में सीटों का विशेष प्रबंधन इत्यादि न केवल लोकतंत्र की बहाली की दृष्टि से आवश्यक है बल्कि गहरे रूप से मानवाधिकारों के संरक्षण से भी जुड़ा मसला है।

हालांकि आजादी के पश्चात से आज तक आरक्षण नीतियों पर धीमी गति से अमल हुआ है, परंतु इन सब के बावजूद आरक्षण से न केवल वंचित वर्गों को इसका लाभ पहुंचा बल्कि समस्त राष्ट्र इससे लाभान्वित हुआ है। आरक्षण का मुख्य फायदा मध्यम वर्ग की संरचना व प्रकृति को बदलने में रहा। अब वह अधिक समावेशी हो गया है। आरक्षण के कारण अब निचली जतियों के काफी सदस्यों ने मध्यवर्ग में प्रवेश पा लिया है। अध्ययन पीठ का हाल का अध्ययन दिखाता है कि भारतीय मध्यवर्ग में आरक्षण से लाभान्वित दूसरी और तीसरी पीढ़ी के लोग शामिल हैं।

दूसरे, आजादी के समय दलितों, आदिवासियों और पिछड़ें वर्गों के लिए प्रगति कि संभावनाएं सीमित थीं। आरक्षण के जरिए मध्यवर्ग के दरवाजे खुल जाने के कारण न केवल प्रगति की संभावनाएं बढ़ी हैं, बल्कि प्रगति के लिए उन्हें जातिप्रथा द्वारा स्वीकृत कर्मकांडीय संस्तुति का सहारा भी नहीं लेना पड़ रहा है। आरक्षण ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा और स्थायी असर डाला है। शैक्षिक व व्यवसायगत अवसरों की उपलब्धि ने उत्पीड़ित समुदायों में एक नए राजनीतिक नेतृत्व को जन्म दिया है। आरक्षण वह जरिया बना जिससे अभी तक अलग थलग पड़े रहे समूहों के राजनीतिक समावेशन संभव हो सका। आरक्षण का सबसे ज्यादा निर्णायक असर यह पड़ा कि सभी लाभान्वित श्रेणियों के लिए शिक्षा एक सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य

बन गई है। उनकी निगाह में अब शिक्षा एक ऐसा जरिया बन गई है जिससे वे आधुनिक बन कर सामाजिक रूप से प्रगति कर सकते हैं। अवसरों के विस्तार से इन समुदायों को पहले से कहीं ज्यादा संख्या में ऊंची पेशागत हैसियत और पद प्राप्त हो रहे हैं।

आरक्षण चूंकि सभी संस्थाओं को वह मौका प्रदान करता है जहां सभी वर्ग साथ मिलकर कार्य करें, संवाद व सहभागिता करें। ऐसे वातावरण का लाभ मात्र वंचित वर्ग को ही नहीं प्राप्त होता बल्कि सदियों से जातीय भेदभाव से एक दूसरे से विलग रहे सभी समूहों के सदस्यों को सामाजिक कौशल व अन्य वर्ग के प्रति संवेदनशील होने का मौका भी मिलता है। जैसे शिक्षा के स्तर पर शिक्षा का अधिकार वंचित वर्ग का समावेशन कर न केवल उस वर्ग के बच्चों को लाभ प्रदान करेगा बल्कि अन्य वर्ग के बच्चों में भी संवेदी भावनाओं व सामाजिक कौशल का निर्माण करेगा। इस दृष्टि से यहां आरक्षण शिक्षा की गुणवत्ता को भी बढ़ाता प्रतीत होता है।

सामाजिक न्याय की राह को सुगम बनाती आरक्षण व्यवस्था ने निःसंकोच भारतीय समाज को अधिक समावेशी व संवेदनशील बनाने में मदद की है, परंतु हाल में आरक्षण पर उठी पुनः चिंतन की आवश्यकता की मांग को भी आधारहीन नहीं माना जा सकता। आरक्षण व्यवस्था सही अर्थों में तभी न्यायोचित हो सकती है जब यह वास्तविक रूप से वंचितों के विकास में लाभदायक हो। इस संदर्भ में धीरूभाई का कहना है, 'आरक्षण के जरिए प्रगति के अवसरों को हड़पने की इस होड़ ने हमारी लोकतांत्रिक चुनावी राजनीति को अलोकतांत्रिक रुझानों से ग्रस्त कर दिया है। इसके कारण झूठे–सच्चे आश्वासन दिए जाते हैं, और अंततः समाज को तनावग्रस्त होना पड़ता है। बिरादरियों के बीच का भाईचारा खत्म होता जा रहा है। गुर्जरों को दिया गया आश्वासन इसका एक उदाहरण है। प्रजापतियों (कुम्हारों) को समाज में अछूत या दलित नहीं माना जाता, लेकिन पिछले दिनों उन्हें (प्रजापतियों को) भी उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जाति का दर्जा देने का प्रयास किया जा चुका है। पूरा देश जानता है कि राजस्थान के मीणाओं ने आदिवासियों के लिए आरक्षित कोटा कैसे हड़प लिया, जो कोटा, बस्तर, नगालैंड, लद्दाख, भील, झारखंड के वास्तविक आदिवासियों और उनकी संस्कृति, पिछड़ेपन को ध्यान में रखकर नियत किया गया था। इन तमाम खामियों व धीमी गति से क्रियान्वित होने के बावजूद विशेष अवसरों की नीति को जारी रखने और मजबूत करने की जरूरत आज पहले के मुकाबले अधिक है। अर्थव्यवस्था राज्य के नियंत्रणों से मुक्त होती जा रही है। ऐसे में सरकार के लिए जरूरी है कि कमजोर वर्गों को नव उदारवादी राज्य व्यवस्था में संरक्षण प्रदान करें। सरकार के लिए आज यह आवश्यक है कि समग्र व सतत विकास के लिए उन

लोगों को सामाजिक न्याय उपलब्ध कराना होगा जो बाजार अर्थव्यवस्था और नागरिक समाज के हाशिये पर पड़े हैं।

अतः मानवाधिकारों की वास्तविक स्थापना व भारतीय समाज में मजबूत सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक है कि भावी प्रयास के रूप में एक ऐसी नीति बनाने का प्रयास किया जाए जो सावधानी से यह जांच करे कि वास्तव में आरक्षण से किसे लाभान्वित किया जाना है। समय समय पर उन समुदायों को आरक्षण से बाहर करना जिन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। दूसरा, सरकारी क्षेत्रों के अतिरिक्त अब निजी क्षेत्रों पर भी विशेष अवसरों के सिद्धान्त पर आधारित नीतियों को लागू किए जाने की आवश्यकता है। तेजी से बढ़ते निजीकरण के युग में सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु ये एक आवश्यक प्रयास के रूप में उभरता है। यदि जरूरत हो तो आरक्षण का प्रतिशत और अधिक बढ़ाया जाए, लेकिन समृद्ध वर्ग (क्रीमी लेयर) को इससे तुरंत बाहर करने की भी आवश्यकता है। आरक्षण प्रदान करने की विधि में बदलाव लाया जाए जिससे अति वंचित को अधिकतम लाभ प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त हो सके। इसके लिए जेएनयू द्वारा प्रयोग की जारी विधि को अपनाया जा सकता है। इसमें जाति का महत्व तो है, लेकिन उतना ही महत्व वंचित सुविधाओं का भी है। जैसे इसके मुख्य घटक हैं – जहां पैदा हुए, बचपन बीता, आरभिक शिक्षा हुई ? शिक्षा का माध्यम, आर्थिक स्थिति, लड़का या लड़की, पिता का व्यवसाय, कॉलेज, शिक्षा, जाति आदि। इस फॉर्मूले में एक दलित, जो बस्तर, झारखंड या उड़ीसा, केरल के गांव में पला–बढ़ा है, उसे दिल्ली के चाणक्यपुरी में पले–बढ़े से पहले रखा जाएगा।

❖❖❖❖❖

आदिवासी अस्मिता और आरक्षण

हरि राम मीणा•

सर्वोच्च न्यायालय ने कैलाश व अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य (2011) प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि इस देश के असली वारिस यहां के आदिवासी हैं जिन्हें अतीत में बाहरी घुसपैठियों ने 'राक्षस' वगैरह कहकर मारा और दुर्गम जंगलों में रहने को विवश किया। उन्हीं बाहरी आक्रान्ताओं के वंशजों द्वारा आदिवासियों की जमीन एवं उनके द्वारा सुरक्षित प्राकृतिक सम्पदा की लूट मचाकर उन्हें उत्पीड़ित किया जा रहा है। न्यायालय के शब्द हैं 'आदिवासियों के साथ किया गया अन्याय हमारे इतिहास का शर्मनाक अध्याय है।'

भारतीय संविधान में आदिवासियों के कल्याण हेतु निर्मित आरक्षण के प्रावधानों की यही पृष्ठभूमि है। आदिवासी अस्मिता एवं अधिकारों का सवाल प्रत्यक्ष रूप से आदिवासी उत्थान से जुड़ा हुआ है। जब हम संविधान में प्रदत्त आदिवासी आरक्षण की बात करते हैं तो इसकी लम्बी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाने की आवश्यकता है, जब आदिवासी समाज को शेष भारतीय समाज की विकास यात्रा से अलग–थलग रहने की स्थिति पैदा हुई।

मैं यहां संविधान निर्मात्री सभा के एक मात्र आदिवासी मुखर सदस्य जयपालसिंह मुंडा जी का वह वक्तव्य उद्धृत कर रहा हूं जो उन्होंने 19 दिसम्बर सन 1946 के दिन संविधान सभा की बैठक में दिया था–'मैं उन लाखों अज्ञात लोगों की ओर से बोलने के लिए खड़ा हुआ हूं जो सबसे महत्वपूर्ण लोग हैं, जो आजादी के अनजान लड़ाके हैं, जो भारत के मूल निवासी हैं और जिनको बैकवर्ड ट्राइब्स, प्रिमिटिव ट्राइब्स, क्रिमिनल ट्राइब्स और न जाने क्या क्या कहा जाता है। पर मुझे अपने जंगली होने पर गर्व है क्योंकि यह वही संबोधन है जिसके द्वारा हम लोग इस देश में जाने जाते हैं। हम जंगल के लोग आपके संकल्प को अच्छी तरह समझते हैं। अपने तीस लाख आदिवासियों की ओर से मैं इस संकल्प का समर्थन करता हूं। इसलिए नहीं कि इसे भारत के राष्ट्रीय कांग्रेस के एक बड़े नेता ने प्रस्तावित किया है। हम इसका समर्थन इसलिए करते हैं क्योंकि यह देश के हर नागरिक की धड़कन और उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इस

• वरिष्ठ सेवानिवृत्त पुलिस अधिकारी एवं लेखक, अजमेर

संकल्प के एक भी शब्द के साथ हमारा कोई झगड़ा नहीं है। एक जंगली और एक आदिवासी होने के नाते संकल्प की जटिलताओं में हमारी कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। लेकिन हमारे समुदाय का कामन सेन्स कहता है कि हममें से हर एक ने आजादी के लिए संघर्ष की राह में एक साथ मार्च किया है। मैं सभा से कहना चाहूंगा कि अगर कोई देश में सबसे ज्यादा दुर्व्यवहार का शिकार हुआ है तो वह हमारे लोग हैं। पिछले छः हजार सालों से उनकी उपेक्षा हुई है और उनके साथ अपमानजनक व्यवहार किया गया है। मैं जिस सिन्धु घाटी सभ्यता का वंशज हूं, उसका इतिहास बताता है कि आप में से अधिकांश लोग, जो यहां बैठे हैं, बाहरी हैं, घुसपैठिये हैं जिनके कारण हमारे लोगों को अपनी धरती छोड़कर जंगलों में जाना पड़ा। इसलिए यहां जो संकल्प पेश किया गया है वह आदिवासियों को 'लोकतंत्र' नहीं सिखाने जा रहा। आप सब आदिवासियों को लोकतंत्र सिखा ही नहीं सकते बल्कि आपको ही उनसे लोकतंत्र सीखना है। आदिवासी पृथ्वी पर सबसे अधिक लोकतान्त्रिक लोग हैं। हमारे लोगों की आकांक्षा वे अधिकाधिक सुरक्षाएं नहीं हैं, जिन्हें नेहरू ने संकल्प में रखा है। आज उनकी जरूरत सरकार से सुरक्षा की है। हम कोई अतिरिक्त या विशेष सुरक्षा की मांग नहीं कर रहे हैं। हम बस यही चाहते हैं कि जो नागरिक बर्ताव सबके साथ हो, वही हमारे साथ भी हो। आदिवासियों को भी बराबर का नागरिक समझा जाये। हिंदुस्तान हमारी समस्या है। पाकिस्तान समस्या है। आदिवासी भी समस्या है। अब अगर ऐसे में भिन्न–भिन्न दिशाओं में चिल्लाते हुए लोग एक दूसरे से भिड़ने लगें, एक दूसरे से अलग अलग भावनाएं रखने लगें, तो हम सभी खत्म हो जायेंगे और यह देश कब्रिस्तान बनकर रह जायेगा। पंडित नेहरू के शब्दों पर विश्वास करते हुए भी मैं कहूंगा कि हमारे लोगों का पूरा इतिहास गैरआदिवासियों के अंतहीन उत्पीड़न और बेदखली को रोकने के लिए किये गये विद्रोहों का इतिहास है। मैं आप सब के कहे हुए पर भी विश्वास कर रहा हूं कि हम लोग एक नये अध्याय की शुरुआत करने जा रहे हैं, स्वतंत्र भारत के नये अध्याय की, जहां सभी समान होंगे, सबको बराबर का अवसर मिलेगा और एक भी नागरिक उपेक्षित नहीं होगा। हमारे समाज में जाति के लिए कोई जगह नहीं होगी। हम सभी बराबर होंगे। सभा में 'पार्टीज' और 'माइनोरिटीज, को लेकर इतनी अधिक बहस हो गयी है कि मेरा मन इससे खिन्न हो गया है। मैं हमारे आदिवासी समुदाय को माइनोरिटी नहीं मानता। सदन में वैसे भी सुबह से सुन चुका हूं कि आदिवासियों को वंचित वर्ग मानना चाहिए। अगर आप आदिवासियों को, जो देश के मूलनिवासी हैं, उनके साथ भूमिहीन और सामाजिक रूप से बाहरी जातियों को जोड़ना चाह रहे हैं, तो हम इसका विरोध करेंगे, क्योंकि आदिवासी माइनोरिटी या वंचित वर्ग कदापि नहीं है। किसी

भी सूरत में हम आदिवासियों का हक–हकूक इस देश पर पहला है, जिसे खारिज करने का अधिकार किसी को नहीं है। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने रामगढ़ कांग्रेस में कहा था कि 'कांग्रेस अपनी परिभाषाएं किसी पर भी नहीं थोपना चाहती है। अधिकारों के लिए किसी को भी बहुसंख्यकों पर निर्भर रहने की कोई जरूरत नहीं है।'। पूरे भारत में फैले हुए आदिवासी लोग आर्यों से नितांत भिन्न प्रजाति के हैं। इसलिए मैं फिर दोहराऊंगा कि आप आदिवासियों को लोकतंत्र नहीं सिखा सकते। आर्यों की फौज लोकतंत्र को खत्म करने पर तुली है। पंडित नेहरू ने अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में सिन्धु सभ्यता के बारे में लिखा है– 'आदिवासियों के बहुत सारे गणतांत्रिक समाज–राज्य थे, और उनमें से कई बहुत बड़े क्षेत्र पर स्थापित थे।' आदिवासियों के वे गणतांत्रिक समाज अभी भी हैं, जो भारत की आजादी की लड़ाई में हरावल दस्ता रहे हैं। मैं दिल से इस संकल्प का समर्थन करते हुए उम्मीद करता हूं कि जो सदन में मौजूद हैं और जो बाहर हैं, वे सभी देश के आदिवासियों के विश्वास की रक्षा करेंगे। हम साथ लड़े हैं, साथ बैठे हैं और काम भी साथ करेंगे सभी की सच्ची आजादी के लिए।'

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत की विपुल प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण सदियों से आदिवासी समाज ने 'ट्रस्टी' अथवा 'कस्टोडियन' की हैसियत से किया है। इसलिए आदिवासी समाज के उत्थान के लिए हम जितना भी कर सकते हैं, वह उन पर कोई अहसान नहीं है, प्रत्युत यह उनका 'देय' है जिसे हमको चुकाना चाहिए। भारतीय लोकतंत्र की मजबूती के लिए आदिवासी समाज का राजनैतिक प्रतिनिधित्व अनिवार्य जो संभव हुआ है, आरक्षण की वजह से। दूसरे सरकारी सेवाओं में भर्ती का मसला भी सीधा–सीधा आरक्षण के प्रावधानों से जुड़ा हुआ है। इसके लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है जिसके माध्यम से आदिवासी समाज का विकास गति पकड सकता है। विडम्बना यह रही है कि संवैधानिक प्रावधानों, विशेष योजनाओं एवं तदनुसार पृथक से बजट की स्थिति के बाद भी जो लाभ आदिवासियों को मिलना चाहिए था। उसका बहुत बड़ा हिस्सा भ्रष्टाचार एवं धनराशि के दीगर खातों में किये गए खर्च में चला जाता रहा है। जब हम सरकारी सेवाओं में आदिवासियों के प्रतिनिधित्व का आकलन करते हैं तो निष्कर्षतः स व द श्रेणी में हुआ प्रतिनिधित्व संतोषजनक दिखाई देता है, जहां अधीनस्थ सेवाएं हैं जिनमें भी लिपिक व चतुर्थ श्रेणी की बहुतायत है। अ, ब, स जैसे उच्च स्तरीय सेवाओं में यह दशा संतोषजनक नहीं कही जा सकती। समग्रता में राष्ट्रीय स्तर पर कुल 7.5% का मुश्किल से 4 व 5 फीसदी प्रतिनिधित्व है। आदिवासी उत्थान को जो प्राथमिकता देनी चाहिए, वह अभी भी नहीं है। किसी न किसी बहाने से इस समाज के

कल्याण के लिए जो संवैधानिक प्रावधान एवं योजनाएं हैं उन्हें दायित्व बोध के साथ क्रियान्वित नहीं किया जा रहा है। सन 2011 की जनगणना में आदिवासियों की आबादी 8.6% हो गई है, लेकिन आरक्षण अभी भी 7.5% तक ही सीमित किया हुआ है।

आदिवासी समाज की अस्मिता और उत्थान के लिए किये गए आरक्षण जैसे विशेष प्रावधानों का मुद्दा सीधे रूप से आदिवासी अस्मिता, स्वायत्तता, आत्मसम्मान, संस्कृति एवं विकास से सम्बन्ध रखता है। इस परिप्रेक्ष्य में जब स्वायत्तता की बात की जाती है तो यह स्वायत्तता राजनीति, अर्थ–व्यवस्था, समाज व संस्कृति सभी स्तरों पर प्रासंगिक दिखाई देगी। आदिवासी समाज बहुत लम्बे समय तक अपनी ही दुनिया में स्वायत्त व स्वावलंबी जीवन जीता रहा, उसके पीछे अस्मिता व आत्मसम्मान की समृद्ध परम्परा रही है। इस स्वायत्तता के साथ आदिवासीजन बहुत मुश्किल से समझौता कर रहे हैं, चाहे वह समझौता उनके लिए लाभकारी ही क्यों ना हो। इसकी वजह दीर्घकालीन मानसिकता होती है जिसमें परिवर्तन बाहर से सम्भव नहीं होगा, प्रत्युतः सकारात्मक परिवर्तन के लिए उनकी सहमति लेनी होगी। इस सहमति के बिना परिवर्तन मानसिक तनाव को जन्म देगा जो उस समाज के लिए सदैव पीड़ा का स्रोत बना रहेगा और उसके विकास और अस्मिता व मौलिक मानवाधिकारों के संरक्षण में बाधा उत्पन्न करेगा। राजनैतिक स्वायत्तता को लोकतंत्र के विकसित पंचायतीराज से जोड़कर देखने की प्रक्रिया कई अंचलों में कारगर साबित हुई है जहां परम्परा व आधुनिक संस्थाओं का तालमेल सम्भव हो सका। जंगलों पर आधारित आर्थिक जीवन को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन ने बुरी तरह प्रभावित किया है। नतीजा यह हुआ कि आदिवासी जीवन भी नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ और पारिस्थितिकीय सन्तुलन बुरी तरह बिगड़ा। भारत की वन नीति एवं संवैधानिक प्रावधान इसकी छूट नहीं देते, लेकिन चीजों को तोड़–मरोड़ कर सब कुछ किया जाना सम्भव हो जाता है। सामाजिक व सांस्कृतिक स्वायत्तता सबसे महत्वपूर्ण पहलू है जो आदिवासी अस्मिता से सीधे–सीधे सम्बन्ध रखते हैं।

बहुत बड़ा सवाल यह है कि आदिवासियों के मूलभूत अधिकारों एवं अस्मिता की दृष्टि से उसकी समृद्ध संस्कृति का संरक्षण कैसे किया जाये? जवाहरलाल नेहरू ने कहा है 'आदिवासियों में मुझे कई ऐसे गुण दिखाई दिये जो भारत के मैदानी इलाकों, शहरों और अन्य भागों में रहने वालों में नहीं हैं। इन्हीं गुणों के कारण मैं आकृष्ट हुआ। आदिवासियों के प्रति हमारा रवैया सहानुभूतियुक्त होना चाहिए। इन लोगों में बहुत अनुशासन है और वे भारत में अधिकांश लोगों की तुलना में कहीं अधिक लोकतांत्रिक हैं।' आज के इस उत्तरआधुनिक वैश्विक हाईटैक युग में भौतिक विकास पर सारा जोर

दिया जा रहा है। इस प्रक्रिया में आधारभूत मानवीय मूल्यों का कितना ह्रास हो रहा है, यह कोई नहीं देख रहा। मानवीय मूल्यों के ह्रास के साथ कहीं न कहीं मानवीय अधिकारों पर कुठाराघात की स्थिति पैदा करता है। इसलिए हमें आदिवासी समाज की संस्कृति के उस उजले पक्ष पर तनिक ठहर कर सोचना चाहिए जहां हमें मानवीय सरोकार दिखाई देते हैं और जिससे आज भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। सामूहिकता, सामुदायिक सहयोग, व्यावसायिकता व निजी संपत्ति के प्रति मोह का नकार एवं श्रम, प्रकृति व जीवन से जुड़ाव आदि ऐसे तत्व हैं जिनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

आदिवासी समाज के लिए शिक्षा का अधिकार अत्यंत मूल्यवान है चूंकि इसी पर उसके लोगों के व्यक्तित्व का विकास, उनकी राष्ट्र निर्माण में भागीदारी एवं स्वयं आदिवासी समाज का विकास आधारित है। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग (अब पृथक पृथक) ने यह स्वीकार किया है कि जब तक शिक्षा के अभाव से पैदा होने वाले आदिवासियों के शोषण को नहीं रोका गया तब तक उनके कल्याण की बात नहीं बन सकती। सरकारी प्रतिवेदन यह दावा करते हैं कि आदिवासी शिक्षा के लिये स्कूलों, छात्रवृत्ति और अन्य सुविधाओं की कोई कमी नहीं है। यहां प्रश्न इन सुविधाओं के अलावा दृष्टिकोण एवं शिक्षा के माध्यम का है जिस पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए।

आदिवासी समाज भारतीय समाज के शेष घटकों की तुलना में शिक्षा एवं साक्षरता की दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़ा है। इसमें कोई शक नहीं कि संसदीय भवनों, पंचवर्षीय योजनाओं, वार्षिक बजटों और प्रशासनिक घोषणाओं में आदिवासी समाज के लिए शिक्षा सहित समग्र विकास की चिन्ताएं अभिव्यक्त हुई हैं और कार्यक्रम भी खूब बने हैं, लेकिन खेद और विडम्बना इस बात की है कि इन सारे प्रयासों का मापदण्ड केवल बजट और लक्ष्य व उपलब्धि के आंकड़ों को माना गया, जबकि जमीनी हकीकत से इस सब का कहीं न कहीं कोई न कोई अन्तर रहा है।

शिक्षा की नई राष्ट्रीय नीति वर्ष 1986 में लागू की गई। आदिवासी शिक्षा को लेकर जो प्रावधान इस नीति में शामिल किये गये उनमें आदिवासी क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालयों को प्राथमिकता के आधार पर खोलना, पाठ्य सामग्री आदिवासी भाषा में उपलब्ध कराना, शिक्षित आदिवासी युवकों को अध्ययन कार्य से जोड़ना, आदिवासी क्षेत्रों में आश्रम आवासीय विद्यालय खोलना, आदिवासी छात्रों की आवश्यकताओं को देखते हुए बालकों को प्रोत्साहित करने के लिये कदम उठाना आदि हैं।

हर किसी इन्सान को अपनी मातृभूमि पर जितना गर्व होता है, उतना ही अपनी मातृभाषा पर होता है। यह गर्व उस इन्सान की अस्मिता से जुड़ा होता है, जो

सीधा–सीधा सवाल है उसके मौलिक अधिकारों का जिसकी गारंटी हमारा संविधान देता है। माह फरवरी 2010 के मध्य में अण्डमान में 85 वर्षीय बोआ सीनियर नामक एक महिला की मृत्यु के साथ दुनिया की 'बो' भाषा हमेशा के लिये अस्तित्वहीन हो गई। वह महिला एक मात्र सदस्य थी इस भाषा को बोलने वाली। हिंदी भाषा के शलाका पुरुष भारतेंदु हरिश्चंद्र जी की प्रख्यात दोहा–उक्ति है 'निज भाषा उन्नति है सब उन्नति को मूल।' भाषा है तो शिक्षा है। शिक्षा है तो व्यक्तित्व का निर्माण है। व्यक्तित्व के निर्माण के साथ राष्ट्र का निर्माण जुड़ा हुआ है। अशिक्षित व नासमझदार जनता का देश ही पिछड़ेपन का शिकार होता है। इसलिए आदिवासी समाज के सर्वांगीण विकास का प्रश्न अंततः आदिवासी समुदायों की भाषाओं के संरक्षण एवं विस्तार से सम्बन्ध रखता है। सुनीति कुमार चटर्जी ने आदिवासी भाषाओं के बारे में यह चिन्ता व्यक्त की है कि अधिकांश भाषाएं धीरे–धीरे मर जायेंगी। आदिवासी भाषा के अस्तित्व का सवाल आदिवासी संस्कृति, परम्परा से जुड़ा हुआ है। तथाकथित विकास या कहे बाहरी दबाव के चलते आदिम जीवन शैली में परिवर्तन अवश्यम्भावी है जिसका प्रभाव संस्कृति व परम्परा व अन्ततः भाषाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। आदिवासी भाषाओं का संरक्षण तभी सम्भव होगा जब आदिवासी संस्कृति व परम्परा पर गर्व किया जाये और आदिवासी समाज में जो भी ज्ञान का परम्परागत संचयन है उसे आदिवासी भाषाओं में लिपिबद्ध कर संकलित किया जाये। इसके बाद अनुवाद का मुद्दा सामने आता है। यूनेस्को की वर्ष 2009 की रिपोर्ट में विश्व की कुल 6000 भाषाओं में से गत 75 वर्षों में 200 भाषाओं के लुप्त हो जाने का तथ्य उजागर हुआ है। साथ ही 2500 भाषाओं को खतरे में बताया गया है। इनमें से 196 भाषाएं भारत की हैं जिनमें अधिकांश आदिवासी भाषाएं हैं। आदिवासी भाषाओं के लुप्त होने का प्रमुख कारण आदिवासी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाना है। दूसरा प्रमुख कारण लिपियों का अभाव है।

भूमंडलीकरण ने आदिवासी समाज की अस्मिता एवं अधिकारों को किस तरह प्रभावित किया है, यह भी देखने की बात है। अनेक अध्ययनों से यह निष्कर्ष सामने आये हैं कि 1990 के दशक में जिस कदर वैश्वीकरण–निजीकरण–उदारीकरण की नीतियों को अंधाधुंध तरीकों से लागू किया, उसकी वजह से गरीबी ने 15 करोड़ लोगों को प्रभावित किया। इस जनसंख्या का एक तिहाई आबादी आदिवासी–समाज की रही। आदिवासी दृष्टिकोण से वैश्वीकरण का दुष्प्रभाव अब स्पष्ट रूप से सामने आने लगा है, देशी–विदेशी कंपनियों का इस कदर व्यवस्था पर वर्चस्व कायम होगा, यह शायद किसी ने उम्मीद नहीं की थी। विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र (एस.सी.ई.) की निदेशक सुनीता नारायण ने सितम्बर 2011 में रपट जारी करते हुए यह तथ्य उजागर किया कि 11वीं

पंचवर्षीय योजना के तहत इतनी परियोजनाओं को वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने स्वीकृति दे दी जो 12वीं पंचवर्षीय परियोजना के लक्ष्य से भी अधिक है। रपट में यह खुलासा किया गया है कि वर्ष 2007 से 2011 की अवधि में देश के तमाम क्षेत्रों में प्रस्तावित विकास परियोजनाओं को दी गई मंजूरियों से पहले यह नहीं सोचा गया कि ताप, ऊर्जा, कोयला, सीमेन्ट, स्टील एवं अन्य इकाइयों को कुल मिलाकर 8284 परियोजनाओं के लिए दो लाख तीन हजार पांच सौ छियत्तर हेक्टेयर वन भूमि औद्योगिक संस्थानों को दी गई, जो पिछले तीस सैलून में इस्तेमाल की गई वन भूमि का 25 प्रतिशत है। अकेले वर्ष 2009 में ही सबसे ज्यादा सत्तासी हजार आठ सौ तिरासी हेक्टेयर भूमि का इस्तेमाल विकास परियोजनाओं में किये जाने की मंजूरी दी गई।

सी.एस.ई. के उपमहानिदेशक चन्द्र भूषण ने सवाल उठाया कि जब पहले से मंजूर परियोजनाओं पर काम शुरू नहीं हुआ, ऐसे में नई परियोजनाओं को मंजूरी देने में इतनी तेजी दिखाने के पीछे सरकार की क्या मंशा है? क्या यह जल, जमीन, जंगल पर निजी क्षेत्र के कब्जा करने का कोई नया घोटाला है? इनमें तमाम ऐसे मामले शामिल हैं जिनमें वन और पर्यावरण मंत्रालय की मंजूरी की आड़ में कम्पनियां खानों, पानी व कोयले का लाइसेंस ले रही हैं। यह उन्हें राज्य स्तर पर ही मिल जाता है। केन्द्रीय नियंत्रण बोर्ड ने जिन इलाकों को अत्यधिक प्रदूषित बताते हुए वहां नये संयंत्र न लगाने की सिफारिश की थी उन इलाकों में भी बड़े पैमाने पर नई परियोजनाओं को हरी झण्डी दी गई। सी.एस.ई. ने ऐसी मंजूरियों को रद्द करने की मांग की। ऐसे इलाकों में चन्द्रपुर, धनबाद, रायपुर वगैरह शामिल हैं। भारत की वन नीति में स्पष्ट रूप से जंगलों में रहने वाले आदिवासियों के गांवों को बाकायदा 'वन्य–ग्राम' की संज्ञा दी गई है और यह भी प्रावधान रखे गये हैं कि राजस्व गांवों की तरह सारी सुविधाएं वन्य गांवों को उपलब्ध करायी जाएं जिनमें शिक्षा, चिकित्सा, विद्युत, संचार, सड़क, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, अनाज भण्डार, विकसित कृषि, पशु–चिकित्सालय, बैंक, सहकारी संस्थाएं, छुटपुट वनोत्पाद का उपभोग, बिचौलियों के शोषण से मुक्ति की व्यवस्था आदि–आदि शामिल हों। आदिवासी विकास का मुद्दा सीधे रूप में आदिवासी समाज के मानवाधिकारों का मुद्दा है। यह समस्या अत्यन्त जटिल रही है और इसकी एक मात्र वजह यह रही है कि उनके विकास की बात उनकी जीवनशैली, सांस्कृतिक परम्पराओं एवं मनोदशा को ध्यान में रखकर नहीं की गई है।

गत एक दशक में औद्योगिक परियोजनाओं की वजह से चार प्रान्तों यथा आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड और ओड़िसा में 14 लाख लोग विस्थापित किये गये।

'एक्शन एंड इण्डियन सोशियल इन्स्टीट्यूट' और 'लाया' संगठन द्वारा किये गये सर्वेक्षणों से यह तथ्य सामने आया। सर्वे–क्षेत्रों में विस्थापितों का 79 प्रतिशत अनुसूचित आदिवासी थे, जबकि भारत की कुल आबादी का आदिवासी लोग मात्र 8.6 प्रतिशत हैं। विस्थापन के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन, जीविका, पुश्तैनी आवास और पूजा–स्थलों के साथ–साथ प्रकृति और वन्य जीवों के परिवेश से बेदखल होना पड़ा। इसके साथ–साथ उनके कुएं, श्मशान स्थल, तालाब, नदी, झरने आदि छूट गये और उन्हें अपनी जीवन शैली बदलने की मजबूरी सहनी पड़ी जो उनकी हजारों वर्षो की परम्परा को छिन्न–भिन्न करने का कारण बना। सर्वाधिक नुकसान हुआ उनकी सामूहिकता और सामाजिक सुरक्षा को। इस सबके लिए इस क्षेत्र में केवल चार ही परियोजनाएं उत्तरदायी रहीं जो हैं– वेदांत रिफाइनरी (ओड़िसा) पोल्लवरम बांध (आंध्र प्रदेश), टाटा आइरन ओर (छत्तीसगढ़) और सुवर्ण रेखा परियोजना (झारखंड)। इन सर्वेक्षणों से यह तथ्य सामने आया कि 66 प्रतिशत विस्थापितों का पुनर्वास सरकार के स्तर पर नहीं किया गया और उन्हें अपने हाल पर जीवन गुजारने को विवश होना पड़ा। विस्थापितों में से 86 प्रतिशत ने अन्य जागरूक लोगों के सहयोग से इस विस्थापन का आरम्भ से तीव्र विरोध किया।

आदिवासियों को लेकर चिन्तित व चिन्तनशील प्रख्यात शोधकर्ता प्रशासक स्व॰ कुमार सुरेशसिंह ने आदिवासियों के वर्तमान व भविष्य पर विमर्श करते हुए लिखा है कि 'उनकी समस्या अधिक जटिल होती जा रही है।' इस शताब्दी में जो नकारात्मक रुझान सामने आ रहा है, उनमें कुछ निम्न हैं–

- आदिवासी क्षेत्रों में पर्यावरण और संसाधनों पर भारी दबाव पड़ेगा। जनसंख्या में लगातार हो रही वृद्धि से गैर आदिवासी क्षैत्रों में आने से संसाधनों पर दबाव कई गुना बढ़ेगा।
- आदिवासियों का शोषण सस्ते मजूदर के रूप में बढ़ेगा और उनके संसाधनों का अधिग्रहण और हस्तान्तरण कमोबेश जारी रहेगा।
- छोटे–छोटे अतिप्राचीन आदिवासी समुदाय विलुप्त हो जायेगे।
- आदिवासी समाज का द्वंद्व गहरा होगा। ईसाई और गैर ईसाई आदिवासियों में, सम्पन्न और गरीब तबकों में खाई बढ़ेगी। आदिवासी मर्द और औरतों के बीच सम्पत्ति को लेकर तनाव बढ़ेगा।

आजादी मिलने के बाद भी उस आदिवासी भारत को देखने का दृष्टिकोण नहीं बदला। वही उपनिवेशवादी मानसिकता का दोआयामी चश्मा, या तो वह समाज दिखता

है जंगली बर्बर अथवा समृद्ध प्रकृति की गोद में नाचता गाता मस्त। यह कोई नहीं देखता कि उस समाज के लोग तथाकथित सभ्यों से अधिक सरल, समझदार व ईमानदार हैं। उनकी 'मस्ती' उनका स्वभाव है न कि भौतिक दशा। पृथ्वी के जिन रस–रत्नों को चूस–खोदकर लोग मजे कर रहे हैं उस प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण शताब्दियों से इन्हीं आदिवासियों ने किया है और वह भी 'ट्रस्टी' की हैसियत से।

कहा जा रहा है कि सूचना क्रांति के इस उत्तर आधुनिक वैश्वीकृत युग में सब कुछ 'ओपन' होता जा रहा है। यहां तक कि आप और हमारी निजी जिंदगी के पहलू भी, तो फिर क्या रहस्य है जो ये आदिवासी लोग अभी भी अपनी दुनिया से बाहर आने में कतरा रहे हैं, झिझक रहे हैं, बिदक रहे हैं?

आदिवासी समाज की अस्मिता, उसके मौलिक अधिकार, उसका अस्तित्व सुरक्षित रहेगा तो जंगल सुरक्षित रहेगा। जंगल सुरक्षित रहेगा तो प्रकृति बचेगी। प्रकृति बचेगी तो पृथ्वी और पृथ्वी सही सलामत है तो उसका आसमान भी। इसीलिए संसार का प्रत्येक आदिम समुदाय धरती को माँ तथा आकाश को पिता मानकर चलता है, हवा व पानी को क्रमशः बहन तथा भाई और अग्नि को मित्र, चाहे वह उत्तरी अमेरीका का रेड इन्डियन हो, दक्षिणी अमेरीका का बुश नीग्रो हो, अफ्रीका का जूलू या फिर अंडमान का जारवा।

मैं उल्लेख कर रहा हूं उदयप्रकाश की उस कविता का जिसमें वे कहते हैं कि 'आदमी मर जाने के बाद बोलता नहीं/आदमी मर जाने के बाद सोचता नहीं/नहीं बोलने और नहीं सोचने पर आदमी मर जाता है। आदिवासी समाज की अस्मिता और उसके मूलभूत अधिकारों के लिए बहुत कुछ है सोचने, बोलने और करने के लिए।

❖❖❖❖❖

खण्ड – पांच

विचाराधीन बंदियों को त्वरित न्याय

विचाराधीन कैदियों को त्वरित न्याय : समस्या और समाधान

डॉ॰ सोनू •

भूमिका

न्याय में देरी, अन्याय है। यह न्याय के क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली एक लोकप्रिय सूक्ति है। इसका भावार्थ यह है कि यदि किसी को न्याय मिल जाता है किन्तु इसमें बहुत अधिक देरी हो गयी हो तो ऐसे 'न्याय' की कोई सार्थकता नहीं होती। यह मुहावरा न्यायिक सुधार के समर्थकों का प्रमुख हथियार है। न्यायिक सुधार, विधिक सुधार का एक हिस्सा है। विधिक सुधार में न्यायिक सुधार के साथ–साथ कानूनी ढांचे में परिवर्तन, कानूनों में सुधार, कानूनी शिक्षा में सुधार, जनता में विधिक जागरुकता लाना, न्याय का त्वरित एवं सस्ता बनाना आदि भी शामिल है। न्यायिक सुधार का लक्ष्य न्यायालयों में सुधार, वकालत में परिवर्तन, दस्तावेजों का रख रखाव आदि सम्मिलित है। न्यायिक संस्था और विधि का शासन, आधुनिक सभ्यता और लोकतांत्रिक शासन की आवश्यकता है। दुर्भाग्य से महाशक्ति बनने की ओर अग्रसर अपना देश न्यायिक मोर्चे पर सब–कुछ ठीक नहीं रख पा रहा। सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति तो विचाराधीन कैदियों की है, जो इस बात का प्रमाण है कि किस तरह न्याय मिलने में देरी लाखों लोगों की जिंदगी पर कहर बरपा कर रही है।

चौंकाने वाले तथ्यों के अनुसार 67.6 प्रतिशत विचाराधीन कैदी देश भर की जेलों में सड़ रहे हैं। यह अनुपात दुनिया के दस खराब बातों में से एक है।[1] इन विचाराधीन कैदियों में से लगभग 2,000 से अधिक कैदी पांच साल से जेलों में बंद हैं। भारत की जेलों में औसत अधिभोग दर 112.2% है। छतीसगढ़ (25.2%) और दिल्ली (193.8%) की देश में सबसे खराब अधिभोग स्थिति है।[2]

विचाराधीन कैदी की परिभाषा

विचाराधीन कैदी आम आदमी के नजरिये में एक ऐसा व्यक्ति होता है जो अपने परीक्षण का इंतजार कर रहा हो या जिसे रिमांड पर लेकर जेल में डाल दिया गया हो।

• सहायक प्रोफेसर, विधि संकाय, एम. डी. यू., रोहतक

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, ''एक ऐसा व्यक्ति जिसके विरुद्ध कानून की अदालत में मुकदमा चल रहा हो।'' विधि आयोग की 78वीं रिपोर्ट के अनुसार एक व्यक्ति जो न्यायिक हिरासत में भेजा गया हो, वह भी विचाराधीन कैदी की परिभाषा में सम्मलित हैं।

साधारणतया जब किसी व्यक्ति को वारंट के साथ अथवा वारंट के बगैर गिरफ्तार किया जाता है तो उसे विचाराधीन कैदी की संज्ञा दी जाती है।[3]

विचाराधीन कैदियों की दशा : एक तस्वीर

सरकारी आंकड़ों के अनुसार भारत में 4,30,000 लोग जेलों में बंद हैं, जिनमें से तीन लाख केवल इसलिए बंद हैं कि उनके मुकदमे का निर्णय होना है। 2007 में यह संख्या केवल 2,50,727 थी। केवल तीन वर्षों में विचाराधीन बंदियों की संख्या में 50,000 का इजाफा हो गया। 2007 में विचाराधीन बंदियों की कुल संख्या में से 1891 विचाराधीन कैदी पांच वर्ष से भी अधिक समय से बंद थे।[4]

अगस्त 2010 में भारत के मुख्य न्यायाधीश ने कहा था कि अपराधिक न्याय तंत्र के लिए यह भयावह स्थिति है। इनमें ऐसे बंदी भी सम्मिलित हैं जिन पर चल रहे मुकदमे में जितनी सजा दी जा सकती है, उससे कहीं अधिक वे फैसले के इन्तजार में जेल में रह चुके हैं। 52 हजार से अधिक बंदी ऐसे हैं जिन पर हत्या करने का आरोप हैं। हो सकता है कि पांच वर्ष से अधिक समय से बंद 1891 विचाराधीन बंदी हत्या के ही अपराध में हों, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कितने ऐसे हैं जिन पर हत्या का आरोप संदेह के परे साबित किया जा सकेगा।[5] पूर्व प्रधान न्यायधीश के. जी. बालाकृष्णन ने राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो की रिपोर्ट का हवाला देते हुए कहा था कि देश की 1,393 जेलों में करीब तीन लाख 69 हजार कैदी हैं जबकि इन जेलों की क्षमता तीन लाख 20 हजार 450 कैदियों को ही रखने की है। इन कैदियों में विचाराधीन बंदियों की संख्या काफी ज्यादा है।[6]

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो द्वारा जारी 2013 के जेल के आंकड़ों के अनुसार विचाराधीन कैदी जेलों में बंद कुल जनसंख्या का दो–तिहाई हैं। वास्तविकता में, 2012 से 2013 में दोषियों की संख्या से 1.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि विचाराधीन कैदियों में ये इजाफा 9.3 प्रतिशत है।[7] इन विचाराधीन कैदियों के बारे में चिंताजनक बात यह है कि दोषी ठहराए जाने के बाद इन्हें जितना समय जेल में बिताना था, ये उससे ज्यादा समय विचाराधीन कैदी के तौर पर जेल में बिता चुके हैं। 2013 के आंकड़ों के अनुसार विचाराधीन कैदियों का 37.9 प्रतिशत हिस्सा लगभग 3 महीने से जेल में बंद है, तथा

रिकार्ड 3,047 विचाराधीन कैदी लगभग 5 साल से देश की विभिन्न जेलों में भरे पड़े हैं।[8] (देखें तालिका 1)

तालिका 1 : विचाराधीन कैदियों की हिरासत की अवधि (2013 के अंत तक)

कैद की अवधि	विचाराधीन कैदियों की संख्या	कुल विचाराधीन कैदियों का प्रतिशत
3 महीने से कम	105,457	37.9
3 से 6 महीने	59,344	21.3
6 से 12 महीने	49,155	17.6
1 से 2 वर्ष	34,448	12.4
2 से 3 वर्ष	17,210	6.2
3 से 5 वर्ष	9,842	3.5
5 साल से ज्यादा	3,047	1.1

स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो, जेल आंकड़े, 2013

एक अध्ययन के अनुसार, विचाराधीन कैदियों की संख्या और उनकी शिक्षा के बीच निकट संबंध है। (देखें तालिका 2) विचाराधीन कैदियों का 30 प्रतिशत बड़ा हिस्सा अशिक्षित है, 43 प्रतिशत ऐसा है जिसने स्कूली शिक्षा केवल प्राथमिक स्तर तक ही प्राप्त की है। इस प्रकार विचाराधीन कैदियों का दो–तिहाई हिस्सा अपने कानूनी अधिकारों से अवगत नहीं है और यदि है तो बहुत कम।

तालिका 2 : कैदियों का विवरण (शिक्षा अनुसार, 2013)

शिक्षा का स्तर	विचाराधीन कैदियों की संख्या	कुल विचाराधीन कैदियों का प्रतिशत
अशिक्षित	80,393	30.07
दसवीं कक्षा तक	117,373	43.32
दसवीं कक्षा से स्नातक से नीचे	56,806	19.57

शिक्षा का स्तर	विचाराधीन कैदियों की संख्या	कुल विचाराधीन कैदियों का प्रतिशत
स्नातक	16,233	4.89
स्नातकोत्तर	5,056	1.35
कुल विचाराधीन कैदी	278,503	100:

स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो, जेल आंकड़े, 2013

उच्च न्यायालयों से एकत्र डाटा की समीक्षा करने के बाद निम्नलिखित चिंता के विषय उभर कर सामने आते हैं[9] :

(क) जेल में बंद कैदियों का 63 प्रतिशत हिस्सा विचाराधीन कैदी है,

(ख) विचाराधीन कैदियों के 226 मुकदमे 10 साल से ज्यादा समय से कचहरी में लम्बित पड़े हैं तथा 52 विचाराधीन कैदी 10 साल से ज्यादा समय से जेल में बंद हैं,

(ग) विचाराधीन कैदियों के 18,000 से ऊपर मुकदमे 3 साल से ज्यादा समय से लम्बित हैं जिनमें से 80 प्रतिशत मुकदमे केवल 7 राज्यों के हैं तथा

(घ) जेल स्टॉफ के 33 प्रतिशत पद खाली पड़े हैं जो जेल की दयनीय स्थिति में योगदान का काम कर रहा है।

परीक्षण में देरी के कारण

सरकार के कार्यकारी और न्यायिक शाखाओं के द्वारा विभिन्न कार्यक्रम शुरू करने के बावजूद, जमीनी स्तर पर बहुत कम बदलाव आए हैं तथा लाखों की संख्या में विचाराधीन कैदी जेलों में भरे पड़े हैं। गृह मंत्रालय के लगातार जेल अधिकारियों को निर्देश तथा माननीय सुप्रीम कोर्ट के 2014 के फैसले[10] के बावजूद विचाराधीन कैदियों की संख्या में इजाफा हो रहा है।[11]

(1) जनसंख्या–जन अनुपात– हमारी न्याय प्रणाली में सबसे बड़ी चुनौती जनसंख्या–जन अनुपात है जो विचाराधीन कैदियों के भाग्य को प्रभावित करता है।[12] 2012 के आंकड़ों के अनुसार देश में न्यायाधीशों की संख्या देश की आबादी और लंबित मुकदमों के अनुपात में बहुत कम है। इस बात का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहां अमेरिका में प्रत्येक दस लाख की आबादी पर 111

न्यायाधीश नियुक्त हैं, वहीं भारत में इनकी संख्या केवल 11 है। इस तरह हम अमेरिका के मुकाबले केवल दस प्रतिशत कम न्यायाधीशों से काम चला रहे हैं। विधि आयोग ने 31 जुलाई 1987 को दी अपनी 120वीं रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि दस लाख की आबादी पर न्यायाधीशों की संख्या 10.5 से बढ़ाकर 50 की जानी चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक पारित निर्णय[13] में केन्द्र और राज्यों को निर्देश दिया था कि वे प्रति दस लाख आबादी पर न्यायाधीशों के 10.5 से 13 तक के तत्कालीन अनुपात को शीघ्रता से 50 तक बढ़ाएं, लेकिन बिना न्यायाधीशों और न्यायालयों की संख्या में वृद्धि किए यह किसी प्रकार से संभव नहीं है। एक मुकदमे में सुनवाई सिर्फ न्यायाधीश कर सकता है। इसके लिए उसे पूरी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जिसमें समय लगना स्वाभाविक है। गवाहों के बयान दर्ज करने की गति को तो किसी प्रकार से नहीं बढ़ाया जा सकता है। इस तरह मुकदमों के निपटारे के लिए सारा दवाब न्यायाधीशों और वकीलों पर बनाया जाता है और उसके खराब नतीजे सामने आ रहे हैं और उनसे हमारी न्याय व्यवस्था की साख गिरती जा रही है।[14] वर्तमान में 10 लाख लोगों के अनुपात में 15 जज ही हैं, जो अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, ब्रिटेन और कनाडा जैसे देशों के मुकाबले में बेहद कम है।[15]

(2) **विभिन्न अदालतों में जजों के रिक्त पद**– न्यायपालिका के हर स्तर पर बहुत सारे मामले लंबित पड़े हैं। उच्च न्यायालयों तथा निचले न्यायालयों में रिक्त पड़े पद लंबित मामलों में वृद्धि का एक बड़ा कारण हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार देश भर के उच्च न्यायालयों में 44 प्रतिशत तथा निचले न्यायालयों में 25 प्रतिशत रिक्तियां हैं। 29 फरवरी 2016 तक हमारे उच्चतम न्यायालय सुप्रीम कोर्ट में अनुमोदित 31 जजों की बजाय 25 जज ही हैं। इसका मतलब सर्वोच्च न्यायालय 6 रिक्तियों साथ देश की न्याय व्यवस्था चला रहा है। वहीं विभिन्न उच्च न्यायालयों में जहां 1056 अनुमोदित जजों की संख्या है, वहां 464 रिक्त स्थान हैं। यही हाल हमारी निचली अदालतें झेल रही हैं। जून 2015 तक जहां 20358 अनुमोदित पद थे, वहां 4998 रिक्त पद निचली अदालतों में थे।[16] कानून मंत्रालय के ताजा आंकड़ों के मुताबिक देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों में 458 न्यायाधीशों की कमी है। आंकड़ों के मुताबिक इन न्यायालयों में 1,079 न्यायाधीशों के स्वीकृत पदों के विपरीत 24 उच्च न्यायालय महज 621 न्यायाधीशों के भरोसे काम कर रहे हैं और 458 न्यायाधीशों की कमी है।[17]

(3) **अपर्याप्त धन**– 13वें वित्त आयोग ने देश के विभिन्न राज्यों की अदालतों में वर्षों से लंबित मामलों के निष्पादन के लिए 5000 करोड़ रुपयों का आबंटन किया था,

जो 2010 से 2015 के दरम्यान खर्च होना था। वर्ष 2014–15 में भारतीय न्यायपालिका को कुल बजट का केवल 1 प्रतिशत आबंटित किया गया था, जो कि न्याय व्यवस्था के लिए अपर्याप्त धन है।

(4) **जमानत प्रणाली के साथ समस्या**– वर्तमान जमानत प्रणाली भी कैदियों की लंबी हिरासत में योगदान देती है। हमारी आपराधिक प्रक्रिया संहिता 1973, 'जमानत' को परिभाषित ना कर जमानती अपराध और गैर जमानती अपराध को परिभाषित करता है। जमानती अपराध कम गंभीर अपराधों के श्रेणी में आते हैं। ऐसा अभियुक्त अगर जमानती राशि पेश कर देता है तो उसे तुरंत जमानत पर रिहा कर दिया जाता है। गैर जमानती अपराधों के आरोपी व्यक्ति को केवल इस शर्त पर जमानत दी जाती है कि अगर वो प्रभावशाही गवाहों/सबूतों के साथ छेड़छाड़ या किसी भी तरीके से पुलिस जांच में बाधा नहीं डालेगा। मौजूदा जमानत प्रक्रिया का केवल गरीब और वंचित लोग लाभ नहीं उठा पाते।

(5) **गरीबी और निरक्षरता**– अंत में विभिन्न प्रणालीगत मुद्दों से अलग, विचाराधीन कैदियों के लिए ये बात मायने रखती है कि वे कौन हैं। उनमें से ज्यादातर गरीब, अनपढ़, निचली जातियों और धार्मिक अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित है। ये लोग या तो नए उपायों से अनभिज्ञ हैं या किसी निजी मुचलके की व्यवस्था नहीं कर पाते। इसी कारण जमानती प्रावधान औंधे मुंह गिर जाते हैं। (देखें तालिका 3)

तालिका 3 : कैदियों का विवरण (धर्म और जाति के अनुसार)

	गुनहगार	प्रतिशत	विचाराधीन	प्रतिशत
कुल	129,608		278,503	
हिन्दू	93,273	72.00	192,202	69.00
मुस्लिम	22,145	17.10	57,936	21.00
जति				
सामान्य वर्ग	43,855	33.80	99,748	35.80
अन्य पिछड़ा वर्ग	41,446	32.00	87,848	31.50
अनुसूचित जाति	29,130	22.50	59,326	21.30
अनुसूचित जनजति	15,177	11.70	31,581	11.30

स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो, जेल आंकड़े, 2013

विचाराधीन कैदियों से सम्बन्धित धारा

संसद ने सन् 2005 में भारतीय प्रक्रिया संहिता 1973 में संशोधन कर धारा 436ए का प्रावधान किया। एक विचाराधीन कैदी को कब तक हिरासत में रखा जा सकता है, यह धारा इसके बारे में बताती है।

धारा 436ए एक नवीन प्रावधान है जिसके अनुसार यदि कोई अभियुक्त उस अपराध के लिए निर्धारित कारावास की अधिकतम अवधि से आधे से अधिक अवधि तक अन्वेषण, जांच या विचारण के दौरान निरोध में रहा है, तो न्यायालय उसे जमानत पर रिहा कर देगी। अपराध मृत्यु दंड से दंडनीय नहीं होना चाहिए, साथ ही अभियोजन को सुनकर लेखबद्ध करते हुए उसे आगे भी निरोध में रखने का आदेश कर सकता है। परन्तु कोई अभियुक्त किसी अपराध के लिए जितना अधिकतम दंड निर्धारित है, उससे अधिक अवधि के लिए जेल में नहीं रखा जाएगा। साथ ही अभियुक्त की ओर से विलम्ब कारित हुआ है तो उस अवधि को अपवर्जित कर दिया जाएगा।

इस प्रावधान का उद्देश्य यह है कि किसी भी व्यक्ति को उस अधिकतम अवधि से अधिक अभिरक्षा में नहीं रखा जाये, जो उस अपराध के लिए उसे दण्ड के रूप में दी जा सकती है। इसलिए इस प्रावधान में आधे से अधिक अवधि होते ही जमानत पर छोड़े जाने के निर्देश हैं। अतः सभी न्यायिक मजिस्ट्रेट्स को इस संबंध में सतर्क रहना चाहिए और जिन मामलों में अभियुक्त अभिरक्षा में है, उनका शीघ्र निराकरण करना चाहिए।

विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा के लिए राज्य की प्रतिक्रिया

(1) **मुल्ला समिति**– विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा को गंभीरता से लेते हुए कार्यकारी शाखा द्वारा कदम उठाये गये। विचाराधीन कैदियों की बढ़ती संख्या को ध्यान में रखते हुए जनता सरकार ने 1977 में गहराई से मामले का अध्ययन करने और सुधार एवं नीति व्यवस्था करने के लिए 78वें विधि आयोग से पूछा। 1980 में सरकार द्वारा जेल सुधारों के लिए मुल्ला समिति गठित की गई। मामले का संज्ञान लेते हुए मुल्ला समिति[18] ने कहा कि सबसे ज्यादा संख्या जेल में बंद उन विचाराधीन कैदियों की है जो आंशिक रूप से पिछड़े वर्ग से संबंधित हैं और अपनी जमानत राशि भरने में अक्षम हैं।

(2) **फास्ट ट्रैक न्यायालय** – विचाराधीन कैदियों की स्थिति सुधारने के लिए सबसे प्रभावशाली उपाय 2000 के दशक में सामने आया जब माननीय उच्चतम न्यायालय

ने केन्द्र सरकार और सभी राज्य सरकारों को विचाराधीन कैदियों, जो दो साल से ज्यादा समय से जेलों में बंद हैं, की सुनवाई के लिए फास्ट ट्रैक न्यायालय का गठन करने का निर्देश दिया। तदनुसार, जिला और अधीनस्थ न्यायालयों से सभी विचाराधीन मामलों को शीघ्र निपटाने के लिए फास्ट ट्रैक न्यायालय में स्थानांतरित कर दिया गया। वास्तविक गति इस परिप्रेक्ष्य में 2005 में आई जब भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 436 में 436ए को जोड़कर संशोधन किया गया।

(3) **मिशन मोड कार्यक्रम** – पिछले कुछ वर्षों में कार्यकारी द्वारा विचाराधीन कैदियों के विषय में कुछ सकारात्मक कदम उठाए गए। उदाहरण 2010 में कार्यकारी शाखा द्वारा ''द मिशन मोड प्रोग्राम फॉर डिलिवरी ऑफ जस्टिस एण्ड लीगल रिफार्म्स– अंडरट्रायल प्रोग्राम'' शुरू किया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य विचाराधीन कैदियों के दो–तिहाई मामलों का निपटारा एवं 31 जुलाई 2010 तक जेलों में भीड़ को कम करना था।

मौजूदा स्थिति

गृह मंत्रालय राज्य सरकारों को धारा 436ए के कार्यान्यवन को सुनिश्चित करने के लिए परामर्श भेजता है। केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने वर्ष 2011, 2013 और 2014 में कुछ दिशा–निर्देश भेजे। अपने परामर्श में गृह मंत्रालय ने कहा कि केवल गरीब और निर्धन व्यक्ति जो जमानत प्रस्तुत करने में अक्षम हैं, लम्बी अवधि जेल में बिताने पर मजबूर हैं।

इसलिए जनवरी 2013 में गृह मंत्रालय ने राज्य सरकारों से निम्न क्रियाओं पर विचार करने को कहा –

(1) हर जिले में एक समीक्षा समिति जिसके अध्यक्ष के रूप में जिला न्यायाधीश तथा सदस्यों के रूप में जिला मजिस्ट्रेट एवं जिला पुलिस अधीक्षक होंगे, का गठन जो कि हर तीन महीने में मामलों की समीक्षा करेंगे।

(2) जिन विचाराधीन कैदियों के अपनी अधिकतम सजा का एक–चौथाई जेल में बिता दिया है, उनकी जेल अधीक्षक द्वारा एक सूची तैयार की जाए तथा जिला विधिक सेवा प्राधिकरण केन्द्र शासित प्रदेशों की समीक्षा समिति को भेजा जाए।

(3) जेल अधिकारी विचाराधीन कैदियों को उनके अधिकारों के बारे में शिक्षित करें।

(4) कानूनी सहायता प्रदान करें।

(5) विचाराधीन कैदियों की सूची जिला मजिस्ट्रेट/न्यायधीशों को जो जेलों की आवधिक निरीक्षण करते हैं, को उपलब्ध कराई जाएं।

गृह मंत्रालय ने उपरोक्त क्रियाओं को तत्काल प्रभाव से लागू करने को कहा परन्तु ज्यादातर राज्यों में अभी तक समीक्षा समिति का गठन तक नहीं किया है।

सुप्रीम कोर्ट का हस्तक्षेप : एक निर्णायक प्रतिक्रिया

सामान्य तौर पर कैदियों और विशेष रूप से विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा से संबंधित मुद्दों को राज्यों द्वारा गंभीरता से लिया जाता है। हालांकि, ज्यादातर सकारात्मक योगदान न्यायिक हस्तक्षेप के माध्यम से होता है। देश की उच्च न्यायपालिका कैदियों और विशेषकर विचाराधीन कैदियों के कल्याण में सुधार के लिए प्रतिबद्ध है। विचाराधीन कैदियों के मुद्दे पर गंभीर न्यायिक हस्तक्षेप 1979 में शुरू हुआ जब उनकी दुर्दशा से संबंधित एक आलेख इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित किया गया था। उसमें लिखा गया कि किस तरह हजारों विचाराधीन कैदी सालों–साल खराब स्थिति में जेल में अपना समय बिताने पर मजबूर हैं। इस आलेख से प्रभावित हो एक महिला वकील कपिला हिंगोरानी ने सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिका दाखिल की और आखिरकार हुसैनारा खातून के निर्णय[19] में त्वरित न्याय (सुनवाई) को एक मौलिक, संवैधानिक अधिकार का महत्वपूर्ण फैसला दिया गया।

विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा से सम्बन्धित सबसे निर्णायक प्रतिक्रिया वर्ष 2014 था जब अपने अतीत के निर्देशों[20] पर प्रगति न दिखाई देने पर 5 सितम्बर 2014 को सर्वोच्च न्यायालय ने देश की आपराधिक न्याय प्रणाली के प्रबंध में विभिन्न संस्थानों की एक श्रृंखला जारी की। कोर्ट ने राज्यों के न्यायिक अधिकारियों को निर्देश दिए कि जो विचाराधीन कैदी अपराध की निर्धारित सजा का आधे से ज्यादा समय जेल में बिता चुके हैं, उनके मुकदमे की लंबित प्रक्रिया में तेजी लाकर उन्हें रिहा किया जाए। विचाराधीन कैदियों के अपने पहले के फैसले के प्रति लापरवाही का संज्ञान लेते हुए न्यायालय ने इसे गंभीर मुद्दा बताया।

सुप्रीम कोर्ट ने मई 2015 में भी राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण को केन्द्रीय गृह मंत्रालय के साथ समन्वय स्थापित करने को कहा ताकि विचाराधीन कैदियों के मामलों की तत्काल समीक्षा कर उनकी जमानत सुनिश्चित की जा सके। न्यायमूर्ति मदन बी. ठाकुर और यू. यू. ललित की एक सामाजिक न्याय पीठ ने उल्लेख किया कि देश की विभिन्न जेलों में बंद 67 प्रतिशत बेहद गरीब कैदी हैं। इसलिए उन्हें जमानत नहीं

मिल पा रही है। सर्वोच्च न्यायालय ने देश में हर जिले में परीक्षण समीक्षा समिति के तहत कामकाज को सुनिश्चित करने के लिए एक महीने का वक्त दिया।

मामलों की सुनवाई में देरी : प्रमुख मानवाधिकार मुद्दा

मामलों में देरी की वजह से बहुत से विचाराधीन कैदी देश की विभिन्न जेलों में बंद पड़े हैं। अदालतों द्वारा मामलों को तय करने में लगाए गए समय से चिंतित भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने सुझाव दिया कि – न्यायिक देरी की जांच के लिए एक अध्ययन किया जाना चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि अध्ययन में न्यायिक प्रणाली में किस तरह से तेजी लाई जा सकती है, इस पर भी प्रकाश डाला जा सकता है।[21] उन्होंने कहा कि न्याय पाना मूल अधिकार है तथा त्वरित न्याय पाना मानवाधिकार है।

विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा के लिए समाधान

आखिर इस स्थिति का हल क्या है? जेलों में विचाराधीन कैदियों की संख्या कम करने के इरादे से जनवरी, 2010 में तत्कलीन विधि एवं न्यायमंत्री श्री वीरप्पा मोइली ने मिशन अंडरट्रायल शुरू किया था। इस अभिमान के तहत दो लाख से भी अधिक विचाराधीन कैदियों की रिहाई हो चुकी है। इनमें से अधिकांश कैदी छोटे–मोटे अपराधों के आरोप में सालों से जेल में बंद थे और अधिकतम सजा से भी ज्यादा समय जेल में गुजार चुके थे। जेल में ऐसे कैदी भी थे जो जमानत मिलने के बाद जमानती की व्यवस्था नहीं कर पाने के कारण रिहा नहीं हो सके थे।[22]

इसी तरह नागरिकों, विशेषकर ग्रामीणों को उनके द्वार पर ही त्वरित एवं सुलभ न्याय उपलब्ध कराने के उद्देश्य से ग्राम न्यायालयों की स्थापना के लिए बने ग्राम न्यायालय अधिनियम, 2008 को दो अक्तूबर, 2009 से लागू करने की अधिसूचना जारी हुई। इस योजना के अंतर्गत 31 जनवरी, 2012 की स्थिति के अनुसार मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, ओडिशा और कर्नाटक में 151 ग्राम न्यायालयों में काम करना शुरू कर दिया है। सरकार ने इस ग्राम न्यायालयों के बारे में आवर्ती व्यय को पूरा करने के लिए केन्द्रीय सहायता के रूप में राज्यों को 25.29 करोड़ रुपये की राशि प्रदान की थी। वर्ष 2011–12 के लिए इस मद में 150 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया।[23]

देश में गठित की गई विभिन्न कमेटियों और सरकारी दस्तावेजों और कुछ अन्य आधारों पर इस समस्या के निम्नलिखित हल सुझाए जा सकते हैं :

1. सबसे पहले विचाराधीन कैदियों को दोषियों कैदियों से अलग संस्थानों में रखा जाए। वहां भी क्षुद्र अपराधियों तथा संपूर्ण और कट्टर अपराधियों में वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाए।
2. विचाराधीन कैदियों के संस्थान जितना हो सके न्यायालयों के निकट ही होने चाहिए ताकि उन्हें न्यायालय के समक्ष वक्त रहते पेश किया जा सके।
3. आरोपी विचाराधीन कैदियों के मामले में पुलिस की जांच के लिए समय सीमा के संबंध में भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 के प्रावधान का पुलिस और अदालतों द्वारा कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।
4. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 संवैधानिक गारंटी प्रदान करता है। इसलिए महज अधिकारियों की सुविधा के लिए रिमाण्ड का स्वतः विस्तार कर, अनुच्छेद 21 की व्यवस्था नहीं की जा सकती।
5. सभी विचाराधीन कैदियों को प्रभावी ढंग से सुनवाई की तारीखों पर पीठासीन मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाना चाहिए।
6. आई.सी.टी. विचाराधीन कैदियों के लिए एक उम्मीद की किरण के समान है। ई–अदालतें दुनिया के ज्यादातर देशों में अपने पैर जमा रही हैं। इस आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल भारत में बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए।[24]
7. अदालतों में लंबित मामलों की संख्या कम करने की दिशा में 25 वर्षों से लोक अदालतें भी अहम् भूमिका निभा रही हैं। एक अप्रैल 2011 से 30 सितम्बर, 2011 की अवधि में देश में 53,508 लोक अदालतों का आयोजन किया गया जिसमें 13 लाख 75 हजार से अधिक मामलों का निपटारा किया गया। यही नहीं, राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण ने भी जेलों में बंद 26 हजार से अधिक विचारधीन कैदियों को कानूनी सहायता मुहैया कराने के साथ ही उनके खिलाफ लंबित आपराधिक मामलों के निबटारे के लिए जेलों में लोक अदालतें लगाई जिसमें 15 हजार सात सौ से अधिक मामलों का निपटारा किया गया।[25] यदि हम इसी दिशा में अग्रसर रहे तो विचाराधीन कैदियों की समस्या काफी हद तक काबू की जा सकती है।
8. न्यायाधीशों और न्यायिक अधिकारियों के पद बड़ी संख्या में रिक्त होना भी अदालतों में लंबित मुकदमों की संख्या में निरंतर वृद्धि का एक कारण है। उच्च न्यायालय और अधीनस्थ अदालतों में न्यायाधीशों तथा न्यायिक अधिकारियों के

रिक्त पदों को भरने और नए पदों के सृजन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की जानी चाहिए।

9. न्याय वितरण स्थापना के लिए विशेषकर छोटे अपराधों के मामले में अनावश्यक लंबित मामलों को कम करने के लिए वैकल्पिक विवाद समाधान उपकरण को उपयोग में लाने की जरूरत है। इस संबंध में प्ली बारगेनिंग कारगर उपकरण के रूप में काम में लाई जा सकती है।

अंत में विचाराधीन कैदियों की शीघ्र रिहाई एक दीर्घकालिक समाधान नहीं है, अपितु परीक्षण प्रक्रिया में फेरबदल करने की आवश्यकता है और इसके लिए आपराधिक न्याय कानून में बदलाव करने की आवश्यकता है। शीघ्र जांच और आपराधिक मामलों के परीक्षण ही मौजूदा आपराधिक न्याय प्रशासन में दूर की कौड़ी साबित हो सकता है। त्वरित सुनवाई ही त्वरित न्याय प्राप्त करने का एकमात्र समाधान है।

सन्दर्भ – सूची

1. राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (NCRB) रिपोर्ट, 2013, avilable at http://ncrb.nic.in/CD-CH2013/ compendium%202013.pdf assessed on 25.5.2016
2. वृंदा भंडारी, ''ऑन ट्रायल, द क्रिमिनल जस्टिस सिस्टम'', द इंडियन एक्सप्रेस, 26 सितम्बर 2014 available at http://indianexpress.com/article/opinion/ coloums/on-trial-the-criminal-justice- system/ assessed on 26-5-2016.
3. डॉ. टी. गिरी एवं टी.एस.आर. प्रनीथा, ''प्रॉब्लम्स ऑफ अंडरट्रायलस इन इंडिया'', available at http://ijldai.thelawbrigade.com/wp-content/uploads /2016/01/ TGiriTSR.pdf. assessed on 25-5-2016
4. ''अगले दस वर्षों में एक लाख जज नियुक्त करने होंगे'' available at www.teesarakhamba.com assessed on 25-5-2016.
5. वही
6. अनूप भटनागर, ''विचाराधीन कैदियों की बढ़ती तादाद, जेलों में रात्रि अदालतों की जरूरत'', 30 मई 2012 available at www.starnewsagency.in assessed on 25-5-2016.
7. योगेश वाजपेयी, ''बेल ऑउट अंडरट्रायल्स लैंगविशिंग इन जेल्स ऑफ आइडिया ऑफ जस्टिस टू प्रिवेल aavailable at http://www.newindianexpress.com assessed on 25-5-2016.
8. एस. रुकमनी, ''टू थर्ड ऑफ प्रिजन इनमेटस् इन इंडिया आर अंडरट्रायल्स'', द हिन्दू, 30 अक्तूबर 2014 available at http://www.thehindu.com/news/ national/ twothirds-of -prison- inmates-in-india-are-undertrails/article6545617.ece assessed on 26-5-2016.

9. रेजोलूशन अडोप्डिट इन दा चीफ जस्टिस कान्फ्रेंस, 2016 (22nd-23rd, April, 2016 available at supremecourtofindia.nic.in/fileserver/2016-05-06_14625100210.pdf. assessed on 26-5-2016.

10. विजय अग्रवाल बनाम भारत संघ, w.p. (Crl) No. 32/2013 दिनांक 5 सितम्बर 2014

11. एडिटोरियल, द हिन्दू, 19 मई 2015, available at http://www.thehindu.com/ opinion/ editorial/ a-system-under-trial/article7220397.ece assessed on 27-5-2016.

12. बिबेक डेबरॉय, ''जस्टिस डिलिवरी इन इंडिया – ए स्नेपशॉट ऑफ प्रॉब्लम्स एंड रिफॉर्म्स'', आईएसएएस वर्किंग पेपर, नं0 47, जुलाई 2008

13. ऑल इंडिया जजेज़ एसोसिएशन व अन्य बनाम भारत संघ व अन्य, जे टी 2002(3) एससी 503

14. अनिल दीक्षित, ''पीढ़ियां गुजर गई, मुकदमा जारी है'', 31 मई 2010 available at kanooninazeer.blogspot.in assessed on 25-5-2016.

15. 24 अप्रैल 2016, नई दिल्ली, available at www.dnaindia.com assessed on 01-06-2016

16. राकेश दुबुदु, ''इंडिया नीडस थ्री टाइम्स द करंट सैंक्शनड स्ट्रेंथ जजेज़'', मार्च 2016 available at http://factly.in/india-needs-three-times-current-sanctioned-strength-of-judges/ assessed on 25-5-2016.

17. हरिभूमि, ''उच्च न्यायालयों में 458 न्यायाधीशों की कमी'', 4 जनवरी, 2016

18. जेल सुधारों में अखिल भारतीय समिति की रिपोर्ट (1980–83)

19. हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य, (1980) 1 एस सी सी 98

20. विजय अग्रवाल बनाम भारत संघ w.p. (Crl) No. 32/2013 दिनांक 5 सितम्बर 2014, के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने विचाराधीन कैदियों से सम्बन्धित कुछ दिशा–निर्देश जारी किये।

21. दी ट्रिब्यून, 27 मार्च 2006

22. स्टार न्यूज एजेंसी, ''विचाराधीन कैदियों की बढ़ती तादाद, जेलों में रात्रि अदालतों की जरूरत'', 30 मई 2012, available at www.starnewsagency.in assessed on 25-5-2016.

23. वही

24. यह न्यायमूर्ति वी.एस. मालिमत समिति की 'आपराधिक न्याय प्रणाली में सुधार' नामक रिपोर्ट (2003) में भी कहा गया है। न्यायमूर्ति ने अपनी रिपोर्ट में विचाराधीन कैदियों को लाभ पहुंचाने के लिए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के उपयोग पर बल दिया है।

25. स्टार न्यूज एजेंसी, वही।

❖❖❖❖❖

भारत में विचाराधीन बंदियों को त्वरित न्याय

विवेक किशोर, आई.पी.एस.•

भारतवर्ष में न्यायिक प्रक्रिया की स्थापना कोई बहुत नई चीज नहीं है। प्राचीन काल से ही भारत में सुदृढ़ न्याय व्यवस्था हुआ करती थी। मौर्य कालीन इतिहास के अध्ययन से उस प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था की रूपरेखा का विस्तृत ज्ञान होता है। तदनन्तर मुगलकाल और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के समय भारतीय न्याय व्यवस्था का आगे विकास हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात, 26 जनवरी 1950 को भारतवर्ष एक सम्प्रभुता सम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, गणराज्य के रूप में स्थापित किया गया। इस तिथि से देश का संविधान प्रभावी हुआ, जो कि भारत में कानून का प्रमुख स्रोत है। भारतीय संविधान ने संघ और राज्यों के लिए विस्तृत एवं सुदृढ़ एकीकृत एकल न्यायालयों की व्यवस्था सुनिश्चित की है। देश का सर्वोच्च न्यायालय, न्यायपालिका के शीर्ष पर स्थित है। सर्वोच्च न्यायालय के नीचे राज्यों में उच्च न्यायालय स्थापित किये गये हैं। उच्च न्यायालयों के नीचे अधीनस्थ न्यायालयों की जिला स्तर पर व्यवस्था की गई है, जो कि दीवानी और फौजदारी मामलों की सुनवाई करते हैं।

यद्यपि भारतवर्ष में न्याय व्यवस्था प्राचीन काल से ही स्थापित की गई है और एक उदारवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में स्थापित हुए लगभग 65 वर्षों से अधिक का अनुभव भी हमारे पास है। तथापि हमारी न्यायिक प्रणाली पूर्णतः सुदृढ़ और दोषमुक्त नहीं है। इसमें अनेक कमियां हैं। यथा– न्यायपालिका में भ्रष्टाचार, पारदर्शिता का अभाव, मामलों का लम्बे समय तक लम्बित रहना, विचाराधीन कैदियों की समस्याएं, न्यायिक प्रक्रिया का सर्व–सुलभ ना होना और महंगा होना आदि।

इनमें से न्यायालयों में वादों के लम्बे समय तक लम्बित रहने की समस्या और उससे जुड़ी हुई "विचाराधीन कैदियों को न्याय–प्राप्ति में विलम्ब" की समस्या पर इस लेख में हम विचार करेंगे।

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो की वर्ष 2014 की 'भारत में जेल सांख्यिकी'[1] पुस्तिका के अनुसार भारत की कुल 1387 जेलों में 31 दिसम्बर, 2014 को 4,18,536 कैदी थे,

• संयुक्त निदेशक, वन्य जीव अपराध नियंत्रण ब्यूरो, दिल्ली

जिनमें 2,82,879 विचाराधीन कैदी थे। जो कि कुल कैदियों का 67.6% थे। देश की 131 केन्द्रीय कारागारों में 1,84,386 बंदी थे (अधिभोग दर 121.1%), जो कि उन जेलों की अधिकतम क्षमता 1,52,312 से 32,074 बंदी अधिक थे। इसी प्रकार संपूर्ण देश में 364 जिला कारागारों में कुल 1,79,695 बंदी थे (अधिभोग दर 132.7%), जो कि उन सभी कारागारों की अधिकतम क्षमता 1,35,439 से 44,256 अधिक थी।

भारत में जेल सांख्यिकी (2014) के अनुसार पूरे देश में वर्ष 2014 के अंत में, 0 से 3 माह तक कैद विचाराधीन कैदी 34.8%, 3 से 6 माह तक कैद 22%, 6 से 12 माह तक कैद 17.9%, 1 से 2 वर्ष कैद 12.8%, 2 से 3 वर्ष कैद 6.9%, 3 से 5 वर्ष कैद 4.3% तथा 5 वर्ष से अधिक के लिए कैद विचाराधीन कैदी 1.3% थे।

इन आंकड़ों की सारणीवार प्रस्तुति इस प्रकार हैः–

भारत की जेलों में विचाराधीन कैदियों की संख्या[2]
(31 दिसम्बर, 2014 को)

अवधि	पुरुष	महिला	कुल	प्रतिशत (%)
0 से 3 माह तक	94060	4424	98484	34.8
3 से 6 माह तक	59680	2659	62339	22.0
6 से 12 माह तक	48542	2076	50618	17.9
1 से 2 वर्ष तक	34759	1488	36247	12.8
2 से 3 वर्ष तक	18804	795	19599	6.9
3 से 5 वर्ष तक	11574	478	12052	4.3
5 वर्ष से अधिक	3364	176	3540	1.3
कुल	**270783**	**12096**	**282879**	**100**

संख्या की दृष्टि से वर्ष 2014 के अंत में 0 से 3 माह तक के 98,484 विचाराधीन कैदी थे, जिनमें सबसे बड़ी संख्या उत्तरप्रदेश में 19,923 थी। 3 से 6 माह तक के 62,339 विचाराधीन कैदी थे जिनमें सबसे बड़ी संख्या उत्तरप्रदेश में 13,432 थी। 6 से 12 माह तक के 50,618 विचाराधीन कैदी थे, जिनमें सबसे बड़ी संख्या उत्तरप्रदेश में 10,946 थी। 1 से 2 वर्ष तक के 36,247 विचाराधीन कैदी थे, जिनमें सबसे बड़ी संख्या उत्तरप्रदेश में 8590 थी। 2 से 3 वर्ष वाले 19,599 विचाराधीन कैदी थे, जिनमें सबसे बड़ी संख्या उत्तर प्रदेश में 3479 थी तथा 5 वर्ष से अधिक अवधि वाले 3540 विचाराधीन कैदी थे, जिनमें सबसे बड़ी संख्या उत्तरप्रदेश में 1022 थी। पुनः वर्ष 2014 के अंत में, विचाराधीन कैदियों

की अधिकतम संख्या 62,515 उत्तर प्रदेश राज्य में, तत्पश्चात् 26,800 बिहार में, 19895 महाराष्ट्र में, 19,188 मध्यप्रदेश में और 15,467 पंजाब में थी। यह आंकड़े अत्यंत चिन्तनीय हैं और हमें सोचने के लिए विवश करते हैं। लंबी अवधि तक बंदियों को विचाराधीन बंदियों की श्रेणी में रखना उन बंदियों के मानवाधिकारों का उल्लंघन है। कारागारों में जगह की कमी और कैदियों की संख्या अधिक होने के कारण, विचाराधीन कैदियों और सजा प्राप्त अपराधियों को बहुधा एक साथ एक ही सेल में रखा जाता है। यह स्थिति विचाराधीन कैदियों के लिए उचित नहीं है और उनके लिए समस्याएं उत्पन्न करती है।

इसके साथ ही देश के सभी स्तरों के न्यायालयों में बड़ी संख्या में मुकदमे लम्बित हैं। इसका कारण न्यायिक व्यवस्था और कानूनों की पेचीदगी तथा न्यायिक संस्थानों का कमजोर होना है। कानून की कमियों की वजह से अमीर अपराधियों को तुरन्त जमानत मिल जाती है या फिर उनके मुकदमों में न्यायालय तारीख–पर–तारीख देता रहता है और कई दशकों में भी ऐसे अपराधियों के मुकदमे निर्णय की स्थिति में नहीं आते। अभिनेता सलमान खान के विरुद्ध वर्ष 1998 में चिंकारा मारने के मामलों में दो मुकदमे राजस्थान में दर्ज हुए थे। निचली अदालत (सीजेएम न्यायालय) ने वर्ष 2006 में दोनों मुकदमों में सजा सुनाई। परन्तु उन्हें उच्च न्यायालय से तुरन्त जमानत प्राप्त हो गई और लगभग 10 वर्षों तक कानूनी प्रक्रिया से गुजरने के बाद, वर्ष 2016 में दोनों मामलों में उन्हें आरोप मुक्त कर दिया गया। इसी प्रकार उन्हें दिसम्बर 2015 में मुम्बई उच्च न्यायलय ने वर्ष 2002 के 'हिट–और–रन' केस में सभी आरोपों से दोषमुक्त कर दिया गया। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं जो स्पष्टतः दर्शाते हैं कि अमीरों के लिए न्याय कितना सस्ता और सुलभ है तथा वे इसको किसी भी दिशा में मोड़ने में सक्षम हैं।

इसके विपरीत, गरीब, अनपढ़ और निःसहाय लोग, कानूनी सहायता न पाने या जमानत के लिए वकील न कर पाने या मुचलके की राशि भरने में असमर्थ होने के कारण लम्बे अरसे तक विचाराधीन कैदी के रूप में जेलों में बंद रहते हैं। महिला विचाराधीन कैदियों की तो दशा और भी बदतर होती है, क्योंकि उनके बच्चों की देखभाल करने वाला भी कोई नहीं होता और अनेक मामलों में ऐसे शिशु अपनी विचाराधीन कैदी माता के पास जेल में ही पलते हैं। बहुधा ये भी देखा गया है कि गरीब, अनपढ़ और साधनहीन विचाराधीन कैदी, अपने मामले में मिल सकने वाली अधिकतम सजा की अवधि से भी अधिक समय तक जेल में रह चुके होते हैं और कई मामलों में तो निर्दोष व्यक्ति बेगुनाह सिद्ध होने तक भी काफी समय जेल में विचाराधीन कैदियों की श्रेणी में काट चुके होते

हैं। ये सभी उदाहरण दर्शाते हैं कि हमारे देश में न्यायिक प्रक्रिया आज भी जटिल और महंगी है तथा यह सर्वसुलभ नहीं है।

अतः विचाराधीन बंदियों की प्रमुख समस्या है– उनके मामलों का न्यायालयों में लम्बे समय तक लम्बित रहना। दिनांक 26 जून, 2016 के राष्ट्रीय समाचार पत्र इंडियन एक्सप्रेस[3] को उद्धृत करते हुए, "देश भर की जिला न्यायालयों में 30 अप्रैल, 2016 तक 2.18 करोड़ से भी ज्यादा मुकदमे लम्बित हैं। उत्तर प्रदेश में सर्वाधिक 51 लाख मुकदमे (कुल का 23%), महाराष्ट्र में 29 लाख (13%), गुजरात में 22.5 लाख (11%), प. बंगाल में 13 लाख (6%) तथा बिहार में 13 लाख (6%) लम्बित हैं। इनमें से 22.5 लाख से भी ज्यादा मुकदमे पिछले 10 वर्षों से भी अधिक समय से लम्बित हैं, जो कि कुल मुकदमों का 10.3 प्रतिशत हैं। इनमें सर्वाधिक मुकदमे उ.प्र. (6.5 लाख), गुजरात (5.2 लाख) और महाराष्ट्र (2.5 लाख) में लम्बित हैं।" ये सभी आंकड़े उच्चतम न्यायालय की 'ई–समिति' द्वारा जारी किये गये थे।

एक अन्य राष्ट्रीय दैनिक जनसत्ता[4] की दिनांक 26 जून, 2016 की रिपोर्ट के अनुसार, "राष्ट्रीय न्यायिक डेटा ग्रिड पर उपलब्ध डेटा के अनुसार इस वर्ष 24 जून को विभिन्न अदालतों में 2,20,75,329 मामले लंबित थे। इनमें से 31,45,059 या कुल लंबित मामलों में 14.25 प्रतिशत मामलों का वर्गीकरण ऐसे मामलों के तौर पर किया गया है जिनकी अगली सुनवाई की तारीख अभी तय नहीं है।" ये लंबित मामले निश्चित ही विचाराधीन कैदियों की संख्या को प्रभावित करते हैं और 'विलम्बित न्याय, अन्याय के समान है' के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं। इनमें से अनेक मामलों में सम्भवतः आरोपी जेल में न्यायिक हिरासत में होंगे और विचाराधीन कैदियों की श्रेणी में रह कर अपने मामलों के निपटने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

अतः स्पष्ट है कि भारत में विचाराधीन कैदियों की दशा शोचनीय है। गरीबी, शिक्षा का अभाव, न्यायिक प्रक्रीया की जटिलता और असुलभता उनकी दशा को बद से बदतर बनाती हैं। अतः विचाराधीन कैदियों को त्वरित न्याय प्रदान करना भारत की न्यायिक व्यवस्था की एक प्रधान प्राथमिकता होनी चाहिए, जिससे उनके लंबित मामलों का त्वरित निपटान हो सके। इस दिशा में कुछ सुझाव इस प्रकार हैं–

i) न्यायिक प्रक्रिया का सरलीकरण

ii) न्यायिक प्रक्रिया को सस्ता और सर्वसुलभ बनाना

iii) सभी को मुफ्त या बिना मूल्य के कानूनी सहायता उपलब्ध कराना

iv) जजों की रिक्त पदों पर नियुक्ति और उनकी संख्या में वृद्धि

v) लोक अदालतों और त्वरित अदालतों की व्यवस्था का सुदृढ़ीकरण और प्रचार–प्रसार

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि देश की न्यायिक प्रक्रिया अभी भी जटिल और आम लोगों की पहुंच से बाहर है। इसके दुष्प्रभाव जेलों में विचाराधीन कैदियों की बढ़ती संख्या और न्यायालयों में लंबित मुकदमों की बढ़ती सूची के रूप में प्रकट हो रहे हैं। अतः वर्तमान न्याय प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता है, जिससे ये देश की लोकतांत्रिक परम्परा के अनुरूप जन–साधारण को सुलभ हो सके और सभी को त्वरित न्याय प्राप्त हो सके।

संदर्भः–

(1) 'भारत में जेल सांख्यिकी', 2014– राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो द्वारा प्रकाशित।

(2) 'भारत में जेल सांख्यिकी', 2014– राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो की सारिणी–6.1 से आंकड़े उद्धृत हैं।

(3) http://indianexpress.com/article/india/india-news-india/indian-judiciary-shortages-judges-ts-thakur-2-crore-cases-pending-in-indias-district-courts-report-2842023/

(4) http://www.jansatta.com/national/31-lack-cases-waiting-for-judicial-hearing-in-india/111485/

❖❖❖❖❖

खण्ड – छः

मानव अधिकारों पर महत्वपूर्ण विविध आलेख

मानव अधिकार शिक्षा – कुछ सावधानियां

शंकर शरण •

कहा जाता है कि लोकतंत्र मनुष्य के अधिकारों पर आधारित है; इस के उत्तर में कहा गया कि इसे बल्कि मनुष्य के कर्तव्यों पर स्थिर होना चाहिए; किन्तु अधिकार और कर्तव्य दोनों ही यूरोपीय धारणाएं हैं। धर्म भारतीय धारणा है जिसमें अधिकार और कर्तव्य का वह कृत्रिम विरोध खत्म हो जाता है जिसे उस विश्व–दृष्टि ने बनाया है जो स्वार्थ को हर कार्य की जड़ बताती है। धर्म की धारणा में अधिकार और कर्तव्य का गहरा और शाश्वत ऐक्य पुनः प्राप्त होता है। यही लोकतंत्र का आधार है जिसे एशिया को पहचानना चाहिए, क्योंकि इसी में एशिया की आत्मा और यूरोप की आत्मा का भेद स्थित है। (श्री अरविन्द)

पश्चिम के लिए समय आ गया है कि वह मानव अधिकारों के लिए उतना नहीं जितना मानवीय कर्तव्यों की चिन्ता करे। (अलेक्सान्द्र सोल्झेनित्सिन)

मानव अधिकार आज दुनिया में अत्यंत प्रचलित अवधारणा है। किन्तु इसके अर्थ और उद्देश्य के बारे में विभिन्न लोग विभिन्न मत रखते हैं। यदि इस पर दुनिया भर के शिक्षा केन्द्रों, गैर–सरकारी संगठनों, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, विविध प्रकार के पीड़ित लोगों, आदि के विचार एकत्र किये जाएं तो समान और असमान तत्वों का वर्गीकरण और मूल्यांकन करना एक कठिन समस्या बन जाएगा। तरह–तरह की मांगें, आरोप और व्याख्याएं आज मानव अधिकार के नाम पर प्रस्तुत किए जाते हैं। इसमें किशोर, नवयुवा विद्यार्थी तथा नए शिक्षक भी उलझ सकते हैं।

यहां तक कि कौन सी चीज 'मानव अधिकार' हैं, इन का किसी देश के संविधान और कानून से क्या संबंध है? किस तरह के काम मानव अधिकारों का उल्लंघन हैं और किस तरह के नहीं, आदि प्रश्नों पर भी प्रत्येक देश में, विभिन्न समूहों के बीच एक राय नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिए, भारत में कश्मीरी पंडितों की स्थिति। 1989 से चार लाख कश्मीरी पंडित कश्मीर घाटी से आतंकवाद के शिकार होकर भगाए गए, पर कई लोग इस की चर्चा से बचते हैं। मानव अधिकार की दृष्टि से उन कश्मीरी पंडितों की स्थिति क्या रही, इस पर भारत के ही विभिन्न बौद्धिक, राजनीतिक समूहों में सहमति

• एसोसिएट प्रोफेसर, समाज विज्ञान एवं मानविकी शिक्षण विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली

नहीं है। इसी क्षेत्र का दूसरा तथ्य यह है कि कश्मीर घाटी में बड़ी संख्या में सुरक्षा बल तैनात हैं जो बाहरी और भीतरी आतंकवादियों से देश और नागरिकों की सुरक्षा के कार्य में लगे हैं। किन्तु उन पर कुछ लोगों द्वारा प्रायः मानवाधिकार हनन का आरोप लगाया जाता है। इस पर भी विभिन्न राजनीतिक, बौद्धिक समूहों में सुरक्षा बलों के कार्य, भूमिका और मानवाधिकार हनन के आरोपों पर तीव्र मतभेद हैं। यह केवल एक क्षेत्र का उदाहरण है। दुनिया के कोने–कोने में ऐसे प्रसंग हैं जो मानवाधिकार की दृष्टि से चर्चित, विवादित होते रहते हैं।

इसीलिए मानव अधिकार की शिक्षा नई उम्र के विद्यार्थियों को देते हुए कई सावधानियों की जरूरत है। तभी इस पर उन्हें सम्यक शिक्षा देने में सहायता मिलेगी। इसी उद्देश्य से कुछ बिन्दु विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी इन से सहमत हों, किन्तु ये बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इस विषय पर काम करने वालों को इन पर विभिन्न दृष्टियों की जानकारी होना लाभकारी होगा।

(1) मानव अधिकार संबंधी प्राथमिक पाठ्य–सामग्रियों में प्रायः उल्लेख मिलता है कि इस की धारणा मूलतः संयुक्त राज्य अमेरिका के 'स्वातंत्र्य घोषणापत्र' (1776) तथा फ्रांस के 'मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों के घोषणापत्र' (1789) से निःसृत हुई है। इसके बाद 'संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार घोषणापत्र' (1948) का उल्लेख होता है, जिससे यह विचार अंतरराष्ट्रीय मंच पर स्थापित हुआ।

इस प्रकार, मानव अधिकारों को समझने की दृष्टि से प्रायः यूरोपीय–अमेरिकी विचारों, अनुभवों और शब्दावलियों का ही प्रयोग होता है। एशियाई, पूर्वी सभ्यताओं में तदसंबंधी कोई वैचारिक, सैद्धांतिक संदर्श रहा है या नहीं, यह बात प्रायः गुम रहती है। जबकि भारत, चीन, मिस्त्र जैसी सभ्यताएं यूरोप और अमेरिका से बहुत अधिक पुरानी और महान रही हैं। ज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से उनकी धरोहर विशेषकर मूल्यवान है। उसमें 'मानव' और 'अधिकार' जैसे प्रसंगों में भी बड़ी गंभीर और सुचिंतित शिक्षाएं हैं। किन्तु मानव अधिकार की औपचारिक शिक्षा में उनका उल्लेख नहीं होता। यह एकांगिता मानव अधिकार विशय के प्रति समझ को अपूर्ण रखती है। कम से कम भारत में ऐसा नहीं होना चाहिए।

2. मानव अधिकार की धारणा को द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीतिक महत्त्व मिलना शुरू हुआ। यानी औपनिवेशिक शासन का युग खत्म होने के बाद। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि जब तक एशिया, अफ्रीका और अरब क्षेत्रों के असंख्य देश विदेशी शासन की गुलामी झेल रहे थे, तब तक उन करोड़ों मानवों के 'अधिकार'

की चिंता पश्चिमी जगत में मुखर नहीं हुई! जबकि उपर्युक्त अमेरिकी, फ्रांसीसी दस्तावेज तब भी महत्त्वपूर्ण महत्त्वपूर्ण माने ही जाते थे। इसलिए उन्हीं दस्तावेजों को मानव अधिकार का स्रोत बताना उत्तर–औपनिवेशिक बुद्धिमत्ता है। यह सहज उत्पन्न नहीं हुई। इसके पीछे नव–स्वतंत्र देशों पर अपनी वैचारिक श्रेष्ठता या दबदबे की भावना भी है।

क्योंकि यह प्रश्न तो उठता ही है कि जब यह करोड़ों लोग विदेशी जुए से मुक्त होकर स्वतंत्र हो गए, तब उन्हें 'मानव अधिकार' की शिक्षा देने के पीछे कौन सी मानसिकता है? क्या यूरोपीय नेताओं, विद्वानों की यह चिंता सत्यनिष्ठ है अथवा यह भी 'गोरे मनुष्य के भार' का नया संस्करण है?

सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर्नल्ड टॉयनबी ने इसी भाव में पूछा था कि पश्चिमी देशों को हर मामले में अपनी संस्कृति, अपने सामाजिक संगठन और अपनी बौद्धिकता को सार्वभौमिक मानने का क्या अधिकार है? टॉयनबी पश्चिमी बौद्धिकता को पूरी दुनिया पर थोपने की प्रवृत्ति को आर्थिक और राजनीतिक दबदबे से जोड़ कर देख रहे थे। हाल में मानव अधिकार की एक विशेष व्याख्या को अत्यधिक महत्त्व दिए जाने और प्रचारित करने पर यह बिन्दु विचारणीय हो जाता है।

3. वस्तुतः 'मानव' और 'अधिकार' की धारणाओं का कोई सार्वभौमिक, सर्व–स्वीकृत एक अर्थ नहीं है। इन अवधारणाएं की कम से कम तीन बड़ी और मूलभूत रूप से भिन्न व्याख्याएं आज की दुनिया में चल रही हैं। एक, यूरोपीय–ईसाई, दूसरी अरब–इस्लामी और तीसरी भारतीय–हिन्दू। इन तीन धाराओं के मानक विद्वत ग्रन्थों में यह देखा जा सकता है कि मानव, समाज, कर्तव्य और अधिकार के बारे में उन की अवधारणा एक दूसरे से कितनी भिन्न है। अतः मानव अधिकार के बारे में किसी एक ही 'सार्वभौमिक' दर्शन की बात करना सच्चाई की दृष्टि से ठीक नहीं है।

4. निस्संदेह, यूरोप–अमेरिका के ऐतिहासिक अनुभव में अनेक मूल्यवान विचार हैं जो मानवता के लिए उपयोगी हैं। फिर भी शिक्षा में जानना चाहिए है कि मनुष्य, समाज, संसार, ज्ञान और कर्म के बारे में सांस्कृतिक रूप से भिन्न सभ्यताओं के दर्शन और अनुभव यूरोपीय अनुभवों से बेमेल भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, ब्लादीमीर लेनिन, श्री अरविन्द, विन्सटन चर्चिल और अयातुल्ला खुमैनी की वैचारिक रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें। तुरंत स्पष्ट हो जाएगा कि मनुष्य, स्वतंत्रता, प्रगति, खुशहाली, अधिकार और कर्तव्य आदि के बारे में उन के विचार

नितांत भिन्न हैं। यह भिन्नता सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों ही स्तरों पर है, जिसका महत्त्व समझा जाना चाहिए। जैसे, श्री अरविन्द के इन शब्दों पर विचार करें, यही यूरोपीय लोकतंत्र की दुर्बलता थी और उसकी विफलता का स्रोत भी कि इसने मनुष्य के अधिकार को केंद्रीय समझा, मानवता के धर्म को नहीं। इसने निम्न वर्ग के स्वार्थ को उच्च वर्ग के अहंकार के विरुद्ध उभारा, इसने घृणा और आपसी युद्ध को ईसाई आदर्शों का स्थायी सहयोगी बना दिया और एक ऐसा अबूझ विभ्रम स्थापित कर दिया जो यूरोप की आधुनिक बीमारी है।

अब इसकी तुलना उन ऐतिहासिक फ्रांसीसी या अमेरिकी दस्तावेजों से करें जिनका ऊपर उल्लेख है। महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उन से श्री अरविन्द के विचारों में कुछ मूलभूत अंतर स्पष्ट दिखता है। वस्तुतः श्री अरविन्द के विचार भारतीय सभ्यता के सुचिंतित दर्शन की ही अभिव्यक्ति हैं। अतः यदि मनुष्य के विचार, कर्म और लक्ष्य के बारे में ऐसे मतभेद मौजूद हैं तब किसी एक विचार विशेष को इस या उस दस्तावेज का हवाला देते हुए सार्वभौमिक कहकर पूरी दुनिया पर थोपना शिक्षा की दृष्टि से ठीक नहीं है।

5. एक अर्थ में, मानव अधिकार के अंतर्गत एक विशिष्ट धारणा का आग्रह पश्चिमी मताग्रह का ही विस्तार है। प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिशास्त्री सर अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा भी है कि पश्चिम में मानवतावादी आंदोलन की उत्पत्ति उस विश्वास में है कि 'बाइबिल के लाभ सबको मिलने चाहिए और फैलाए जाने चाहिए, जिसे भी साझी मानवता और साझे मानव अधिकार की पहचान के सुख की आवश्यकता है।'[ii] यहां ध्यातव्य है कि चर्च मिशनरी संगठनों द्वारा संचालित, समर्थित अनेक मानव अधिकार संस्थान कुछ इसी प्रकार की मतांतरणकारी दृष्टि से काम करते हैं। भारत समेत विश्व के बड़े भूभाग में उन का कार्य विस्तार है। मानव अधिकार की उन की धारणा वह नहीं है जो आम शिक्षित भारतीय समझता है। चर्च द्वारा संचालित अंतरराष्ट्रीय या स्थानीय मानव अधिकार संगठनों में अधिकांशतः 'सार्वभौमिकता' का वही अर्थ है, जो संगठित चर्च की मानसिकता है। अर्थात ईश्वर की एक बंधी धारणा, एक सुनिश्चित मजहबी आग्रह और आराधना–विधि, नैतिकता और घेरेबंदी वाली संस्कृति। तदनुरूप इन की मानव अधिकार धारणा भी बंधी हुई है जिस में मानव का वही अर्थ है, जो चर्च मानता है। अतः स्वयं जांचने–परखने की बात है कि 'मानव अधिकार' का अर्थ भिन्न–भिन्न संगठनों के लिए भिन्न–भिन्न है। इस भिन्नता के अध्ययन से स्पष्ट होगा कि 'सार्वभौमिक' मानव अधिकार की

धारणा में कुछ मताग्रही संकीर्णताएं भी है। इसकी उपेक्षा उपयुक्त नहीं है। विद्यार्थियों को वह भी जानना चाहिए।

6. न केवल मानवता की किसी मतवादी धारणा का आग्रह एक थोपी गई 'सार्वभौमिकता' है। बल्कि उसकी एकांतिकता पर बल देना, चाहे वह मजहब के मामले में हो ('ओनली ट्रू गॉड') या मानव अधिकार संबंधी, एक साम्राज्यवादी मानसिकता ही है। यही मानसिकता शताब्दियों से झगड़ों, हिंसा और सभ्यतागत युद्धों की जननी रही है। अधिक दिन नहीं हुए जब भारत पर ब्रिटिश शासन को 'सिविलाइजिंग एटंरप्राइज' यानी इस देश को 'सभ्य बनाने की परियोजना' कहा जाता था। अतः नई–नई पश्चिमी राजनीतिक अवधारणाओं, आग्रहों को 'सार्वभौमिक' मान लेने से पहले थोड़ी जांच–परख भी करनी चाहिए।

कोई भी एकांतिकता, किसी बात को अंतिम, एकरूप मनवाने का आग्रह दबाव और दबदबे की मानसिकता से जुड़ती है। उदाहरण के लिए, न्यूयॉर्क टाइम्स के लेखक और द न्यू रिपब्लिक के संपादक एंड्रयू सुलीवन लिखते हैं, 'लगता है मजहबी एकदेववाद में कोई ऐसी चीज है जो आतंकवादी मनोवृत्ति को सहारा देती है।'[iii]

प्रसिद्ध अमेरिकी पत्रिका टाइम ने एक बार ईसाइयत, इस्लाम और पोप पर केंद्रित अपने अंक पर पाठकों की प्रतिक्रियाएं प्रकाशित की। उसमें सर्वप्रमुख स्थान जिस पत्र को दिया गया था, उसके अनुसार, 'एकदेववादी मजहब जो केवल और एकमात्र सच पर दावा करते हैं, वे अपने स्वभाव से ही झगड़ों में डूबने के लिए अभिशप्त हैं।'[iv] इस पत्र का चुनाव और प्रमुख स्थान दिया जाना स्पष्ट करता है कि पश्चिमी चिंतन में इस सत्य को महत्त्व मिलने लगा है। इस प्रकार, विविध अवलोकनों के प्रकाश में देखा जा सकता है कि चर्च संगठनों द्वारा प्रेरित मानवाधिकार अभियानों के पीछे एकांतिक, मतवादी जिद भी है। एक विशेष मतवादी विचार को 'सार्वभौमिक' कहकर पूरे विश्व पर थोपने का प्रयास असहिष्णुता ही है।

यह भी अकारण नहीं कि लोकतांत्रिक देशों में उग्र वामपंथी राजनीतिक धाराएं 'मानवाधिकार' की पैरोकारी में सबसे आगे रहती हैं, क्योंकि यह उन्हें अपने संकीर्ण, तानाशाही मताग्रहों को 'मानव अधिकार' की भड़कदार पोशाक में प्रस्तुत करने में लाभदायक सिद्ध होती है।

(7) मानव और अधिकार पर 'सार्वभौमिक' चिंतन की स्थिति समझने में पश्चिमी–ईसाई और भारतीय–हिन्दू विचारणाओं की तुलना शिक्षाप्रद है। श्री अरविन्द के शब्दों में,

मनुष्य और उसके जीवन, किसी राष्ट्र और उसके जीवन और मानवता तथा मानव जाति के जीवन के बारे में नितांत भिन्न धारणाएं संभव हैं। भारत के चितंन में मनुष्य को भौतिक प्रकृति द्वारा एक जीवित पिंड के रूप में नहीं देखा गया है जिसके कुछ प्राणिक आवेग हों, एक अहंकार हो, एक मस्तिष्क और एक विवेक, होमो जाति का एक पशु और हमारे मामले में होमो इंडिकस, जिसका संपूर्ण जीवन और शिक्षा केवल उन आवेगों की परिपूर्ति में लगायी जानी हो। जिसके लिए ही उसे कोई प्रशिक्षित मस्तिष्क और विवेक प्रेरित करे ताकि उसके निजी और राष्ट्रीय अहंकार की तुष्टि हो। भारत ने मनुष्य में सदैव एक आत्मा का दर्शन किया है, एक दैवी तत्व का अंश जो उस के शरीर और मस्तिष्क के अंदर है, उस सर्वव्यापी आत्मन का प्रकृति में एक प्रस्फुटन के रूप में देखा है।[v]

उपर्युक्त शब्दों में वस्तुतः श्री अरविन्द ने भारतीय दर्शन को ही अपने शब्दों में रखा है। भारतीय या हिन्दू चिंतन में मानव की व्याख्या सबसे पहले उपनिषदों में मिलती है। योग विधियों का उपयोग करते हुए प्राचीन ऋषियों ने मानव की निगूढ़तम गहराइयों को देखा था। उन्होंने पाया कि मनुष्य का अस्तित्व पांच गुण–धर्मों या कोषों से आच्छादित है। वह कोष इस प्रकार हैं: (1) अन्नमय कोष अर्थात् किसी मनुष्य का भौतिक शरीर, (2) प्राणमय कोष अर्थात् उसकी कामनाएं और आवेग, (3) मनोमय कोष अर्थात् उस की संवेदन क्षमता और मानस, (4) विज्ञानमय कोष अर्थात् उसकी सबसे व्यापक आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा आभास की क्षमता, तथा (5) आनन्दमय कोष अर्थात् उसकी स्वतः आनन्दित होने की स्थिति।

मनुष्य के बारे में यह समझ पश्चिमी समझ से बहुत भिन्न है। तदनुरूप मनुष्य के अधिकार का अर्थ भी भिन्न होगा। यदि मानव को संकीर्ण या छिछले रूप में देखा जाएगा तो उसके अधिकार की धारणा भी छिछली ही रहेगी। ऊपर वर्णित पांच कोषों में प्रथम तीन से आगे पश्चिमी चिंता प्रायः नहीं जाती। परिणामतः वहां मनुष्य खाने–पीने, भोग करने तथा संतति–जनन करने वाले बुद्धिशील प्राणी से आगे शायद ही कुछ अधिक अर्थ रखता है।

इसीलिए, पश्चिमी बौद्धिकता अपने नागरिकों को मूलतः एक स्वतंत्र उपभोक्ता और करदाता (टैक्स–पेयर) के रूप में ही लेती है। वहां किसी विमर्श में मानव का कोई अन्य अस्तित्व सामने नहीं आता।[vi] तब, मानव के प्रति इसी दृष्टि को 'सार्वभौमिक' मानकर तरह–तरह के निर्देश देना, प्रचार और मांगें करना एक जबर्दस्ती ही है।

मानव अधिकार की चर्चा के पीछे यह संकीर्ण दर्शन प्रायः झलकता है। चाहे तानाशाही, अत्याचारी शासनों में रह रहे लोगों के संदर्भ में वह दर्शन भी मूल्यवान है। किन्तु मानव अधिकार पर मात्र उसी दृष्टि को अंतिम, सार्वभौमिक बताना सही नहीं है। अतः इसकी शिक्षा में सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

8. दार्शनिक मतभेद के अतिरिक्त मानव अधिकार के सिद्धांत और व्यवहार पर दुनिया के अन्य हिस्सों में अन्य मतभेद भी हैं। पहले के सोवियत संघ, आज के चीन, सउदी अरब, ईरान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण देश उस सिद्धांत को नहीं मानते।[vii] चीन कई बार कह चुका है कि मानव अधिकार के मुद्दे को पश्चिम की शक्तिशाली सरकारें और संस्थाएं उन देशों और सत्ताओं को झुकाने के लिए एक डंडे के रूप में इस्तेमाल करती हैं जो उनकी इच्छानुरूप नहीं चलते।

   फिर, दुनिया के 57 मुस्लिम देशों ने सन् 1990 में कैरो में एक आधिकारिक सम्मेलन करके अपना अलग 'इस्लामी मानव अधिकार' का घोषणापत्र जारी किया। इस घोषणापत्र में 25 धाराएं हैं, जिसमें अंतिम धारा स्पष्ट रूप से शरीयत को अपना आधार–बिंदु मानती है। इस घोषणा पत्र को संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1948 में स्वीकृत मानव अधिकार घोषणापत्र का इस्लामी उत्तर माना जाता है। इस प्रकार, दुनिया का बहुत बड़ा हिस्सा मानव अधिकार की पश्चिमी धारणा को राजनीतिक तथा अन्य आधारों पर भी स्वीकृति नहीं देता।

   इसलिए, कई कारणों से मानव अधिकार की पश्चिमी धारणा को 'सार्वभौमिक' कहकर भारतीय विद्यार्थियों को इसकी यांत्रिक शिक्षा देना उचित नहीं है। संयुक्त राष्ट्र घोषणा–पत्र वाली धारणाओं के साथ–साथ अन्य महत्त्वपूर्ण धारणाओं, आपत्तियों तथा वैकल्पिक व्याख्याओं को भी सामने रखना चाहिए। तभी सभी बातें अधिक स्पष्ट होंगी।

9. भारत में 'मानव' से अभिप्राय क्या रहा है, इसकी समेकित और सार्थक समझ के लिए कम से कम यहां के समकालीन मनीषियों, जैसे स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द, रमण महर्षि, गांधीजी और डॉ. अंबेडकर के विचारों को अवश्य जानना, जोड़ना चाहिए। पूरी गहराई से समझने हेतु उपनिषद् और महाभारत का अध्ययन करना भी जरूरी होगा। इस अनमोल ज्ञान–भंडार से निरपेक्ष रहकर मानवीय तत्त्व और मानवीयता से जुड़ी चिंताओं की सही समझ नहीं बन सकती। यदि यहां मानव अधिकार संगठन, कार्यकर्ता और प्रवक्ता इसकी उपेक्षा करते हैं तो प्रश्न उठता हैः क्यों?

10. भारतीय संदर्भ में मानवाधिकार संबंधी अधिकांश विमर्श और आवाहनों में प्रायः एक ही समुदाय को संबोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, मानवाधिकार मुद्दे के रूप में 'अस्पृश्यता' और 'सती प्रथा' का उल्लेख सदैव होता है। कई बार यही एकमात्र उदाहरण रूप में रखे जाते हैं। चाहे इस कथित सती–प्रथा का कोई नामो–निशान अब समाज में न दिखता हो। इसे प्रत्यक्ष या परोक्षतः हिन्दू धर्म की अभिन्न कुरीति तक बताया जाता है, जो सही नहीं है। किन्तु विचित्र बात है कि इसी भारतीय समाज में दूसरे समुदाय के बीच प्रचलित अनगिनत कुरीतियों का कभी उल्लेख नहीं होता जिनसे लाखों मनुष्य, विशेषकर स्त्रियां नियमित रूप से आज भी पीड़ित हैं।

    उदाहरण के लिए, 'तीन तलाक'[viii] जैसी दारुण प्रथा का मानवाधिकार प्रश्न के रूप में कहीं उल्लेख नहीं होता! जबकि यह न केवल प्रचलित है, बल्कि इसे कानूनी–सामाजिक–राजनीतिक मान्यता मिली हुई है। 'विमेन राइट्स' की उग्र पैरोकारी करने वाले संगठन भी इस पर प्रायः चुप्पी ही रखते हैं। बोलते भी हैं तो मंद स्वर में और घुमा–फिरा कर। करोड़ों मुस्लिम स्त्रियों के लिए सैदव दुर्दशा की तलवार–सी लटकी रहने वाली यह कुप्रथा मानवाधिकार चिंता का मुद्दा नहीं बनती। जबकि यह केवल इसी तक ही सीमित नहीं। तीन तलाक के अतिरिक्त मुस्लिम स्त्रियों पर मुताह[ix] (अस्थाई विवाह), स्त्री–खतना (एफ.जी.सी[x]. या एफ.जी. एम.), जबरन बुर्काबंदी[xi], आदि अन्य अत्याचार भी कमोबेश अनेक देशों में जारी हैं। मुस्लिम स्त्रियों की दुर्गति करने वाले तरह–तरह के फतवे[xii] कई बार कारुणिक रूप से देखे गए हैं।

    वह सब मानवाधिकार हनन के के गंभीर उदाहरण होते हुए भी शायद ही कभी विमर्श में स्थान पाते हैं। उसी प्रकार, वैश्विक स्तर पर काफिरों यानी गैर–मुस्लिमों के प्रति नीच नजरिया एक स्वघोषित इस्लामी सिद्धांत और व्यवहार है, जिसे असंख्य मुस्लिम देशों में कानूनी मान्यता हासिल है। इसकी भी मानवाधिकार के प्रश्न के रूप में कभी आलोचना नहीं होती। इन सब की तुलना में हिन्दुओं के बीच नामशेष, अवैध 'अस्पृश्यता' को मुद्दा बनाकर कई ईसाई मिशनरी संगठनों द्वारा '6 करोड़ दलितों की मुक्ति' यानी उन्हें ईसाइयत में धर्मांतरित करने का 'मानवाधिकारी' अभियान चलाया जाता है।

    मानवाधिकार विमर्श में इस तरह की पक्षपाती चुप्पी और चुना हुआ शोर–शराबा किसी तरह न्यायोचित नहीं, जिसमें एक समुदाय को नाहक लज्जित करने की

कोशिश होती है और दूसरे की नितांत अमानवीय प्रथाओं को भी आदर दिया जाता है! यह भारत में तो होता ही है, वैश्विक स्तर पर भी देखा जाता है।

उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद ने 25 मार्च 2010 को जेनेवा में 'इस्लामोफोबिया' के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया। इस्लामी देशों के संगठन ओ.आई.सी. की ओर से पाकिस्तान ने इसका नेतृत्व किया। वहां 17 के मुकाबले 20 मतों से "इस्लाम को मानवाधिकार 'उल्लंघन और आतंकवाद से गलत जोड़ने' के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ, जबकि 8 तटस्थ रहे। कहने के लिए प्रस्ताव मजहबों की अवमानना रोकने के लिए है, किंतु उसमें केवल इस्लाम की आलोचना रोकने का उल्लेख है।

इस प्रकार, इस्लाम के सिवा अन्य धर्मों की निंदा, आलोचना का रास्ता खुला रखा गया। मानव अधिकार ही नहीं, सामान्य न्याय की दृष्टि से भी यह दोहरा अन्याय है। एक ओर, एक मजहब विशेष के पक्ष में मानवाधिकारों के वास्तविक मुद्दों को किनारे कर देना। दूसरी ओर, एकांतिक मतावलंबियों द्वारा बौद्ध, हिन्दू आदि धर्म–विश्वासों की निंदा, भर्त्सना और दुष्प्रचार तक रोकने की कोई चिंता न करना।

ऐसे सामुदायिक भेदभाव के असंख्य उदाहरण और प्रमाण प्रायः मिलते हैं। प्रश्न हैः मानवाधिकार अभियान में यह मतवादी, सांप्रदायिक भेदभाव क्यों? क्या कुछ मानव समुदाय, जॉर्ज ऑरवेल के शब्दों के सहारे कहें तो, अधिक मानव हैं? अथवा मानव अधिकार आंदोलन की आड़ में दूसरी गर्हित, राजनीतिक, साम्राज्यवादी परियोजनाएं भी चल रही हैं? मानव अधिकार पर गंभीर विमर्श में इन प्रश्नों को भी जोड़ना नितांत आवश्यक है।

11. भारत में विदेशी मिशनरी गतिविधियों पर विस्तृत रिपोर्टें, शिकायतें और तत्संबंधित प्रतिक्रियाएं होती रही हैं। कई बार बड़े न्यायिक आयोगों ने प्रमाणिक आकलन किया है कि मिशनरी संगठन अवैध, संगठित धर्मांतरण अभियान चलाते हुए सामाजिक अशांति और हिंसा को जन्म देते हैं। जस्टिस नियोगी आयोग (1956), तथा जस्टिस वाधवा आयोग (1999) की रिपोर्टों को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। ऐसी मिशनरी गतिविधियां जग–जाहिर हैं, क्योंकि यह केवल भारत तक सीमित नहीं। विश्व के तमाम गैर–ईसाई क्षेत्रों में अनेक साधन संपन्न मिशनरी संगठन छल–बल–प्रलोभन–हिंसा आदि हर उपाय के सहारे संगठित धर्मांतरण के व्यवसाय में लगे हैं। चीनी नेता माओ ने इन्हें 'आध्यात्मिक आक्रमणकारी'

की संज्ञा यों ही नहीं दी थी। माओ ने विदेशी मिशनरी संगठनों का चीन में प्रवेश निषिद्ध कर दिया था, जो आज भी यथावत है।

कुछ धन या 'एक कटोरा भात' देकर किसी गरीब या भूख के मारे व्यक्ति का धर्म खरीद लेना, उसे अपने धर्म में धर्मांतरित करा लेना अत्यंत घृणित कार्य है। किन्तु इन संगठित, आक्रामक गतिविधियों की कभी मानवाधिकार हनन के उदाहरण के रूप में भर्त्सना नहीं की जाती। यह भी मानवाधिकार विमर्श का एक घोर पक्षपाती उदाहरण है।

ध्यान दें, किसी ने नियोगी आयोग या वाधवा आयोग के आकलनों पर उंगली नहीं उठाई।[xiii] अर्थात्, मिशनरी संगठनों द्वारा अपने धर्म–प्रसार के अभियान में सुदूर, छिपे इलाकों में तरह–तरह के छल–छद्म द्वारा गरीब हिन्दुओं को शिकार बनाने की शिकायतें एक कड़वी सच्चाई है। उससे हिंसा और अशांति भी होती रही है। ऐसे कार्य अंतरराष्ट्रीय स्तर पर होते रहते हैं। भूकंप, सुनामी, युद्ध, आदि प्रसंगों में प्रायः समाचार आते रहे हैं कि ऐसे हर अवसर और स्थान पर मिशनरी संगठन पहुंच कर 'आत्माओं की फसल' बटोरने का उद्योग करने लगते हैं। विपत्ति और संकट में फंसे किसी मानव समूह को इस तरह धर्मांतरित करने की चेष्टा मानव अधिकार उल्लंघन का मामला क्यों नहीं बनती? यह बिन्दु मानव अधिकार की शिक्षा में जोड़ना आवश्यक है।

वस्तुतः, इस प्रसंग में स्वयं संयुक्त राष्ट्र का मानव अधिकार घोषणा पत्र भी पक्षपाती है। इसकी धारा 18 प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छा से किसी भी धर्म का वरण करने का अधिकार देती है। इस में 'अपना धर्म और विश्वास बदलने की स्वतंत्रता' भी शामिल है। यह चर्च–मिशनरी संगठनों के लिए बहुत लाभकारी बैठता है, जिन्होंने पूरी दुनिया को अपने मजहब में धर्मांतरित करने के लिए महत्त्वाकांक्षी, धन–संपन्न परियोजनाएं चला रखी हैं। किन्तु उसी घोषणा पत्र में कोई उल्लेख नहीं कि जो धर्म–विश्वास और संस्कृतियां ज्ञान–प्रधान हैं, जिनकी कोई धर्मांतरणकारी महत्त्वाकांक्षाएं नहीं हैं, उन्हें भी अपनी रक्षा का अधिकार है। भारत जैसे देशों को इस पक्षपाती धारा 18 का शिकार होना पड़ता है, जब छल–छद्म से धर्मांतरण कराने वाले संगठन इसे अपना 'मानवाधिकार' बताते हैं।

दूसरी ओर, अपने धर्म और समुदाय के धार्मिक अस्तित्व की रक्षा का प्रयास करने वाले को 'सांप्रदायिक', 'फासिस्ट', आदि कहकर लांछित किया जाता है। यह मानवाधिकार हनन पर दोहरी, तिहरी दृष्टि का एक अन्य गंभीर उदाहरण है,

जिसका उपाय सोचना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा–पत्र की धारा 18 को समुचित रूप से संशोधित करना आवश्यक है, ताकि हिन्दुओं, बौद्धों के धार्मिक अधिकार को ईसाई, इस्लामी मतावलंबियों के समकक्ष अधिकार दिया जा सके।

12. मानव अधिकार विमर्श में एक अबूझ प्रवृत्ति यह भी है कि इसमें केवल राज्यसत्ता या सरकार को आलोचना के केंद्र में रखा जाता है। चर्चा, दस्तावेज, अपील, मांग या आंदोलन, सभी जगह मानवाधिकार उल्लंघन या गड़बड़ी के लिए सदैव राज्य का संदर्भ रहता है। मानो, राज्य से इतर तत्त्वों द्वारा मानवता पर किए जाने वाले किसी भी अत्याचार से मानवाधिकारियों को कोई मतलब न हो!

भारत का ही उदाहरण लें, तो निरपराध मनुष्यों पर किए जाने वाले अत्याचार, हिंसा, उत्पीड़न, हत्याएं आदि कृत्य ज्यादातर अपराधियों, आतंकवादियों, नक्सलियों आदि द्वारा होते रहे हैं। इन पर मौन रखना मानव अधिकार की चिंता करने वालों के लिए सही नहीं लगता। क्या गैर–राजकीय तत्त्वों द्वारा मानवाधिकारों का हनन स्वीकार्य है? क्या आतंकवादियों द्वारा उत्पीड़ित होने वाले मनुष्य पुलिस द्वारा उत्पीड़ित होने वाले मनुष्य की तुलना में हीनतर मनुष्य हैं?

यह स्थिति तब और विचित्र लगती है जब देखें कि भारत जैसे देश की राज्यसत्ता नियमित और स्वतंत्र निर्वाचन, स्वतंत्र न्यायपालिका, स्वतंत्र प्रेस और मीडिया तथा विविध निगरानी संस्थाओं के कारण उच्छृंखल, आततायी नहीं हो सकती। उस पर विविध प्रकार के अंकुश हैं, जिससे राजकीय एजेंसियों द्वारा मानवाधिकारों का मनमाना उल्लंघन करने की संभावना कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में भी सदैव राज्यसत्ता और राज्यकर्मियों को ही मानवाधिकार के प्रसंग में खलनायक मानने की प्रवृत्ति उचित नहीं है। क्योंकि इससे उत्पीड़ित मानव की चिंता गौण तथा राजनीतिक मतवादी जिद प्रमुख हो जाती है। मानव अधिकार शिक्षा को इस बिन्दु पर संतुलित होने और अपनी प्राथमिकता निर्धारित करने की आवश्यकता है।

13. उपर्युक्त आकलन से स्पष्ट है कि वैश्विक संदर्भ में मानवाधिकार का प्रश्न, मानव के सार्वभौमिक अधिकार और कर्तव्य का प्रश्न विविध प्रकार के राजनीतिक उद्देश्यों से भी जुड़ा हुआ है। रूसी, चीनी, कुछ दक्षिण अमेरिकी विद्वानों तथा सरकारी प्रवक्ताओं ने कई बार कहा भी है कि मानवाधिकार का मुद्दा कई पश्चिमी सरकारों व एजेंसियों द्वारा दुनिया के इस या उस क्षेत्र में कोई राजनीतिक हित साधने का

बहाना भी बनता रहा है। होमी भाभा, गायत्री स्पीवैक, एडवर्ड सईद जैसे अंतरराष्ट्रीय विद्वानों ने भी यह कहा है। भारत के एक प्रतिष्ठित पत्रकार के अनुसार,

एक समय था जब हरेक 'स्थानीय अत्याचारी' वस्तुतः किसी न किसी पश्चिमी सत्ता का चहेता या संरक्षित था। गोरी शक्तियों को सबसे बड़ी उलझन मध्य–पूर्व जैसे सरगर्म इलाके में मित्र और शत्रुओं की तेजी से बदलती हुई पहचान का हिसाब रख पाने में होती थी। आखिरकार उस क्षेत्र का हरेक राष्ट्रवादी नेता– नासिर, बेन बेला, गद्दाफी, असद, खुमैनी– गोरे आदमी की नजरों में कभी न कभी शैतान सा प्रतीत होता रहा है। यदि उन सब पर वह कार्रवाई नहीं हुई, जो सद्दाम हुसैन पर की गई, तो इसका कारण यह था कि इस इराकी नेता ने गोरी दुनिया पर वहां चोट की जहां उसे सर्वाधिक चोट पहुंची।[xiv]

यह टिप्पणी बताती है कि मानवाधिकार की चिंता के पैमाने पश्चिमी देशों के लिए एक नहीं हैं। इसीलिए, कोई अत्याचारी शासक आराम से रहता है, तो किसी को मानवाधिकारों के उल्लंघन के नाम पर बलपूर्वक सत्ता से हटाने का अभियान चलाया जाता है। बल्कि संयुक्त राष्ट्र में केवल 'इस्लामोफोबिया' की निंदा का प्रस्ताव (मार्च, 2010) पास करना भी दोहरे पैमानों का ही उदाहरण है।

अतः फिलीस्तीनियों, चेचेनों, बोस्नियाइयों के मानव अधिकारों की बड़ी चिंता और कश्मीरी हिन्दुओं या तिब्बती बौद्धों की अनदेखी के पीछे कोई संगति नहीं है। इसे पश्चिमी शक्तियों द्वारा अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के रूप में ही समझा जा सकता है। यह शक्तियां यूरोपीय सरकारें भी हैं और गैर–राजकीय, स्वयंसेवी, समाजसेवी संगठन भी जो चुने हुए देशों, सरकारों, समुदायों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। अतः जब किसी संगठन या प्रवक्ता द्वारा कहीं मानवाधिकार की चिंता की जाती है तो उन्हें महत्त्व देने से पहले सुसंगत परीक्षण करना जरूरी है। अन्यथा किसी राजनीतिक चाल का शिकार बनने की संभावना भी है।

14. न्यूयॉर्क में 11 सितंबर के आतंकवादी आक्रमण के बाद पश्चिमी सरकारों ने आतंकवादियों के वित्तीय स्त्रोतों की जांच–पड़ताल शुरू की। उस प्रक्रिया में जब किसी संस्था को किसी आतंकी संगठन और किसी विश्वविद्यालय के कार्यक्रम, दोनों को मदद देते पाया गया तो विश्वविद्यालयी गतिविधि पर भी नजर रखी गई और समुचित कार्रवाई की गई। जैसे, उस विभाग या पद को समाप्त कर देना जो ऐसे संदिग्ध स्रोत के वित्तीय सहयोग से चल रही थी। अतः भारत में भी यदि कोई एजेंसी एक ओर 'एशिया को धर्मांतरित करो' (पोप का आह्वान, 1999) वाली

परियोजना में लगी है और दूसरी ओर किसी मानवाधिकार शिक्षण–प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी चला रही है, तब इसे उसी कड़ाई से परखना चाहिए। उस संस्था का शिक्षण–कार्यक्रम मुख्य योजना का हिस्सा है, कोई मानवाधिकार की चिंता नहीं है। दूसरे शब्दों में, नकली मानवाधिकार संगठनों की मांगों, गतिविधियों, दस्तावेजों, आदि को असली–सा सम्मान नहीं देना चाहिए। कई देशी–विदेशी मजहबी आतंकवादी[xv] संगठनों, घातक तत्वों ने भी मानवाधिकार विभाग बना रखे हैं जो उनके मुखौटे–सा कार्य करते हैं।

पंजाब में आतंकवाद से संघर्ष करने का लंबा अनुभव रखने वाले प्रसिद्ध पुलिस अधिकारी के. पी. एस. गिल के अनुसार कई मानवाधिकार संगठन वस्तुतः आतंकवादी संगठनों के ही सार्वजनिक रूप हैं और उन्हीं के हितों में कार्य करते हैं। 'ऐसे संगठन मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं की जांच और रोकथाम में कोई वास्तविक रुचि नहीं लेते। उनका एकमात्र उद्देश्य यह रहता है कि सुरक्षा बलों पर कीचड़ उछालें और देश की छवि खराब करें।'[xvi] ऐसे अवलोकनों की उपेक्षा करना उचित नहीं है। विशेषकर उनके लिए जो मानवाधिकार विषय को गंभीरता से लेते हैं।

15. अतएव, किसी घटना, मुद्दा या मांग को मानवाधिकार में जोड़ने से पहले उस पर संपूर्ण और खुला विचार–विमर्श होना चाहिए। देश या प्रांत के शिक्षकों, समाजसेवियों, सामान्य लोगों की जानकारी और विचारों का विस्तृत आकलन करके ही किसी प्रसंग पर कोई निश्चयात्मक राय बनाई जानी चाहिए। न कि किन्हीं चर्चित मानवाधिकारवादी की जिद अथवा उग्र प्रचार, आदि से किसी भी मुद्दे को मानवाधिकार का मुद्दा मान लिया जाए।

यदि मानवाधिकार सचमुच प्रत्येक मानव का अधिकार है, तो इसे सदैव किसी 'विशेषज्ञता' की जरूरत ही नहीं है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य किसी प्रसंग पर विचार करने और राय देने का समान अधिकारी है कि कोई मुद्दा सामान्यतः मानव अधिकार की बात है या नहीं। कि अमुक प्रसंग में क्या किया जाना उचित है? उसमें किन्हीं साधन–संपन्न संगठनों के प्रचार और मांग से ही प्रभावित होना गलत होगा। मानव अधिकार अपनी परिभाषा से ही किसी 'विशेषज्ञता' की जरूरत से मुक्त है। इसके अर्थ को किन्हीं निहित स्वार्थों या संकीर्ण मतवादियों के दुराग्रह का बंदी नहीं बनाना चाहिए। अन्यथा यह गोपनीय राजनीतिक उद्देश्यों का औजार ही बनेगा। वास्तविक मानवाधिकार चिंता वह नहीं रह सकेगी।

अतः हमारे न्यायाधीशों, राजनेताओं और पुलिसकर्मियों को भी मानव अधिकार के नाम पर अतिरिक्त संवेदनशील होने की आवश्यकता नहीं है। हां, राजदंड के उपयोग और दुरुपयोग में अंतर अवश्य होना चाहिए। किन्तु राजसत्ता दंड–भय से ही चलती है। यदि मानव अधिकार के नाम पर कोई आतंकवादियों, देशद्रोहियों और भीतरघातियों को राजनीतिक ढाल देने का कार्य करता है तो उन्हें दो–टूक उत्तर देना चाहिए। अर्थात्, जहां एक ओर राजकर्मियों द्वारा मानव अधिकारों का उल्लंघन नहीं होना चाहिए, वहीं मानव अधिकारों के नाम पर हो रही घातक राजनीति की चेतना भी रहनी चाहिए ताकि मानव अधिकार के प्रति संवेदना का दुरुपयोग घातक, देश–विरोधी और हिंसक तत्त्वों द्वारा न हो।

16. आज मानवाधिकार शिक्षण, प्रशिक्षण को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। यह स्वागत योग्य प्रक्रिया है जो राज्यकर्मियों को अधिकाधिक उत्तरदायी बनाने में सहयोगी है। किन्तु साथ ही साथ सावधानी बरतनी भी अत्यंत आवश्यक है कि, (i) मानव अधिकार की धारणा का कोई मनमाना, असंतुलित और पक्षपाती अर्थ न किया जाए, (ii) मानव अधिकारों की दृष्टि से विभिन्न समुदायों के बीच कुरीतियों में भेदभाव नहीं किया जाए तथा (iii) मानव अधिकारों की रक्षा के नाम पर घातक, देश–विरोधी राजनीति को जाने–अनजाने मजबूत न होने दिया जाए।

पहले पक्ष के लिए आवश्यक है कि मानव अधिकारों पर शिक्षण–प्रशिक्षण कार्यक्रम केवल पश्चिमी दस्तावेजों, पुस्तिकाओं के आधार पर न चलाए जाएं। मानव संबंधी दार्शनिक, सामाजिक चिंतन में भारतीय ज्ञान–भंडार को भी प्रमुखता से जोड़ा जाए। संयुक्त राष्ट्र के मंच से आने वाले दस्तावेजों की भी आलोचनात्मक समीक्षा करके ही उसे यथोचित महत्त्व दिया जाए। अन्यथा हमारा शिक्षण कार्यक्रम अनजाने विदेशी वैचारिकता का अंधानुकरण बन कर रह जाएगा।

विदेशी विचारधाराएं सदैव कल्याणकारी नहीं रही हैं। मात्र 20वीं सदी का उदाहरण ही पर्याप्त है कि इस दौर में लगभग सभी अशांतिकारक, हानिकारक, विस्तारवादी, असहिष्णु मतवाद यूरोपीय देशों में ही बने (नाजीवाद, कम्युनिज्म, फासीवाद, नस्लवाद, रंगभेद, आदि) जिनसे मानवता की अपार हानि हुई। अतः पश्चिम से आने वाला हर दस्तावेज ज्ञानवर्धक और कल्याणकारी नहीं होता। उसकी खुली समीक्षा जरूरी है। मानव अधिकार संबंधी दस्तावेज और वक्तव्य इसके अपवाद नहीं हैं।

यदि ऐसा न किया गया तो दूसरी, तीसरी गड़बड़ी को रोका नहीं जा सकेगा। तब मानव अधिकार के नाम पर चलने वाले अभियान परोक्ष राजनीति का उपकरण बन कर रह जाएंगे। सही समझ के अभाव में हमारे शिक्षाविद्, न्यायाधीश, राज्याधिकारी और

नीति–निर्माता मानवाधिकारों की वह व्याख्या करने लगेंगे जो विध्वंसक और विदेशी तत्त्वों की राजनीति का अभीष्ट है। अभी देखा जाता है कि जो लोग देश के कानूनों का उल्लंघन करते हुए गोपनीय अभियान चलाते हैं, वही हमारे नए पुलिस–कर्मियों, न्याय–कर्मियों, शिक्षकों, आदि को मानवाधिकार पर 'शिक्षा' देने का कार्यक्रम भी चलाने लगते हैं। अर्थात्, अपनी वैचारिक, राजनीतिक टेक के अनुरूप उन्हें अनुकूलित करने का संगठित प्रयास करते हैं। इससे हमारे न्याय–कर्मियों, शिक्षकों, प्रशासकों में मानव अधिकार के आदर की चेतना बढ़ने के बदले भ्रम फैलने का खतरा अधिक है।

मानव अधिकार का शिक्षण–प्रशिक्षण किसलिए जरूरी है? यह प्रश्न भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। क्या हम लोगों को अधिक मानवीय, प्रेमपूर्ण बनाना चाहते हैं या कड़वाहट से भरना चाहते हैं? क्या उन्हें हम हर प्रकार की साम्राज्यवादी, विस्तारवादी विचारधाराओं तथा उग्रवाद, आतंकवाद के प्रति सहनशील बनाना चाहते हैं? क्या हम उन्हें अधिक सामाजिक या कोरा स्वार्थी बनाना चाहते हैं, जो हमेशा लेने की बात करे, देने की नहीं? क्या हम उन्हें अधिकारों की असंतुलित शिक्षा देकर अपने सामाजिक, मानवीय कर्तव्यबोध से मुक्त दुराग्रही मतवादी व्यक्ति भर बनाना चाहते हैं?

यह सभी प्रश्न अप्रासंगिक नहीं हैं। हमारे देश में मानव अधिकार पर चल रहे अधिकांश लेखन से ही यह प्रश्न उभरते हैं। हमें खुले मस्तिष्क से इनका समाधान ढूंढना चाहिए। इनके बने–बनाए उत्तर नहीं हैं। किसी भी प्रकार के दबाव से मुक्त होकर ही वास्तविक उत्तर पाने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। हर हाल में ध्यान रखना चाहिए कि हम मनुष्य संबंधी प्रश्नों का उत्तर खोज रहे हैं, किन्हीं निर्जीव पदार्थों से संबंधित विषय यह नहीं है।

मानवीय प्रश्नों में सार्वभौमिकता का भाव मानव की धारणा से जुड़ा हुआ है, जो भारत और यूरोप में एक जैसे नहीं हैं। यह मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व की अवधारणाओं से भिन्न हो जाता है। इस अंतर को ही रेखांकित करते हुए श्री अरविन्द ने कहा थाः 'आध्यात्मिक दृष्टि मानती है कि मस्तिष्क, जीवन और शरीर मनुष्य के साधन मात्र हैं, उसके लक्ष्य नहीं। बल्कि ये उसके अंतिम और सर्वोच्च साधन भी नहीं हैं। यह दृष्टि इन्हें मनुष्य का बाहरी साधन रूप मानती है, न कि उसका संपूर्ण अस्तित्व।'

मनुष्य की इस अवधारणा को कम से कम भारत में उपेक्षित करके कोई शिक्षा नहीं होनी चाहिए। इसी गलती के कारण अभी तक स्वतंत्र भारत का समाज अध्ययन या समाज विज्ञान विमर्श नितांत दुर्बल, यहां तक कि कई विषयों में हास्यास्पद रहा है। इसी से वह पश्चिमी विद्वत जगत में कोई सम्मान अर्जित नहीं कर सका। क्योंकि हम मनुष्य,

समाज, विकास आदि की पश्चिमी अवधारणाओं, चिंताओं को यथावत् स्वीकार करके उन का अंधानुकरण करते रहे हैं। इसीलिए समाज विज्ञान व मानविकी विषयों में हम विश्व–मंच पर किसी योगदान के योग्य नहीं बन सके हैं। यदि हमें वास्तव में कोई मौलिक वैचारिक, शैक्षिक योगदान करना हो तो मानव और संपूर्ण मानवीय, सामाजिक प्रश्नों को अपनी भारतीय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति बनानी होगी।

संदर्भ एवं टिप्पणियांः

1 श्री अरविन्द, "एशियाटिक डेमोक्रेसी", वन्देमातरम (दैनिक), 16 मार्च 1908

2 अर्नेस्ट बार्कर, प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल एंड पोलिटिकल थियरी (लंदनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1967), पृष्ठ. 242–43

3 एंड्रयू सुलीवन, "इज दिस ए रिलीजस वार?", स्पेन, दिल्ली में अमेरिकी दूतावास की पत्रिका, मार्च–अप्रैल 2002. सुलीवन का मूल लेख न्यूयॉर्क टाइम्स में प्रकाशित हुआ था।

4 अकैरोलाइन डी. डेविस, टाइम, न्यूयॉर्क, 25 दिसंबर–1 जनवरी 2007

5 श्री अरविन्द, "ए प्रीफेस ऑन नेशनल एजुकेशन", श्री अरविन्दो एंड द मदर ऑन एजुकेशन (पांडिचेरीः श्री अरविन्द आश्रम, 2004), पृ. 14–15

6 गांधी जी के हिन्द स्वराज में एक छोटा सा अध्याय 'सभ्यता का दर्शन' भी इसकी पुष्टि करता है। उसमें गांधी ने पश्चिमी सभ्यता में मनुश्य की संकीर्ण, भौतिकवादी समझ की कठोर आलोचना की है।

7 उदाहरण के लिए देखें, सैमुएल जीव्स, ह्यूमन राइट्सः कन्टीन्यूइंग द डिस्कशन (मॉस्कोः प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1980)। इसमें सोवियत विचारधारा के अनुरूप मानव अधिकारों की धारणा की वकालत करते हुए इस संबंध में पश्चिमी विचारों की आलोचना की गई है।

8 सरसरी और मनमाने तौर से, फोन पर, एस.एम.एस. से, टेलीग्राम द्वारा आदि से भी अपनी स्त्रियों को तलाक दे देने के उदाहरण देते हुए गीतकार हसन कमाल कहते हैं, "यह एक घृणित, गैरजिम्मेदार कार्य है जिसे कोर्ट में चुनौती भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि हमारा (मुस्लिमों का) पर्सनल लॉ इसे सही मानता है। क्या आप विश्वास करेंगे, कुछ पुरुषों ने अपनी स्त्रियों को इसलिए तलाक दे दिया क्योंकि वे उनके द्वारा बनाए गए भोजन से रुष्ट हो गए!'' (इंडियन एक्सप्रेस, ऑनलाइन संस्करण, 13 सितंबर 2004)। किन्तु मुस्लिम प्रवक्ता आमतौर पर इस पर नहीं बोलते। वे चाहते हैं कि दूसरे भी चुप रहें, क्योंकि वे इसे इस्लाम का अंदरूनी मामला मानते हैं। इसलिए यह मानव अधिकार का विषय नहीं बनाया जा सकता। तहसीन उस्मानी के शब्दों में, "तीन तलाक उचित है या नहीं, इसे टी.वी. या समाचार–पत्रों में विचार–विमर्श या बहस करके तय नहीं किया जा सकता। यह संवेदनशील मामला केवल उलेमा, मुफ्ती और मजहबी जानकारों द्वारा शरीयत की सीमा के अधीन तय किया जा सकता है।" ("हवाए मीडिया इज वरीड एबाउट ट्रिपल तलाक", द मिल्ली गजट, नई दिल्ली, 16–31 अक्टूबर 2004.)

9 शरीयत के अनुसार 'मुताह' एक नियत अवधि तक का शादी का करार है। इसकी अवधि आरंभ में ही तय कर दी जाती है और वह अवधि पूरी होते ही शादी स्वतः खत्म समझी जाती है। यह अवधि कुछ भी हो सकती है, यहां तक कि कुछ घंटे भी। इस प्रकार की कथित शादी की प्रकृति से ही समझा जा सकता है कि संबंधित लड़कियों के लिए यह वास्तव में क्या है!

उदाहरण के लिए, हैदराबाद की एक वास्तविक घटना देखें: "दस–दस मिनट के अंतराल में आफरीन (आयु 17 वर्ष), फरहीन (20 वर्ष) और सुलताना (19 वर्ष) की शादियां हो गईं। अमीरात के मुहम्मद बकर खान नामक एक साठ वर्षीय बदबूदार बूढ़े शेख के साथ। उसने उन लड़कियों के माता–पिताओं को दस–दस हजार रुपए दिए और बाद में उनके परिवारों को अमीरात आने के वीज़ा के साथ दस–दस हजार और भेजने का वादा किया।" (द टेलीग्राफ, कोलकाता, 15 अगस्त 2005). उन लड़कियों ने पुलिस में शिकायत दर्ज कराई कि शेख उनके साथ कुछ दिन रह कर गायब हो गया। यह कोई अपवाद घटना नहीं है। ऐसी घटनाओं के लिए आंध्र प्रदेश और केरल में एक नाम ही है, 'अरब शादी'।

एक अन्य प्रकार का उदाहरण कश्मीर में देखा गया है। बाहरी जिहादी लड़के स्थानीय कश्मीरी मुस्लिम परिवारों में जाकर उनकी लड़कियों के साथ जबरन और मनमानी 'मुताह' शादी रचाकर अपनी काम–पिपासा शांत करते हैं। वर्षा भोंसले ने लिखा, "मुताह के अंतर्गत कोई मुजाहिद अपनी पसंद की किसी लड़की के साथ दो साल की शादी का करार कर लेता है और समय पूरा होने पर शादी अपने–आप खत्म हो जाती है। फिर लड़की अपने भाग्य पर छोड़ दी जाती है। सामाजिक लोकापवाद और किसी संतान, दोनों का भार ताजिंदगी अकेली ढोने के लिए।" ('ह्यूमन राइट्स वायोलेशन इन कश्मीर', रिडिफ.कॉम, 25 जनवरी 2000)

यह स्त्रियों में खतने की प्रथा है, अंग्रेजी में इनफिब्यूलेशन। इसे फीमेल जेनाइटल म्यूटिलेशन (एफ. एम.जी.) अथवा फीमेल जेनाइटल कटिंग (एफ.एम.सी.) भी कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्र के दस्तावेजों में एफ.जी.एम. की संज्ञा से ही इस कुप्रथा पर चर्चाएं होती रही हैं।

इस्लामी स्रोतों में इसे खफ्द या खिफ्द कहा जाता है। इस्लामी देशों, विशेषकर मध्य पूर्व और अफ्रीका में इसका अधिक चलन है। इस के परिणामस्वरूप, विश्व स्वास्थ्य संघ के अनुसार, हरेक वर्ष बीस लाख लड़कियां सेप्सिस या खून बह जाने से मर जाती हैं। देखें, ओरियाना फलाची, द फोर्स ऑफ रीजन (न्यूयॉर्कः रिज्जोली इंटरनेशनल, 2006), पृ. 220

इस बर्बर प्रथा पर लोगों को जागरूक बनाने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 6 फरवरी को विश्व एफ.जी.एम. विरोधी दिवस घोषित कर रखा है।

सुप्रसिद्ध लेखिका अय्यान हिरसी अली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इनफिडेल' (न्यूयॉर्कः फ्री प्रेस, 2007), पृ. 112–13, 143 पर इस की पीड़िताओं की स्थिति का कुछ वर्णन दिया है।

फिर भी, इस्लामी विद्वान इस प्रथा का जबर्दस्त बचाव करते हैं। 1994 में मिस्त्र के मुफ्ती शेख जद अल हक ने तर्क दिया कि इस कार्य के ठीक से संपन्न न होने से होने वाली हानि के नाम पर इसे बंद नहीं किया जा सकता। कैरो के अल अजहर विश्वविद्यालय ने एफ.जी.सी. के पक्ष में कई बार फतवे भी जारी किए हैं। जैसे, सन् 1949, 1951, 1981 में। इथियोपिया की इस्लामी मामलों की सर्वोच्च परिषद के सदस्य शेख मूसा मुहम्मद उमर ने जिबूती में फरवरी 2005 में हुए इस विषयक एक सम्मेलन में इसका बचाव किया। संयुक्त राष्ट्र के सूचना प्रभाग, आई.आर.आई.एन. को दिए गए एक साक्षात्कार में भी उन्होंने विस्तार से इस प्रथा का इस्लाम से संबंध दिखाते हुए समर्थन किया। उसके अंशः

"प्रश्नः मुस्लिम धर्म में स्त्री–खतने का इतना महत्त्व क्यों है?

उत्तरः हमारे इस्लामी विद्वान मानते हैं कि स्त्री–खतना पुरुष–खतने से भिन्न है। उनका पक्का विश्वास है कि स्त्री–खतना उचित है, और इस्लामी स्त्रोतों में इसे प्रतिबंधित करने का कोई प्रमाण नहीं है, जब तक कि यह फराओनी न हो।"

ऑस्ट्रेलिया में एक आधिकारिक इस्लामी विद्वान शेख ताज–अल दीन अल–हिलाल ने अपने वक्तव्य में कहाः "यदि आप खुला मांस बाहर ले जाएं और सड़क पर, घर के पिछवाड़े या किसी पार्क में बिना ढंके रख दें, और बिल्ला आकर उसे खा जाए तो कसूर किसका है– उस बिल्ले का बिना ढंके मांस का?" उसके कहने का अर्थ यह था कि यदि बिना बुर्के वाली स्त्री पर कोई बलात्कार करे तो दोष स्त्री का है। टाइम मैगजीन, 6 नवंबर 2006

देखें, "टेक्स्ट ऑफ द क्वेश्चन एंड फतवा ऑन इमराना", द मिल्ली गजट, नई दिल्ली, 6 जुलाई 2005.

इमराना का मामला इस प्रकार थाः उसके साथ उसके ससुर ने बलात्कार किया। मगर उस पर कोर्ट में अपराधिक कार्रवाई करने के बलदे दारुल–उलूम देवबंद ने एक फतवा जारी किया कि इस घटना से इमराना की अपने पति के साथ शादी खत्म समझी जाए और उसका विवाह उस बलात्कारी ससुर से कर दिया जाए।

गुड़िया का मामला यह थाः उसका पति 7 वर्ष से लापता था। इस से इस्लामी कानून के अनुसार उसे स्वतंत्रता थी कि उस शादी को खत्म समझे। तदनुरूप उस ने दूसरी शादी कर ली। इस शादी के बाद जब वह गर्भवती हुई, उसी बीच उस का पहला पति लौट आया। देवबंद के इस्लामी विद्वानों ने फतवा दिया कि गुड़िया की दूसरी शादी अवैध हो गई और वह पहले पति के पास लौट जाए। चाहे यह गुड़िया चाहती हो या नहीं। अंततः गुड़िया मर गई।

जस्टिस वाधवा आयोग ने अपनी जांच में पाया था कि ग्राहम स्टेंस केवल समाजसेवी ही नहीं थे, बल्कि अपने धर्म का प्रसार करने और आदिवासियों को ईसाइयत में धर्मांतरित कराने के लिए समर्पित एक पक्के मिशनरी भी थे। इस तरह सामूहिक धर्मांतरण की गतिविधि कानून अवैध थी। यही स्थानीय हिन्दुओं में उनके प्रति आक्रोश का भी कारण था। बधवा आयोग की रिपोर्ट पर टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादकीय (9 अगस्त 1999) में टिप्पणी थी, "(वाधवा) रिपोर्ट को पूरी तरह स्वीकार नहीं करना चाहिए। कुछ इसाई संगठनों ने, उदाहरण के लिए, उसमें कुछ विसंगतियों का ध्यान दिलाया है।" यहां 'विसंगति' शब्द से यही संकेत मिलता है कि संपादकीय अनिच्छापूर्वक ही सही, यह स्वीकार करता है कि उस रिपोर्ट में अधिकांश बातें सही हैं।

शाम लाल, "द ह्वाइट मैन्स बर्डेन", ए हंडरेड एनकाउंटर्स (नई दिल्लीः रूपा, 2003), पृ. 206

कुछ लोग 'मजहबी आतंकवाद' पद पर आपत्ति करते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि हमारे निवर्तमान राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एम. के. नारायणन ने इस पद का प्रयोग करते हुए यह भी कहा था कि यह हमारे 'देश के लिए सर्वोच्च चुनौती' है। देखें, दैनिक ट्रिब्यून, चंडीगढ़, 30 नवंबर 2006.

नई दिल्ली में 9 सितंबर 2006 को एक पुस्तक विमोचन के अवसर पर बोलते हुए। उस कार्यक्रम में श्री नरेंद्र मोदी (तब गुजरात के मुख्यमंत्री) भी उपस्थित थे।

❖❖❖❖❖

भारत में अल्पसंख्यक मुसलमानों की सामाजिक आार्थिक और शैक्षिक स्थिति

डॉ. रजिया•

भारत में भिन्न–भिन्न जाति, धर्म, भाषा व संस्कृति के लोग रहते हैं, जिन्हें विभिन्न प्रकार की सुविधाएं एवं अधिकार प्रदान किये गए हैं, ताकि उनका सम्पूर्ण विकास संभव हो सके, परन्तु भारत में निवास करने वाले अधिकतर लोग इन सुविधाओं एवं अधिकारों से वंचित हैं। यद्धपि वर्तमान समय भूमंडलीकरण का युग है, जहां एक ओर तो हमारा देश निरन्तर विकास कर रहा है और वहीं दूसरी ओर हमारे देश के अधिकतर वर्ग विकास के अवसरों से अनभिज्ञ है, जिनका इस युग में भी सम्पूर्ण विकास नहीं हो पा रहा है और इनमें मुसलमान अल्पसंख्यक वर्ग अनुसूचित जाति व जनजाति आदि सम्मिलित हैं। इसीलिए प्रस्तुत लेख में देश के सबसे पिछड़े वर्ग मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति के विषय में चर्चा की गयी है।

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है, जहां अलग–अलग समुदाय के लोग एक साथ रहते हैं। मुसलमान यहां सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय है, जिसकी संख्या देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग 13.8 प्रतिशत है।[1] स्वतंत्रता प्राप्ति के 65 साल बाद भी इस समुदाय के हालात आर्थिक–सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से ऊपर जाने की अपेक्षा दिन–प्रतिदिन बिगड़ते जा रहे हैं और यह लगातार पिछड़ेपन का शिकार होता जा रहा है। मुसलमानों के हालात से संबंधित वर्ष 2005 में एक आयोग न्यायाधीश सच्चर की अध्यक्षता में गठित किया गया था, जिसमें साफतौर पर मुसलमानों का शैक्षिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़ापन दिखाया गया है। इससे पहले भी गोपाल सिंह समिति का गठन किया गया था, जिसमें मुसलमानों की पिछड़ी हालत के बारे में बताया गया था। यद्धपि भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों से संबंधित कई प्रावधान उल्लेखित हैं, जिसमें मूलभूत अधिकार एवं संविधान के नीति–निर्देशक तत्व आदि निहित हैं। इसके अतिरिक्त कई अन्य आयोगों का भी गठन किया गया है, जो भारत में मुसलमानों से संबंधित हैं। जैसे – राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग एवं राज्य स्तर पर लगभग 15 राज्यों में राज्य–अल्पसंख्यक आयोग, परन्तु इन

• राजनीति विज्ञान विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय।

सभी प्रावधानों के बावजूद भारत में मुसलमानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं आ रहा है। इस संबंध में महात्मा गांधी ने भी कहा था, यदि किसी भी देश में वास्तविक लोकतंत्र देखना है तो वहां के अल्पसंख्यकों की स्थिति को देखो। यदि किसी देश में अल्पसंख्यक विकसित हैं तो इसका अर्थ है कि वह देश लोकतांत्रिक है और यदि किसी देश के अल्पसंख्यक संकुचित, पिछड़े हुए एवं अविकसित हैं तो यह लोकतांत्रिक शासन प्रणाली पर प्रश्न चिह्न होगा।

भारत समाजवादी एवं प्रजातांत्रिक देश है, परन्तु फिर भी यहां निवास करने वाले अल्पसंख्यक, विशेष रूप से मुसलमान बहुत पिछड़े हुए हैं, जो लोकतांत्रिक शासन प्रणाली पर प्रश्न चिह्न है। इसलिए हमारे देश की सरकार को चाहिए कि देश के कमजोर एवं पिछड़े वर्ग के विकास के लिए उचित प्रयास करे।

भारत में अल्पसंख्यक मुसलमानों की समस्याओं का एक परिचय

भारत में लोग सदियों से आपसी भाईचारे की परंपरा का निर्वाह करते आ रहे हैं, परन्तु कुछ दशकों से समाज के कुछ नकारात्मक एवं कट्टरवादी तत्वों ने मिलकर इन समुदायों के आपसी भाईचारे को भंग करने की कोशिश की है। राजनीतिक दल व कुछ सामंतवादी एवं सांप्रदायिक विचारधारा वाले लोगों ने अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए धर्म व जाति के भेद को उजागर करके लोगों के आपसी सौहार्द को भंग करने की कोशिश की है। इसी का परिणाम है कि एक समय मिलजुलकर रहने वाले लोग अब एक–दूसरे को अलग–अलग देखने की कोशिश करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में लोगों की सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं को सुधारने के लिए अलग–अलग संगठनों का भी गठन किया गया है, जिसमें एक संगठन राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग भी है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का गठन इसी परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

भारत में मुसलमान अल्पसंख्यकों की स्थिति अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की अपेक्षा काफी दयनीय है। यद्यपि भारत में मुसलमान समुदाय दूसरा बड़ा समुदाय है, परन्तु इसके बावजूद इस समुदाय के लोग सामाजिक–आर्थिक तथा शैक्षणिक रूप से अन्य समुदायों की अपेक्षा राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़े हुए हैं। भारत में मुसलमान अल्पसंख्यकों को विभिन्न क्षेत्रों में तमाम समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

भारत में मुस्लिम अल्पसख्यक भयानक रूप से राष्ट्रीय एवं प्रांतीय स्तर पर सभी लोक सेवाओं में अल्प–प्रतिनिधित्व के शिकार हैं। सामान्य शिक्षा संस्थाओं में भी इनकी उपस्थिति इनकी जनसंख्या के अनुपात से कम ही नहीं, बल्कि न के बराबर है, जिसके कारण ये शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए हैं। इसके अलावा, लोक सेवाओं तथा ससांधन

उत्पन्न करने वाली संस्थाओं में भी इनके अल्प–प्रतिनिधित्व का मुख्य कारण तथा प्रभाव शैक्षिक पिछड़ापन ही रहा है, जिसकी वजह से इन्हें अल्प–प्रतिनिधित्व की समस्या से जूझना पड़ता है।

इसी प्रकार इन्हें धर्म पर आधारित समस्याओं का सामना भी करना पड़ता है, जिसके कारण उनके समुचित विकास के मार्ग में विभिन्न बाधाएं उत्पन्न होती हैं और वे अन्य समुदायों से काफी पिछड़ जाते हैं तथा उनमें हीन भावना का विकास होने लगता है। वे सोचते हैं कि सरकार द्वारा उनके लिए कोई भी सुरक्षा उपाय प्रदान नहीं किए गए हैं। इसके अलावा, भारतीय संविधान के अुनच्छेद 25 और 26 में प्रदान धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार भी मुस्लिम अल्पसख्यकों के कई मामलों में चुप रहता है। एक और बड़ी समस्या, जो मुसलमानों से संबंधित है, वह है वक्फ़ सम्पत्ति की समस्या। इसके संरक्षण के लिए भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय वक्फ़ बोर्ड की स्थापना वर्ष 1964 में, वक्फ़ अधिनियम 1954 के अधीन की गई थी। यह एक वैधानिक संस्था है, जिसका मुख्य उद्देश्य राज्य वक्फ़ बोर्डों के मामले तथा देश में वक्फ़ प्रशासन के संबन्ध में उचित सलाह देना है। वक्फ़ धमार्थ उद्देश्य के लिए चल या अचल संपत्तियों का स्थायी समर्पण है, जो धार्मिक उद्देश्यों के लिए धार्मिक परोपकारियों द्वारा दिए गए मुस्लिम कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है। वक्फ़ बोर्ड में एक काउंसिल होती है, जिसका अध्यक्ष केन्द्रीय मंत्री होता है। काउंसिल का सचिव मुख्य कार्यकारी होता है। इसके अंतर्गत, अधिकतम 20 सदस्य होते हैं, जो केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। वर्तमान में इसके अध्यक्ष के. रहमान खान (अल्पसंख्यक मामलों के मंत्री) हैं। वह वक्फ़ के सभी कार्यों की देख–रेख करते हैं। केंद्र वक्फ़ बोर्ड के अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा वक्फ़ अधिनियम, 1995 की धारा 13 और 14 के अधीन राज्य वक्फ़ बोर्ड की स्थापना की गई। इनका मुख्य कार्य प्रबंधन विनियम तथा व्यक्तिगत वक्फ संस्थानों के लिए ज़िला वक्फ समितियों, मंडल, वक्फ़ समितियों तथा समितियों का गठन करके, संपत्ति की रक्षा करना है। वर्तमान में भारत में 28 राज्यों व संघ–शासित प्रदेशों में 30 वक्फ बोर्ड हैं। कुछ राज्य जैसे– गोवा, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, नगालैंड तथा सिक्किम और संघ–शासित प्रदेश दमन एंड दीव में कोई भी वक्फ़ बोर्ड नहीं है।

भारत में वक्फ़ संपत्ति की वर्तमान स्थिति

यदि वक्फ़ संपत्ति की बात की जाए तो भारत में वक्फ़ की संपत्ति इतनी अधिक है कि अगर वे संपत्तियां मुसलमानों को वापिस कर दी जाएं तो भी उनकी हालत में काफी सुधार हो सकता है। उदाहरण के लिए–

हिन्दी अखबार चौथी दुनिया के अनुसार दिल्ली में जितनी भी वक्फ़ संपत्तियां हैं, उन पर देश के प्रतिष्ठित अधिकारी निवास करते हैं। जैसे – राष्ट्रपति भवन की भूमि वक्फ़ संपत्ति के नाम से है, प्रधानमंत्री का निवास वक्फ़ की भूमि पर बना हुआ है तथा राष्ट्रपति संग्राहलय का निर्माण वक्फ़ भूमि पर है। इसके अलावा और भी प्रसिद्ध संपत्तियां हैं, जिन प्रदेशों में अन्य बड़े–बड़े अधिकारियों के निवास स्थान बने हुए हैं। दिल्ली के अलावा पश्चिम बंगाल में वक्फ संपत्तियां सबसे अधिक हैं, जिनकी संख्या 1,48,200 हैं। इसके बाद केरल, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश का स्थान आता है। सम्पूर्ण भारत में वक्फ़ द्वारा अधिग्रहित भूमि 6 लाख एकड़ है, जिसका किताबी मूल्य 6000 करोड़ रुपए है। वर्तमान में बाजार के हिसाब से इन संपत्तियों का मूल्य 1.2 लाख करोड़ (12,000 बिलियन डॉलर्स) है। यद्यपि सारी वक्फ़ संपत्ति का बाजारी मूल्य करोड़ों के हिसाब से है, (चौथी दुनिया हिन्दी अखबार, सितम्बर 2011) परन्तु इसके बावजूद पूरे भारत की वक्फ़ संपत्ति से वार्षिक आय केवल 163 करोड़ रुपए ही हो रही है, जो वास्तविक आय से बहुत ही कम है। वक्फ़ संपत्ति से जितनी भी वार्षिक आय प्राप्त होती है, उसमें से वक्फ़ बोर्ड को अपनी प्रबंध व्यवस्था चलाने के लिए 7 प्रतिशत राशि दी जाती है। शेष 93 प्रतिशत राशि का प्रयोग निम्न आवश्यक कार्यों के लिए किया जाना चाहिए। जैसे

- शैक्षणिक संस्थान, छात्रावास, पुस्तकालय, क्रीड़ास्थलों का निर्माण, उनकी देखभाल एवं विकास, छात्रवृत्ति जारी करना ताकि शिक्षा को विकसित किया जा सके।
- सांप्रदायिक दंगों और प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित लोगों समेत सभी गरीबों को चिकित्सा और आर्थिक मदद देना।
- मुसलमानों के इस्तेमाल के लिए मुसाफिरखानों और शादीघरों का निर्माण। मस्जिदों, दरगाहों एवं कब्रिस्तानों का प्रबंध, तलाकशुदा महिलाओं के भत्ते का प्रबंध।
- सुप्रीम कोर्ट के आदेश के मुताबिक इमामों और मुअज्ज़िन के वेतन का भुगतान।

लेकिन कुछ ही कार्यों को छोड़कर वक्फ़ बोर्ड के अधिकतर उद्देश्यों को अब तक प्राप्त नहीं किया जा सका है। इसके लिए खुद सरकार और वक्फ़ बोर्ड जिम्मेदार हैं। इसके अलावा, प्रधानमंत्री द्वारा बनाई गई उच्च–स्तरीय समिति ने भी वक्फ़ संपत्ति के विषय में निम्न जानकारी प्रदान की है। उसके अनुसार भारत में....

- लगभग 4.9 लाख से अधिक रजिस्टर्ड वक्फ़ संपत्तियां हैं, जो देश के विभिन्न राज्यों व संघ–शासित प्रदेशों में फैली हैं।
- सम्पूर्ण भारत में वक्फ़ सम्पत्ति के अंतर्गत लगभग 6 लाख एकड़ क्षेत्र का मूल्यांकन किया गया है, जिसका अंकित मूल्य 6000 करोड़ रुपए है और इन संपत्तियों का बाजारी मूल्य कई गुना है।
- शहरी क्षेत्रों में वक्फ़ संपत्तियों की संख्या वर्तमान अंकित मूल्य से कई गुना अधिक है, जिनकी वर्तमान वार्षिक आय लगभग 163 करोड़ रुपए है, जो 2.7 प्रतिशत के रिटर्न की एक अल्प दर के समान है।
- वर्तमान समय में सभी वक्फ़ संपत्तियों का बाजारी मूल्य 1.2 लाख करोड़ रुपए (1,200 अरब डॉलर) है। यदि इन संपत्तियों का कुशल एवं विपणन उपयोग किया जाए, तो उसका रिटर्न कम से कम 10 प्रतिशत उत्पन्न किया जा सकता है, जो लगभग 12,000 रुपए करोड़ वार्षिक होगा।[22]

यदि इन संपत्तियों में से कुछ संपत्तियां, जो देश भर में प्रमुख स्थानों में स्थित हैं, विकसित हों तथा उनका वाणिज्यिक उपयोग किया जाए तो उनके बाजारी मूल्य तथा वार्षिक आय में वृद्धि होगी। वक्फ़ संपत्तियों की बढ़ी हुई आय का उपयोग शैक्षिक स्थिति को उन्नत करने के लिए तथा वक्फ़ के अन्य मानवीय कार्यों के लिए भी किया जाना चाहिए, ताकि देशभर के पिछड़े मुसलमानों की हालत में सुधार लाया जा सके। वर्तमान समय में ये सभी समस्याएं ऐसी हैं, जिनका सामना मुस्लिम अल्पसंख्यकों को करना पड़ रहा है।

एनसीएम के पूर्व अध्यक्ष हामिद अंसारी (वर्तमान में भारत के उप–राष्ट्रपति) ने भी शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े मुसलमानों को अति पिछड़े वर्ग की श्रेणी में शामिल किया है। उनके अनुसार देश में धार्मिक अल्पसंख्यकों की संख्या 18.4 प्रतिशत है, जिनमें अकेले मुसलमानों की संख्या 13.4 प्रतिशत है। हामिद अंसारी ने यह भी कहा कि उनकी स्थिति शिक्षा के क्षेत्र में विचलित करने वाली है। इसलिए उन्हें उच्च शिक्षा क्षेत्र में विशेष अवसर देने के लिए ओबीसी में शामिल किया जाना आवश्यक है।[3]

संसद की स्थायी समिति ने भी मुसलमान अल्पसंख्यकों में शैक्षिक और सामाजिक रूप से पिछड़े छात्रों को अन्य पिछड़े वर्गों की तरह सामान्य भागीदारी सुनिश्चित करने पर सहमति प्रकट की है, परन्तु समिति उन्हें आरक्षण के दायरे में शामिल करने पर चुप है। वहीं अल्पसख्यक मामलों के मंत्री रहे ए. आर. अंतुले ने भी मुस्लिम समुदाय के शैक्षिक विकास के लिए उन्हें आरक्षण देने की आवश्यकता पर बल दिया है। राजेन्द्र

सच्चर कमेटी ने भी मुस्लिम अल्पसंख्यकों के आरक्षण के लिए कई सिफारिशें की हैं। यहां तक कि तत्कालीन समय में मानव संसाधन विकास राज्य मंत्री रहे अली अशरफ फ़ातमी की अध्यक्षता में मंत्रालय द्वारा गठित उच्च स्तरीय समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की। यद्यपि संविधान में किसी को भी धर्म के आधार पर आरक्षण देने का प्रावधान नहीं है, फिर भी सरकार ने समुदाय के नाम पर मुसलमानों को आरक्षण देने का रास्ता खोजने के लिए कहा है।

फातमी समिति ने मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों में शैक्षिक विकास के लिए वयस्क शिक्षा, मदरसों की संख्या में वृद्धि, प्री–स्कूल, आंगनवाड़ी केंद्र, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय की तर्ज पर मुस्लिम लड़कियों के लिए आवासीय विद्यालय और ज़रूरतमंद छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की सिफारिशें कीं ताकि समुदाय की लड़कियों को छात्रवृत्ति उपलब्ध कराने से उन्हें उच्च शिक्षा के प्रति आकर्षित किया जा सके। सच्चर समिति के हवाले से कहा गया है कि बहुसंख्यक समुदाय की 65.1 प्रतिशत शिक्षा दर की तुलना में अल्पसख्यक समुदाय में शिक्षा का स्तर 59.1 प्रतिशत है। लड़कियों में, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में यह स्तर और भी कम है। समिति ने बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों को पुनः शिक्षा से जोड़ने के लिए सरकार से विशेष प्रावधान करने की सिफारिश की है। फातमी समिति ने रिपोर्ट में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा मौलाना आज़ाद मुस्लिम विश्वविद्यालय की चार–चार शाखाएं खोलने की भी सिफारिश की है।

मुसलमानों की आर्थिक दशा सुधारने के मामले में प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह के हाल के सुझावों पर अमल करने के लिए तत्कालीन अल्पसख्यक मामलों के केन्द्रीय मंत्री रहे अब्दुल रहमान अंतुले ने भी मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में अधिकाधिक शैक्षिक संस्थान खोले जाने और तकनीकी शिक्षा के विशेष अवसर उपलब्ध कराने की वकालत की थी। अंतुले ने कहा था कि उनके मंत्रालय ने अल्पसंख्यकों के सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए सरकार द्वारा 15–सूत्री कार्यक्रम पर अमल शुरू कर दिया है। कार्यक्रमों का हवाला देते हुए उन्होंने कहा था कि शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी इस जनसख्या के उत्थान के लिए 'शिक्षा समेकित बाल विकास कार्यक्रमों' का लाभ देने के अलावा 'सर्व शिक्षा अभियान, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय योजना' को सक्रिय बनाने, उनकी जनसंख्या के अनुपात में उर्दू शिक्षकों की बहाली, मौलिक शिक्षा की व्यवस्था तथा मदरसों के आधुनिकरण कार्यक्रम, आईटीआई स्थापित करने तथा अल्पसंख्यक वित्त निगम के साथ उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कार्यक्रम चलाया जाना सम्मिलित है। उन्होंने यह भी कहा कि मुस्लिम अल्पसंख्यकों को व्यवसायिक शिक्षा उपलब्ध

कराई जाए, ताकि वे भूमण्डलीकरण की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हो सकें। पूर्व प्रधानमंत्री डॉ॰ मनमोहन सिंह ने भी मुस्लिम समुदाय की शिक्षा पर बल देते हुए, उनके आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण 'उनका स्कूल से दूर रहना' बताया था।[4]

सरकारी आंकड़ों के अनुसार बिहार में 6.22 लाख, प. बंगाल में 3.87 लाख, उत्तर प्रदेश में 7.82 लाख छात्र स्कूल से बाहर हैं। सच्चर समिति की रिपोर्ट के पूर्व कुछ आंकड़े रामगढ़, जयपुर के आधुनिक पद्धति से चल रहे मदरसे 'मदरसा जामियातुल हिदायत' ने अपने अध्ययन के बाद प्रस्तुत किए थे। उनके अनुसार सरकारी नौकरियों में मुसलमानों का प्रतिशत केवल 2.3 प्रतिशत है। यहां तक कि भारत के विभिन्न न्यायालयों में भी मात्र 4.5 प्रतिशत, ग्रेजुएट केवल 18 प्रतिशत और आईएएस, आईपीएस व आईएफएस में भी मुस्लिम प्रतिशत केवल 2 या 3 प्रतिशत से अधिक नहीं है। सच्चर समिति के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में भी मुस्लिम समुदाय सबसे पीछे है और 25 प्रतिशत, 6 से 14 वर्ष तक की आयु के बच्चे स्कूल छोड़ चुके हैं तथा कुछ तो स्कूल गए ही नहीं। उच्च शिक्षा, स्नातक तथा डिप्लोमा होल्डर मुसलमान छात्र 4 प्रतिशत, से भी कम हैं। 7 प्रतिशत मुसलमान छात्र, जिनकी आयु 20 वर्ष तथा इससे अधिक है, स्नातक हैं और स्नातकोत्तर स्तर पर 20 में से केवल एक ही छात्र पहुंचता है। इसी कारण सच्चर समिति ने मुस्लिम अल्पसंख्यकों की शिक्षा में सुधार करने पर बल दिया है, जिसके लिए समिति ने मुस्लिम वर्ग के छात्र–छात्राओं के लिए छात्रवृत्ति, मुफ्त किताबें तथा परिवहन सुविधाओं पर भी बल दिया। साथ ही मुसलमानों के लिए आईटीआई, मदरसा शिक्षा तथा व्यवसायिक शिक्षा पर भी बल दिया। समिति ने मुस्लिम अल्पसंख्यकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए भी सरकार से सिफारिशें की हैं, जिसके अंतर्गत मुसलमानों को स्थायी वेतन, नौकरी में विशेषकर सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में भागीदार बनाए जाने की सिफारिश की। सच्चर समिति ने मुसलमानों के मौजूदा हालात पर नजर डालकर उनके विकास की वकालत की है।[5]

वर्ष 1993 से 2012 तक राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग ने मुसलमानों के विकास के लिए बहुत प्रयास किए–

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग द्वारा वर्ष 1993–1996 के बीच मुसलमानों के विकास के लिए मदरसा आधुनिकीकरण के लिए वित्तीय सहायता देने, उनकी सम्पत्ति के संरक्षण के लिए वक्फ़ कानून बनाने, उनके अधिकारों की रक्षा के लिए व्यक्तिगत कानून बनाने और वर्ष 1993 में अयोध्या दंगों में पीड़ित मुसलमानों को उचित मुआवजा देने की मांग की। वर्ष 1997–1999 के दौरान आयोग ने लखनऊ में मुस्लिम गर्ल्स कॉलेज और

मुसलमानों के संरक्षण के लिए धार्मिक सौहार्द समूह की स्थापना पर बल दिया। इसके अलावा, मुसलमानों को अखिल भारतीय सेवा में 10 प्रतिशत आरक्षण देने की मांग की। वर्ष 1999–2002 के दौरान आयोग ने मुसलमानों के शैक्षिक संस्थान ''मौलाना आज़ाद उर्दू स्कूल'' को अनुदान देने और मुसलमानों को व्यवसायिक संस्थानों में 4 प्रतिशत आरक्षण देने की बात की। वर्ष 2003–2005 के दौरान आयोग द्वारा मुसलमानों के विकास के लिए शैक्षिक कार्यक्रम तथा सरकारी स्कीम लागू करने की सिफारिश की। इसके अलावा 2002 में गुजरात में हुए ''बेस्ट बेकरी कांड'' के मामले में उचित कार्रवाई करने और मानव संसाधन मंत्रालय से मुस्लिम लड़कियों के लिए ''आधुनिक स्त्री शिक्षा'' और विज्ञान शिक्षा के संबंध में स्कीम लागू करने की सिफारिश की।

वर्ष 2005 से 2012 के दौरान आयोग ने सरकार से मुसलमानों के विकास के लिए शिक्षा संबंधी समस्याओं पर ध्यान देने और गुजरात तथा मालेगांव बम विस्फोट में पीड़ित लोगों को आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की। इसके अलावा, इन दंगों में पकड़े गए निर्दोष लोगों की रिहाई एवं शीघ्रता से उनकी सुनवाई करने और प्रधानमंत्री के 15–सूत्री कार्यक्रम व सच्चर समिती की सिफारिशों को लागू करने की सिफारिश की।[6]

यद्यपि अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना देश में सर्वप्रथम 1977 में तीन राज्यों क्रमशः बिहार, गुजरात, उत्तर प्रदेश में हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य था अल्पसंख्यक समुदायों को शिक्षा से जोड़ना, परंतु 1977 से 1984 तक अल्पसंख्यक आयोग प्रशासकीय कठिनाइयों में फंसा रहा एवं 1984 के बाद ही उसका प्रारम्भिक ढांचा मजबूत हो सका। इसके बाद भी सरकार के ढीले रवैये के कारण अल्पसंख्यक आयोग अनेक समस्याओं का सामना करता रहा। कभी–कभी इसके अस्तित्व पर ही संकट आ गया, परंतु इन सब समस्याओं के बावजूद राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग किसी तरह अपने अस्तित्व में बना रहा। इसलिए इस आयोग को अपने अस्तित्व में बनाए रखने के उद्देश्य से वर्ष 1992 में राष्ट्रीय–अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम' को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने के लिए अधिनियमित किया गया, जो 17 मई 1993 को प्रवृत्त हुआ। इसके अनुसार राष्ट्रीय अल्पसख्यंक आयोग में शक्तियां समाहित हुईं और इसके कार्यक्षेत्र का भी विकास हुआ। आयोग ने अल्पसंख्यकों के सुधार के लिए कई सराहनीय कार्य किए, परंतु आयोग के समक्ष अभी कई चुनौतियां हैं। जैसे सच्चर समिति की सिफारिश को लागू करवाना, अल्पसख्यंकों को भय मुक्त समाज प्रदान करना एवं उन्हें आरक्षण प्रदान करवाना आदि।

1947 के बाद भारत में मुसलमानों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति तथा संविधान निर्माण के बाद भी मुसलमानों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आया। भारत संसार के उन देशों में से है, जहां मुसलमानों की बड़ी संख्या मौजूद है।

सच्चर समिति के अनुसार भारत में मुसलमानों की संख्या कुल आबादी का लगभग 13.8 प्रतिशत है[7] और संसार की कुल जनसंख्या का लगभग 1/4 भाग भारत में निवास करता है।[8] भारतीय मुसलमान भारतीय समाज का महत्वपूर्ण व अटूट अंग हैं। मुस्लिम समुदाय हिन्दुओं के बाद दूसरा सबसे बड़ा समुदाय है। धार्मिक अल्पसंख्यकों के रूप में मुसलमानों की संख्या दूसरे अन्य अल्पसंख्यक समुदायों से अधिक है। मुसलमान भारत के कोने–कोने में बिखरे हैं और भिन्न–भिन्न क्षेत्रीय भाषाएं भी बोलते हैं और वे भारत के क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक रंगों में पूरी तरह रंगे हुए हैं। इस प्रकार मुसलमान भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एकाधिक रूप से जुड़कर विविधता उत्पन्न करते हैं। जब तक भारतीय मुसलमान और आर्थिक रूप से पिछड़े अन्य कमजोर वर्ग, आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार बने रहेंगे, तब तक सामाजिक और आर्थिक उन्नति तक पहुंचने के भारतीय प्रयास असफल रहेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि भारतीय मुसलमानों के शैक्षिक एवं उज्ज्वल भविष्य तथा उनकी प्रगतिशीलता के लिए समान अवसर प्रदान किए जाएं। भारतीय मुसलमानों की सामाजिक और आर्थिक विकास संबंधी समस्याएं केवल मुसलमानों के लिए ही नहीं, बल्कि भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व भावनात्मक एकता के लिए भी महत्वपूर्ण हैं।[9]

भारत की जनसंख्या का लगभग एक–तिहाई भाग गरीबी रेखा से नीचे है, जिनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय है कि उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पाती।[10] जब तक भारत में गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले इन लोगों पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाएगा, तब तक देश का समग्र विकास सम्भव नहीं होगा। भारत की लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या अभी भी विकास के इस अवसर से बहुत दूर है, जो किसी भी समुदाय व देश के लिए गम्भीर समस्या है। भारत में मुसलमानों के सामाजिक–आर्थिक पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण ''देश का विभाजन'' माना जाता है, जिसके परिणामस्वरूप भारत में विभिन्न साम्प्रदायिक दंगे भी हुए और आज तक मुसलमान उन दंगों का नुकसान भुगत रहे हैं। देश विभाजन तथा आजादी के बाद भारतीय मुसलमानों के बीच एक आपराधिक हीन भावना का विकास होने लगा, उन पर देश के विभिन्न स्थानों पर ''देश विभाजन'' का आरोप लगाया गया, जिससे देश की

एकता, अखण्डता व सम्पत्ति को भारी नुकसान उठाना पड़ा। इसी भावना के कारण देश की जनता में हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे भी हुए, जो भारतीय मुसलमानों के सामाजिक–आर्थिक विकास के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं।[11]

यद्यपि भारत सरकार द्वारा भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के विकास एवं कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के प्रावधान किए गए हैं, परंतु उसके बावजूद आज अल्पसंख्यक वर्ग विशेषकर मुस्लिम समुदाय काफी पिछड़ा हुआ है और स्वतंत्रता के बाद तो मुसलमानों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति इतनी खराब व दयनीय है कि वे आज तक उबर नहीं पाए हैं। भारत में मुसलमानों की आर्थिक स्थिति अत्यंत खराब है, जिससे उनकी सामाजिक स्थिति भी खराब हुई। मुसलमानों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति का अन्य प्रमुख कारण आर्थिक क्रियाओं में मुसलमानों की कम से कम भागीदारी होना है और ये भागीदारी मुस्लिम महिलाओं में अन्य समुदायों की महिलाओं की अपेक्षा और भी कम है।

भारत में स्वतंत्रता के बाद मुसलमानों की आर्थिक स्थिति में बहुत परिवर्तन आया है। स्वतंत्रता से पहले अधिकांश मुस्लिम समुदाय सामन्तवादी तथा जागीर प्रथा पर निर्भर था, जिसके कारण उनके पास धन का अभाव नहीं था, परंतु स्वतंत्रता उपरांत मुस्लिम समुदाय ने खुद को अपराध बोध से ग्रसित कर लिया है। इस समुदाय को हर तरह से बंटवारे का उत्तरदायी ठहराया जाता है, जिसके कारण सम्पत्ति की भारी हानि हुई और मुसलमानों की स्थिति खराब हो गई। विभाजन के बाद लगातार साम्प्रदायिक दंगे व विकास कार्यों में मुसलमानों की पर्याप्त भागदारी न होने के कारण देश में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हुई, जिससे मुसलमानों की स्थिति दिन–प्रतिदिन बिगड़ती गई। राष्ट्रीय–निर्माण और विकास कार्यों में मुसलमानों की भागीदारी को रोकने का मुख्य कारण सरकार द्वारा मुसलमानों की उपेक्षा करना है।[12]

देश विभाजन और जमींदारी प्रथा उन्मूलन (अप्रत्यक्ष जागीरदारी) के कारण भी भारत में मुसलमानों की आर्थिक स्थिति खराब हुई है, जिसके महत्व को समझना खासा कठिन है। विभाजन के बाद मुसलमानों का बड़ा तथा शिक्षित वर्ग पाकिस्तान चला गया, जिसमें शिक्षित मध्यमवर्गीय और उच्चवर्गीय मुसलमान–व्यवसायी, इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, तकनीशियन, नौकरशाह, सैनिक–अधिकारी, विश्वविद्यालयी–शिक्षक, खजांची आदि थे और गरीब व अशिक्षित मुसलमान भारत में ही रह गए। परिणामस्वरूप भारतीय मुसलमानों के आर्थिक स्तर में गिरावट आई। जमींदारी प्रथा की समाप्ति के कारण कई सहयोगी व्यवसाय भी समाप्त हो गए और मुसलमानों का आर्थिक आधार कमजोर पड़ गया, जिसमें अधिकतर मुस्लिमों का ही प्रतिनिधित्व था। उदाहरण के लिए, जमींदारी

प्रथा उन्मूलन से हैदराबाद और रामपुर जैसी जगहों पर मुसलमानों का आर्थिक आधार कमजोर पड़ गया, क्योंकि वहां अधिक संख्या में मुसलमान जागीरदारी प्रथा विद्यमान थी।[13]

वास्तव में प्रतिशत की दृष्टि से भी मुसलमानों का जीवन–स्तर अन्य समुदायों की अपेक्षा निम्न समझा जाता है। भारत में रोजगार प्रदान करने वाली सबसे बड़ी संस्था स्वंय 'सरकार' है। स्वतंत्रता से पहले मुसलमानों में सरकारी नौकरी अधिक लोकप्रिय रही, लेकिन स्वतंत्रता के बाद सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की संख्या में तेजी से कमी आई और उनकी स्थिति दिन–प्रतिदिन खराब होती रही, जो निम्न आंकड़ों द्वारा दर्शायी गई है–

- भारतीय प्रशासनिक सेवा अर्थात आईएएस भारत में सबसे सम्मानीय और महत्वपूर्ण पद माना जाता है। वर्श 1981 में सम्पूर्ण भारत में आईएएस अधिकारियों की संख्या 3883 थी, जिनमें मुसलमान आईएएस अधिकारी 116 थे, जो कुल संख्या का मात्र 3 प्रतिशत था, परन्तु वर्तमान में भी भारतीय प्रशासनिक सेवा में केवल 3 प्रतिशत मुसलमान ही हैं।
- भारतीय पुलिस सेवा यानी आईपीएस में मुसलमानों की संख्या सिर्फ 2.65 प्रतिशत तथा बैंकों में 2.18 प्रतिशत थी।
- केन्द्रीय सरकारी अधिकारियों में 4.41 प्रतिशत, राज्य सरकारी अधिकारियों में 6.01 प्रतिशत, रेलवे में 2.65 प्रतिशत तथा बैंकों में 2.18 प्रतिशत मुसलमान थे।

इसके विपरीत, सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठानों में उनकी स्थिति कुछ बेहतर दिखाई देती है, जहां मुसलमानों की संख्या 10.85 प्रतिशत थी।[14]

निम्न आंकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में मुसलमानों की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय है। रेलवे में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व केवल 2.6 प्रतिशत और राष्ट्रीयकृत बैंकों में मुस्लिम वर्ग केवल 2 प्रतिशत हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व केवल 3 प्रतिशत है, परंतु पुलिस सेवाओं में इनका प्रतिनिधित्व और भी कम यानी केवल 2.8 प्रतिशत है। 12 राज्यों में मुसलमान पुलिस अधिकारियों का अनुपात केवल 2 प्रतिशत या उससे भी कम है। 4 राज्यों में तो आरक्षी बलों के बीच एक भी मुसलमान नहीं है।[15]

मुसलमानों की सामाजिक–आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति के संबंध में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग एवं अन्य इस क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में मुसलमानों की स्थिति अत्यंत पिछड़ी हुई है और ये स्थिति शैक्षिक रूप से तो और भी ज़्यादा पिछड़ी

है, क्योंकि उनके पास पर्याप्त संसाधन एवं पूर्ण जानकारी का अभाव है और उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों में धार्मिक आधार पर भेदभाव किया जाता है।[16]

परंतु कुछ विशेषज्ञ जैसे राजिक वदूद (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक विश्लेशक) और जमात–ए–इस्लामी के अध्यक्ष मोहम्मद अहमद साहब द्वारा मुसलमानों की सामाजिक–आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति के संबंध में कहा गया कि मुसलमान कुछ क्षेत्रों में बेहतर स्थिति में हैं, जैसे दक्षिण भारत में मुसलमानों की स्थिति काफी बेहतर है तथा कहीं मुसलमानों का विकास हुआ है और अन्य क्षेत्रों में नहीं हुआ।[17]

कुछ विशेषज्ञों जैसे–प्रो. राम पुनियानी, असगर अली इंजीनियर और दिल्ली अल्पसंख्यक आयोग के सदस्य पुष्पेन्द्र सिंह ने भी कहा है कि मुसलमानों की स्थिति भारत में अनुसूचित जाति व जनजाति से भी अधिक खराब है। सरकार को मुसलमानों की स्थिति को सुधारने के लिए अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। जबकि मंजूर आलम ने तो सच्चर समिति और रंगनाथ मिश्रा आयोग की रिपोर्ट के हवाले से कहा है कि इंस्टिट्यूट ऑफ ऑब्जेक्टिव स्टडीज ने मुसलमानों की स्थिति से संबंधित सात वॉल्यूम निकाले हैं, जिसमें मुसलमानों की स्थिति अनुसूचित जाति व जनजाति से भी ज़्यादा पिछड़ी हुई दिखाई गई है।[18]

परंतु इस प्रश्न के संबंध में पूर्व आई.ए.एस. अधिकारी और वर्तमान लखनऊ यूनिर्वसिटी के वाइस चांसलर अनीस अंसारी साहब द्वारा कहा गया कि मुसलमानों की स्थिति अनुसूचित जाति व जनजाति से बेहतर है। उनके अनुसार सच्चर समिति ने कुछ मामलों में कहा है कि केवल बंगाल के एक जिले में ही मुसलमानों की स्थिति खराब है, जबकि 600 जिलों में उनकी स्थिति ठीक है। उन्होंने कहा कि मुसलमानों में हुनर होता है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि मुसलमानों की स्थिति खराब है, परंतु कुछ क्षेत्रों में जैसे सरकारी नौकरी या शिक्षा के क्षेत्र में उनकी स्थिति पिछड़ी हुई है।[19]

उपरोक्त आंकड़ो और विशेषज्ञों के विचारों के आधार पर यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि मुसलमानों की स्थिति कितनी पिछड़ी हुई है, विशेष रूप से नौकरी और शैक्षिक क्षेत्र में। यद्यपि भारत सरकार द्वारा मुसलमानों के लिए विभिन्न शैक्षिक छात्रवृत्रियां, कार्यक्रम और योजनाएं भी बनाई गई हैं, परंतु उपयुक्त मशीनरी और संस्था के अभाव में इन कार्यक्रमों और योजनाओं का लाभ उन तक नहीं पहुंच पाता।

भारतीय जीवन बीमा निगम एक प्रमुख वित्तीय निगम और भारत सरकार का ही उपक्रम है। इसमें पाँच सदस्य होते हैं, परंतु इसमें एक भी मुसलमान नहीं है। निगम में 18 वरिष्ठ अधिकारी होते हैं, परंतु इनमें एक भी मुसलमान नहीं है। निगम की बचत

समिति में कुल 44 सदस्य होते हैं, परंतु इसमें केवल एक ही मुस्लिम सदस्य है। विभिन्न क्षेत्रों की नीति–निर्धारक समितियों के संयुक्त सदस्यों की संख्या 140 है, जिसमें सिर्फ 3 सदस्य ही मुसलमान हैं। बैंकिंग–उद्यम क्षेत्र के बहुत बड़े भाग का राष्ट्रीयकरण किया गया, जिसमें भारत के 16 वाणिज्यिक बैंकों में निदेशक समिति के संयुक्त सदस्यों की कुल संख्या 467 थी और इनमें से केवल 4 मुसलमान थे, जो कुल सदस्यों का सिर्फ 0.85 प्रतिशत थे।[20]

मुसलमानों के सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण है, उनका सरकार में अल्प–प्रतिनिधित्व व अल्प–भागीदार होना। वर्तमान में सरकारी क्षेत्रों में मुसलमानों की भागीदारी नगण्य है। इसी प्रकार निजी क्षेत्रों की बात की जाए तो यहां भी बहुत ही कम मुसलमान उच्च व्यवस्थापक या कार्यकारी अधिकारियों में शामिल हैं, जबकि छोटे श्रम वाली नौकरियों में अपेक्षाकृत अधिक मुसलमान पाए जाते हैं। भारत में मुसलमानों द्वारा चलाई जा रही कम्पनियां केवल एक या दो ही हैं, जिनके पास केवल दो करोड़ के आसपास सम्पत्ति है। मुसलमानों द्वारा चलाई जा रही कम्पनियों की संख्या इतनी कम है कि उनकी संख्या दहाई तक भी नहीं पहुंचती।[21]

लघुस्तरीय उद्योग, दस्तकारी और स्वरोजगार जैसे क्षेत्रों में अनेक उद्योग ऐसे हैं, जिन पर मुस्लिम प्रभुत्व है। उदाहरण के लिए फिरोजाबाद का चूड़ी उद्योग, मुरादाबाद का बर्तन उद्योग, आजमगढ़ और मऊनाथ भंजन का हथकरघा उद्योग, बनारस और भदाही का कालीन उद्योग, कानपुर का चमड़ा उद्योग, लखनऊ (चिकन एम्ब्रॉइडरी) उद्योग, अलीगढ़ का ताला उद्योग तथा सहारनपुर का काश्त उद्योग आदि। ये सभी उद्योग मुसलमानों की कुशलता और दक्षता के बल पर ही चलते हैं और उसी के आधार पर विकास करते हैं। सरकारी नौकरियों की अपेक्षा लघु–स्तरीय उद्योग में मुस्लिम भागीदारी 10.6 प्रतिशत है, परंतु वर्तमान में इन उद्योगों में भी गैर–मुसलमानों की भागीदारी बढ़ती जा रही है। जैसे–अलीगढ़ के ताला उद्योग में कुल रोजगार प्राप्त मुसलमानों का 72.6 प्रतिशत भाग ताला उद्योग में ही काम करता था और इस उद्योग में 85 प्रतिशत मुसलमानों का नियंत्रण था, परंतु अब इसमें 85 प्रतिशत गैर–मुस्लिम नियंत्रण स्थापित है। इस प्रकार इन सभी आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में वर्तमान में मुसलमानों की आर्थिक स्थिति दिन–प्रतिदिन गिरती जा रही है।[22]

स्वतंत्र भारत में सरकारी और निजी दोनों क्षेत्रों में ही मुसलमानों को जो रोजगार प्राप्त है, वह उनकी जनसंख्या अनुपात के अनुसार नहीं है। केन्द्र सरकार के कर्मचारियों में केवल 4.41 प्रतिशत ही मुस्लिम कर्मचारी हैं। राज्य सरकारें कुल मिलाकर 8 लाख

26 हजार कर्मचारियों को रोजगार प्रदान करती हैं, जिसमें मुस्लिम भागदारी केवल 6 प्रतिशत है। केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा चलाए जा रहे औद्योगिक सस्थानों, बैंकों, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय न्यायिक सेवा, पुलिस और निजी कारोबार में भी मुसलमानों की भागीदारी बहुत कम है। निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में तो मुसलमानों की भागीदारी कम है ही, परंतु उन नौकरियों में जो निम्न स्तर की हैं और जिनमें विशेष प्रकार की कुशलता की आवश्यकता नहीं होती, वहां भी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व अत्यंत अल्प व असंतोशजनक है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार– पूरे देश में लगभग 6 लाख औद्योगिक इकाइंयां ऐसी हैं, जिन्हें छोटे स्तर का उद्योग माना जाता है और उनमें से केवल 14 हजार औद्योगिक इकाइयां ऐसी हैं, जिन पर मुसलमानों का स्वामित्व है और ये कुल औद्योगिक इकाइयों का केवल 2.3 प्रतिशत है। इनमें से भी केवल 2 हजार औद्योगिक इकाइयां छोटे स्तर की हैं और बाकी निम्न स्तर की हैं, जिन्हें असंगठित क्षेत्र इकाई माना जाता है।[23]

भारतीय मुसलमानों के पिछड़ेपन का एक अन्य कारण यह भी है कि भारत सरकार द्वारा देश के कमजोर वर्गों को लाभ पहुंचाने के लिए जो विभिन्न योजनाएं बनाई जाती हैं, उनका अधिकांश लाभ भारतीय मुसलमानों को नहीं मिल पाता और अगर मिलता भी है तो बहुत कम मात्रा में। इसके अलावा, वित्तीय संस्थानों द्वारा 50 हजार से 1 लाख रुपए तक दिए जाने वाले ऋण का केवल 3 प्रतिशत भाग ही मुस्लिमों को प्राप्त होता है। एक लाख से दो लाख रुपए के बीच दिए जाने वाले ऋण का कुल 2 प्रतिशत भाग ही उनको मिलता है और 10 लाख से नीचे दिए गए ऋणों का लगभग 1 प्रतिशत भाग ही मुस्लिम वर्ग तक पहुंचता है।[24]

इस संबंध में विशेषज्ञ राज़िक वदूद, मंजूर आलम और अनीस अंसारी साहब द्वारा भी यही कहा गया कि सरकार द्वारा जो भी स्कीम बनाई जाती हैं, उनका पर्याप्त लाभ टार्गेट ग्रुप तक न पहुंचने का प्रमुख कारण है मुसलमानों का पिछड़ापन। इसके परिणामस्वरूप ये समूह इन स्कीमों के लाभ से वंचित रह जाते हैं और इनका विकास अवरुद्ध हो जाता है।[25]

रोजगार के कारण ही कोई भी व्यक्ति, समुदाय, राज्य या राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, परंतु रोजगार के अवसर मुसलमानों में अन्य समुदायों की अपेक्षा बहुत कम हैं। मुसलमानों में अधिकतर लोग स्व–रोजगार से ही जुड़े रहते हैं। इसके अलावा, निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में वेतन आधारित सेवाओं में अनुसूचित जाति व जनजाति की अपेक्षा भी मुस्लिमों की संख्या बहुत कम हैं। मुस्लिम महिलाओं की जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत भाग घरेलू कार्यों में जुटा है, जबकि अन्य समुदायों में यह अनुपात केवल 51 प्रतिशत ही है।

निवास स्थान की बात की जाए तो उसमें भी मुसलमानों की स्थिति अन्य समुदायों की अपेक्षा बहुत दयनीय है। अन्य समुदायों की अपेक्षा केवल 23.76 प्रतिशत मुसलमान पक्के घरों में और 34.63 प्रतिशत मुसलमान कच्चे घरों में निवास करते हैं, जो उनकी बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को दर्शाता है। नीचे दी गई तालिका के आधार पर सभी अल्पसंख्यकों की स्थिति को दर्शाया गया है –

तालिका सं. 1.2–भारत में अल्पसंख्यकों की निवास स्थिति

समुदाय	कच्चे घर	अर्द्ध पक्के घर	पक्के घर
मुस्लिम	34.63	41.2	23.76
क्रिस्तियन	22.58	49.67	27.26
सिख	6.68	53.34	39.97
बौद्ध	3.94	43.01	53.05
पारसी	2.38	7.04	90.58
सभी	22.31	42.71	34.63

Source : Socio-Economic Status Minority Survey Conducted by the Centre for Research Planning & Action, New-Delhi (2006).

इन आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारत में मुसलमानों की आर्थिक स्थिति कितनी खराब है। मुसलमान अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक संख्या में कच्चे घरों में निवास करते हैं और बहुत कम संख्या में पक्के घरों में रहते हैं। जबकि अन्य समुदाय मुसलमानों की अपेक्षा अच्छी स्थिति में हैं और कम संख्या में कच्चे घरों में निवास करते हैं।

विभिन्न अल्पसंख्यक समुदाय और अनुसूचित जाति व जनजाति द्वारा मकान का स्वामित्व

प्रस्तुत तालिका द्वारा भारत में मुसलमानों में मकान के स्वामित्व की तुलना अन्य अल्पसंख्यक समुदाय और अनुसूचित जाति व जनजाति से की गई है।

तालिका सं. 1.3

समुदाय / जाति	अपना घर	किराये का घर
मुस्लिम	45.03	43.74
क्रिस्तियन	51.64	33.91

समुदाय / जाति	अपना घर	किराये का घर
सिख	65.89	33.29
बौद्ध	45.52	23.03
पारसी	75.13	19.05
सभी	52.71	36.10
अनुसूचित जाति	90.04	06.05
अनुसूचित जनजाति	90.07	06.00

Source : Socio-Economic Status Minority Survey Conducted by the Centre for Research Planning & Action, New-Delhi (2006).

घरों पर मालिकाना अधिकार की बात की जाए तो उसमें भी मुस्लिम वर्ग अन्य समुदायों की अपेक्षा सबसे अधिक किराए पर रहते हैं और बहुत कम ऐसे मुसलमान हैं, जिनके खुद के मकान हैं। जबकि अन्य सभी समुदायों के अधिकतर अपने मकान हैं और अनुसूचित जाति व जनजाति के लगभग 90 प्रतिशत लोगों के पास अपने मकान हैं।

गरीबी रेखा से नीचे निवास करने वाले अल्पसंख्यक समुदायों की जनसंख्या

तालिका सं. 1.4

धार्मिक समुदाय	गरीबी रेखा से नीचे (ग्रामीणों) %	गरीबी रेखा से नीचे (राशि) %
हिन्दू	27.80	21.66
मुस्लिम	27.22	36.92
क्रिस्तियन	19.82	11.84
सिख	02.95	10.86
अन्य	33.05	18.51

Source : NSSO (National Sample Survey Organization) 55th Round, July 1999- June 2000.

वर्तमान में भी मुसलमानों की आर्थिक स्थिति अन्य समुदायों की अपेक्षा अत्यंत पिछड़ी है। इसका मुख्य कारण मुसलमानों का बड़ी संख्या में बेरोजगार होना है, विशेषकर सरकारी क्षेत्र में। मुसलमान उच्च शिक्षा, डिग्री तथा सर्टिफिकेट प्राप्त करने के बावजूद सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में बेरोजगारी का शिकार हैं, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति खराब होती जा रही है। इसके अलावा, नौकरशाही, पुलिस विभाग, न्यायपालिका तथा अन्य क्षेत्रों में मुसलमानों की कमी होना भी इनकी बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति का महत्वपूर्ण कारण है।[26]

इन सभी आंकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में मुसलमान अन्य सभी समुदायों की अपेक्षा ग्रामीण और शहरी स्तर पर अधिक मात्रा में गरीबी रेखा के नीचे निवास करते हैं।

स्वरोज़गार में मुसलमानों का प्रतिशत

स्वरोज़गार में भी मुसलमानों का प्रतिशत अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक है, जिनमें अधिकतर या तो व्यापार करते हैं या फिर दैनिक वेतन पर आधारित कोई छोटा–मोटा कार्य करते हैं। मुसलमानों द्वारा किए जा रहे स्वरोजगार में उनका प्रतिशत 57% और हिन्दुओं का प्रतिशत केवल 43% है। इसी प्रकार यह प्रतिशत मुस्लिम महिलाओं में 73% और हिन्दू महिलाओं में 60% है। मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा स्वरोजगार में अधिक लोग सम्मिलित हैं।[27]

एक कर्मचारी के रूप में मुस्लिम वर्ग के लोग अनियमित मजदूर के रूप में कार्य करते हैं और इस वर्ग की भागीदारी अन्य समुदायों की अपेक्षा वेतन पर आधारित सेवाओं में बहुत ही कम है। शहरी क्षेत्रों में हिन्दू पुरुष 44 प्रतिशत और महिलाएं 40 प्रतिशत दैनिक वेतन पर आधरित हैं। जबकि मुसलमानों में केवल 43 प्रतिशत ही दैनिक वेतन पर आधरित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में हिन्दू 54 प्रतिशत तथा मुसलमान 41 प्रतिशत दैनिक वेतन पर आधारित हैं। सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में मुसलमानों का प्रतिशत 5 से अधिक नहीं है, जो अन्य समुदायों की अपेक्षा बहुत कम है जबकि अनुसूचित जाति एवं जनजाति तथा अन्य हिन्दू समुदायों का प्रतिशत मुसलमानों की अपेक्षा अधिक है।[28]

यदि मुसलमानों की आर्थिक स्थिति की बात की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमान देश में आर्थिक रूप से अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक पिछड़े हुए हैं। सभी सरकारी, गैर–सरकारी संस्थान और यहां तक कि स्वरोजगार क्षेत्र में भी मुसलमान अन्य समुदायों की अपेक्षा पीछे हैं।

भारतीय मुसलमानों की शैक्षिक स्थिति

शिक्षा एक ऐसा शस्त्र है, जिसका उपयोग मनुष्य अपने जीवन को सुरक्षा प्रदान करने के लिए करता है। भारत में शिक्षा का आरम्भ प्राचीनकाल में लगभग 4000 हज़ार वर्ष पहले हुआ, किन्तु उसके आधुनिक स्वरूप के दर्शन वैदिक काल में शुरू होते हैं। वैदिक काल में शिक्षा पर ब्राह्मणों का अधिकार था, जिसके कारण कुछ लेखकों ने वैदिक–कालीन शिक्षा को ''ब्राह्मणीय शिक्षा'' और कुछ ने ''हिन्दू–शिक्षा'' का नाम दिया। वास्तव में शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, समाज का चतुर्मुखी विकास और सभ्यता के बहुमुखी प्रगति की आधारशिला है।[29]

शिक्षा ही एकमात्र ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा वर्तमान में सामाजिक एवं आर्थिक विकास की सुविधाएं उपलब्ध हो सकती हैं। भारतीय संविधान के निर्माण के समय भारतीय राज्यों द्वारा अनुच्छेद 45 में राज्य के नीति–निर्देशक तत्व के अंतर्गत कहा गया कि राज्य संविधान निर्माण की घोषणा से आने वाले 10 वर्ष की अवधि के लिए सभी बच्चों को मुफ़्त व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा। जब तक कि वह 14 वर्ष की आयु पूरी नहीं कर लेते, परंतु वर्ष 1983 में उच्चतम न्यायालय के निर्णय द्वारा 'शिक्षा के अधिकार' को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए 'जीवन के अधिकार की स्वतंत्रता' के साथ जोड़कर एक मौलिक अधिकार बनाने को रेखांकित किया गया। परिणामस्वरूप वर्ष 2003 में 'शिक्षा के अधिकार' को 86वें संविधान संशोधन के द्वारा समर्थन दिया गया और इसे अनुच्छेद 21 (।) में सम्मिलित किया गया,। इसके अनुसार कहा गया कि राज्य 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों को मुफ़्त व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा। यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा 'शिक्षा के अधिकार' को समवर्ती सूची में शामिल करके एक मौलिक अधिकार बना दिया गया, परंतु इसके बावजूद देश की जनसंख्या का बड़ा हिस्सा इस अधिकार के लाभ से वंचित है।[30]

मुसलमान भारत में हिन्दू समुदाय की अपेक्षा शैक्षिक रूप से लगभग 60–70 वर्ष पीछे हैं। क्योंकि भारत में प्रथम हिन्दू कॉलेज की स्थापना 1816 में बनारस में हो चुकी थी। जबकि मुस्लिम कॉलेज की स्थापना 1870 के दशक में सर सैय्यद अहमद खां के द्वारा चलाए गए शैक्षिक आन्दोलन के माध्यम से अलीगढ़ में हुई और इसका नाम ''द मोहम्मडन एंग्लो ओरिएन्टल कॉलेज'' था, परंतु बाद में इसे 1920 में ''अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी'' के नाम से स्थापित किया गया।[31]

लेकिन उस समय मुसलमानों द्वारा इन शैक्षिक परिवर्तनों की उपेक्षा की जाती रही, जिसके परिणामस्वरूप मुसलमानों में पिछड़ापन आता रहा। भारतीय मुसलमानों में पिछड़ेपन के बहुत से कारण हैं, जिसमें शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण कारण है। क्षेत्रीय विषमता

तथा भाषायी समस्या जैसे उर्दू भाषा की समस्या आदि भी इनके पिछड़ेपन का कारण है। इसके अलावा, मुसलमानों द्वारा किए जा रहे व्यवसाय भी इनके पिछड़ेपन का एक कारण है, क्योंकि इससे इनकी आर्थिक स्थिति बहुत अधिक मजबूत नहीं होती और ये शिक्षा के क्षेत्र में पैसा खर्च नहीं कर पाते, इसी कारण इनकी शैक्षिक स्थिति भी बिगड़ जाती है। मुसलमानों में अन्य समुदायों की अपेक्षा साक्षरता दर तथा बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले छात्रों की संख्या सबसे अधिक है। भारत में लगभग 200 मुस्लिम उच्चतम विद्यालय, 40 डिग्री कॉलेज और 2 मुस्लिम विश्वविद्यालय (अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी और जामिया मिल्लिया इस्लामिया) हैं, जो केवल मुस्लिम समुदाय के लगभग 100 अरब लोगों के शैक्षिक विकास के उद्देश्य से स्थापित किए गए थे, परंतु ये विद्यालय, कॉलेज एवं विश्वविद्यालय मुस्लिम जनसंख्या के हिसाब से बहुत कम हैं। मुसलमानों का पिछड़ापन शैक्षिक क्षेत्र में विशेष रूप से विज्ञान, तकनीकी तथा अन्य उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में अधिक है। विज्ञान, तकनीकी तथा उच्च शिक्षा में मुसलमान अल्पसंख्यकों के पिछड़ेपन को निम्न आंकड़ों के आधार पर दर्शाया गया है–

भारत में राष्ट्रीय वैज्ञानिक संस्थान में 470 छात्र हैं, जिनमें से केवल 7 मुसलमान छात्र हैं यानी कुल सदस्य संख्या का 1.5 प्रतिशत। वर्ष 1974–82 के दौरान ''इंडियन नेशनल साइंस एकेडमी'' द्वारा भारत के 118 वैज्ञानिकों को मेडल प्रदान किए गए थे, जिनमें केवल 2 ही मुस्लिम वैज्ञानिकों को सम्मानित किया गया।[32] भारत औद्योगिक देश है। एशिया में जापान के बाद भारत का औद्योगिकरण के क्षेत्र में दूसरा स्थान है। औद्योगिक समाज के लिए बहुत अधिक संख्या में तकनीकी कुशलता की आवश्यकता होती है और इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर कई मुस्लिम तकनीकी सस्थान तथा पोलीटेक्निक की स्थापना की गई, परंतु इसके बावजूद मुसलमान बहुत अधिक संख्या में कुशल नहीं हैं।[33]

मुसलमानों के शैक्षिक पिछड़ेपन का एक अन्य प्रमुख कारण उनका अधिक संख्या में मदरसों में शिक्षा प्राप्त करना है। अधिकतर मुस्लिम अभिभावक अपने बच्चों को मदरसों में पढ़ाते हैं और अपने लिए अलग उर्दू स्कूल की मांग करते हैं, परंतु सच्चर समिति ने मुसलमानों के पिछड़ेपन के इस कारण को नकारते हुए कहा कि मदरसा शिक्षा मुसलमानों के शैक्षिक पिछड़ेपन का कारण नहीं है। सच्चर समिति के अनुसार केवल 4 प्रतिशत मुसलमान बच्चे ही मदरसों में पढ़ते हैं।[34] मुसलमान माता–पिता अपने बच्चों को आधुनिक शिक्षा दिलाना चाहते हैं, परंतु पर्याप्त संसाधन एवं अच्छी आर्थिक स्थिति न होने के कारण उन्हें आधुनिक शिक्षा उपलब्ध नहीं होती। जहां तक उर्दू का सवाल है, तो मुसलमानों की मांग यह है कि उर्दू माध्यम के सरकारी स्कूलों में उर्दू

सीखने का विकल्प सुनिश्चित करना चाहिए, जिससे हजारों उर्दू जानने वालों को नौकरी मिल सकती है क्योंकि वैसे भी भारत में निवास कर रही मुसलमान जनसंख्या का सरकारी नौकरियों में प्रतिशत बहुत कम है।[35]

सच्चर समिति के अनुसार 36 प्रतिशत मुस्लिम बच्चे ऐसे हैं, जो 10वीं कक्षा में तथा 40 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं, जो स्नातक कर रहे हैं, परंतु ये राष्ट्रीय औसत से पिछड़े हुए हैं।[36]

शैक्षिक विकास के बिना किसी भी वर्ग का सामाजिक–आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए यदि मुस्लिम समुदाय का सामाजिक–आर्थिक विकास करना है, तो सर्वप्रथम उनका शैक्षिक विकास होना अत्यंत आवश्यक है। मुसलमान शैक्षिक रूप से अन्य वर्गों की अपेक्षा दो गुना पीछे हैं।[37] सच्चर समिति के अनुसार 25 प्रतिशत मुसलमान बच्चे ऐसे हैं, जो 6 से 14 वर्ष की आयु वर्ग के हैं और वे या तो कभी स्कूल ही नहीं गए और या फिर बीच में ही स्कूल छोड़ दिया। 4 प्रतिशत से भी कम बच्चे ऐसे हैं, जो उच्च शिक्षा तक पहुंच पाते हैं, 20 वर्ष तक की आयु वर्ग के वे मुसलमान छात्र, जो डिप्लोमा होल्डर या ग्रेजुएट हैं, वे राष्ट्रीय औसत का केवल 7 प्रतिशत ही हैं और पोस्ट–ग्रेजुएट स्तर तक पहुंचने वाले मुसलमान छात्र 20 में से केवल एक ही है।[38]

मुसलमानों की शैक्षिक स्थिति के संबंध में आयोग के अध्यक्ष श्री वजाहत हबीबुल्लाह और अन्य विशेषज्ञों द्वारा कहा गया है कि सच्चर समिति रिपोर्ट के बाद सरकार द्वारा मुसलमानों की शिक्षा पर ध्यान दिया जा रहा है। सरकार द्वारा मुसलमानों को शिक्षा के क्षेत्र में आगे लाने के उद्देश्य से प्री–मैट्रिक, पोस्ट–मैट्रिक और क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम आदि चलाए जा रहे हैं।[39]

यद्दपि भारत सरकार द्वारा मुसलमानों के शैक्षिक विकास के लिए विभिन्न कल्याणकारी स्कीम एवं योजनाएं बनाई गई हैं, परंतु उसके बावजूद मुसलमान शैक्षिक रूप से देश के अन्य समुदायों से पिछड़े हैं और इसका मुख्य कारण उनकी बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति है, जिसकी वजह से वे अच्छे स्कूलों में शिक्षा ग्रहण नहीं करते और न ही किसी प्रकार की तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं।

भारत में विभिन्न समुदायों की शिक्षा का प्रतिशत निम्न सारणी द्वारा दर्शाया गया है

भारत में मुसलमानों की शैक्षिक स्थिति देश के अन्य समुदायों की अपेक्षा बहुत कम है, जो निम्न आंकड़ों के द्वारा दर्शायी गई है–

तालिका सं. 1.5

SRCs	Number in Lakh		Percentage of 20 years + Population		Distribution across SRCs	
	Graduate	Diploma & Certificate	Graduate	Diploma & Certificate	Graduate	Diploma & Certificate
Total	376.7	40.5	6.7	0.7	100	100
Muslims	23.9	2.7	3.6	0.4	6.3	6.8
SCs / STs	30.8	4.1	2.4	0.3	8.2	10.2
All Others	322	33.1	8.8	0.9	85.5	83.0

Source : Census Report- 2001.

भारत की कुल जनसंख्या का 7 प्रतिशत भाग, जिसमें 20 वर्ष की आयु या इससे अधिक आयु के छात्र स्नातक या डिप्लोमा होल्डर हैं, परंतु इसके अंतर्गत मुसलमान छात्रों की संख्या केवल 4 प्रतिशत है और यही अनुपात तकनीकी शिक्षा में केवल 1 प्रतिशत है।[40]

भारत में मुसलमानों की वर्तमान शैक्षिक स्थिति

यद्यपि वर्ष 2002 में 86वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 45 को संशोधित करके ''शिक्षा के अधिकार'' को मौलिक अधिकार बनाकर अनुच्छेद 21(।) में सम्मिलित कर दिया गया है, जिसके अनुसार सभी 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया है, परंतु उसके बावजूद मुसलमानों में साक्षरता दर अन्य समुदायों की अपेक्षा बहुत कम है, जिसके कारण मुसलमानों को दोगुनी हानि उठानी पड़ती है।[41] इसलिए मुसलमानों को स्वंय भारत के संविधान द्वारा प्रदान किए गए अनुच्छेद 21(।) का लाभ उठाकर अपनी शैक्षिक स्थिति में सुधार लाना चाहिए।

नेशनल सैम्पल सर्वे के अनुसार वर्ष 2004–05 के आधार पर विभिन्न समुदायों में साक्षरता दर

नेशनल सैम्पल सर्वे के द्वारा वर्ष 2004–05 के दौरान मुसलमानों की साक्षरता दर की तुलना अन्य समुदायों से की गई है, जो इस प्रकार है–

तालिका सं. 1.6

Age Groups	Hindus			Others	
	Gen.	OBC	SCs/STs	Muslims	Minority
6-13	90.2	80.8	74.7	74.6	88.5
14-15	95.7	87.5	80.0	79.5	91.9
16-17	95.0	85.2	78.6	75.5	91.3
18-23	91.4	76.9	65.0	70.5	85.8
23 Years & above	74.0	50.6	36.5	46.1	67.0
	80.5	**63.4**	**52.7**	**59.9**	**75.2**

Source : *Estimated from National Sample Survey Organization (NSSO) 61st Round*, 2004-05.

मुसलमानों की वर्तमान शैक्षिक स्थिति के संबंध में डॉ. मंजूर आलम साहब द्वारा कहा गया कि मुसलमान वर्तमान में भी अनुसूचित जाति व जनजाति से भी पीछे हैं और शैक्षिक क्षेत्र के अलावा मुसलमान सामाजिक एवं आर्थिक रूप से भी अनुसूचित जाति व जनजाति से अधिक पिछड़े हुए हैं। उन्होंने कहा कि मुसलमानों के साथ नौकरी देने में भेदभाव किया जाता है, जिसके कारण उनकी स्थिति अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई है।[42]

इसके अलावा, कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक विश्लेषक, राजिक वदूद द्वारा इस संबंध में ये कहा गया कि मुसलमान मानसिक तनाव के कारण पीछे जा रहे हैं, क्योंकि मुसलमानों के पास किसी भी प्रकार का समन्वय व आपसी सहयोग न होने के कारण वे मानसिक रूप से तनाव में चले जाते हैं। उन्होंने कहा कि इसी तनाव के कारण मुसलमान सोचते हैं कि उन्हें शिक्षा तो मिल जाएगी, परंतु नौकरी नहीं मिलेगी, जिसकी वजह वे शिक्षा के क्षेत्र में आगे नहीं आना चाहते और शैक्षिक रूप से पिछड़ जाते हैं। राजिक वदूद ने कहा कि मुसलमानों के पिछड़ेपन के अन्य कारण उनमें पर्याप्त जानकारी का अभाव एवं संसाधनों का सही ढंग से उपयोग न होना भी है।[43]

विभिन्न रिपीट्र्स के अध्ययन और विशेषज्ञों के विचार से यह स्पष्ट रूप से जाहिर होता है कि मुसलमानों की शैक्षिक स्थिति बहुत पिछड़ी हुई है और इस मामले में वे अन्य अल्पसंख्यकों से भी पीछे हैं। इसलिए मुसलमानों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए गम्भीरता से ध्यान देने की आवश्यकता है। इसलिए सरकार द्वारा मुसलमानों में मौजूद असुरक्षा की भावना को दूर करने के लिए भी गम्भीर प्रयास करने चाहिएं।

एस. आर. सी. द्वारा स्नातक और डिप्लोमा धारक

विभिन्न सामाजिक–धार्मिक समुदायों में प्रतिशत के आधार पर दर्शाए गए स्नातक और डिप्लोमा धारक इस प्रकार हैं, जिसमें मुसलमानों की तुलना देश के विभिन्न समुदायों से की गई है–

तालिका सं. 1.7

SRCs	Number in Lakh		Percentage of 20 years + Population		Distribution across SRCs	
	Graduate	Diploma & Certificate	Graduate	Diploma & Certificate	Graduate	Diploma & Certificate
Total	376.7	40.5	6.7	0.7	100	100
Muslims	23.9	2.7	3.6	0.4	6.3	6.8
SCs/STs	30.8	4.1	2.4	0.3	8.2	10.2
All Others	322	33.7	8.8	0.9	85.5	83.0

Source : Sachar Committee Report, Nov., 2006.

वर्ष 2004–05 के आंकड़ों के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में भी मुसलमानों की शैक्षिक स्थिति अन्य समुदायों की अपेक्षा कमजोर है, क्योंकि उपरोक्त आंकड़ों के अनुसार स्नातक स्तर पर मुस्लिम बच्चों की संख्या 23.9 लाख, डिप्लोमा एवं सर्टिफिकेट प्राप्त मुस्लिम बच्चों की संख्या केवल 2.7 लाख है, 20 वर्ष से अधिक आयु वाले बच्चों की संख्या स्नातक स्तर पर 3.6 लाख और डिप्लोमा एवं सर्टिफिकेट प्राप्त मुसलमान बच्चों की संख्या केवल 0.4 लाख है, जो अन्य समुदायों की तुलना में काफी कम है।

Reference

1. *Sachar Committee Report*, Nov., 2006 (Hindi), Chapter III, pp., 25.
2. http://www.chauthiduniya.com/2011/09/after-robbing-whole-material-tha-government-says-musalmaan-is-weaker-than-minorities.html
3. हिन्दुस्तान हिन्दी, 2007
4. हिन्दुस्तान हिन्दी, 2007
5. सच्चर समिति रिपोर्ट, 2006
6. Annual Report of NCM 1993-2012.

7. *Sachar Committee Report (Hindi)*, 2006, p., 25.

8. Huda, "Statistics about the Muslim Population of theWorld",*World's Muslim Population,* [Online: Web], URL: http://islam.about.com/od/muslimcountries/a/population.htm

9. औसाफ, अहमद, भारतीय मुसलमान– *सामाजिक और आर्थिक विकास की समस्याएं,* सुबोध नारायण मालाकार द्वारा अनुवादित, दिल्ली, सरोज प्रकाशन, 1997, पृष्ठ, 15.

10. Ahmad, Ausaf, *Indian Muslims,* New-Delhi, A. Banarjee for Khama publishers, 1993, p., 69.

11. *Ibid*., pp., 36-37.

12. vgen, op.cit., p.,19-50.

13. *Ibid*., pp.,19-50.

14. *Muslims India*, January 1983, pp., 30-31.

15. Akhtar, Sohail, "Social and Economic Condition of Muslims in india", *Academica: an International Multidisciplinary Research Journal*, Volume 2,Aug., 2012, Published by: South Asian Academic Research Journals, p., 274.

16. Interview conducted with Zafarul Islam (editor of Milli Guzzet) and others (by Researcher).

17. Interview conducted with Raziq Wadood (political Analyst of Indian National Congress) and Mohammad Ahmad- Chairman of Jamat-E-Islami (by Researcher).

18. Interview conducted with Ram Puniyani, Asghar Ali Engineer, Pushpendar Singh (member of Delhi Minority Commission) and Manzoor Alam (by Researcher).

19. Interview conducted with Anis Ansari- Former IAS Officer and Vice-Chancelor of Lucknow University (by Researcher).

20. *Muslims India*, January 1983, pp., 30-31.

21. vgen,op.cit., p., 56.

22. *Ibid*.,pp., 57-58.

23. Beg,Tahir, "Economic Development of Indian Muslims: Some Strategic Options", in Ansari, Iqbal A., ed., *Muslims Situation in India*, p., 14, also see for more details, Table- 6, p., 122.

24. Hasan, Mushirul, *Search of Integration and Identity: Indian Miuslims since Independence, Islam and Modern Age, Vol., 19, No.4*, 1988, p., 230.

25. Interview conducted with Manzoor Alam (Chairman of IOS), Anis Ansari- V.C of Lucknow University and Former I.A.S Officer and Raziq Wadood- Political Analyst of Congress Party (by Researcher).

26. Abedi,Zakir, *Indian Muslims-Social, Economic and Educational Status,* Delhi, Arise Publishers & Distributors, 2011, p., 32.

27. *Employment and Unemployment Situation among Major Religious Groups in India(July 2009-June 2010*, National Sample Survey Organisation 66th round).

28. *Ibid*., also see for more details, Abedi, op.cit., pp., 100 to 103.

29. पाठक, पी. डी॰भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं, उत्तर प्रदेश, विनोद पुस्तक मंदिर द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ. 3.

30. *Sachar Committee Report*, Nov., 2006, p., 49.

31. Mohammad, Shan, *Sir Syed Ahmed Khan, A Political Biography*, Delhi, Meenakshi Parkashan, 1969, pp., 74-75.

32. Ahmed, op.cit., pp., 47, 50, 51.

33. *Ibid.,* pp., 50-51.

34. *Sachar Committee Report*, 2006.

35. कब मिलेगा अल्पसंख्यकों को न्याय, (हिंदुस्तान) 15 अक्टूबर 2007.

36. *Sachar Committee Report*, Nov., 2006.

37. वोट बटोरने की साज़िश : कितने पिछड़े हैं मुसलमान, हिंदुस्तान, 2007.

38. *Chapter 4th in Sachar Committee Report*, 2006, pp., 45-77.
Also see for more details, "Minorities India (News Letter of th 5th) National Commission for Minorities", April, 2007, [Online: Web], URL:http://www.ncm.nic.in/Newsletters.html

39. Interview conducted with Wajjahat Habibullah- Chairman of NCM and others (by Researcher).

40. *Sachar Committee Report*, Nov., 2006.
Also see for more details, "Muslims have lowest literacy rate",
[Online: Web], URL: http://articles.timesofindia.indiatimes.com/2012-12-30/hyderabad/36063405_1_literacy-rate-american-muslims-muslim-obcs, accessed on 30 Sep., 2011.

41. Abedi, op.cit., p., 49.

42. Interview conducted with Manzoor Alam (by Researcher).

43. Interview conducted with Raziq Wadood (by Researcher).

❖❖❖❖❖

पंचायत राज व्यवस्था से जनजाति गरीबी उन्मूलन

डॉ. संजुला थानवी •

मानव अधिकारों की संरक्षा में भारतीय संविधान के 73वें संवैधानिक संशोधन का सर्वाधिक महत्व है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी सामाजिक परिवर्तन आया है। समाज में महिलाओं और कमजोर वर्ग में से नेतृत्व उभरने लगा है। जनता द्वारा निर्वाचन की प्रक्रिया से युगों से चला आने वाला सम्भ्रांत व बहुसंख्यक कृषक समुदाय अपनी जाति की महिलाओं और कमजोर वर्ग से पंच–सरपंच चुनने लगे हैं। वर्ष में चार बार ग्राम सभाएं आयोजित होने लगी हैं। इसे ग्राम संसद कहा जा सकता है। सभी सामाजिक वर्गों के लोग इसके सदस्य हैं और वे पंचायत के सभी कार्यों पर विचार करते हैं। बजट पास करना, विगत कार्यों का सामाजिक अंकेक्षण करने के साथ भावी विकास योजनाएं बनवाने में भी अपना परामर्श सशक्त रूप से देते हैं। गांव की जनता ने पंचायत को प्राथमिक शिक्षा और स्वास्थ्य संस्थाओं पर पूरा नियंत्रण देकर ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त उदासीनता को दूर किया है। भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का सजीव एवं साकार स्वरूप पंचायतीराज व्यवस्था के रूप में स्वतन्त्रता के पश्चात ही दृष्टिगोचर हुआ। गांधीजी ने आवश्यकताओं के आधार पर सत्ता को निरंकुश बागडोर बनाने के बजाए निम्न स्तर तक के विकेन्द्रीकरण के उपाय के रूप में पंच परमेश्वर के अर्वाचीन सिद्धान्त का मंत्र दिया। संविधान ने भी अनुच्छेद 40 और 73 वें संविधान संशोधन (दिसम्बर 1992) में पंचायती राज के प्रावधानों को शिरोधार्य किया। पंचायती राज के आरम्भ का बिगुल भी राजस्थान की मरुभूमि से बजा था। 2 अक्टूबर, 1959 को नागौर जिले में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने देश को आजादी के बाद दूसरी बड़ी भेंट पंचायती राज के रूप में दी, जो पूर्ण स्वराज्य का वास्तविक और सार्थक प्रतिरूपण था। पंचायतें भारतीय जनतंत्र की सबसे छोटी किन्तु सबसे मजबूत कड़ी हैं।

महात्मा गांधी का कथन है – ''हमारा भारतवर्ष गांवों में बसता है, गांव हमारी संस्कृति के केन्द्र स्थान हैं, जब तक भारत में सवा पांच लाख गांव उन्नत, स्वावलम्बी और समृद्धकाली न होंगे, जब तक यहां से अविद्या का अंधकार, दरिद्रता का दानव और ऊंच–नीच का भेदभाव नष्ट न होगा, तब तक स्वतंत्रता अथवा स्वराज्य का भारत के लिए कोई मूल्य नहीं।''

• प्राचार्या, विधि महाविद्यालय एवं निदेशक, सूरज संस्थान, जयपुर

ग्रामीण विकास के समस्त लक्ष्य ग्रामीण स्तर पर गतिशील एवं सुचारू स्थानीय स्वशासन पर ही अवलम्बित हैं। ग्रामीण स्तर पर प्रशासन के नियामकीय ही नहीं बल्कि विकासात्मक गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में भी स्थानीय जनता का सहयोग व सहभागिता आवश्यक है। स्थानीय ग्रामीण जन को अपने क्षेत्र की प्राथमिकताओं, वहां की स्थिति व क्षेत्र में विकास की सम्भावनाओं का ज्ञान होता है। ग्रामसभा भारत के लिए नवीन अवधारणा नहीं है। वैदिक युग से ही यह किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। प्राचीन समय में यह अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय रही। भारत में पंचायतीराज प्राचीन काल से ही जन–जन को सुशासन देता रहा है। समय के थपेड़ों से सब कुछ बदला पर ग्राम पंचायतें जीवित रहीं। ये ही ग्राम संचेतना की केन्द्र संस्थायें रहीं। स्वतंत्र भारत में संविधान सभा में पंचायती राज को नवजीवन देने के लिये गांधीजी का संघर्ष और 1994 में संविधान के 73वें संविधान संशोधन से नव–पंचायत उभरी है। भारत का स्वतंत्रता संग्राम प्रभावी रूप से महात्मा गांधी के अध्यात्म आधारित दर्शन के वातावरण में ही संचालित हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आर्थिक विचारधारा को 1947 से ही प्रतिपादित करना शुरू कर दिया था जिसका मुख्य बिन्दु देश की आर्थिक व्यवस्था को समुन्नत करना था। इसके लिए सामूहिक व राज्यों द्वारा संचालित आर्थिक नियोजन का महत्व अपनी राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन समिति के विश्लेषण द्वारा देश के समक्ष प्रस्तुत कर दिया था। भारत के करोड़ों ग्रामीण व्यक्तियों के अभावों का उन्मूलन करने के लिए कोई विशिष्ट योजना नहीं बनाई गई। धीरे–धीरे कृषि व ग्रामीण विकास को भी पंचवर्षीय योजनाओं में समाहित किया जाने लगा। इसी क्रम में श्रीमती गांधी ने 1970 के आम चुनावों में 'गरीबी हटाओ' का नारा देकर अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी और निर्धनता उन्मूलन हेतु कई परियोजनाएं सम्पूर्ण भारत में संचालित की गई और इस प्रक्रिया में राजस्थान में 1978 में अन्त्योदय योजना के नाम से एक महत्वपूर्ण प्रयोग प्रारंभ किया गया, जिसे कुछ वर्ष पश्चात्, सम्पूर्ण भारत में 'समन्वित ग्रामीण विकास परियोजना' (आईआरडीपी) के नाम से प्रतिस्थापित किया गया।

इस प्रकार से लगभग तीन दशकों से निर्धनता के उन्मूलन के लिए प्रत्यक्ष रूप से सघन व सतत् प्रयास किये गये तथा इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय प्रगति भी हुई है। इन सभी प्रयासों के द्वारा देश में कई क्षेत्र विशेष अछूते रह गये जिसमें सबसे प्रमुख स्थान जनजातीय प्रखण्डों का है, विशेष तौर पर उन जनजातीय क्षेत्रों का जो राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश व बिहार में स्थित हैं।

इन क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों के जीवन में अभी भी पाषाण युग के कुछ अंशों के दर्शन होते हैं तथा आर्थिक एवं आधुनिकता का अभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इसमें से कुछ क्षेत्रों में तो आधुनिक व परिवहन संचार के साधनों का विकास हो चुका है तथा न्यूनाधिक मात्रा में शिक्षा व स्वास्थ्य की सेवाएं भी उपलब्ध हैं परन्तु भारत के अधिकांश जनजातीय नागरिक निर्धनता की गोद में अभावपूर्ण एवं कष्टप्रद जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

राजस्थान के नक्शे में जहां–जहां सम्पूर्ण जिले (डूंगरपुर, बांसवाड़ा) व तीन समीपस्थ जिला के कुछ भागों में भील नामक जनजाति का बाहुल्य है, हमें वहां प्रकृति की हरियाली और खुशहाली व अधिकांश व्यक्तियों का व लगभग सभी जनजातीय जनसंख्या का दयनीय आर्थिक जीवन व्यापक तौर पर देखने को मिलता है। राजस्थान की समस्त जनजातियों में भील दूसरी सबसे बड़ी इकाई है जिसका प्रतिशत 45 के करीब है, परन्तु दूसरी सबसे बड़ी जनजाति मीणाओं की तुलना में यह अभी भी अत्यधिक पिछड़े हुए हैं। यद्यपि इनके जीवन में सांस्कृतिक व सामाजिक प्रसन्नता अभी भी विद्यमान है।

भारत में कोई भी विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति को ध्यान में रखकर बनती है। इसका कारण स्पष्ट है। सदियों से ये जनजातियां (विशेषकर जनजाति के लोग) समाज से नकारी गई हैं। इन जनजातियों के लोग आर्थिक दृष्टि से कमजोर रहे हैं। इसका कारण यही रहा कि वे भू–स्वामियों, जागीरदारों व सम्पन्न ग्रामीणजनों ने शोषित होते रहे। इनसे वे कमजोर होते गये। समाजशास्त्री श्रीराम के अनुसार उनके पिछड़ेपन और आधुनिक न होने के संबंध में उनकी यह मान्यता है कि जनजाति के लोगों के आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास की जो राष्ट्रीय योजनाओं बनाई गयी हैं, उनकी क्रियात्मक जानकारी इनको दी जाए ताकि वे उन्नत जीवन जीने का मार्ग और अवसरों का लाभ ले सकें।

यह सच है कि भारत में सबसे ज्यादा जनजातीय लोग ही निर्धनता के शिकार हैं। भारत की कुल जनसंख्या का मात्र 8.6 प्रतिशत भाग (जनगणना 2011) आदिवासी जनजातियों का है। इनका साक्षरता प्रतिशत भी मात्र 59 है। भौगोलिक रूप से इनका निवास भारत के केन्द्रीय प्रदेश क्षेत्र के राज्यों में 80 प्रतिशत है और 12 प्रतिशत लोग उत्तर–पूर्वी राज्यों में तथा 8 प्रतिशत दक्षिण भारतीय प्रदेशों में हैं। इनका व्यवसाय आज भी शिकार, पशु पालन, स्थान बदल–बदल कर खेती करने का है। जंगली उत्पादों से वस्तुएं बनाकर कुशल कारीगर होते हुए भी यह गरीबी में जीते हैं। जनजातीय लोगों का संबंध जंगल से जुड़ा है। श्री ढेबर कमीश्न ने भी इन जातियों के संबंध में यही लिखा था। जनजातीय लोगों का प्यारा निवास व घर जंगल है। यही उनकी आजीविका है, यही उनका अस्तित्व है। दुर्भाग्य से वर्तमान में जंगलों के संरक्षण के नियमों ने

जनजातियों के लोगों को उनके ही घरों में उनको आक्रांता व अनाधिकार रूप से प्रवेश कर जंगल उपयोग करने वाले अपराधी बता दिया है।

वर्तमान में वन सम्पदा के संरक्षण के लिये बहुत से कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। इनमें वनवासियों व शहरी लोगों के सहयोग से प्रबंधन की उपयोजनाएं बनी हैं। इन योजनाओं में स्थानीय जंगलों में निवासियों को सक्रिय रूप से प्रबंध में रखना जरूरी है। वनों में रहने वाली जनजातियों की उत्प्रेरणायें और निर्बन्धताओं को जानकर वन विकास की योजना बनाने का आग्रह किया है। ऐसा करने से ही सफलता हाथ लग सकती है। यही वो तथ्य है जिसको आज तक नकारा गया है। परिणाम यही हो रहा है कि विकास योजनाओं से विकास का कार्य गतिशील नहीं हो पा रहा है। वांछित सफलताएं नहीं मिल रही हैं। वनवासियों के विश्वासों व प्रचलित परम्पराओं में आधुनिक कुशलता व वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी शामिल नहीं होती। विकास योजनायें बनाने वाले, क्रियान्वित करने वाले दोनों ही दोषी हैं।

महिलाएं स्थानीय लोगों के जागरण से पत्तों से पत्तलें बनाने की कुशलताएं सीख रही हैं। वे सिलाई का काम भी समूहों में सीख रही हैं। इससे यह तथ्य साफतौर पर उजागर हो जाता है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी व कुशलतायें सांस्कृतिक मूल्यों और परम्पराओं को साथ मिलाकर जनजातीय समूहों में उपयोगी व लोकप्रिय बनाई जा सकती हैं।

भूवैज्ञानिक कृषि प्रौद्योगिकी अपनाने लगे तो उनके पास कृषि भूमि ही नहीं रही। जनजातीयों की भूमि पर शहरी लोगों ने विभिन्न छल–छद्मों से अधिकार में करने का प्रयास किया है। समाजशास्त्री श्रीराम के अनुसार इससे जनजाति लोग भूमिहीन होते जा रहे हैं। जनजातीय समूहों के लिये वर्तमान में भूमिहीनता ही गंभीर आर्थिक समस्या है। वे जंगल व जमीन से वंचित हो रहे हैं जिसके लिये उनको हिंसात्मक आंदोलन भी करने पड़े। स्वाधीनता के पहले और वर्तमान में इस तरह के आन्दोलन भारत के विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में होते रहे हैं, परन्तु इससे उनको अभी तक वास्तविक भूमि का अधिकार व समृद्धि नहीं मिल सकी है। यही उनके पिछड़ेपन और उनकी गरीबी का कारण है। श्रीराम के अनुसार भूमि सुधार कार्यक्रमों को आंकड़ों के मार्फत नहीं बल्कि कठोर धरातल पर लागू करना, जनजाति के लोगों की निर्धनता निवारण का कारगर उपाय होगा।

परम्परागत सांस्कृतिक जीवन में साक्षरता को कम महत्व दिया गया है, यद्यपि वे जीवन जीने के लिये विभिन्न अनुभवों से कुशलताएं विकसित करते रहे। यदि अक्षरों की दुनिया में आकर ही वे अपने अनुभवों को पारस्परिक रूप में अक्षरों के माध्यम से जागृत

कर सकते तो उनके विकास की गति और तेज हो सकती थी। जनजातीय लोग जीवन जीने के तौर–तरीकों को खोजते रहे, सीखते रहे पर अनुभवों का लेनदेन नहीं कर सके क्योंकि भाषा का विकास उनके यहां नहीं हुआ। अतः निर्धनता निवारण के लिये साक्षरता व शिक्षा प्रसार जरूरी है। वर्तमान में इन क्षेत्रों में प्रारम्भिक शिक्षा में नामांकन भी कम है और स्कूल में भर्ती होने के बाद बीच में ही स्कूल छोड़ने की प्रवृत्ति भी तेज है। यदि नामांकन प्रक्रिया को तेज किया जाए और स्कूल छोड़ने की गति पर काबू पाया जाए तो युवा पीढ़ी अधिक शिक्षित होकर, नए अनुभवों के धरातल पर से नई कुशलताएं जानकर तरक्की कर सकते हैं। शिक्षा के प्रसार में कमी के कारण जनजातीय समूहों के अधिकतर लोग सामान्य दर्जे की सरकारी नौकरियां ही आज तक प्राप्त कर सके हैं। अतः आरक्षण की 68 वर्षीय व्यवस्था के बावजूद जनजातीय लोग ज्यादा लाभान्वित नहीं हो सके। ज्यादा सफल वे ही रहे, जो शहरीकरण से आधुनिकीकरण के समीप थे। जरूरत है कि इस क्षेत्र में आंकड़ों के मकड़जाल को न बुना जाये। सच्ची लगन से शिक्षा व चेतन साक्षरता का प्रसार किया जाए। इससे भावी जनजातीय युवा पीढ़ी परम्परागत जीवन व सहारे में आधुनिक कुशलताओं से अपना आधुनिकीकरण कर सकेगी। नवीन उदारीकरण, वैश्वीकरण व निजीकरण की आर्थिक व्यवस्थाओं में स्वयं को अधिक सक्रिय रूप से आगे ले जा सकेगी।

नव पंचायतराज की व्यवस्था से अनुसूचित जनजाति क्षेत्रों में जंगल, जमीन व जल पर ग्रामसभा का अधिकार दिया गया है। वहां के स्थानीय जनप्रतिनिधियों को अधिक शक्तियां प्रदान की गई हैं, परन्तु परम्परागत प्रेरणाओं, रूढ़ियों, निरक्षरता और जन जागरण के अभाव में इसकी व्यापक सफलता दृष्टिगत नहीं होती है। भारत में 26 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को गरीबी की रेखा के नीचे जीवन जीने वालों में मूल्यांकित किया है, उनसे संबंधित 85 प्रतिशत आदिवासी लोग हैं। आदिवासी लोगों के विकास के लिये सरकारी विकास योजनाओं को स्थानीय परम्परागत प्रेरणाओं को उत्प्रेरणाओं में बदलकर संचालित करना जरूरी है जिससे निर्धनता उन्मूलन की कार्य योजना सफल हो सके। स्थानीय संसाधनों से वे स्वयं कुशलता अर्जित कर सामर्थ्यवान बन सकें। विकास से जुड़े सभी अधिकारियों को वनवासी संस्कृति से अवगत करवाना भी जरूरी है।

जनजातीय लोगों से अक्सर सुना गया है :–

1. अकाल ने हमारा सब कुछ लूट लिया है। अब हमें इतना भी नहीं मिलता कि हम अपने परिवार का भरण–पोषण कर सकें। जैसे–तैसे भी जो कुछ सहायता मिलती

है, वो बहुत ही कम होती है। उसके सहारे रोजगार को बढ़ाने में बहुत ही कठिनाई होती है। आय बढ़ती ही नहीं है।

2. यदि सरकार कुछ करना या देना चाहे तो उसे हर परिस्थिति में देना चालू रखे ताकि हमारा अनाज संग्रह पूरी तरह खाली न होने पाए। यदि ऐसा नही होता है तो जो कुछ हम कमाते हैं वो भोजन में ही खर्च हो जाता है। दूसरे कामों के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं बचता है।
3. सरकार की योजनाओं से लाभ लेकर परिवार का पेट पालना चाहते हैं परन्तु उसकी औपचारिकताओं को पूरा करने, पहले दान–दक्षिणा व सुविधा शुल्क देने की सामर्थ्य हमारे पास नहीं है।
4. इंदिरा आवास योजना के माध्यम से अनुदान की रकम भी बहुत कम होती है। इससे सही–सलामत मकान हीं नहीं बनता। यदि उनके नक्शे से मकान जैसे–तैसे बन भी जाए तो वे हमारी जीवन शैली के अनुरूप नहीं होते हैं।
5. ग्रामों में स्वास्थ्य सेवाएं है। उनका उपयोग गरीबों के लिए यदा–कदा ही होता है। वहां पर प्रायः दवाइयां भी नहीं होतीं। जो भी कर्मचारी वहां पर रहते हैं, वे बहुत ही क्रूर व्यवहार करते हैं। इस कारण नीम–हकीमों के पास जाकर इलाज कराना पड़ता है। पैसे भी देते हैं, वो भी ऋण लेकर। साहूकार से लिया गया ऋण पूरा चुकाया ही नहीं जाता। ऋण की श्रृंखला चलती ही रहती है। पूरा परिवार ऋण की बीमारी से रोगग्रस्त हो जाता है।
6. लड़के–लड़कियों को मुश्किल से स्कूल भेज पाते हैं। वहां पर भी अध्यापक–अध्यापिकाएं कभी–कभार ही काम पर रहते हैं। चार वर्षों तक स्कूल जाने के बावजूद वे मात्र साक्षर ही हो पाते हैं। वह कुछ सीख भी नहीं पाते। परिवार उनकी मजदूरी से प्राप्त होने वाली आय से वंचित रहता है और वे कुछ सीख नहीं पाते।

जनजातीय परिवारों का सुझाव है :–

- पानी पंचायत जैसी सामुदायिक–आर्थिक एकता का प्रयोग होना चाहिए अर्थात् ग्रामों में लोग सभी संसाधनों को मिल कर विकसित करें और सभी के लिये वह सुविधाएं सुलभ हों।
- पुरुषों व महिलाओं को समान व उचित मजदूरी दी जाए। रोजगार का स्थायी प्रबंध होना चाहिए। व्यवसायिक कारीगरी का प्रशिक्षण दिया जाए तथा साथ में उपकरण भी उपलब्ध कराए जाएं।

- वनों से उत्पादन प्राप्त करने के लिये वनीय भूमि दी जाए। वनों से होने वाले उत्पादनों से लाभ लेने का प्रशिक्षण दें। उत्पादकों का उचित विपणन भी हो।
- छोटे परिवार के लिये प्रयास व बालक–बालिकाओं को शिक्षित करने से गरीबी का त्रास कम हो सकता है।
- ज़्यादा लोगों का सुझाव है कि सरकारी सुविधाओं की धनराशि सीधे लक्षित बी.पी. एल. परिवारों को दी जाए।
- इन परिवारों की यह भी मांग है कि उनमें कार्य कुशलता विकसित करने का अवसर दिया जाए। यही वो मार्ग है जिससे वे मेहनत करके कुशलतापूर्वक अपना रोजगार बढ़ा सकते हैं।

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली अध्ययन के निष्कर्ष ''राज्य में जनजातीय निर्धनता'' डूंगरपुर जिले के प्रसंग में।

- पचास प्रतिशत निर्धन परिवारों का कहना है कि विगत 68 वर्षों में भौतिक सुख–सुविधायें बढ़ी हैं। स्कूल, अस्पताल व सड़कों की लम्बाई बढ़ी है। सरकार के प्रयासों से ऋण अनुदान भी दिया जाता है।
- 71 प्रतिशत परिवारों का आकार बढ़ा है। इन परिवारों में 8 से 10 सदस्य हैं। 90 प्रतिशत परिवार महाजन से ऋण लेकर ऋण ग्रसित हैं।
- प्रायः इस क्षेत्र में गरीब परिवारों के पास आधे हैक्टियर से भी कम भूमि कृषि के लिये उपलब्ध है। इससे वे ज्यादातर मक्का की उपज लेते हैं। उपज से प्राप्त खाद्यान से उनके परिवार माह दो माह ही निर्वाह कर पाते हैं। बाकी समय उन्हें आस–पास के शहरों में मजदूरी करने जाना होता है।
- पशुओं की संख्या जिले में बहुत है। इनमें भेड़ व बकरियां ज्यादा हैं। गाय–भैसें कम हैं। इस कारण अधिकांश लोगों का कहना है कि मात्र आधा किलो दूध ही प्रतिदिन प्राप्त होता है।
- कृषि के लिये कम भूमि, उस से कम खाद्यान प्राप्त होना और पशुओं से भी कम दूध मिलना, दैनिक जीवनचर्या को कष्टमयी बनाते हैं। वे मुश्किल से जीवन निर्वाह कर पाते हैं। वे लोग कच्चे मकानों में रहते हो। पहाड़ी क्षेत्र में एकाकी फलों में इनके मकानों में कोई आधुनिक नागरिक सुविधाएं भी नहीं होतीं। शौच आदि के लिये मुंह अंधेरे खुले भू–भाग में जाना पड़ता है। दूरस्थ स्थानों से महिलाएं पीने का पानी लाती हैं। इधर–उधर घूम–फिर कर ईंधन की व्यवस्था करती हैं।

- प्रतिवर्ष लाखों रुपये के संसाधनों से जिले में लक्षित समूह (बी.पी.एल. परिवारों) को लाभान्वित किया जाता है। इस संबंध में इन परिवारों का कहना है कि 50,000 रुपये देकर ट्रैक्टर व फव्वारा खरीदने का प्रावधान रखा गया है। इसका वे लोग ही लाभ उठा सकते हैं जिनके पास अतिरिक्त संसाधन हैं। इस कारण इससे सम्पन्न व बड़े किसानों को ही लाभ होता है। (डॉ. मोहन सिंघलः सरकारी अनुदानः लाभ किसे, राजस्थान पत्रिका 27 अक्टूबर)।
- इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत ऐसे परिवारों को बहुत ही कम लाभ मिला। इनके अनुसार वे लोग ही ज्यादातर लाभ उठा सके जिनके पास खुद के साधन थे। सम्पन्न लोग झूठे तौर–तरीकों से राशि हड़प जाते हैं। (बागड़ दूतः गरीबों के गले की घंटी, चर्चा आज की, डूंगरपुर)
- एकीकृत ग्रामीण विकास योजनाओं से इन गरीब परिवारों को ऋण व अनुदान दिया जाता है। इसमें ज्यादातर को पशु खरीदने को ऋण मिलता है। इसमें बिचौलिए (सरकारी नौकरशाह, स्थानीय नेता व अन्य लोग) ही इन गरीबों का ऋण हड़प लेते हैं। जरूरतमंदों को बहुत कम मिलता है। इस राशि को वे विवाह आदि में खर्च कर देते हैं। इस कारण सहायता अनुत्पादक ही साबित होती है। (डॉ. सूरज सिंह : कैसे हों ग्रामीण गरीबी का उन्मूलन? राजस्थान पत्रिका)

अनुभूत सुझाव

जनजातीय परिवारों की गरीबी को समाप्त करने के तो निम्नलिखित तथ्यों या क्षेत्रों पर क्रियात्मक विचार करना होगा :–

1. सर्वप्रथम तो आदिवासी जनजातीय लोगों को उनके उपयोग की तथा उनकी गरीबी को दूर करने वाली जो भी योजनाये व कार्यक्रम चलाये जाते हों, उनकी जानकारी दी जाए। इसकी व्यवहारिक एवं क्रियात्मक समझ विकसित की जाए। ऐसे करने से नियोजित राशि व संसाधन उन्हें बिना किसी बिचौलियों की मदद से प्राप्त हो सकेगी।
2. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का प्रबंधन करने वालों पर चौकसी रखी जाए ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि गांव व फलों में छोटे या बड़े भूमिपति गरीबों का हक न हड़प सकें।
3. आदिवासी गरीब परिवारों के बच्चों के लिये रोजगारोन्मुखी शिक्षा शुरू की जाए। जहां कहीं भी प्रशिक्षण दिया जाता है, वहां कारगर ढंग से कार्य करना सिखाया जाए। जहां तक हो सके सैद्धान्तिक कम व प्रायोगिक कार्य कराए जाएं।

4. गरीबी रेखा के नीचे जीवन जीने वाले आदिवासी जनजातीय परिवारों की संख्या न बढ़े इसके लिये उन परिवारों को शिक्षा से जोड़े व यौन पूर्वाग्रहों से मुक्त कराया जाए। अशिक्षा और यौन पूर्वाग्रह जैसे सामाजिक अवरोधों को भी दूर किया जाए।

5. गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों को पुरुशों तक सीमित न रखा जाए। सस्ती दरों पर बिजली देकर छोटे–छोटे मशीनी उपकरणों से उत्पादन के कार्य सिखाये जाएं। इन कार्यों में वन क्षेत्रीय उत्पादकों संबंधित ग्रह उद्योगों का प्रबंधन किया जाए। सहज बैंकिंग ऋण व्यवस्था से उनको जोड़ा जाए। बालिका शिक्षा को बढ़ावा देना कारगर उपाय है।

6. जनजातीय गरीब परिवारों के लिये ईंधन के लिए लकड़ी, जंगल पेड़ों के पत्ते, चारा व जंगल से मिलने वाले उत्पादकों का विशेष महत्व है। इसे ध्यान में रखकर प्रतिदिन वनस्पतियों व जंगल वनों को विनाश से बचाया जाए। वन वृक्षों के बीजों से तेल व अर्क निकालना इन परिवारों को सिखाया जाए। ऐसे उपकरण भी दिए जाएं।

7. ग्राम/फलों को समूहों में वर्गीकृत व समूहीकृत करके पूरे समूह को आर्थिक सहायता, प्रशिक्षण व उत्पादनों का विपणन करने का प्रबंध किया जाए। प्राकृतिक संसाधनों पर पूरे गांव व फलों की पकड़ हो जिसमें सामूहिक कार्य कर सभी लोग लाभ प्राप्त कर सकें। गांवों व फलों का सामुदायिक, कोष बनाया जाए जो विपत्ति में उनकी मदद कर सके।

8. कम भू–क्षेत्र वाले जनजाति परिवारों को भी समय पर ऋण, उपकरण, खाद, बीज व कृषि प्रशिक्षण सहज तरीके से दिया जाए।

9. आमतौर पर यह बताया गया कि आर्थिक ऋण–अनुदान मिला परन्तु वो कारगर नही हो सका। इसे कारगर बनाने के लिये पहले कार्य–क्षमता बढ़ाने का प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया जाए, फिर ऋण अनुदान दिया जाए।

10. मानव संसाधन विकास की बुनियादी सुविधाओं के नाम पर स्कूल व अस्पताल खोलना ही पर्याप्त नहीं होता, उनसे गरीब परिवारों को लाभ लेने को प्रेरित करें। इसके लिये जरूरी है वहां शिक्षा व चिकित्सा के काम करने वाले शिक्षक व चिकित्सा कर्मी मौजूद होने चाहिये।

11. भूमि सुधारों पर विशेष बल देकर भूमिहीनों को भूमि दी जाए और जिनके पास मात्र आधे हेक्टेयर से भी कम भूमि है, उनको वन क्षेत्र से भी कृषि भूमि विकसित करने

की वैधानिक अनुमति दी जाए। कृषि तकनीकी प्रयोग व साधन सुविधाएं समय पर दिए जाएं ताकि महाजन के ऋण के जाल में वो न फंसें।

12. भारत में ट्रिकल डाउन नीति (अर्थात राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादक समृद्धि स्वतः ही गांवों तक लाभ पहुंचा सकेगी) को बदलना जरूरी है। यह तभी लाभकारी हो सकती है जब जनजातीय परिवारों से कुछ साख जमा करने व तकनीकी कुशलता से कार्यक्षमता बढ़ाई जाये।

13. गरीब परिवारों की मदद को कारगर करने के लिये क्षेत्र में सामाजिक संस्थाओं व जन भागीदारी से सुविधाओं को बढ़ाया जाए। ऐसा करने के लिये धनी–मानी लोगों को भी प्रेरित किया जाए। सरकार को सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक सेवाओं का एजेन्डा (कार्यक्रम) बनाना होगा।

समग्र तौर पर यही कहा जा सकता है कि यदि सामाजिक सेवाओं का विस्तार करके, छोटे परिवार की क्रियात्मक पहल की जाए, गरीब परिवारों से बालक–बालिकाओं को स्कूली शिक्षा के लिए प्रेरित करके सरकारी योजनाओं से लाभ दिलाया जाए, पर्यावरण व वन संरक्षा के साथ आदिवासी गरीब परिवारों को पारस्परिक सहयोग से सामुदायिक कोष बनाने के लिए प्रेरित किया जाए, गरीब परिवारों को उनकी कुशलताओं का प्रयोग करने और नई तकनीकों से उपचारित करने के लिए भी प्रेरणा दी जाए तो जनजातीय क्षेत्रों में गरीबी की रेखा के नीचे के परिवारों को सफलता मिल सकती है। परम्परागत प्रेरणाओं को जनजातीय लोग स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के जागरण अभियान से उत्प्रेरणाओं में बदल सकते हैं। यह तथ्य इसी बात का संकेत करता है कि सरकारी अधिकारियों को स्थानीय संस्थाओं को विश्वास में लेकर जनजातियों में विकास कार्यक्रमों को लागू करना चाहिए। सरकार को लगातार जनजातियों के लाभ हेतु योजनाओं की जानकारी देना चालू रखना चाहिए। साथ ही उचित प्रबन्धन व सतत् मूल्यांकन से लाभान्वित होने का स्तर जानकर सुधार करते रहना चाहिए। ऐसे प्रयासों से जनजातीय क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रम सच्चा अर्थ स्थापित कर सकेंगे।

Bibliography & References

1. Report of Ministry of Tribal, "Tribal Profile At A Glance" May 2013

2. Singh, S. K., Tribal society in India Manohar, Delhi

3. Tribal Research Institute Udaipur, Rajasthan. Rajasthan ka Adivasi.

4. Sagar, Vidya. Public intervention for poverty alleviation in Harsh Agro Climate environment; case of Rajasthan. Vol. XXX. No. 41 & 42.

5. Anand Sudhir and Martin Ravallion : Human Development in Poor Countries: on the role of Private incomes and Public Services. Journal of Economic Perspective.

6. Ahluwalia, Montek Singh: Rural Poverty & Agricultural Performance. Indian Journal of Development Studies

7. White Heal Ann & Mathew Cock Wook "Gendering Poverty: A review of six world bank African Poverty Assessment" Development & Change Vol. 30.

8. Acharya Sarthi : Poverty – Unemployment Relationship in Rural India, ICSSR, New Delhi,

9. Thanvi Daulat Raj & Dr. Sanjula Thanvi – State Tribal Poverty in Rajasthan , ICSSR Project, New Delhi

10. Rajasthan Patrika, News papers

11. Dainik Bhasker, News papers

12. Alagh, Yogindar K. Poverty and food security: Toward a policy system for food security.

13. Bajaj, J. L. Improving government delivery systems: Some issues and prospects. Vol. 30

❖❖❖❖❖

अनुसूचित जनजाति, मानवाधिकार एवं पंचायती राज संस्थाएं

डॉ. आशीष भट्ट•

मनुष्य को जन्म से ही प्रकृति द्वारा कुछ अधिकार प्राप्त हैं। देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार इसमें समय–समय पर इनके स्वरूप में परिर्वतन होता रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अधिकारों का प्रत्यक्ष संबंध मनुष्य के समाज में अस्तित्व एवं उसके व्यक्तित्व के विकास से होता है। अधिकारों के क्रम में जब हम मानवाधिकारों की बात करते हैं, तो पाते हैं कि मानवधिकारों की यह अवधारणा अधिकारों की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

मानवाधिकारों से तात्पर्य उन समस्त परिस्थितियों एवं पर्यावरण से है, जो मानव को मानव के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रखने एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास व निर्माण में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से मानवधिकारों की परिधि में मात्र प्राकृतिक उपहार–जैसे हवा, पानी, इत्यादि ही नहीं आते बल्कि इनके साथ–साथ ससम्मान जीवन व्यतीत करने, पोषण एवं सुरक्षा प्राप्त करने जैसे वे समस्त उपागम जो व्यक्तित्व विकास के लिए अपरिहार्य है, आते है। यद्यपि बीसवीं शताब्दी में मानवाधिकार विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ है परन्तु इसकी जड़ें तो सदैव से ही मानव समाज में विद्यमान रही हैं।

जनजातीय समुदाय एवं मानवाधिकार

भारत विविधताओं का देश है। यहां कई प्रकार के समुदाय, धर्म व जनजाति के लोग रहे हैं। इन्हीं समुदायों में से एक है–अदिवासी समुदाय–जिसकी अपनी अलग जीवनशैली है अपने विशिष्ट रीति–रिवाज हैं, अलग सांस्कृतिक पहचान तथा साथ रहने एवं विवादों का समाधान करने की प्रथाएं हैं। अपनी भिन्न संस्कृति, जीवनशैली व संसाधनों के अभाव में ये लोग सदियों से राष्ट्र की मुख्यधारा से पृथक रहे हैं। समाज की मुख्यधारा से इनका जीवन करा रहा है। पहाड़, भूमि, नदी, जंगल एवं प्रकृति इनके देवता हैं। इस अलगाव ने इस समुदाय को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टियों से पिछड़ा रखा तथा परिणामतः ये लोग गरीबी, अज्ञान, शोषण, भूख एवं बीमारी का शिकार

• एसोसिएट प्रोफेसर, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन, (म.प्र.)

रहे। औपनिवेशिक शासकों ने भी इनके विकास हेतु प्रयास नहीं किए बल्कि उन्होंने इस समुदाय को केवल कानून और व्यवस्था की दृष्टि से ही देखा। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस समुदाय के सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकारों के स्तर पर प्रयास प्रारम्भ हुए एवं संवैधानिक प्रावधानों के साथ ही कई कार्यक्रम एवं योजनाओं के माध्यम से भी इनके उन्नयन के प्रयास शुरू किए गये।

सरकारी स्तर पर इनके विकास की योजनाएं बनने व इन्हें समाज की मुख्यधारा में जोड़ने के प्रयास के बावजूद पिछले लगभग 60 से भी अधिक समय बीतने के बाद की इस वर्ग तक इन कार्यक्रमों का लाभ अपेक्षित रूप से इन लोगों को नहीं मिल पाया है। इसके कारण आज भी इन क्षेत्रों में स्वास्थ्य, शिक्षा एवं आय के साधनों की कमी है एवं ये क्षेत्र आज भी कमजोर स्थिति में हैं। वास्तव में अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों में सुधार, बढ़ी हुई साक्षरता दर, गरीबी में कमी इत्यादि के संदर्भ में किए गए प्रयास और इन लोगों की जनसंख्या के बीच में अनुपात में बहुत अंतर है। ऐसे लोगों में इनके लिए किए जाने वाले प्रयासों का अपर्याप्ता होना व उनका सही ढंग से क्रियान्वयन न होने के कारण ये लोग आज भी विकास व समाज की मुख्यधारा से जुड़ने की बाट जोह रहे हैं। भारतीय समाज के अन्य वर्गों की तुलना में, जनजातीय आबादी का मानव विकास सूचकांक सबसे निम्नतम है। इसके अतिरिक्त वे भौगोलिक एवं सांस्कृतिक बहिष्कार से भी पीड़ित हैं, जिसको मानव विकास के सूचकांक में सम्मिलित ही नहीं किया जाता है। जनजातीय जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा गरीबी रेखा के नीचे जीवन–यापन करता है एवं यह उच्च शिशु मृत्युदर, गंभीर कुपोषण, विभिन्न संक्रामक रोगों, कम साक्षरता दर एवं अत्यन्त धीमी विकास गति से ग्रस्त होता है। इस अविकसित स्थिति का जनजातीय क्षेत्रों में यथोचित प्रशासनिक एवं न्यायिक मशीनरी तक पहुंच की कमी के साथ जुड़ा होना, इनकी वंचना को और बढ़ा देता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् से ही जनजातीय क्षेत्रों में बुनियादी ढांचे के बंदोबस्त हेतु स्थितियां कम अनुकूल रही हैं। जनजातीय क्षेत्रों में सामाजिक एवं भौतिक अधोसंरचना अन्य क्षेत्रों की तुलना में अपर्याप्त रही हैं। बुनियादी सुविधाओं के अंतर के मामले में जनजातीय क्षेत्रों एवं देश के बाकी हिस्सों के बीच अंतर लगातार बढ़ता रहा है। जहां देश में अन्य स्थानों पर सार्वजनिक–निजी साझेदारी के माध्यम से बुनियादी ढांचे के विकास में योगदान किया गया है, वहीं आदिवासी क्षेत्रों में इस तरह की चीजों को बढ़ावा न के बराबर ही दिया जा रहा है, जिसके कारण ये लोग आज भी समाज के अन्य वर्गों से अलग–थलग पड़े हैं।

आदिवासी समुदाय का जीवन पूर्ण रूप से प्रकृति के साथ, प्रकृति के संरक्षण एवं सद्भाव के चारों ओर बुना हुआ है। वनों के बारे में घोषित की गई दोषपूर्ण प्रक्रियाओं ने जंगल की जमीन पर से आदिवासियों के परम्परागत अधिकार को धीरे–धीरे समाप्त कर दिया। समय के साथ–साथ असुरक्षा एवं भूमि से बेदखली के डर ने जनजातीय समुदायों को वन एवं वनभूमि से भावनात्मक एवं भौतिक रूप से विमुख कर दिया।

जमीन पर मालिकाना हक आदिवासी अर्थव्यवस्था में आजीविका, संस्कृति एवं पहचान को प्रदर्शित करता है। जनजातियों के पास आमतौर पर बंजर जमीन होती है, लेकिन इन आदिवासियों के अधिकार की जमीनों पर भी विनियोग के नाम पर बाहरी शक्तियों द्वारा कब्जा किया जाता रहा है। इन दोषपूर्ण व्यवस्थाओं के कारण आदिवासी समाज का सरकार व व्यवस्था से भी भरोसा उठने लगा और जाने–अनजाने ये लोग विकास की राह में और पिछड़ते चले गए।

जनजातीय समाज का उनकी जमीन एवं प्राकृतिक आवासों से विभिन्न विकासात्मक गतिविधियों के लिए विस्थापन अथवा बलपूर्वक बेदखली जैसी प्रक्रिया लम्बे समय से चली आ रही है और बदलते समय के साथ यह समस्या और अधिक गंभीर रूप लेती जा रही है। ये लोग किसी भी लाभकारी योजना में सहभागी नहीं बन पाते। विधि सम्मत विस्थापन व्यापक वास्तविक विस्थापन से जुड़ा होता है जिसमें बहुत ही व्यापक क्षेत्र को सामान्य तौर पर प्रभावित क्षेत्र के रूप में संदर्भित किया जाता है जबकि अनुसूचित जनजातियां भूमि, आजीविका एवं समुदाय में रहने के के अधिकार खोते जा रहे हैं। वहीं सम्पूर्ण प्रभाव क्षेत्र में सरकारी खजाने से वित्त पोषित विकास के लाभ अन्य वर्ग तक पहुंचते हैं। ये लोग किसी भी लाभकारी योजना में सहभागी नहीं बन पाते। विस्थापित आदिवासियों का अपर्याप्त पुनर्वास उनको साधनहीन एवं बेरोजगार बनाकर उन्हें चक्रीय ऋणग्रस्तता में जकड़ देता है।

इस प्रकार मानवाधिकारों के सन्दर्भ में जनजातीय समुदाय की इस स्थिति की विवेचना की जाए तो स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के बाद से किए गए प्रयासों ने इस समुदाय को लाभ पहुंचाने की बजाय इन्हें इनके ही अधिकारों से वंचित किया है। यह लाभकारी योजनाएं इनके विकास की राह खोलने में असफल रहीं बल्कि इनसे इनका अहित ही अधिक हुआ है।

अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायती राज व्यवस्था

आदिवासी समुदाय को जब राष्ट्र की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के साथ जोड़ने की बात आई, तब बड़ी विकृति महसूस हुई। उदाहरणार्थ–जब स्वतन्त्र भारत के सभी

नागरिकों को समानता का अधिकार देना था अथवा भारत के राज्यों में ग्राम स्तर पर पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना करनी थी, तब आदिवासी समुदाय के पृथक सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य एवं जीवन शैली ने संविधान निर्माताओं के सम्मुख कुछ कठिन समस्याएं रखीं। इस समुदाय में न तो अवसर की समानता का क्रियान्वयन सम्भव था, न ही निर्णय–निर्माण की लोकतान्त्रिक पद्धति के सिद्धान्त का समावेश क्योंकि यहां निर्णय 'समुदाय की सहमति' जैसी परम्परागत विधियों से होते थे।

आदिवासी समुदाय की इन्हीं विशेषीकृत सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण संविधान निर्माताओं ने इस समुदाय को विशिष्ट संवैधानिक स्थान प्रदान किया है। इस तरह से, संविधान के भाग (ग) में 'अनुसूचित एवं आदिवासी क्षेत्र' शीर्षक से यह प्रावधान किया गया है कि आदिवासी लोगों के लिए राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासन से पृथक प्रशासनिक व्यवस्था होगी। ऐसे क्षेत्र जहां आदिवासी लोगों का बाहुल्य है, अनुसूचित क्षेत्र घोषित किए गए हैं उनके लिए भारतीय संविधान की धारा 244(i) में प्रशासन एवं नियंत्रण हेतु विशेष प्रावधान किए गए हैं।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम (1993), भारत की पंचायती राज व्यवस्था की अब तक की यात्रा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। इस यात्रा में यह अधिनियम मील का पत्थर है साबित हुआ है। यद्यपि 73वां संविधान संशोधन अधिनियम आदिवासी समुदाय को पंचायती राज व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान प्रदान करता था, परन्तु फिर भी यह विधान आदिवासी समुदाय को अपने गृह क्षेत्र में सामाजिक–राजनीतिक मामलों का नियंता नहीं बना पाया। भारतीय समाज में यह आवश्यकता सदैव महसूस की जाती रही कि अनुसूचित क्षेत्रों का संस्थागत ढांचा आदिवासियों की आवश्यकताओं, उनकी प्रकृति एवं आदिवासी संस्थाओं, जिनसे यह लोग सदियों से जुड़े हैं, के अनुरूप होना चाहिए। इनमें से कई क्षेत्रों का दीर्घ काल तक आदिवासियों ने अपने से ही स्वतन्त्रतापूर्वक प्रबंधन किया है, उदाहरणार्थ– वन, भूमि एंव जल संसाधनों आदि का प्रबंधन। वर्तमान में इन सभी का प्रबंधन अन्य संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है। इन परम्परागत अधिकारों के छिन जाने से असंतोष के स्वरों ने अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायती राज व्यवस्था को विकेन्द्रीकरण एवं स्थानीय स्व–शासन की इकाइयों के रूप में स्थापित करने के साथ ही आदिवासियों की परम्पराओं, रीति–रिवाजों एवं सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने पर बल दिया गया है।

आदिवासी समुदाय की इस आवश्यकता एवं मांग के परिणामतः भारत सरकार ने जून 1994 में श्री दिलीप सिंह भूरिया की अध्यक्षता में 22 सदस्यों की समिति गठित की। इस उच्च स्तरीय समिति के गठन का उद्देश्य 'भारतीय संविधान के अनुसूचित क्षेत्रों से

संबंधित भाग (i) के प्रावधानों की समीक्षा करना तथा अनुसूचित क्षेत्रों के प्रावधानों की मुख्य विशेषताओं पर सुझाव प्रस्तुत करना था।' तत्कालीन केन्द्र सरकार ने भूरिया समिति की कई सिफारिशों को स्वीकार करते हुए 'पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996' पारित किया जिसको राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् राज्यों को अग्रेषित किया गया।

अनुसूचित क्षेत्रों की पंचायतों को प्रदत्त विशेष प्रावधानों की महत्ता को देखें तो इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष आदिवासी लोगों की परम्पराओं एवं रूढ़ियों, उनकी सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक साधनों को तथा विवादों के निराकरण के रूढ़िगत ढंग को सुरक्षित एवं सरंक्षित बनाए रखना है। अनुसूचित क्षेत्रों की पंचायतों में ऐसी पृथक व्यवस्था का मूल कारण आदिवासी समुदाय की पृथकता को बनाये रखना है। इस अधिनियम के अनुरूप राज्यों द्वारा बनाए गए अधिनियम अथवा संशोधन से अनुसूचित क्षेत्रों की पंचायतें एक तरफ लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का लाभ लेंगी, तो वहीं दूसरी ओर वे अपनी सांस्कृतिक एकता, परम्परा एवं रूढ़ियों को सुरक्षित एवं सरंक्षित रखने में भी सफल होंगी।

भारत में पिछले 40–50 वर्षों का आदिवासी समाज का इतिहास यह दर्शाता है कि अनुसूचित क्षेत्रों के लोगों ने विकास के नाम पर विकास वनों एवं अन्य संसाधनों पर अपना अधिकार खोया है। आदिवासियों के इन संसाधनों को उनसे भूमि हस्तान्तरण अधिनियम, खनिजकर्म कानून, वन अधिनियम एवं वन्यजीव अधिनियम आदि के माध्यम से सरकारी हाथों में ले लिया गया था। पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 द्वारा अनुसूचित क्षेत्रों की ग्रामसभा को यह शक्ति पुनः प्रदान की गई। इसके तहत व्यवस्था की गई कि, 'ग्राम के क्षेत्र के भीतर के प्राकृतिक स्रोतों को, जिनके अंतर्गत भूमि, जल तथा वन आते हैं, उसकी परम्परा के अनुसार और संविधान के उपबंधों के अनुरूप और उस समय प्रवृत्त अन्य सुसंगत विधियों की भावना का सम्यक् ध्यान रखते हुए प्रबंध करना आवश्यक होगा'। इससे यह स्पष्ट है कि इस अधिनियम द्वारा अनुसूचित क्षेत्रों को एक बार पुनः अपने परम्परागत संसाधनों के प्रबंधन की शक्ति प्राप्त हुई।

अनुसूचित क्षेत्रों की पंचायतों का गठन एवं उनको प्रदत्त शक्तियां और कृत्य इस तरह की व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते हैं जो प्रतिनिधित्व पूर्ण लोकतन्त्र का द्योतक है। इसके अतिरिक्त, पंचायतों को प्रदत्त विशेष प्रावधान सामाजिक–आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय की प्राप्ति के अवसर प्रदान करते हैं। गरीबी, अशिक्षा एवं अस्वास्थ्य की स्थितियों को बदलने के लिए भी इन्हें अधिकृत किया गया है। ग्रामसभा/ग्राम पंचायत

की शक्तियों एवं कृत्यों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि इन संस्थाओं को अनुसूचित क्षेत्रों में शिक्षा को बढ़ावा देना, बाल कल्याण, स्वच्छता, सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएं एवं महिला विकास जैसे विषयों पर कार्य करने के लिए अधिकार सम्पन्न बनाया गया है।

हमारे यहां पंचायती राज व्यवस्था के प्रारम्भ से ही पंचायत प्रतिनिधियों एवं नौकरशाहों और पंचायत प्रशासन के पदाधिकारियों के मध्य उचित तालमेल व सौहार्दपूर्ण संबंधों का प्रभाव ज्वलंत समस्या रही है। एकजुट होकर कार्य करने की बजाय ये दोनों पक्ष पंचायत व्यवस्था की असफलता के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करते आए हैं। नौकरशाह जनप्रतिनिधियों पर अनभिज्ञता एवं अज्ञानता का दोष लगाते हैं, वहीं जनप्रतिनिधि नौकरशाहों पर असहयोग एवं उनके हाथ से सत्ता जाने के भय को पंचायत राज की असफलता का कारण बताते हैं। पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 अनुसूचित क्षेत्रों की ग्रामसभा एवं ग्राम पंचायत को सामान्य अधीक्षण, नियन्त्रण एवं निर्देशन की शक्ति प्रदान करता है तथा अनुसूचित क्षेत्रों की ग्रामसभा एवं ग्राम पंचायत को सामाजिक सेक्टरों से संबंधित संस्थाओं एवं पदाधिकारियों के नियन्त्रण की शक्ति से संपन्न बनाता है।

नवीन विधान ने अनुसूचित क्षेत्रों में गैर–शासकीय संस्थाओं के प्रवेश की विपुल सम्भावनाएं बढ़ाई हैं जो कि आदिवासी लोगों के कल्याण हेतु प्रतिबद्ध हैं। इन क्षेत्रों की पंचायतों एवं लोगों की इन गैर–सरकारी संस्थाओं द्वारा कई तरह से मदद की जा सकती है, जैसे–पंचायत प्रतिनिधियों, विशेषतः महिलाओं को प्रशिक्षित करना, आदिवासियों के मध्य विभिन्न शासकीय योजनाओं के बारे में जागरुकता फैलाना, साक्षरता कार्यक्रम, कृषि विस्तार एवं विकास, जलप्रबंधन योजनाएं, सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग, योजना निर्माण एवं साधन संग्रहण इत्यादि। ऐसे कई विषय इस सूची में जोड़े जा सकते हैं, लेकिन यह ध्यान रखे जाने की आवश्यकता है कि ये संस्थाएं उनके विरोध में न होकर आदिवासियों के कल्याण एवं उनकी पंचायतों की पक्षधर हों। इस तरह की पंचायत तथा ग्राम स्तर पर गैर शासकीय संस्थाओं का सहयोग निश्चित रुप से ग्रामीण लोकतंत्र एवं विकास के नए क्षितिज का प्रादुर्भाव करेगा।

अनुसूचित क्षेत्रों की पंचायती राज व्यवस्था के व्यवहारिक पक्ष को समझने के उद्देश्य से समय–समय पर कराए गए विभिन्न अध्ययनों से जो स्थिति स्पष्ट होती है उससे पता चलता है कि जनजातीय क्षेत्रों में यहां के लोगों के विकास के लिए पंचायतों हेतु विशिष्ट उपबंध किए गए हैं एवं ग्रामसभाओं को सशक्त तो बनाया गया है, लेकिन अपनी यथेष्ठ भूमिका निभाने में इन्हें अभी समय लगेगा। अशिक्षा, गरीबी,

जानकारी का अभाव, कमजोर सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि जैसे कारण इस वर्ग को प्रभावशाली भूमिका निभाने नहीं देते। ये कारण इनके मार्ग में बाधक हैं। शनैः–शनैः जनजातीय समुदाय इस नई व्यवस्था को समझ रहा है। लेकिन केवल इतने से ही इनका विकास संभव नहीं है। इन प्रयासों को इतिश्री मान हाथ पर हाथ रखकर बैठने से कुछ हासिल नहीं होगा। इसके लिए सरकारी व गैर सरकारी स्तर पर कई सकारात्मक प्रयास व कदम उठाए जाने की आवश्यकता अभी भी बाकी है। इसके लिए पंचायत प्रतिनिधियों को समुचित प्रशिक्षण प्रदान कर, संचार माध्यम पर ऐसे कार्यक्रमों को प्रेषित कर जन–जागरुकता फैलाए जाने की जरूरत है जिससे जनजातीय क्षेत्रों के पंचायत प्रतिनिधियों में यह समझ विकसित हो सके कि ग्रामसभा एवं ग्राम पंचायत की गांव एवं समाज के उन्नयन में क्या भूमिका है? इस भूमिका के निर्वहन हेतु उन्हें क्या करना है? अधिकतम जनभागीदारी से यह व्यवस्था अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हो सकेगी जिसके परिणामस्वरूप जनजातीय वर्ग विकास की मुख्य धारा में अपनी स्थिति को सुनिश्चित कर सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्राप्त कर सकेगा।

सन्दर्भ

अटल, योगेश एवं यतीन्द्र सिंह (2011), आदिवासी भारत, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

भट्ट, आशीष (2002), लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एवं उभरता जनजातीय नेतृत्व, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

दास, एस.टी. (1993), ट्रायबल डेवलपमेंट एण्ड सोशियो कल्चरल मेट्रिक्स, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

दूबे, बी. के. (1967), ए स्टडी आफ द ट्रायबल पीपुल एण्ड ट्रायबल एरियाज ऑफ मध्य प्रदेश, ट्रायबल रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट इंस्टीट्यूट, मध्य प्रदेश भोपाल।

सिसोदिया, यतीन्द्र सिंह एवं भट्ट, आशीष (2011), मध्य प्रदेश में पंचायत राज व्यवस्थाः विविध आयाम, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।

साह डी. सी. एवं भट्ट आशीष (2004) एन इनडेफथ् स्टडी ऑफ क्रानिक पावर्टी, मध्य प्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन।

शर्मा, ब्रह्मदेव (1994), आदिवासी स्वशासन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।

❖❖❖❖❖

जनजातीय समाजों में मौताणा दर्शन और उसके सामाजिक निहितार्थ : एक दार्शनिक अवलोकन

डॉ॰ लाला राम जाट*

मानव जीवन के सांस्कृतिक उपादानों और उससे जनित मूल्य बोध का इतिहास इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि वे उस युग व समय विशेष की ऐतिहासिक आवश्यकताओं के उप–उत्पाद होते हैं। जैसे–जैसे इन जीवन स्थितियों में परिवर्तन होता है उसमें वे मूल्य, परम्पराएं एवं रीति–रिवाज भी बदलाव के दौर से गुजरते हैं जो अपनी प्रगतिशील अथवा प्रतिक्रियावादी भूमिका में समाज के वैचारिक जीवन को प्रभावित करती है।

जनजातीय समाज में अपनी विशिष्ट तरह की भौगोलिक एवं आर्थिक स्थितियों के कारण ऐसी अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं, रीति–रिवाजों एवं प्रथाओं को देखा जा सकता है जो उन्हें दूसरे समाज से भिन्न तरह की पहचान देती हैं। प्रस्तुत आलेख में जनजातीय समाज की इसी तरह की एक 'न्याय' संबंधी विशिष्ट परम्परा 'मौताणा' जो वर्तमान में जनजातीय समाज को नकारात्मक रूप से प्रभावित करने के कारण कुप्रथा के रूप में व्याख्यायित की जाती है, के विभिन्न आयामों और उसके सामाजिक प्रभावों को तथ्यात्मक आधार पर देखने का प्रयास किया गया हैं। आलेख प्रधानतः दो भागों में विभाजित किया गया है जिसमें प्रथम भाग में इस धारणा के अर्थ, स्वरूप और उसके विभिन्न आयामों की दार्शनिक पड़ताल करने की कोशिश की गई है। दूसरे भाग में उसकी आर्थिक राजनीति को वहां के समाज के संदर्भ में व्याख्यायित किया गया है

मौताणा : कुप्रथा के रूप में

दक्षिणी राजस्थान के जनजातीय समाज में परिवार के किसी सदस्य की अप्राकृतिक मौत होने पर अप्राकृतिक मौत के जिम्मेदार पक्ष को एक निश्चित, क्षतिपूर्ति की व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक स्तर पर निर्धारित क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान करना पड़ता था। यही क्षतिपूर्ति की सामाजिक न्याय व्यवस्था 'मौताणा' के नाम से वर्षों से

* सहायक आचार्य, उदयपुर स्कूल ऑफ सोशल वर्क, जर्नादन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय, उदयपुर।

चली आ रही है। वस्तुत : जनजातीय समुदाय में किसी पुरुष, महिला एवं बच्चों की अप्राकृतिक मृत्यु होने पर उसकी क्षर्तिपूति के लिए मौताणा जैसी प्रथा का विकास हुआ (दोषी और व्यास)। यह व्यवस्था उस समय के जनजातीय समाज की जरूरतों तथा उस समय के न्याय व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार अच्छी व्यवस्था के साथ अस्तित्व में आयी होगी। जो समाज की जरूरतों एवं आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित नहीं होने देने के कारण आज मौताणा जैसी कुप्रथा के रूप में स्थापित हो चुकी है। इसे इसी दृष्टिकोण के रूप में देखा जा रहा है जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सही भी है। मौताणा व्यवस्था का सम्बंध सामाजिक न्याय व्यवस्था के साथ था जो वर्तमान आधुनिक जनजातीय समाज में कुप्रथा के रूप में अपने पैर प्रसार चुकी है।

जनजातीय समाज में किसी पुरुष, महिला या बच्चे की अप्राकृतिक रूप से मृत्यु (प्राकृतिक मौत को भी अप्राकृतिक मौत में बदल दिया जाता) हो जाने पर उस मृत्यु पर अप्राकृतिक मौत के जिम्मेदार (काल्पनिक जिम्मेदार) पक्ष से क्षतिपूर्ति हासिल की जा रही है। जनजातीय समुदाय के वर्तमान स्वरूप में प्रचलित इस व्यवस्था को मौताणा कुप्रथा कहा जाता है। इस क्षतिपूर्ति राशि की प्राप्ति के लिए जनजातीय समाज के एक समूह द्वारा चढ़ोतरा (हिंसात्मक हमला) किया जाता है। इस हिंसात्मक हमले में जो लोग सम्मिलित होते हैं वो सभी हथियारों से लैस होते हैं। मौताणा राशि का निर्धारण समय रहते हुए निर्धारित नहीं हो पाता तो इस अनियमित भीड़ द्वारा आरोपित पक्ष के घरों में लूट–पाट की जाती है, फसलों को नष्ट कर दिया जाता है तथा पशुओं को चुरा लिया जाता है। आरोपित पक्ष को मूल स्थान से विस्थापित कर दिया जाता है। यह विस्थापित परिवार अपने घरों में तब तक नहीं लौट सकते, जब तक वह मौताणा व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धारित राशि का भुगतान नहीं कर देता है। मौताणा राशि किसके द्वारा वहन की जाएगी इसके संदर्भ में एक विचित्र व्यवस्था पनप चुकी है। यह राशि या तो आरोपित व्यक्ति द्वारा या उसके माता–पिता या उसके नातेदारों द्वारा या फिर गोत्र के लोगों द्वारा वहन की जाती है। मौताणा राशि कितनी होगी इसको लेकर कोई तय नियम–कानून नहीं हैं। जितना कमजोर पक्ष होगा या जिसके पक्ष में स्थानीय नेतृत्व (गड्डा, गमेती व भांजगड़िया) का झुकाव होगा उतनी ही राशि अधिक होने की संभावना रहती है।

अन्ततः मौताणा समाज द्वारा मौत पर लिया जाने वाला एक प्रकार का हर्जाना है या क्षतिपूर्ति की राशि है जो आरोपित व्यक्ति, परिवार के सदस्य या नातेदारों को देनी पड़ती है। यह एक तरह का अवैधानिक, अलोकतान्त्रिक, अन्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से दिया गया आर्थिक दण्ड या जुर्माना है।

इस कुप्रथा के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों एवं जनजातीय समुदाय के प्रतिनिधियों द्वारा दिये गये वक्तव्य को यहाँ उल्लेख करना उचित होगा ताकि मौताणा के अर्थ एवं उसकी गंभीरता को आसानी से समझा जा सके। डॉ. महेन्द्र भाणावत ने कहा कि ''मौताणा त्वरित एवं तुरंत फुरंत न्याय दिलाने की परम्परा है।'' प्रख्यात समाज शास्त्री प्रो. ब्रजराज चौहान ने कहा कि ''मौताणा आधुनिक हिसाब से अपराध है जिन लोगों ने इसे परम्परागत सामाजिक व्यवस्था माना हैं हमने उसे अपराध मान लिया। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में यह एक समस्या है अपराध नहीं, जो नुकसान हुआ है उसकी क्षतिपूर्ति संभव है।'' पूर्व जनजाति विकास मंत्री कनक मल कटारा (2006) ने कहा है कि ''मौताणा प्रथा बागड़ आंचल के लिए एक कलंक है उसे जड़ से मिटाने के लिए गाँव व पाल स्तर के मेट, कोतवाल व भगत आदि को सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए। मौताणा प्रथा न तो सामाजिक दृष्टि से उचित है और न ही कानूनी। किसी एक की गलती की सजा पूरे परिवार को मिलना ठीक नहीं है।'' पूर्व सांसद रघुवीर मीणा (2006) ने कहा था कि ''पुलिस पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर मामला दर्ज करती है या फिर दूसरे पक्ष को बचाती है। ऐसे में पीड़ित पक्ष और उसके लोग खुद निर्णय करने के लिए मजबूर हो जाते हैं, जिससे पंच पटेलों को मौताणे पर बुलायी पंचायत में राजनीति करने का मौका मिल जाता है। हत्या से पीड़ित परिवार को मुआवजा दिलाने का काम सरकारी स्तर पर तय होगा तो मौताणे के बाद चढ़ोतरा जैसी बुरी कार्यवाही से बचा जा सकता है।'' शंकर बनाम राज्य (2010) के निर्णय में उच्च न्यायालय जोधपुर (राज.) ने कहा है कि ''मौताणा व डायन जैसी कुप्रथाओं की रोकथाम के लिए जन–जागरण के कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए। मौताणा जैसी कुप्रथा के कई स्वरूप हैं तथा मौताणा की प्राप्ति के लिए कई तरह के हथकण्डे अपनाये जाते हैं।''

यह प्रथा कबीलाई व्यवस्था का प्रतिरूप थी जो अब विस्तृत हो चुकी है। पहले मौताणा के लिए दोनों पक्षों के मौतबिरों एवं गड्डा गमेतियों के बीच में वार्तालाप कर निस्तारण कर दिया जाता था। वास्तविक क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की जाती थी। इसमें चढ़ोतरा एवं हिंसात्मक कार्यवाही का प्रचलन नहीं के बराबर था। जनजातीय समुदाय द्वारा अपराधी को कठोर दण्ड देकर उसे गलती का अहसास कराना तथा समाज में अपराध करने से रोकना इसका लक्ष्य था। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगे चलकर एक स्वस्थ परम्परा ने एक कुप्रथा का रूप धारण कर लिया (जोशी, 2002)।

मौताणा व्यवस्था जिस रूप में जनजातीय समाज में फैली हुई हैं वह संवैधानिक स्तर पर एक सामाजिक व्याधि या रोग है जिसे सामाजिक अपराध की श्रेणी में रखा

गया है क्योंकि मौताणा प्रभावित पक्षों को न्याय के नाम पर पर अनेक तरह के सामाजिक दबावों के चलते अन्याय पूर्ण स्थिति में पहुँचा देती है। इसकी वास्तविक स्थिति विभिन्न समाचार पत्रों में प्रकाशित खबरों से तथ्यात्मक स्पष्ट हो जाती है। समाचार पत्र के शीर्षक ''सशस्त्र आदिवासियों का गाँव पर धावा (तहस–नहस किया गाँव पुलिस चुपचाप देखती रही, हत्या के मामले में किया चढ़ोतरा)'' ''करंट से मौत पर मौताणा (पुलिस की समझाइस के बाद तीस हजार का मौताणा तय किया)'' ''मौताणा वार्ता विफल, किया चढ़ोतरा (पांच लाख की माँग तीन लाख देने की सहमति पर वार्ता असफल, किया चढ़ोतरा, घरों में की लूटपाट तथा फसल को पहुँचाया नुकसान)।'' ''नौ लाख में निपटा मौताणा का विवाद, थानाधिकारी तथा मौतबीरों के समझौते के बाद पीहर पक्ष ने अस्सी हजार की ली झाल राशि)''। घर वापसी को तरस रहे नब्बे परिवार (युवक की मौत के मामले में छोड़ना पड़ा गाँव)। आदि।

यह वस्तुस्थिति समाचार पत्रों के माध्यम से तथा आनुभाविक अध्ययन, अवलोकन के आधार पर यह सत्य है कि इस कुप्रथा का परिणाम भयावह होता है। वस्तुतः जाति, धर्म, लिंग व वर्ग विभाजित जिस खण्डित एवं सामाजिक यर्थात में लोग रहते हैं और जीते हैं, उसमें कोई भी मूल्य परम्परा एवं प्रथा सभी लोगों के लिए मूल्य प्रद या लाभदायक नहीं हो सकती। मौताणा व्यवस्था भी इससे परे नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि जनजातीय समाजों की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण इनकी स्थिति आधुनिक समाजों से भिन्न एवं पृथक है जिनके अपने सांस्कृतिक मूल्य होते हैं किन्तु सूचना प्रौद्योगिकी के युग में जनजातीय समाजों का बाकि समाजों के साथ न केवल आदान–प्रदान शुरू हुआ बल्कि एक दूसरे के सांस्कृतिक मूल्यों को अनेक तरह से प्रभावित कर रहे है। यही कारण है कि मौताणा व्यवस्था जो कि एक तरह से जनजातीय समाजों का विधायन है वह अपनी मूल भावना से भिन्न होकर पीड़ित पक्षों से गैर न्यायिक ढंग से अपने स्वार्थों को पूर्ण करता है, जिसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका जनजातीय समाज के स्थायी नेतृत्व (गड्डा, गमेती एवं भांजगड़ियाँ) के द्वारा अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति करने हेतु लालायित रहती है। यह स्थायी नेतृत्व अपने वजूद को समाज में बनाये रखने, समाज को अपनी जरूरत दिखाकर उनमें अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए इस व्यवस्था के कुप्रथा में बदल जाने के बावजूद चंद लोगों ने अपने लाभ के लिए इसे सामाजिक व्यवस्था के रूप में जीवित रखा है।

दक्षिणी राजस्थान के जनजातीय समुदाय में प्रचलित मौताणा कुप्रथा के कारण आधुनिक, लोकतान्त्रिक तथा लोक कल्याणकारी राज्य में आदिवासी परिवारों को अमानवीय जीवन जीने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है तथा दोहरी न्याय व्यवस्था से

गुजरना पड़ता है। इस सामाजिक कुप्रथा को लेकर दो दर्शन उभर रहे हैं। एक दर्शन के अनुसार इस अमानवीय व्यवहार अर्थात् व्यवस्था को आदिवासियों की एक आदिम प्रथा के रूप में स्वीकार करते हुए उसे पीड़ित पक्ष के न्याय तथा क्षतिपूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस दर्शन का समर्थन करने वाले इस तर्क को पूरे जोर से उठाते हैं कि आधुनिक समाज में प्रचलित क्षतिपूर्ति प्रावधान मौताणा व्यवस्था का परिणाम है। वे इस तथ्य को कतई स्वीकार नहीं करते हैं कि इस व्यवस्था से उन्हें प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त तथा आधुनिक न्याय के सिद्धान्त के विरूद्ध एक समानान्तर खड़ी की गई असंवैधानिक, अवैधानिक तथा अमानवीय व्यवस्था है। इस तरह यह दर्शन पौराणिक कल्पनाओं एवं अंधविश्वासों तथा कुप्रथाओं को बनाए रखना चाहता है। दूसरा दर्शन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ जुड़ा हुआ हैं वह इस व्यवस्था को एक कुप्रथा के रूप में देखता है। यह दर्शन ऐसी प्रथाओं को जो अच्छे उद्देश्य के लिए अव्यवहारिक असंवैधानिक तथा अन्यायपूर्ण व्यवस्था के साथ जुड़ जाती है उन्हें तर्क के आधार पर समाप्त करने, उसके विरूद्ध आवाज उठाने तथा उसकी समाप्ति के लिए संवैधानिक प्रावधान का पक्षधर है। इन दोनों दर्शन के मध्य द्वन्द्व उत्पन्न हुआ है। यह द्वन्द्व अब सरकार व न्यायपालिका तक पहुँच चुका है। सरकार तथा सरकार के नुमाइन्दे इस प्रथा को आदिवासी प्रथा मानते हुए उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहते हैं या नहीं करते हैं।

मौताणा कुप्रथा के आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक कारण

जब प्रथाएं कुप्रथाओं में बदल जाती हैं तब भी वह जन मानस में एक स्थिर व्यवस्था के रूप में तब तक संचालित होती रहती हैं जब तक उसे समाज की सामन्तवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थन मिलता रहता है। जनजातीय समुदाय में प्रचलित मौताणा कुप्रथा भी वहाँ की सामन्ती व्यवस्था के कारण हजारों वर्षों से चली आ रही सामाजिक न्यायिक प्रणाली जैसे गड्डा, गमेती तथा भांजगड़ियों द्वारा संचालित वंशानुगत व्यवस्था के कारण यह जिन्दा है। इसी व्यवस्था में निहित इनके स्वार्थों के कारण इसमें संलग्न स्थायी नेतृत्व के अहित में होते हुए भी ये लोग जिन्दा रखना चाहते हैं। इनका दायरा अब आधुनिक राजनीतिक जनप्रतिनिधियों के साथ जुड़ गया है। जब इस तरह की कुप्रथाओं को जनप्रतिधियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग मिल जाता है तब प्रशासन भी इस व्यवस्था से अपना स्वार्थ सिद्ध करने से नहीं चूकता है। इसी लिए मौताणा के लिए होने वाली अमानवीय, असंवैधानिक, अलोकतांन्त्रिक तथा अन्यायपूर्ण कार्यवाहिनी के समय प्रशासन पुलिस की उपस्थिति में होना तथा जनप्रतिनिधियों की

चुप्पी व संसद में इसके खिलाफ आवाज न उठाकर इसे अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दिया गया है। इस सम्पूर्ण गठबन्धन को न्यायपालिका ने अप्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट किया है। राजस्थान उच्च न्यायालय (2014) में एक जनहित सुनवाई के दौरान यह टिप्पणी करते हुए कहा कि यदि राज्य सरकार जनजातीय समुदाय में प्रचलित मौताणा एवं डायन कुप्रथाओं की रोकथाम के लिए कानून का निर्माण समय रहते हुए नहीं किया गया तो राजस्थान राज्य को पिछड़ा राज्य घोषित कर दिया जाएगा। यह टिप्पणी इस कुप्रथा के अमानवीय व्यवहार तथा सरकार व जनता के जनप्रतिनिधियों की उदासीनता के सन्दर्भ में अभिव्यक्त की गई। इस टिप्पणी से दो बातें स्पष्ट हैं पहली यह हैं कि इस तरह की कुप्रथाओं का प्रचलन आजादी के लम्बे अर्सें के बाद भी चली आ रही है दूसरा सरकार इस तरह की कुप्रथाओं के सन्दर्भ में गंभीर नहीं है। इन दोनों अर्थों के साथ प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि इतना सब कुछ होते हुए भी समाज में इसके विरोध के स्वर क्यों दिखाई नही पड़ रहे? प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि समाज में इस तरह की कुप्रथाओं का शिकार हमेशा समाज के निम्न पायदान पर बैठे गरीब व असहाय व्यक्ति होते हैं तथा पूंजीवादी सामन्ती व्यवस्था इस तरह की कुप्रथा को जिन्दा रखना चाहती है। इसी के लिए वो इस तरह की कुप्रथाओं के संदर्भ में अवैज्ञानिक दर्शन अर्थात् अतार्किक दर्शन का प्रचार–प्रसार इस तरह से करता है कि गलत होते हुए भी सब कुछ सत्य की तरह दिखाई देने लगे। इस प्रश्न के उत्तर को खोजने के लिए हम निम्न बिन्दुओं पर तथ्यात्मक विश्लेषण कर सकते हैं।

(1) **स्थायी नेतृत्व का निहित स्वार्थः**– मौताणा कुप्रथा को संचालित करने की सामाजिक जिम्मेदारी स्थायी नेतृत्व जो वंशानुगत आधार पर निर्धारित होता है, उसके हाथ में होता है। यह स्थायी नेतृत्व परम्परागत न्याय व्यवस्था को भी संचालित करता है। यह नेतृत्व गड्डा–गमेती एवं भांजगड़ियों के हाथ में आज भी केन्द्रित हैं उन्होंने इस व्यवस्था को समाज के हित में नहीं होते हुए भी उसे जिंदा रखा है। इस स्थायी नेतृत्व ने हमेशा इस तरह की व्यवस्था को बढ़ावा दिया है ताकि इनका समाज पर नियन्त्रण बना रहे, उनकी पहुंच बनी रहे, उनकी उपस्थिति ही श्रेष्ठ हो इसके लिए इस व्यवस्था को न केवल जिंदा रखा बल्कि उसे बढ़ावा भी दिया है। चढ़ोतरे का निर्णय लेना, चढ़ोतरे के लिए प्रोत्साहित करना, मौताणे की राशि निर्धारित करना, मौत का जिम्मेदार पक्ष तय करना आदि निर्णय व कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पादित किए जाते हैं। प्रश्न यह है कि ये स्थायी नेतृत्व इस तरह की व्यवस्था में रुचि क्यों लेता है? इसके पीछे आर्थिक व्यवस्था है क्योंकि मौताणा, तय करने के लिए इन्हीं को

बुलाना होगा, उनकी खातिरदारी करनी होगी तथा उन्हें अपने पक्ष में अधिक से अधिक राशि दिलाने में हिस्सेदारी मिलती है जितने दिन यह विवाद चलता है तब तक इन स्थाई नेतृत्व का खर्च उसी पक्ष को उठाना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि इसमें स्थायी नेतृत्व का निहित स्वार्थ होता है। इसी स्वार्थ के चलते आज भी समाज में इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को जिंदा रखा जा रहा है।

(2) **आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक हित सम्बंधः**– समाज में व्यक्ति हमेशा साध्य होने चाहिए तथा संस्थाएं साधन, यही वैज्ञानिक दर्शन कहता है। जहाँ पर व्यक्ति को साधन बना दिया जाता है तथा संस्थाओं को साध्य मान लिया जाता है वहां समाज में इस तरह की कुप्रथाओं का प्रचलन शुरू होता है। मौताणा कुप्रथा में भी जनजातीय समुदाय के व्यक्ति को साधन बना दिया गया है तथा उसकी संस्थाएं जिसमें स्थायी नेतृत्व, लोकतान्त्रिक जन प्रतिनिधि तथा पुलिस व प्रशासन साध्य बन गए हैं इसलिए मौताणा समाज में रोग है जिसका कारण आर्थिक आधार है। मौताणा व्यवस्था में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण केन्द्र बिन्दु है तो वह केवल 'अर्थ' है। जितना अधिक मौताणा तय होता है उतना ही अधिक हिस्सा स्थानीय नेतृत्व, पुलिस व प्रशासन की तरफ जाता है। इसकी पुष्टि अखबार में प्रकाशित समाचार जिसमें लिखा गया था कि थाने में मंगलवार देर रात दोनों पक्षों के मौतबिरों की उपस्थिति में एक लाख, इकहत्तर हजार रुपये में मौताणा का विवाद निपटा, दूसरे समाचार पत्र में लिखा था कि एक लाख, इकतालिस हजार रुपये में मौताणा राशि तय, जाप्ता मौजूद। अन्य समाचार पत्र में लिखा गया कि सशस्त्र आदिवासियों का गाँव पर धावा, तहस–नहस किया गाँव, पुलिस चुपचुप देखती रही। एक अन्य समाचार पत्र में लिखा कि थानाधिकारी एवं मौतबिरों के समझौते के बाद पीहर पक्ष ने अस्सी हजार की झाल राशि ली।

प्रश्न यह है कि क्या पुलिस एवं प्रशासन की भूमिका अवैधानिक एवं हिंसात्मक गतिविधियों में मूक दर्शन हो सकती है? पुलिस की भूमिका हमेशा इस तरह की व्यवस्था में असहयोगात्मक रहती है। वे उपस्थित होते हए भी अनुपस्थित की भूमिका निभाते हैं। यही भूमिका जनप्रतिनिधियों द्वारा संसद व विधानसभा में दिखाई पड़ती है।

मूलत : यह गठबंधन आर्थिक व्यवस्था के इर्द–गिर्द रहता है। इसी के आधार पर व्यवस्था के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण तैयार किया जाता है। मूलतः जनप्रतिनिधि तथा प्रशासन अपने हितों एवं निहित स्वार्थों के चलते हुए इस व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं या उस पर बात नहीं करना चाहते हैं। इसके चलते पुलिस अपने दायित्वों से बचना चाहती है। इस सम्पूर्ण दृष्टिकोण में मौताणा कुप्रथा समाज में एक

रोग बन चुका है। इस तरह की व्यवस्था पर खुले दिमाग तथा वैज्ञानिक दर्शन के आधार पर चर्चा करनी होगी।

निष्कर्ष : तमाम तरह की संवैधानिक गारन्टी के बाद भी गैर जनतान्त्रिक व्यवस्था का प्रचलन हो रहा है। उसका पक्ष पोषण किया जा रहा है। इस पर पुनः मनन करने की आवश्यकता है उसके लिए एक वैज्ञानिक दर्शन की जरूरत है। हमें व्यक्ति को साध्य के रूप में केन्द्र में रखना होगा तथा संस्थाओं को साधन के रूप में देखना होगा। इसके लिए हमें कुछ निहित स्वार्थों तथा सामन्ती व्यवस्था के विरूद्ध द्वन्द्व पैदा करने की आवश्यकता है ताकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हो सकें। इस तरह की व्यवस्था का शिकार हमेशा समाज का हाशिए का वर्ग अर्थात् कमजोर वर्ग होता है इसलिए आज के समय में उस हाशिए के वर्ग को केन्द्र में रखते हुए एक नवीन दृष्टिकोण तैयार करने की आवश्यकता है। समतामूलक समाज की स्थापना केवल आजादी मिलने से ही नहीं प्राप्त हो सकती उनके लिए समाज में अंधविश्वास पर आधारित अंध धर्मान्धता एवं मानसिक गुलामी से व्यक्ति को बाहर निकालना होगा। उसे एक वैज्ञानिक सोच देनी होगी। संवैधानिक गारन्टियों को लागू करने के लिए नौकरशाही एवं राजशाही मानसिकता त्यागकर एक सेवक के रूप में अपनी भूमिका को सुनिश्चित करना होगा। तभी इस तरह की कुप्रथाओं पर लगाम लगाई जा सकेगी। स्थायी नेतृत्व पर कानूनी नकेल कसनी होगी तथा उनकी असंवैधानिक गतिविधियों को कानूनी दायरे में लाना होगा।

सन्दर्भः

1. शर्मा, के.एल.ः भारत में सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2006।
2. जोशी, विष्णुः आदिवासियों में मौताणा, आस्था, उदयपुर, 2012।
3. www.tad.rajasthan.gov.in (02/7/13)
4. पुलिस विभाग द्वारा दिनांकः 06–07 जुलाई 2006 में ''विकास व कानून व्यवस्था पर प्रभाव एवं संसाधन'' विषय पर आयोजित कार्यशाला।
5. राजस्थान पत्रिका (दिनांकः– 05.07.2006, 06.07.2006, 02.06.2013, 05.06.2013, 08.06.2013, 17.06. 2013, 16.7.2013, 26.7.2013, 17.7.2013, 09.08.2013, 10.08.2013, 18.08.2013, 18.09.2013,11.03.2015)
6. दैनिक भास्कर (दिनांक :– 005.07.2006, 06.07.2006, 15.07.2012, 09.08.2013)
7. प्रातःकाल (दिनांक :– 10.08.2013)
8. शर्मा, के.एल.ः भारत में सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2006।
9. जाट, लालाराम, आदिवासी परिवारों को अमानवीय जीवन जीने के लिए मजबूर करता मौताणा, मानव अधिकार, नई दिशाएं, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली, 2013, अंक 10

❖❖❖❖❖

अनसुनी होती जिंदगियां, घटते मानवाधिकार

(विचाराधीन कैदियों को त्वरित न्याय का सवाल)

मिथिलेश कुमार•

भारतीय जेलों में भीड़ कम करने एवं विचाराधीन कैदियों की संख्या में कटौती के प्रयास दो से अधिक दशकों से चल रहे हैं। फास्ट ट्रैक अदालतों की स्थापना, जेल योजना, अदालत के रिकॉर्ड के डिजिटलीकरण, बुनियादी ढांचे के आधुनिकीकरण तथा निजी मुचलके पर विचाराधीन कैदियों की रिहाई के लिए उच्चतम न्यायालय द्वारा राज्य सरकारों पर दवाब के बावजूद विचाराधीन कैदियों की संख्या में कोई कमी नहीं दिख रही है। प्रस्तुत आलेख विचाराधीन कैदियों के त्वरित न्याय के सवाल को मानवाधिकार के परिपेक्ष्य में समझने का प्रयास करता है तथा इसके लिए संभावित उपायों पर प्रकाश डालता है।

"न्याय में देरी, अन्याय है"

"उन विचाराधीन आरोपियों को तुरंत जमानत पर रिहा किया जाए जिन्होंने अपने ऊपर लगे अभियोग की संभावित अधिकतम सजा का आधा समय बतौर आरोपी जेल में व्यतीत कर लिया है। जिला न्यायिक सेवा प्राधिकरण से संबंधित न्यायिक अधिकारी अपने अधिकार–क्षेत्र में प्रत्येक कारावास पर जाकर इस प्रकार के कैदियों की रिहाई के लिए आवश्यक प्रक्रिया की निगरानी करेंगे"।[1]

" The poor, illiterate and weaker sections in our society in our country suffer day in and day out in their struggle for survival and look to those who have promised them equality & social, political and economic… a very large number of under–trial prisoners suffer prolonged incarceration even in petty criminal matters merely for the reason that they are not in a position [even in bailable offences] to furnish bail bonds and get released on bail" [2]

मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता एवं गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार मानवाधिकारों की मूल प्रेरणा है। मानवाधिकार के सार्वभौम घोषणा पत्र, भारत के संविधान आदि सभी ने जीवन की अस्मिता एवं स्वत्रंता को तरजीह दी है। न्याय की अवधारणा का मूल है कि सौ

• सहायक प्रोफेसर, सामाजिक कार्य अध्ययन केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

गुनहगार छूट जाएं, मगर एक निर्दोष को सजा नहीं मिलनी चाहिए। मगर हकीकत कुछ और ही बयां करती है।

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो की ताजा रिपोर्ट की बात की जाए तो देश की 1353 जेलों में कैदियों की संख्या 4,11,992 है जिनमें विचाराधीन कैदियों की संख्या 2,78,508 है। इसका मतलब यह कि जेलों में बंद 67.6 फीसदी लोगों के मामले अदालतों में विचाराधीन हैं। विचाराधीन कैदी का मतलब है, ऐसा कैदी जिसे अदालत ने दोषी करार नहीं किया और उसके खिलाफ चल रहा मामला अदालत में लंबित हो।

नेशनल क्राइम रिकाड्र्स ब्यूरो के अनुसार देश में सबसे ज्यादा विचाराधीन कैदी उत्तर प्रदेश की जेलों में हैं जहां इनकी संख्या 83,518 है। उसके बाद मध्य प्रदेश का नंबर है जहां 34708 कैदियों को रखा गया है। बिहार में 31,529 पंजाब में 27,449 और महाराष्ट्र की जेलों में 27,400 कैदी बंद हैं।[3]

चित्र 1 भारत में विचाराधीन कैदियों का प्रतिशत

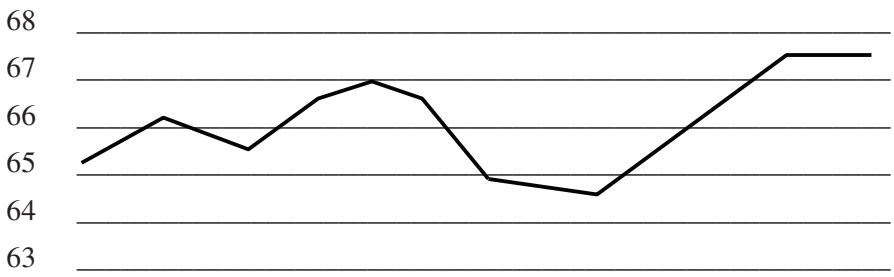

स्रोत राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (2004–14)

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो की ताजा रिपोर्ट विचाराधीन कैदियों के जातिगत आधार एवं शैक्षणिक आधार पर भी विस्तार से बात करती है।

तालिका 1 : भारत में विचाराधीन कैदियों का जातिवार विवरण

वर्ष	विचाराधीन कैदी			कुल संख्या
	अनु.जाति (प्रतिशत)	अनु.जनजाति (प्रतिशत)	अ.पि.वर्ग (प्रतिशत)	
2004	44,470(21.62)	25,073(12.19)	55,080(26.78)	2,05,656
2005	43,684(19.22)	27,166(11.95)	90,355(39.75)	2,27,285
2006	54,210(23.14)	30,410(12.98)	65,537(27.97)	2,34,310

वर्ष	विचाराधीन कैदी			कुल संख्या
	अनु.जाति (प्रतिशत)	अनु.जनजाति (प्रतिशत)	अ.पि.वर्ग (प्रतिशत)	
2007	54,324(22.50)	29,941(12.40)	68,115(28.22)	2,41,413
2008	54,069(21.77)	29,306(11.80)	76,087(30.63)	2,48,376
2010	50,950(21.96)	29,709(12.80)	70,123(30.22)	2,32,011
2011	53,794(22.30)	31,652(13.12)	71,104(29.48)	2,41,200
2012	57,197(22.44)	33,900(13.30)	75,723(29.71)	2,54,857
2013	59,326(21.30)	31.581(11.34)	87,848(31.54)	2,78,503
2014	57,045(20.16)	31,648(11.19)	88,448(31.27)	2,82,879

स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (2004–14)

तालिका 2 : भारत में विचाराधीन कैदियों की शिक्षा विवरण

वर्ष	निरक्षर	मैट्रिक से कम	मैट्रिक से उपर और के कम स्नातक	स्नातक	परा–स्नातक	तकनीकी डिग्री डिप्लोमा
2004	83,572(38.49)	89,000(40.98)	33,984(15.65)	7,936(3.65)	1,690(0.77)	948(0.43)
2005	82,628(34.85)	1,13,885(48.03)	28,763(12.13)	8,398(3.54)	1,600(0.67)	1,802(0.76)
2006	93,313(38.04)	1,03,548(42.22)	35,763(14.39)	9,559(3.89)	2,479(1.01)	1,032(0.42)
2007	88,312(35.22)	1,08,642(43.33)	39,861(15.89)	9,762(3.89)	2,806(1.11)	1,344(0.53)
2008	90,809(35.21)	1,08,077(41.90)	41,903(16.24)	10,783(4.18)	3,423(1.32)	2,933(1.14)
2010	78,836(32.83)	1,02,098(42.52)	44,594(18.57)	10,232(4.26)	2,893(1.20)	1,445(0.60)
2011	74,203(30.76)	1,02,852(42.64)	48,644(20.16)	10,698(4.43)	3,154(1.30)	1,649(0.68)
2012	76,626(30.06)	1,10,385(43.31)	49,871(19.56)	12,459(4.88)	3,471(1.36)	2,045(0.80)
2013	80,393(28.87)	80,393(28.86)	56,806(20.39)	16,233(5.82)	5,056(1.81)	2,642(0.95)
2014	82,735(29.25)	1,19,370(42.19)	55,605(19.65)	17,000(6.00)	5,202(1.83)	2,967(1.05)

स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (2004–14) (कोष्ठक में दर्शाये गए आकंड़े प्रतिशत में)

यह आंकड़े हमारी मौजूदा व्यवस्था की पोल खोलता है। ब्रिटिश शासनकाल के दौर में बंदियों में दो–तिहाई अपराधी होते थे और एक–तिहाई आरोपी। आजाद हिंदुस्तान में यह आंकड़ा उलट गया है। चिंता की बात यह है कि इन कैदियों में अनेक ऐसे हैं जो खुद पर लगे आरोप के लिए तय अधिकतम कैद की अवधि से ज्यादा समय जेल में काट चुके हैं। कई तो ऐसे हैं जो लंबे समय से केस शुरू होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।[4]

विचाराधीन कैदियों के संदर्भ में तीन महत्वपूर्ण मुद्दे हैं।

1. पहला विचाराधीन कैदियों को अच्छे वकील की सेवाओं का अभाव।

न्यायालय के समक्ष खुद का बचाव करने के लिए गुणवत्तापूर्ण कानूनी सहायता सभी आरोपियों का मानवाधिकार है। यद्यपि राज्य द्वारा सभी जरूरतमंद व्यक्तियों को मुफ्त कानूनी सहायता सेवाएं प्रदान की जाती हैं, पर प्राय देखा जाता है कि विचाराधीन कैदियों को अच्छे वकील की सेवाओं की कमी है। सरकार द्वारा मुहैया कराए गए इन वकीलों के खिलाफ कई शिकायतें मिलती रहती है। इसमें अदालतों में अनियमित उपस्थिति, मुवक्किल के साथ संप्रेषण की कमी आदि प्रमुख है। इन शिकायतों के पीछे मुख्य कारण कानूनी सहायता प्रदान करने वाले वकीलों के लिए मानदेय का अभाव है।

2. दूसरा मुद्दा हमारे देश में मौजूद जमानत की वित्तीय प्रणाली है।

जमानत का कानून कहता है कि आरोपी को परीक्षण के अंत तक अदालत में जमानत राशि नकद में जमा करनी है, या जमानत के लिए अन्य वस्तु जमा करनी होगी जिससे आरोपी के भाग जाने के मामले में अदालत में जमानत राशि का भुगतान किया जा सके। इसका मतलब यह कि अगर कोई व्यक्ति गरीब है और नकद जमानत मुचलके का भुगतान नहीं कर सकता, तो वह जेल में परीक्षण समाप्ति तक बंद रहेगा। पीआर बांड इसी तरह के परीक्षणों के लिए है। सीआरपीसी की धारा 436 और 436 ए से संबंधित विभिन्न ऐतिहासिक निर्णयों में उच्चतम न्यायालय द्वारा इस बात को दोहराया गया है।

3. तीसरा मुद्दा परीक्षण की लंबी प्रक्रिया से संबंधित है।

त्वरित न्याय का अधिकार मूलतः मानवाधिकार से संबंधित है। भारत में न्यायाधीश–जनसंख्या अनुपात बहुत कम है, यहां प्रति दस लाख जनसंख्या पर 14 जज हैं, जो उन्नत देशों में प्रति दस लाख की आबादी पर 35 और 50 के बीच

हैं। हमारे न्यायालयों के प्रत्येक बेंच में प्रतिदिन 22,000 मामलों की सुनवाई होती है और एक जज को एक दिन में 70 तथा एक हफ्ते में 350 केस सुनने पड़ते हैं। इस हिसाब से एक केस को औसतन छह मिनट का समय मिल पाता है, जिस कारण फैसला आने में औसतन 1000 से 1600 दिन यानी तीन से पांच साल लग जाते हैं। प्रतिदिन जितने मुकदमों पर निर्णय आता है और जितने नए केस दाखिल होते हैं, उनका अनुपात तो और भी चिंताजनक है। अध्ययन से पता चला कि यदि एक फैसला आता है तो 50 नए मामले दाखिल हो जाते हैं। कहीं–कहीं तो यह अनुपात 1:2000 का है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39–ए में सभी नागरिकों को मुफ्त कानूनी सहायता प्रदान करने का प्रावधान भी है। इस पर अमल के उद्देश्य से संसद ने 1987 में लीगल सर्विस अथॉरिटी एक्ट पास किया, जिस पर सात बरस बाद 1995 से अमल शुरू हो सका।

न्यायाधीश–जनसंख्या अनुपात बढ़ाने के लिए फास्ट ट्रैक अदालतों का विचार एक तदर्थ प्रयास है। इसमें सत्र अदालतों से अनुबंध के आधार पर अस्थायी आधार पर अतिरिक्त न्यायालयों की स्थापना कर न्यायाधीशों की नियुक्ति द्वारा मामलों की सुनवाई का प्रयास किया जाता है। इस नवाचार की वजह से पिछले एक दशक में सत्र अदालतों के स्तर पर मामलों के लंबित रहने की संख्या में काफी हद तक गिरावट आयी है, परंतु यह सब न्याय की कीमत पर किया गया है। इन अदालतों का जोर न्याय नहीं बल्कि मामलों के शीघ्र निपटान के बारे में अधिक होता है। प्राय यह देखा गया है कि इन फास्ट ट्रैक अदालतों में नियमित अदालतों की तुलना में सजा की दर काफी अधिक है। बचाव पक्ष के वकीलों का आरोप है कि फास्ट ट्रैक कोर्ट में न्यायाधीशों को जल्दी सुनवाई खत्म करने के लिए दवाब होता है, ऐसे में न्याय की अनदेखी की जाती है।

विचाराधीन कैदियों का सवाल सिर्फ मानवाधिकार से ही जुड़ा हुआ नहीं है बल्कि यह जाति, धर्म एवं जेंडर से भी जुड़ा है। सजा प्राप्त कैदियों का धार्मिक नक्शा भी कुछ ऐसा ही है। इस श्रेणी के हिंदू कैदियों की संख्या 72 फीसदी है जो कि आबादी में उनकी संख्या के लिहाज से 8 फीसद कम है। जबकि मुस्लिमों की आबादी के हिसाब से उनकी संख्या दो फीसदी ज्यादा है। इसी तरह प्रति दस लाख सिखों में से 350 सजायाफ्ता कैदी हैं। अन्य धर्मों की तुलना में यह संख्या सबसे ज्यादा है। विदित हो कि देश में प्रति दस लाख पर सजा प्राप्त कैदियों की संख्या 109 है। आंकड़ों के अनुसार प्रति दस लाख सजायाफ्ता कैदियों में से 185 ईसाई, 125 मुस्लिम और 99 हिंदू हैं। पिछले पांच वर्षों की तुलना में ईसाई अंडरट्रायल्स में 53 फीसदी से अधिक बढ़त देखी गई। जबकि सारे देश में यह दर 18 प्रतिशत रही है और पिछले पांच वर्षों

की तुलना में सजायाफ्ता कैदियों की संख्या 5 प्रतिशत बढ़ी है। इनमें से सिखों की संख्या 32 फीसद बढ़ी, हिंदू कैदियों की संख्या 4 फीसदी बढ़ी जबकि मुस्लिमों की संख्या 4 प्रतिशत बढ़ी है। पिछले पांच वर्षों में हिंदू अंडरट्रायल्स की संख्या 18 फीसदी से ज्यादा बढ़ी जबकि सिखों और मुस्लिमों की संख्या में क्रमशः 17 और 12 फीसदी रही। वर्ष 2014 की समाप्ति पर देश में हिंदू अंडरट्रायल्स की संख्या 1,97,273 थी तो मुस्लिमों की संख्या 59,550, ईसाइयों की संख्या 11,048, सिखों की 10,203 और अन्य 4,805 थे। अकेले उत्तर प्रदेश में बीस करोड़ लोग रहते हैं जहां पर जेलों में अंडरट्रायल्स की संख्या 62,515 है। बिहार में 26,800, महाराष्ट्र में 19,895, मध्यप्रदेश में 19,188 और पंजाब में 15,467 है। प्रति दस लाख लोगों में अंडरट्रायल्स की सबसे ज्यादा संख्या दिल्ली में 606 है जबकि दादरा और नगर हवेली में 579, मिजोरम में 506 और हरियाणा में 439 है। सारे देश की जेलों में नजरबंद कैदियों की संख्या 3,237 है जिनमें से 63 प्रतिशत (2030) हिंदू हैं, 20 फीसदी (628) मुस्लिम, 16 फीसदी (505) ईसाई हैं। यह लगभग वैसी ही स्थिति है जोकि अंडरट्रायल्स और सजा प्राप्त कैदियों के मामले में है।[5]

इंडिया स्पेंड डॉटकॉम में चौतन्य मल्लापुर की एक रिपोर्ट इन आरोपी कैदियों के संबंध में हमारे सामने एक और दिलचस्प पहलू को सामने रखती है। इस रिपोर्ट के अनुसार,

> "सिख, ईसाई देश की 1 अरब 20 करोड़ की आबादी में मात्र 4 फीसदी से कुछ अधिक हैं, लेकिन हिंदू, मुस्लिमों की तुलना में उनके अंडरट्रायल्स, नजरबंदी (डिटेन्ड) और अपराधी सिद्ध होने की ज्यादा संभावनाएं हैं। इन जेलों में बंद सिख कैदियों की अन्य धर्मों के मानने वालों की तुलना में सर्वाधिक संख्या है। प्रति दस लाख व्यक्तियों में से 840 सिख, 601 ईसाई, 477 मुस्लिम और 305 हिंदू जेलों में बंद हैं। सिख अंडरट्राइल्स की सबसे ज्यादा संख्या पंजाब, हरियाणा और राजस्थान में है। इस तीन राज्यों में ही 83 फीसदी सिख अंडरट्रायल्स बंद हैं। इसी तरह ईसाई अंडरट्रायल्स की सबसे ज्यादा संख्या तमिलनाडु, झारखंड और उड़ीसा में हैं और इन राज्यों में देश के करीब आधे (46 प्रतिशत) ईसाई अंडरट्रायल्स बंद हैं"।[6]

भारत में प्रतिवर्ष लगभग पचहत्तर लाख व्यक्ति गिरफ्तार किए जाते हैं। इनमें लगभग अस्सी प्रतिशत व्यक्ति छोटे–मोटे अपराधों में संलिप्त होते हैं जिनमें सात साल तक की सजा का प्रावधान है। ऐसे अपराधियों के भाग जाने, अदालत में हाजिर न होने या गवाहों को डराने–धमकाने की आशंका लगभग न के बराबर होती है। इसलिए उन्हें

विचाराधीन कैदी के रूप में जेल भेजने का पर्याप्त कानूनी आधार पुलिस के पास नहीं होता। फिर भी पुलिस इस प्रकार के सभी आरोपियों को जेल भेजती रहती है। आपातकाल के बाद पुलिस सुधारों के लिए गठित धर्मवीर आयोग ने कहा था कि लगभग इकसठ प्रतिशत गिरफ्तारियां जरूरी नहीं होतीं। वर्ष 1994 में जोगेंद्र सिंह प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि पुलिस को केवल उन्हीं मामलों में आरोपियों को गिरफ्तार करना चाहिए जहां इसकी जरूरत हो और जिन मामलों में गिरफ्तारी किए बिना तफतीश पूरी हो सकती हो, वहां आरोपी की गिरफ्तारी नहीं की जानी चाहिए। वर्ष 2000 में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की तरफ से जारी दिशा–निर्देशों में भी यही हिदायत दी गई थी। आपराधिक न्याय व्यवस्था में सुधार के उद्देश्य से बनाई गई मलीमथ कमेटी ने भी वर्ष 2000 में अपनी रिपोर्ट में अनावश्यक गिरफ्तारियों पर चिंता व्यक्त करते हुए कुछ सुझाव दिए थे–

> "It is the duty of the State to protect fundamental rights of the citizens as well as the right to property. The State has constituted the criminal justice system to protect the rights of the innocent and punish the guilty. The system, devised more than a century back, has become ineffective; a large number of guilty go unpunished in a large number of cases; the system takes years to bring the guilty to justice; and has ceased to deter criminals. Crime is increasing rapidly everyday and types of crimes are proliferating .The Committee examined in particular the inquisitorial system followed in France, Germany and other Continental countries. The inquisitorial system is certainly efficient in the sense that the investigation is supervised by the judicial magistrate which results in a high rate of conviction. The Committee on balance felt that, a fair trial and in particular, fairness to the accused, are better protected in the adversarial system. However, the Committee felt that some of the good features of the Inquisitorial System can be adopted to strengthen the Adversarial System and to make it more effective. This includes the duty of the Court to search for truth, to assign a proactive role to the judges, to give directions to the investigating officers and prosecution agencies in the matter of investigation and leading evidence with the object of seeking the truth and focusing on justice to victims." [7]

इस सबके बावजूद गिरफ्तारियों की संख्या साल–दर–साल बढ़ती रही। संभवतः पुलिस अपने सबसे प्रमुख अधिकार यानी गिरफ्तारी के अधिकार में किसी प्रकार की कटौती के सुझाव को मानने के लिए तैयार नहीं थी। सबसे बदतर स्थिति समाज के

वंचित समुदाय की है। अनुसूचित जाति और जनजाति वर्ग के करीब 31 हजार विचाराधीन कैदी बिना सुनवाई के जेल में सड़ रहे हैं। वे पुलिस व कोर्ट की कार्रवाई की भाषा समझ नहीं पाते हैं। कोर्ट उन्हें अच्छा अनुवादक भी उपलब्ध नहीं करा पाता और कोर्ट खुद भी उन्हें समझने का सिरदर्द नहीं उठाता है। उन्हें न उनकी भाषा समझने वाला वकील उपलब्ध कराया जाता है और न ही अदालतों में ऐसे अनुवादक उपलब्ध हैं जो आदिवासियों की भाषा को अनुवाद कर माननीय न्यायाधीशों को उनकी बात बता सकें।

छत्तीसगढ़ की राज्य सरकार में आदिवासी प्रकरणों के लिए गठित निर्मला बुच कमेटी ने दर्जनों मामले में उन कैदियों के जमानत का विरोध नहीं करने का सुझाव दिया है जिसमें निर्धन आदिवासी आरोपी मामूली रकम नहीं जुटा पाने के कारण जेल में हैं। सूचना के अधिकार के अंतर्गत छत्तीसगढ़ की जेलों के विषय में मिली जानकारी के अनुसार जगदलपुर जेल में नक्सली मामलों के 546 विचाराधीन कैदी बंद हैं जिनमें 512 कैदी आदिवासी हैं। दंतेवाड़ा जेल में नक्सली मामलों के 377 विचाराधीन कैदी बंद हैं जिनमे 372 कैदी आदिवासी हैं। कांकेर जेल में नक्सली मामलों के 144 विचाराधीन कैदी बंद हैं जिनमे 134 कैदी आदिवासी हैं। दुर्ग जेल में नक्सली मामलों के 57 विचाराधीन कैदी बंद हैं जिनमे 51 कैदी आदिवासी हैं। नक्सल प्रभावित छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, झारखंड और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों के केंद्रीय जेलों में बगैर किसी सुनवाई के हजारों आदिवासी बंद हैं।

इसके अतिरिक्त, एक अत्यंत दर्दनाक तस्वीर न्याय की आस लगाए बैठे कैदियों की जेलों में होने वाली मृत्यु भी है। एशियन सेंटर फॉर ह्यूमन राइट्स ने दावा किया है कि पिछले 8 वर्षों में 1184 लोगों की मृत्यु जेलों में दी गई यातना के कारण हुई। इसमें महाराष्ट्र की संख्या सर्वाधिक 192 पाई गई। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा गृह मंत्रालय को भेजी गई एक रिपोर्ट के अनुसार चूंकि उसके द्वारा जारी किए गए दिशा–निर्देशों का पुलिस तथा राज्य सरकारों ने सही से पालन नहीं किया, इसीलिए इतनी ज्यादा संख्या में जेलों में मौतें हुई जो स्वाभाविक अथवा किसी बीमारी की स्थिति में होने वाली मृत्यु से बिल्कुल अलग संख्या थी। 2010 में अपने एक फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया कि आपराधिक कृत्य करने वाले पुलिसकर्मियों को सामान्य लोगों से ज्यादा कड़ी सजा दी जानी चाहिये क्योंकि उनका काम लोगों की रक्षा करना है, ना कि कानून तोड़ना। यह फैसला उस मामले में आया था जब एक पुलिस कांस्टेबल ने एक व्यक्ति के जननांग काट डाले थे जिसके लिए उसे पांच साल की सजा सुनाई गयी थी। ब्रिटिश पत्रकार एवं सामाजिक कार्यकर्ता मेरी टायलर ने अपनी पुस्तक

भारतीय जेलों में पांच साल में भारतीय कैदियों की दर्दनाक स्थिति का बखूबी वर्णन किया है।

भारत जैसे देश में संगीन अपराधों में शामिल कुछ अपराधियों को तुरंत गिरफ्तार करके कारावास में डालना हमेशा एक जरूरत रहेगी, पर छोटे अपराधों के मामलों में इतनी अधिक संख्या में विचाराधीन कैदियों को जेल में रखना न्याय के मान्य सिद्धांतों के विरुद्ध है। विचाराधीन कैदियों में लगभग पचहत्तर प्रतिशत बाइज्जत बरी हो जाते हैं। इस स्थिति को स्थापित करने के लिए कानून में बदलाव के साथ–साथ पुलिस और न्यायिक अधिकारियों की मानसिकता बदलना भी बहुत जरूरी है। इस विषय पर न्याय–व्यवस्था के प्रत्येक अंग को संवेदनशीलता के साथ विचार करना चाहिए। न्याय–व्यवस्था से जुड़े उच्चाधिकारियों को गैर–जरूरी गिरफ्तारियों के लिए व्यक्तिगत रूप से जवाबदेह बना कर विचाराधीन कैदियों की संख्या और भी कम की जा सकती है।

संज्ञेय अपराधों में संलिप्त व्यक्तियों को गिरफ्तार करने के लिए कानून पुलिस को अधिकृत करता है, पर इसका मतलब यह कतई नहीं कि प्रत्येक संज्ञेय अपराध में गिरफ्तारी जरूरी है। कानून की इस निहित भावना को वर्ष 2010 में दंड प्रक्रिया संहिता में एक नई धारा 41–ए जोड़ कर स्पष्ट रूप से स्थापित कर दिया गया था। इस नए प्रावधान के अनुसार, सात वर्ष से कम सजा वाले मामलों में अगर पुलिस किसी को गिरफ्तार करना चाहती है तो उसे गिरफ्तारी की जरूरत को कारण बताकर स्पष्ट करना होगा। इसके बावजूद, स्थिति में सुधार नहीं हुआ। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़े बताते हैं कि 2010 के बाद दो वर्षों में ही देश में गिरफ्तार कुल व्यक्तियों की संख्या लगभग चौहत्तर लाख से बढ़ कर उन्नासी लाख हो गई। पुलिस द्वारा कानून के साथ लुका–छिपी का खेल कुछ हद तक माना जा सकता है। पर पुलिस द्वारा गिरफ्तार व्यक्तियों को अदालतों द्वारा जमानत पर छोड़ने के बजाय विचाराधीन कैदी के रूप में जेल भेज देने की मानसिकता एक विचारणीय विषय है। कानून की भावना यह है कि सात वर्ष तक की सजा वाले अपराधों से संबंधित मुकदमों में आमतौर पर आरोपियों को जमानत पर छोड़ दिया जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं हो रहा है। अधिकतर आरोपियों को कुछ समय के लिए विचाराधीन कैदी के रूप में जेल जरूर भेजा जाता है। इस मानसिकता को समझने और बदलने की जरूरत है। आंकड़े जाहिर करते हैं कि लगभग अड़तीस प्रतिशत विचाराधीन कैदियों को पहले तीन महीने के भीतर जेल से जमानत पर रिहा कर दिया जाता है।

लगभग साठ प्रतिशत विचाराधीन कैदियों को एक वर्ष के अंदर जमानत मिल जाती है। यह समझ से परे है कि जब साठ प्रतिशत विचाराधीन कैदियों को साल भर

के भीतर जमानत पर छोड़ दिया जाता है, तो फिर उन्हें जेल भेजा ही क्यों गया था? उन्हें विचाराधीन कैदी के रूप में कुछ दिनों के लिए जेल भेज कर सबक सिखाना इस प्रकार के कारावास का एकमात्र तर्क दिखाई देता है। पर यह कानून की मूल भावना के विरुद्ध है। उच्चतम न्यायालय ने पुलिस और अदालतों की मानसिकता को बखूबी समझते हुए हाल में अरनेश कुमार बनाम बिहार सरकार प्रकरण में पुलिस और अदालतों के लिए स्पष्ट आदेश जारी किए हैं। इनमें कहा गया है कि पुलिस गिरफ्तारी करते समय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 41ए के प्रावधानों का सम्मान करते हुए जरूरत के आधार पर ही आरोपियों को गिरफ्तार करेगी। अदालतों पर भी यह जिम्मेदारी डाली गई है कि जब उनके समक्ष किसी गिरफ्तार व्यक्ति को पेश किया जाता है तो इस बात की समीक्षा की जाए कि क्या गिरफ्तारी जरूरी थी ? अगर नहीं, तो व्यक्ति को जमानत पर छोड़ने पर विचार किया जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी व्यवस्था दी है कि इन दिशा–निर्देशों की अवहेलना करने वाले पुलिस और न्यायिक अधिकारी अदालत की अवमानना के पात्र माने जाएंगे। काफी संख्या में ऐसे विचाराधीन कैदी भी हैं जो कानून की अनभिज्ञता के चलते या उचित पैरवी के अभाव में जेलों में बंद हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 436, उन विचाराधीन कैदियों को जमानत पर छोड़ने का प्रावधान करती है जिन्होंने अपने अभियोग के लिए संभावित अधिकतम सजा का आधा समय जेल में गुजार लिया हो। धारा 436 यह प्रावधान भी करती है कि जमानतीय मामलों में बंद उन आरोपियों को एक सप्ताह के बाद उनके निजी मुचलके पर रिहा कर दिया जाए जिनके लिए कोई जमानत देने के लिए तैयार नहीं है।

इसके अलावा, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) और धारा 437(6) में भी तफतीश और न्यायिक कार्यवाही में होने वाली देरी की वजह से विचाराधीन कैदियों को जमानत पर छोड़ने के प्रावधान हैं, जिनका प्रयोग उतना नहीं हो रहा है, जितना होना चाहिए। विचाराधीन कैदियों की संख्या कम करने के उद्देश्य से 2006 में दंड प्रक्रिया संहिता में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन करके 'प्ली बार्गेनिंग' का नया अध्याय जोड़ा गया। इसके तहत सात साल तक की सजा के मामलों में आपसी सहमति से मुकदमों का निपटारा करने का विकल्प प्रदान किया गया है। अभियुक्त अपना अपराध स्वीकार करने के एवज में सजा में आधी से अधिक छूट प्राप्त करके रिहा हो सकता है। अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों में यह सिद्धांत ज्यादातर आरोपियों द्वारा प्रयोग में लाया जा रहा है, पर भारत में यह प्रयोग विफल रहा है। भारत में 'प्ली बार्गेनिंग' के प्रावधान व्यावहारिक नहीं है, जिसके कारण विचाराधीन कैदी इसका प्रयोग नहीं कर रहे हैं। इन प्रावधानों को व्यावहारिक बना कर विचाराधीन कैदियों की संख्या और कम की जा सकती है। दंड

प्रक्रिया संहिता की धारा 320 में उन अपराधों की सूची दी गई है जिनमें पक्षकार आपस में समझौता करके लोक अदालतों के माध्यम से मुकदमों का निपटारा कर सकते हैं।

समस्याएं

विचाराधीन कैदियों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिसमें प्रमुख हैं.....

1) **जेल में हिंसा –**

गैर–पेशेवर अपराधियों के लिए जेल प्रायः असुरक्षित स्थान माना जाता है। चूंकि ज्यादातर विचाराधीन कैदी पेशेवर अपराधी नहीं होते, इसलिए उन्हें जेलों में गंभीर हिंसा का शिकार होना पड़ता है। ब्राजील के साओ पाउलो में 2 अक्टूबर 1992 को जेल में हुई हिंसा में विचाराधीन कैदियों सहित कम से कम 111 लोग मारे गए थे। जेल हिंसा का सबसे बुरा रूप बिहार राज्य में देखा गया है जहां पुलिस द्वारा 80 संदिग्ध अपराधियों को आंखों में सुइयों और एसिड से अंधा किया गया था। सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन के मामले में अदालत ने निर्देश जारी किया था कि विचाराधीन कैदियों के साथ शारीरिक दुर्व्यवहार नहीं किया जाए तथा उन्हें पर्याप्त चिकित्सा और स्वास्थ्य सुविधाएं दी जानी चाहिए।

2) **जेल के प्रभाव से अपराधीकरण –**

जेलों में पेशेवर एवं गैर–पेशेवर अपराधियों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के अभाव में बहुत बार कठोर अपराधियों के संसर्ग में युवा विचाराधीन कैदी जल्द ही पूर्ण अपराधियों जैसे हो जाते हैं। जेलों के बारे में कहा जाता है कि जेल अपराध के विश्वविद्यालय होते हैं। यहा युवा अपराधी नौसिखये के रूप में आता है और पेशेवर अपराधी के रूप में बाहर जाता है।

3) **स्वास्थ्य समस्याएं –**

अधिकांश जेलों में कैदियों को भीड़भाड़ और पर्याप्त जगह की कमी की समस्याओं का सामना करना पड़ता है, ऐसे में उन्हें अनेक तरह की स्वास्थगत परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। जेलों में अधिकांश कैदी सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित वर्गों से आते हैं। ऐसे समाज में बीमारी, कुपोषण और चिकित्सा सेवाओं का पहले से अभाव रहता है। जेलों की अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में संक्रामक रोगों के आसानी से फैलने की आशंका रहती है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा

1998 में किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि भारतीय जेलों में होने वाली मौतों के 76 प्रतिशत मामले क्षय रोग के कारण थे।

4) **नशीली दवाओं का दुरुपयोग –**

प्रायः देखा जाता है कि जेल में होने एवं बाहरी दुनिया से कट जाने की हताशा में कई विचाराधीन कैदी प्रतिबंधित नशीली दवाओं का सेवन करने के आदी हो जाते हैं। जेल के बंद, ऊब और काफी हद तक उदास वातावरण में रोजमर्रा की वास्तविकता से कुछ देर मुक्त होने की चाह में नए कैदियों के इसके गिरफ्त में आने की संभावना और भी बढ़ जाती है।

5) **कैदियों के परिवारों पर प्रभाव –**

विचाराधीन कैदी अपने परिवारों की देखरेख करने में असमर्थ होता है। कई बार परिवार के मुखिया के अभाव में बच्चों को भटकने पर मजबूर होना पड़ता है। इसके साथ ही सामाजिक दोषारोपण के साथ परिस्थितियां और भी बदतर हो जाती हैं तथा बच्चे अपराध और शोषण के एक निष्ठुर चक्र में फंस जाते हैं। सामाजिक–आर्थिक रूप से हाशिए पर होने के कारण शोषण से संबंधित समस्याएं तीव्र हो जाती हैं।

त्वरित (शीघ्र) सुनवाई करने का अधिकार, एक मानवाधिकार –

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा आयोजित कार्यशाला में बोलते हुए भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश के. जी. बालकृष्णन का कहना था कि 'जेलें सजायाफ्ता कैदियों के लिए हैं ना कि विचाराधीन बंदियों के लिए'।

उन्होंने कहा कि अगर आरोप पत्र दाखिल हो गया हो और ऐसा लगे अभियुक्त गवाहों और सबूतों को प्रभावित नहीं कर सकता, तो फिर कोई कारण नहीं कि उसे सलाखों के पीछे ही रखा जाए।

हुसैनरा खातून बनाम गृह सचिव बिहार के मामले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा शीघ्र सुनवाई करने के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मामले में सुनवाई की देरी को मानवाधिकार का उल्लंघन माना गया है। इस देरी की कई वजह हैं –

- प्रणालीगत देरी।
- न्यायाधीशों और अभियोजन पक्ष की अपर्याप्त संख्या।
- गवाहों को सम्मन देने की विलम्बित सेवा।

- न्यायालय में विस्तारित अवकाश।
- पीठासीन न्यायाधीश के पास समय और धैर्य की अत्यंत कमी।
- पुलिसकर्मियों और संसाधनों की अपर्याप्तता।

विचाराधीन कैदियों की समस्या का प्रस्तावित समाधान (मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में)

विभिन्न विशेषज्ञों, समूहों और संस्थाओं द्वारा दी गई सिफारिशों और सुझावों के आधार पर विचाराधीन कैदियों की समस्या का प्रस्तावित समाधान निम्नलिखित हो सकता है।

1) विचाराधीन कैदियों को पेशेवर कैदियों से दूर अलग संस्थानों में रखा जाना चाहिए। वहां भी विचाराधीन कैदियों के बीच उचित और वैज्ञानिक वर्गीकरण सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि कट्टर अपराधियों एवं पहली बार के अपराधियों के बीच विभाजन हो सके।
2) किसी भी परिस्थिति में उन्हें दोषी कैदियों के साथ नहीं रखा जाना चाहिए।
3) जहां तक संभव हो विचाराधीन कैदियों के लिए बनाई गयी संस्थाएं अदालतों के करीब होनी चाहिए।
4) सीआरपीसी की धारा 167 के प्रावधानों को कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए। आरोपी विचाराधीन कैदी कैदियों के मामले में पुलिस की जांच और अदालतों की सुनवाई तय समय सीमा में होनी चाहिए।
5) रिमांड के स्वतः विस्तार को रोकने की जरूरत है। कई बार महज अधिकारियों की सुविधा के लिए रिमांड को बड़ा दिया जाता है जो अनुच्छेद 21 के तहत संवैधानिक गारंटी का उल्लंघन है।
6) सभी विचाराधीन कैदियों को प्रभावी ढंग से सुनवाई की तारीखों पर पीठासीन मेजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जाना चाहिए।
7) जेलों और अदालतों के बीच वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। बड़े केंद्रीय जेलों से शुरुआत कर जिला और उप–जेलों के लिए भी इस सुविधा के विस्तार की कोशिश की जानी चाहिए।
8) जिला मजिस्ट्रेट को स्थानीय पुलिस, न्यायपालिका, अभियोजन, जिला प्रशासन और जेल विभाग के प्रतिनिधियों से साथ मिलकर एक समिति का गठन करना चाहिए, जो अपने अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले सभी उप–जेलों का महीने

में कम से कम एक बार दौरा और समीक्षा कर विचाराधीन कैदियों के मामलों में तेजी ला सकता है।

9) जांच पड़ताल और कानून व्यवस्था के संदर्भ में पुलिस के कार्यों का स्पष्ट विभाजन किया जाना चाहिए और पर्याप्त संख्या में पुलिसकर्मी नियुक्त किए जाने चाहिए।

10) आपराधिक अदालतों द्वारा सीआरपीसी की धारा 309, 311 और 258 के तहत उपलब्ध शक्तियों का प्रयोग तेजी से सुनवाई करने के लिए करना चाहिए। मामलों में देरी को रोकने तथा उचित न्याय के लिए उच्च न्यायालयों द्वारा सीआरपीसी की धारा 482 और भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के तहत मिली शक्तियों का उपयोग कर मामले के निपटान में तेजी लानी चाहिए।

11) विचाराधीन कैदियों के मामले में, स्थगन जब तक बिल्कुल जरूरी न हो, नहीं दिया जाना चाहिए।

12) अपराधों के लिए दी जाने वाली सजा को प्रगतिशील और बड़े पैमाने पर गलतियों को सुधारने वाला होना चाहिए तथा सदियों पुराने अंग्रेजी कानून को समय के साथ समाप्त करने की जरूरत है।

13) कारावास के विकल्पों पर विचार किया जाना चाहिए और इसे भारतीय दंड संहिता में शामिल किया जाना चाहिए।

14) रिमांड के आदेश समयबद्ध होने चाहिए एवं विचाराधीन कैदियों को स्वचालित रूप से जमानत मिलनी चाहिए।

15) आपराधिक मामलों की हैंडलिंग के लिए राष्ट्रीय सूचना विज्ञान केन्द्र की मदद से ऐसा प्रोग्राम बनाना चाहिए जिससे लंबित मामलों और मामलों की विभिन्न प्रकार की देरी के प्रबंधन में मदद मिले। उच्च न्यायालयों को अधीनस्थ अदालतों में मामलों में तेजी लाने के लिए सक्रिय रुचि लेनी चाहिए।

16) जनसंख्या के उचित अनुपात में न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों की संख्या में तत्काल वृद्धि की जानी चाहिए। भारत की आबादी का प्रति दस लाख से कम से कम 107 न्यायाधीशों होने चाहिए।

17) विचाराधीन कैदी के किसी भी मौलिक अधिकार के उल्लंघन के मामले में राज्य सरकार को पर्याप्त मुआवजा देना चाहिए।

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था की एक सामान्य कसौटी यह है कि कानून की निगाह में सभी बराबर हैं। कानून के समक्ष सबकी समानता हमारे संविधान की भी

बुनियादी मान्यता है, लेकिन व्यवहार में अमीर और गरीब, रसूख वालों और साधनहीन लोगों के प्रति हमारी राज्य–व्यवस्था का अलग–अलग व्यवहार अक्सर देखने में आता है। विडंबना यह है कि न्यायिक प्रक्रिया भी इस दोष से अछूती नहीं रही है। इसका परिणाम हुआ कि बड़ी संख्या में विचाराधीन कैदी जेल में सड़ने को अभिशप्त रहते हैं। भारत के आपराधिक कानून औपनिवेशिक काल की एक प्रतिकृति है। यह गरीबों और समाज के कमजोर वर्गों के लिए शत्रुतापूर्ण हैं। ऐसे में मानवाधिकार के लिहाज से जरूरी है कि विचाराधीन कैदियों को त्वरित न्याय का अधिकार मिले वरना अनसुनी जिंदगियां, अपने घटते मानवाधिकार के लिए आने वाली पीड़ी को कभी माफ नहीं कर पाएंगी।

संदर्भ सूची :

1. 2015 में न्यायमूर्ति मदन लोकुर और यू. यू. ललित की दो सदस्यीय पीठ ने व्यक्तिगत पहचान (पीआर) बॉन्ड पर उन विचाराधीन कैदियों को तुरंत रिहा करने का आदेश दिया है जिन्होंने अधिकतम संभव सजा की आधी अवधि पूरी कर ली है। यह आदेष सुप्रीम कोर्ट के सितंबर 2014 के फैसले की पुनरावृत्ति है। न्यायालय ने राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (नालसा) को निर्देश दिया है कि वे राज्य के अधिकारियों और गृह मंत्रालय के साथ समन्वय सुनिश्चित कर एक महीने के भीतर हर जिले में विचाराधीन कैदी समीक्षा समिति का गठन करें। न्यायालय ने कहा है कि आपराधिक प्रक्रिया संहिता (सीआरपीसी) की धारा 436। के लाभ के हकदार विचाराधीन कैदियों की रिहाई पर विचार करना चाहिए।

   देखें : Raghavan Vijay- Under trial Prisoners in India- Vol- 51] Issue No- 4] 23 Jan] 2016 http://www-epw-in/journal/2016/4/commentary/undertrial&prisonersindia- html\ 0¾ip_login_no_cache% 3Dbd53a0708abc33516cc5a16f4b833c40#sthash-0wE6JI1r-dpuf
2. ExChief Justice of India Adarsh Sein Anand, November 1999
3. भारतीय अपराध सांख्यिकी रिपोर्ट 2013.
4. http://www.samaylive.com/editorial/316000/.html
5. http://hindi.webdunia.com/national-hindi-news/prisoners-in-jail
6. राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो, 2014 देखे : http://m.dailyhunt.in/news/india/hindi/webduniya-hindi-epaper-hinweb/kis-dharm-ke-kaidiyo-ki-sankhya-sabase-jyada-newsid-45742396.
7. http://www.pucl.org/Topics/Law/2003/malimath-recommendations.

❖❖❖❖❖

इज्जत के लिए हत्याः मानवता पर कलंक

डॉ॰ अमिता पाण्डेय •

आज मानव की प्रगति ने चाँद की सतह को छू लिया है। अब वह दूसरे ग्रहों के रहस्य को भेदने की ओर है लेकिन उसका अपना खूबसूरत ग्रह धरती कुरीतियों, कुसंस्कारों और रूढ़ियों से दिन प्रतिदिन कलुषित और मलिन होता जा रहा है। इक्कीसवीं सदी में भी हमारे देश में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ ज़हालत का अंधेरा है। वहाँ लोग मध्ययुगीन बर्बरता के बीच जी रहे हैं।

चाँद पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य आज भी अपने संस्कारों को लेकर अपनों का ही खून कर रहा है या अपने बच्चों को असमय काल कल्वित कर रहा है। परिवार की मर्यादा के नाम पर अपने ही हाथों से पाल–पोसकर बड़े किये बच्चों को मौत की नींद सुला देना कहाँ तक न्याय संगत है? क्या उनको सदा के लिए मिटा देने से परिवार की प्रतिष्ठा ऊँची हो जायेगी? ऐसे प्रश्नों का जब तक समाज हल नहीं ढूंढता तब तक अंकुरित होने वाले नव जीवन आजीवन भय में जीने को मजबूर रहेंगे। ''सम्मान हत्याओं'' पर ध्यान पिछले एक दशक में गया जब एक के बाद एक सैकड़ों हत्याओं का सिलसिला सामने आया। पिछले कई वर्षों से कोई दिन ऐसा नहीं रहा जब कहीं से ''सम्मान हत्या'' का समाचार न मिला हो। इसलिए यह कहना होगा कि नारी के प्रति बर्बरता का यह नया अध्याय पिछले एक दशक में सबसे विकराल रूप धारण करके सामने आया। भारत को आजाद हुए आधी शताब्दी से अधिक समय बीत गया और यहाँ के जनतंत्र को दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र कहा जाता है। भारतीय संविधान में स्वतंत्रता, समानता, धर्म निरपेक्षता को सबसे उच्च दर्जा दिया गया। आजादी के बाद से लगातार भारतीय समाज कन्या भ्रूण हत्या, दहेज प्रथा और उसके लिए की जाने वाली महिलाओं की हत्याओं के अभिशाप से जूझ रहा था कि उसमें एक नयी प्रकार की जघन्य हत्याओं का अध्याय जुड़ गया है। सम्मान के लिए हत्या का चलन सभ्य भारतीय समाज के माथे पर एक ऐसा दाग बन चुका है जिसे मिटाने का प्रयास तत्काल नहीं किया गया तो इसकी कालिमा सम्पूर्ण समाज के लिए घातक बन सकती है। एक तरफ भारत तकनीकी दुनिया में तरक्की करके बुलंदियाँ छू रहा है वहीं दूसरी तरफ इसी देश

• एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

के सभ्य समाज में आज भी जाति, धर्म व मान सम्मान के नाम पर युवाओं की बलि चढ़ाई जा रही है। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या सभ्य समाज में अपनी मर्जी से अपना जीवन जीने की चाह रखने वाले युवाओं की इच्छाओं का गला घोटना उचित है।

आज समाज में ऑनर किलिंग वाद विवाद की सबसे ज्वलन्त समस्या है। ऑनर–किलिंग जो वास्तव में हॉरर किलिंग है की घटनाएँ अब केवल उत्तर के राज्यों तक सीमित नहीं हैं। हाल ही में दक्षिण व पूर्वी राज्यों से भी इस प्रकार की घटनाएँ सुनने में आई है। कुल मिला कर यह ऐसी समाज विरोधी और आपराधिक गतिविधि है जिसकी चपेट में कश्मीर से कन्या कुमारी तक युवा दम्पत्ति आ रहे हैं। प्रत्येक बालिग लड़के (21) वर्ष व लड़की (18 वर्ष) को संविधान के अन्तर्गत यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी मर्जी से विवाह कर सकते हैं और गोत्र, जाति, धर्म, संस्कृति, नस्ल, रंग व भाषा इसमें अड़चन नहीं बन सकती। किसी भी व्यक्ति को अपना निजी जीवन अपने ढंग से जीने का अधिकार है।

इस तरह यदि कोई व्यक्ति समान सोच के साथ स्वेच्छा से अपना जीवन जी रहा है। इस स्थिति में उसे अपराधी मानकर किस तरह दंडित किया जा सकता है। यह सोचनीय विषय है। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की इच्छाओं के विपरीत उसको प्रताड़ित करे तो वह जरूर दण्ड के अन्तर्गत आ सकता है। निजी जीवन में अनाधिकृत हस्तक्षेप नहीं करता है तो उसे अपराध नहीं माना जाना चाहिए। लेकिन कुछ लोग व जातीय पंचायत या खाप ऐसे भी हैं जो तथाकथित परंपराओं को बरकरार रखने के लिए युवाओं को विवाह बंधन में बंधने से रोकने का प्रयास करते हैं और इसके लिए हत्या तक कर बैठते हैं। लगभग कुछ वर्ष पूर्व तथाकथित ऑनर के नाम पर इन हत्याओं ने इतना विकराल रूप धारण कर लिया था कि कानून मंत्रालय ने भारतीय दण्ड संहिता (आई.पी.सी) की धारा 300 में संशोधन का प्रस्ताव रखा। यह धारा हत्या को परिभाषित करती है। इस समस्या पर सरकार गंभीर दिखाई दे रही है और सख्त कानून बनाने पर विचार कर रही है। सम्मान हत्या या सम्मान हेतु हत्या वह हत्या है जिसमें कि परिवार, वंश या समुदाय के किसी सदस्य की (आमतौर पर एक महिला) हत्या उसी परिवार, वंश या समुदाय का एक या एक से अधिक सदस्य (अधिकतर पुरुष) द्वारा हत्या को अंजाम देते हैं कि मरने वाले सदस्य के कृत्यों के कारण उस परिवार, वंश या समुदाय का अपमान हुआ है। अपमान की यह धारणा सामान्यतः निम्न कारणों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती हैः–

(1) परिवार की मर्जी के विरूद्ध अपनी मर्जी से प्रेम विवाह करना।

(2) यदि विवाह अंतर्जातीय हो अथवा एक ही गोत्र में किया गया हो (हिन्दुओं में)

(3) परिवार द्वारा नियत विवाह से इंकार करना।

(4) समुदाय द्वारा निर्धारित वस्त्र संहिता का उल्लंघन कर कोई अन्य परिधान पहनना।

(5) विवाह पूर्व या विवाहोपरांत किसी अन्य पुरूष (या महिला) के साथ किसी महिला (या पुरूष) का यौन सम्बन्ध स्थापित करना।

(6) समलिंगी आचरण करना। (समान लिंग के व्यक्ति के साथ शारीरिक संबंध या विपरीत लिंगी के समान आचरण और वस्त्र धारण)

यह हत्यायें इस धारणा का परिणाम है कि कोई भी व्यक्ति जिसके किसी कृत्य के कारण यदि उसके कुल परिवार या समुदाय का अपमान होता है तो उस कुल या समुदाय के सम्मान की रक्षा के लिए उस व्यक्ति विशेष की हत्या कर दी जाती है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष (यू॰एन॰एफ॰पी॰ए॰) का अनुमान है कि दुनिया भर में सालाना 5000 के लगभग हत्यायें ''ऑनर किलिंग'' में होती है। ऑनर किलिंग को कुछ लोग उचित मानने की कोशिश कर रहे हैं, तो कुछ लोग जघन्य अपराध मानते हुए कड़ी कार्रवाई की मांग कर रहे हैं। दोनों ही तरह की मानसिकता के लोगों के अपने–अपने तर्क हैं, इसलिए दोनों तरह की मानसिकता वाले लोग सही हो सकते हैं, परन्तु सवाल यह नहीं है कि कौन सही है या कौन गलत है? प्रश्न यह है कि ऐसी समस्या ही क्यों उत्पन्न हो रही है, जिससे ऑनर किलिंग जैसा अपराध सामने आ रहा है। चर्चा अपराध की पृष्ठभूमि को लेकर होनी चाहिए, परन्तु उस पर चर्चा करने से सभी बचते नजर आ रहे हैं, जबकि ऑनर किलिंग जैसे अपराध को अपराध की पृष्ठभूमि में जाये बिना उसे नहीं रोका जा सकता।

परिभाषा :

मानव अधिकार संस्था ह्यूमन रॉइट्स वॉच, सम्मान हत्या को निम्न रूप से परिभाशित करती है : ''सम्मान की रक्षा के लिए किये गये अपराध, हिंसा के मामले हैं, जिन्हें परिवार के पुरुष सदस्यों ने अपने ही परिवार की महिलाओं के खिलाफ इसलिए अंजाम दिया है, क्योंकि उनके अनुसार उस महिला सदस्य के किसी कृत्य से सम्पूर्ण परिवार की गरिमा और सम्मान को ठेस पहुँची है। इसका कारण कुछ भी हो सकता है जैसे कि परिवार द्वारा नियत शादी करने से इंकार किसी यौन अपराध का शिकार बनना, पति से (प्रताड़ना देने वाली पति से भी) तलाक की मांग करना या फिर अवैध संबंध रखने का संदेह। केवल यह धारणा ही उस महिला सदस्य पर हमले को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त है कि उसके किसी कृत्य से परिवार की प्रतिष्ठा पर आँच आती है।

पहले भी ऐसे विवाह होते रहे हैं फिर अचानक इस प्रकार के विरोध को ''ऑनर'' से क्यों जोड़कर देखा जाने लगा है? लगता है अब समाज को ऐसे मामलों पर नए सिरे से विचार करने का वक्त आ गया है। जहाँ एक ओर संविधान हमें मानवाधिकारों के अन्तर्गत अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीने की आजादी देता है। वहीं समाज के कुछ लोग अपने ही बच्चों से यह अधिकार छीन लेते हैं। यदि बच्चे ने इस अधिकार के अन्तर्गत अपना जीवन साथी चुन लिया तो परिवार के कुछ लोग उसकी हत्या करने से भी नहीं चुकते हैं। कानून भी ऐसे अपराधों के आगे अंधा बना रहता है। ''ऑनर किलिंग'' के मामले केवल भारत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में अपना पैर फैला चुका है। कबीर दास जी भी कहते हैं ''ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय'' प्रेम जहाँ एक ओर कवियों, लेखों की लेखनी का प्रिय विषय रहा है, वहीं समाज में सभ्यता की राह में काँटे की तरह महसूस किया गया। परिवार में अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए वृद्ध लोग अपने ही संतान की हत्या करने से नहीं चूकते, यह हत्या वह प्रतिष्ठा के नाम पर करते हैं। हमारा प्रश्न यह है कि अपने ही सन्तान की हत्या करना कहां की प्रतिष्ठा है। किसी की हत्या करना क्या कोई ''ऑनर'' है? बल्कि यह तो मानव के मूल अधिकारों का हनन है।

पश्चिम की नकल करने में हमें तात्कालिक सुख की अनुभूति होती है, इसलिए हम पश्चिम की नकल करते हुए सुख भोगने में पीछे नहीं रहना चाहते, परन्तु यह एकदम सत्य है कि हम पश्चिम की नकल केवल सुख भोगने के लिए ही कर रहे हैं क्योंकि आत्मा से उसे पसन्द कर रहे होते तो जीवन में भी उतार चुके होते, परन्तु ऐसा नहीं है, तभी हमारी सोच में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है, इसका तात्पर्य यह है कि ऊपर से हम अंग्रेज दिख रहे हैं और अन्दर से आज भी हम वर्ण या जाति व्यवस्था के कट्टर पक्षधर हैं। सब कुछ सही चल रहा हो तो हम अंग्रेज ही बने रहना चाहते हैं, पर बच्चे यही नकल कर रहे, वह इसी वातावरण में जन्म ले रहे हैं और हमें देखकर बड़े हो रहे हैं, यदि वह व्यवहार को साकार करने की कोशिश करते हैं तो हम उेस प्रतिष्ठा से जोड़ देते हैं और ऑनर किलिंग जैसे अपराध तक करने में हमारे हाथ नहीं कांपते।

पुरातन काल में दिन की शुरूआत पूजा–अर्चना से होती थी तो सोने से पहले दादा–दादी ज्ञानवर्धक कहानियां सुनाते थे। इसका कारण यही था कि वृद्ध लोग नहीं चाहते थे कि उनके बच्चों पर गलत असर पड़े। ऐसी निगरानी के कारण ही बच्चे अनेक प्रकार की बातें किशोरावस्था के बाद तक नहीं जान पाते थे, लेकिन अब ऐसी निगरानी करने का कोई महत्व नहीं रह गया है क्योंकि घर में टीवी और मोबाइल होता ही है।

कम्प्यूटर और इंटरनेट भी कॉमन होता जा रहा है। इन चारों अत्याधुनिक साधनों के सम्पर्क में होने से ही वह सब बातें बच्चे अल्प आयु में ही सीख जाते हैं, जो किशोरावस्था में भी कहने सुनने या समझने में हिचकते थे। इसके अलावा दुनिया को अपनी मुट्ठी में कैद करने की लालसा में अभिभावक बच्चों पर ध्यान नहीं दे पा रहे हैं, जिससे बच्चे कब और कहाँ तक पहुँच जाते हैं, पता ही नहीं चलता और जब पता चलता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है, ऐसी स्थिति में पहुँचने पर अंकुश लगाने का प्रयास किया जाता है, बच्चे विरोध करते हैं तो प्रतिष्ठा प्रबल दिखाई देती है और न चाहते हुए भी ऑनर किलिंग जैसा अपराध करना पड़ता है।

ऑनर किलिंग जैसी स्थिति से बचने के लिए अभिभावकों को बच्चों पर बराबर ध्यान देना होगा। उन्हें धर्म से जोड़ना होगा। ईश्वर में आस्था रखने वाला व्यक्ति पाप कर्म करने से किसी हद तक बचता है। कानून जिस अपराध को नहीं रोक सकता, उसे धर्म से जोड़कर पाप कर्म घोषित किया गया था। जिसका अक्षरशः पालन कराना होगा, लेकिन दुर्भाग्य की बात कही जायेगी कि धर्मग्रन्थों के नाम से अभिभावकों के सिर में दर्द होता है तो वह अपने बच्चों को क्या और कैसे बतायेंगे? इस बात को निःसंकोच कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी होगी, जो धर्म ग्रन्थों को सालों खोलकर नहीं देख पाते होंगे। शहरी क्षेत्रों के परिवारों में तो ग्रन्थ होना भी बड़ी बात ही कही जायेगी। ऐसी धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक और पारिवारिक वातावरण में यदि कोई ऐसी कामना करता है कि उनके बच्चे दो दशक पहले जैसा व्यवहार करें तो यह उनकी भूल ही कही जायेगी। इसलिए परिस्थितियों को देखते हुए दो ही विकल्प दिखाई देते हैं, बच्चों को सुधारने से पहले स्वयं सुधरें और परिवार में धार्मिक वातावरण पैदा करें, साथ ही प्रतिदिन कुछ समय बच्चों के साथ भी बितायें और यह सब नहीं कर पाते हैं तो स्वयं इक्कीसवीं सदी में आ जायें और जैसा आपके बच्चे सोचते हैं, वैसा ही आप भी सोचने लगे।

झूठी शान के लिए हत्याएँ करने वालों और खाप पंचायतों के मनमाने फैसलों से कड़ाई से निपटने के लिए विधि आयोग ने अलग कानून लागू करने की सिफारिश की है। विधि मंत्रालय को भेजे गये नए कानून के प्रस्ताव में प्रावधान किया गया है कि इसके अन्तर्गत किसी विवाह या संबंध की निंदा करने के लिए बुलाई गई सभा के लिए भी खाप पंचायत सदस्यों को तीन से सात साल तक की जेल की सजा होगी। यह नया कानून पंचायतों या बुजुर्गों को युवा जोड़ों के जीवन में हस्तक्षेप से रोकेगा। विधि आयोग के सदस्य अमरजीत सिंह का कहना है कि आयोग मानता है कि इस समस्या से निपटने के लिए कड़े कदम उठाने जरूरी हो गए हैं। आयोग के अनुसार वर्तमान कानून

इस समस्या से प्रभावी ढंग से नहीं निपट पा रहा। नए कानून से जिला दंडाधिकारी या उपमंडलाधिकारी को और अधिकार मिल जाएंगे। वे नवदंपतियों को सुरक्षा देने या गैर कानूनी सभा करने से रोकने के संबंध में जरूरी कदम उठाने में अक्षम रहने पर अन्य अधिकारियों की अधिक जवाबदेही निर्धारित कर सकेंगे। ये खाप पंचायतें हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में खास तौर पर सक्रिय है। उनका अडियलपन इतना है कि वे खुद को देश के संविधान, कानून, पुलिस ही नहीं सुप्रीम कोर्ट से भी ऊपर समझती हैं। यह उतनी ही खतरनाक है जितने मजहब के नाम पर जारी होने वाले फतवे। ये पंचायतें आम तौर पर संवेदनाविहीन और अमानवीय रवैया अपनाती है। पहनावे खानपान और रहन–सहन के मामलों में अट्ठारहवीं, सोलहवीं सदी की स्थिति को आदर्श मानती हैं और शादी–ब्याह के मामलों में बेहद कठोर सजाएं सुनाती हैं, जिनका अंत बहिष्कार, देश निकाला और हत्या जैसी परिस्थितियों में होता है। खाप पंचायत से यह अनुरोध है कि वे सदियों पीछे जाने के बजाय आज के युग में आयें, अपने दिमाग को खुला रखें और ऐसा कुछ करें जिससे पंचायतों की खोई मर्यादा वापस आये ऐसा होने पर ही पंचायती राज की सार्थकता है। इस सार्थकता से गाँधी का सपना भी साकार हो सकेगा जो उन्होंने भारत के गाँवों को लेकर देखा था। सगोत्र या अंतर्जातीय विवाह करने वाले युगलों को खाप पंचायतों द्वारा सजा देने के चलन को विधि आयोग ने कानून का खुला उल्लंघन करार दिया है। साथ ही आयोग ने ऐसे अपराधों को गैर जमानती बनाने का सुझाव देते हुए एक मसौदा विधेयक पेश किया। आयोग ने खाप पंचायतों और झूठी शान के लिए हत्या करने के मामले में एक परामर्श पत्र जारी कर जनता से इस पर राय मांगी है। आयोग का कहना यह है कि हत्या या हत्या के लिए उकसाने के आरोप या सामना कर रहे व्यक्ति पर बेगुनाही साबित करने की जिम्मेदारी डालने की जरूरत नहीं। सगोत्र शादियों पर कानून के अन्तर्गत रोक नहीं है। हिन्दू विवाह अधिनियम सगोत्र या अन्तर्जातीय विवाह पर रोक नहीं लगाता।

गैर कानूनी भीड़ (विवाह की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप) मसौदा विधेयक 2011 में अधिनियम के तहत अपराधों को संज्ञेय, गैर जमानती और नन कंपाउंडेबल बनाने का प्रस्ताव है। साथ ही मसौदा विधेयक में यह प्रस्ताव भी है कि अधिनियम के तहत अपराध के मुकदमों की सुनवाई सत्र न्यायाधीश या अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश की अध्यक्षता वाली विशेष अदालतें करेंगी। राज्यों में हाईकोर्ट के परामर्श पर सत्र अदालतों की स्थापना की जाएगी। परामर्श पत्र में सुझाव दिया गया है कि आई.पी.सी. की धारा 300 में संशोधन कर ऑनर किलिंग को इसके दायरे में लाने की जरूरत नहीं है।

मौजूदा प्रावधान हत्या के प्रत्यक्ष कृत्य से उपजने वाली स्थिति का ख्याल रखने के लिए पर्याप्त है। परामर्श पत्र सरकार के उस प्रस्ताव के दो साल बाद आया है, जिसमें झूठी शान के लिए हत्या को अलग अपराध बनाने की बात कही गई थी। वित्त मंत्री प्रणव मुखर्जी (वर्तमान में महामहिम राष्ट्रपति) की अध्यक्षता में मंत्रियों का एक समूह भी इस मुद्दे की पड़ताल कर रहा है।

सगोत्र विवाह पर कानून के तहत रोक नहीं है। हिन्दू विवाह अधिनियम सगोत्र या अंतर्जातीय विवाह पर रोक नहीं लगाता। जिन शादियों (प्रस्तावित शादी या शादी की मंषा में शामिल) पर रोक नहीं है। उस पर विचार या निंदा के लिए लोग एक जगह एकत्र नहीं होंगे। इधर कुछ पंचायतों ने सुधारवादी, उदारवादी और आधुनिक दृष्टिकोण वाला रवैया अपनाने की शुरूआत की है और इक्कीसवीं सदी में भूमण्डलीकरण के खुलेपन की परिस्थितियों को समझने का रूझान दिखाया है। लेकिन आमतौर पर पंचायतें अपने रवैये पर कायम है। अब यदि नया कानून बन भी जाता है और कठोर सजाओं का प्रावधान कर भी दिया जाता है तो उसे क्रियान्वित करने की इच्छा शक्ति पुलिस तंत्र और प्राासन में विकसित करना होगा जिसके अभाव में कानून विसरता और सिसकता ही रहेगा। जियो और जीने दो पर यकीन करना पता नहीं कब सीखेंगे हम लोग..... जिन्दगी तो ईश्वर (ऊपर वाले) की दी हुई नियामत है इसे किसी को भी छीनने का कोई हक नहीं है। प्यार करना कोई गुनाह तो नही..... इबादत है। इसके लिए मौत की सजा क्यों?

शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक बदलाव की दुहाई देकर देश के विकास की बात करने वाले हम लोग उस समय क्यों मौन बैठ जाते हैं, जब शिक्षित व सभ्य कहने वाले हम लोगों के बीच ही ऑनर किलिंग के नाम पर प्रत्येक वर्ष कई बेगुनाह मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। यदि इस प्रकार की हत्याओं का यह सिलसिला बन्द नहीं हुआ तो फिर से हमारे देश का एक बड़ा हिस्सा ऑनर किलिंग की आग में जलकर खाक हो जायेगा।

ऑनर किलिंग के बढ़ते अपराध का मुख्य कारण समाज की संकुचित सोच व अशिक्षा है। शिक्षित समाज के लोग इस प्रकार की चीजों के बारे में कम ही सोचते हैं। लेकिन राजनीति व ग्लैमर जगत में ऐसे मामले प्रकाश में आते हैं, जिसमें सामाजिक मान–प्रतिष्ठा को बचाने के लिए युवाओं को अपनी इच्छा के विरूद्ध तलाक और विवाह जैसे कई समझौते करने पड़ते हैं।

जो समाज अपनी युवा पीढ़ी को अपनी जिन्दगी के बारे में फैसले लेने की स्वतंत्रता नहीं देता, जिन परिवारों में पुरानी पीढ़ी और पुरूषों की निरंकुश सत्ता आज

भी विद्यमान है, जिस समाज में रूढ़ियों, परम्पराओं के मजबूत बंधन स्थापित है वह समाज पूँजीवाद के अन्याय को स्वीकारने के लिए अभिशप्त है।

सम्मान के नाम पर हत्याओं की यह अमानवीय परिघटना उन्हीं देशों में अधिक है जहाँ बिना किसी जनवादी क्रांति के धीमे सुधारों की क्रमिक प्रक्रिया के जरिये पूँजीवादी विकास हुआ है। इन देशों में पूँजीवादी उत्पादन संबंध तो कायम हुए हैं, लेकिन यह पूँजीवाद यूरोपीय देशों की तरह यहाँ जनवादी मूल्य लेकर नहीं आया। सामाजिक–सांस्कृतिक धरातल पर आज भी यहाँ सामन्ती मूल्यों की जकड़ अत्यन्त मजबूत है। इन देशों (भारत भी इनमें से एक है) के सामाजिक–सांस्कृतिक ताने–बाने में गैरजनवादी मूल्य गहरे रचे बसे हैं। इसी कारण यहाँ व्यक्तिगत आजादी और निजता जैसे अवधारणाओं के लिए कोई जगह नहीं है। व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक फैसले में समाज दखल देता है चाहे वह प्रेम का सवाल हो, शादी का, रोजगार का या कोई अन्य।

इस समस्या का समाधान वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन के साथ जुड़ा हुआ है। निश्चित तौर पर हमें पूँजीवाद के अन्त का इन्तजार नहीं करना होगा और अभी से ही जबर्दस्त सांस्कृतिक प्रचार और महिलाओं की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के माध्यम से इन घिनौनी प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष करना होगा। लेकिन यह भी तथ्य है कि इन समस्याओं का टिकाऊ समाधान एक ऐसे सामाजिक – आर्थिक ढांचे से ही संभव है जो सभी प्रकार के मनुष्यों के बीच शोषण और उत्पीड़न के संबंधों को सम्भव बना दे। समाज में स्वस्थ मानसिकता निर्मित हो इसके लिए मानव को प्रतिष्ठा से अधिक महत्वपूर्ण अपने बच्चों को सम्मान और गरिमा के साथ जीवन जी सके इस भाव को प्रतिष्ठित करना होगा। जब तक मानव में इस प्रकार का भाव प्रतिष्ठित नहीं होगा तब तक समाज में ''सम्मान हत्या'' को रोका नहीं जा सकता है। इसको समाप्त करना अनिवार्य है। किसी सुसंस्कृत समाज में यह जागरूकता उसकी भावी पीढ़ी की नियामक होती है।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. भारतीय संविधान, भारत सरकार प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रस्तावना पृ. से उद्धृत।
2. ऋतु सारस्वत, मानव अधिकार और भारत, योजना, अप्रैल, 2006
3. ह्यूमन राइट्स–इयोन सीवेल्ड, ऐन इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस, वॉल्यूम 5–6

4. Honor Crimes, Paradigms & Violence Against Woman, Editors – Sara Hossain, Lynn Welchman, Publisher Spinifiex Press

5- Introduction to Human Right & the Common Law, Hart Publishing (U.K.), Dr. Iur (Hamburg)

6- Human Rights in India : Historical, Social & Political Perspectives of Edition, C.J. Nirmal, Oxford University Press.

7. Human Rights Convenants & Indian Law, Sharma, Brij Kishore, Phi Learning

8. Handbook of Human Rights & Criminal Justice in India, 3rd Edition, South Asia Human Rights Documentation Centre, Oxford University Press

9. Transitional Justice & a Creation of Human Right Culture in Ethiopia, Aklachew B. Enyew, Lap Lambert Publishing

10. Human Rights New Ed. Edition, Anthony Woodiwiss, Routledge.

11. Human Right in India, Some Issues, Iqbal A. Ansari, Qazi Publisher.

12. Human Rights, Raintree Media, Raintree Media Pvt. Ltd

❖❖❖❖❖

खण्ड – 7

साक्षात्कार

"असमानता, गरीबी और अन्याय मानव अधिकारों के अजातशत्रु"

हर्ष मंदर•
साक्षात्कारकर्ता – डॉ. सरोज कुमार शुक्ल•

बड़े दुख एवं आश्चर्य की बात है कि आजादी के लगभग सात दशक बीत जाने के उपरान्त भी भारत भुखमरी, गरीबी एवं आश्रयहीनता का शिकार है। हालांकि, आज यह वैश्विक समस्या है पर भारत में यह आंकड़ा अपनी सीमाएं लांघ रहा है, जो हमारे जैसे विकासशील देश के लिए चिन्ता का विषय है। अशिक्षा, सामाजिक असमानता, मानव देह व्यापार, भुखमरी, आश्रयहीनता, सांप्रदायिक हिंसा, दहेज उत्पीड़न, शोषितों, वंचितों एवं समाज के पिछड़े वर्गों के प्रति असंवेदनशीलता जैसे महत्वपूर्ण एवं ज्वलंत मुद्दे हमारे विकास में बाधक हैं जिनके समाधान के बिना सुशासन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऐसे में हमने इस अंक हेतु प्रसिद्ध विचारक, चिंतक एवं सामाजिक कार्यकर्ता श्री हर्ष मंदर से मानव अधिकारों से जुड़े विभिन्न आयामों, उनके द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण कार्यों एवं उनकी उपलब्धियों के बारे में बातचीत करने की कोशिश की है। पेश है उनसे हुई बातचीत के कुछ अंश :–

- **प्रश्न : क्या आपको ऐसा प्रतीत नहीं होता कि गरीबी एवं अशिक्षा के कारण ही समाज में असमानता का चक्र सदियों से जारी है ?**

  उत्तर : यह सही है कि असमानता और अन्याय हमेशा से मानव समाज का हिस्सा रहा है। मुझे लगता है सिर्फ आदिवासी समाज को छोड़कर हर जगह असमानता भी रही है और अन्याय भी रहा है, लेकिन इसका यह अर्थ निकालना कि असमानता, अन्याय और गरीबी एक सामान्य स्थिति है जो खुद–ब–खुद पैदा हो रही है और इसके बारे में कुछ किया नहीं जा सकता, बिल्कुल गलत है। मुझे लगता है कि यह पहचानना बहुत जरूरी है कि असमानता, गरीबी और अन्याय जैसी परिस्थितियां बनाई जाती हैं, समाज के सशक्त वर्ग द्वारा कमजोर वर्ग पर

• प्रसिद्ध विचारक, चिंतक एवं सामाजिक कार्यकर्ता

• सहायक निदेशक, राष्ट्रीय कार्यकर्ता

अन्याय किया जाता है। ये परिस्थितियां खुद–ब–खुद उत्पन्न नहीं होतीं। यह स्थिति सामाजिक व्यवस्थाओं और सरकारी नीतियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। यह पहचानना बहुत जरूरी है और दूसरी बात जो इस संदर्भ में कहनी जरूरी है वो यह कि नव उदारीकरण की जो आर्थिक नीतियां दुनियाभर में व्याप्त हैं, उनके कारण असमानता लगभग पूरी दुनिया में बढ़ी है। मौजूदा स्वरूप के बारे में यदि हम गहराई से सोचें तो पाएंगे कि आज के समय में विभिन्न देशों के 10 में से 7 लोग ऐसे देशों में निवास कर रहे हैं जहां असमानता बढ़ी है। मुझे तो ऐसा लगता है कि पिछले 25–30 वर्षों में विश्व के लगभग सभी देशों में असमानता बहुत बढ़ी है। ऐसे में इसके लिए उत्तरदायी कारणों को ढूंढ़ना बहुत जरूरी है। एक तरफ इन नीतियों में जो असमानता है और दूसरी तरफ जो ऐतिहासिक असमानताएं हमारे देश में रही हैं जैसे जाति के आधार पर, लिंग भेद के आधार पर, जमीन से जुड़े मुद्दे, श्रमिक की असुरक्षा और कमजोरी के कारण और मज़हब के आधार पर जो असमानता देखी गई हैं। आज के समय में भी एक तरफ ऐतिहासिक असमानताएं जारी हैं और वर्तमान समाज में दूसरी तरफ नव उदारीकरण की आर्थिक नीतियों से ये असमानताएं खत्म होने की बजाय और अधिक गहरी हुई हैं।

- **प्रश्न : वर्तमान संदर्भ में सामाजिक सद्भाव का विषय भारत की युवा पीढ़ी के लिए कितना महत्व रखता है?**

  उत्तर : मैं मानता हूं कि हाल में अमेरिका और उससे पहले यूनाइटेड किंगडम में जो चुनाव के परिणाम आए उससे बहुत साफ दिखता है कि न सिर्फ उन दो देशों में बल्कि हमारे देश में और दुनिया के कई देशों में राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सोच में एक मंथन सा चल रहा है। अब मुझे लग रहा है कि दो बहुत बड़ी चुनौतियां हर देश के समक्ष हैं। ऐसे में लोगों को आपस में तय करना है कि हम इन दोनों चुनौतियों का सामना कैसे करें ? एक चुनौती जिसके बारे में पहले बात की, वह है बढ़ती हुई असमानता, पर दूसरी चुनौती है कि जो भिन्न–भिन्न लोग हैं, भिन्न मजहब हैं, जातियां हैं, भिन्न किस्म के रंगरूप, वेशभूषा, भाषा हैं, इन विभिन्नताओं के साथ लोग कैसे आपस में किन नियमों के साथ, किन सिद्धांतों के आधार पर एक साथ रहें? यदि हम देखें कि इन दो चुनौतियों का हिन्दुस्तान में क्या अनुभव रहा है, तो मुझे लगता है कि असमानता में हमारा अनुभव बिल्कुल अच्छा नहीं रहा क्योंकि शायद दुनियाभर में कोई भी ऐसी सिविलाइजेशन नहीं है, दुनियाभर में कोई भी संस्कृति ऐसी नहीं रही, जहां पर असमानता की इतनी ज्यादा

सामाजिक व धार्मिक स्तर पर अनुशंसा की गई है, जितनी हमारे यहां की गई है। लेकिन दूसरी तरफ विभिन्नता में एकता के साथ अलग–अलग मजहब, अलग–अलग वेशभूषा व भाषा के लोग किस तरह आपस में एक साथ आपसी सम्मान के साथ रहे हैं, उसका शायद हमारे हिन्दुस्तान की संस्कृति से बेहतर उदाहरण दुनिया के किसी भी देश में देखने को नहीं मिल सकता। माना एक तरफ असमानता में हमारी स्थिति बहुत अच्छी नहीं रही, लेकिन विभिन्नता में एक साथ मिलकर रहना हमारी सफलता है। कई पश्चिमी देशों में बिल्कुल उल्टा है। जो स्कैंडिनेविया के देश हैं, स्वीडन, नार्वे, इन देशों में उन्होंने वेलफेयर स्टेट के माध्यम से असमानता का सामना करने में कुछ हद तक सफलता तो पाई है, लेकिन दूसरी ओर कई यूरोपीय देशों को विभिन्नता के साथ एडजस्ट करने में सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर बहुत ज्यादा कठिनाई महसूस हो रही है। फ्रांस ने तो यहां तक कहा है कि अगर कोई महिला अपने शरीर को पूरी तरह से ढक के समुद्र में नहाने जाती है तो उस पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। आज के आधुनिक समय में यह एक विचित्र व निराधार सोच है क्योंकि कोई महिला अपने शरीर को कितना ढके या न ढके, उससे किसी और को कोई मतलब नहीं होना चाहिए। लेकिन उन्होंने वहां पर उसको इतना बड़ा मुद्दा बनाया और औपचारिक रूप से इसे प्रतिबंधित किया गया है। इस तरह के निर्णय असमानता की स्थितियों की ओर ही संकेत करते हैं। उन देशों में ज्यादा लोग एक ही रंग और मज़हब के रहे हैं और अचानक बदलती हुई दुनिया में जब वे ऐसे लोगों को देखेंगे कि उनका रंग, भाषा या संस्कृति अलग है, उससे वो बहुत ज्यादा विचलित हो रहे हैं। मुझे लगता है कि यही असमानता और विभिन्नता की जो चुनौतियां हैं। इसके बीच में ये जो राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक मंथन की बात मैं कर रहा था, उस संदर्भ में इसको समझा जा सकता है और मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान में बहुत जरूरी है कि हम न सिर्फ समाज में फैली समानता की बात करें बल्कि साथ–साथ जो हमारे परम्परागत कुछ गुण रहे हैं, मोहब्बत के साथ, आपसी सम्मान, अलग–अलग मज़हब के लोगों के साथ जीने का जो हमने उदाहरण मानव समाज के सामने रखा है, उसे हम टूटने न दें। आज मैं देख रहा हूं कि यह कहने की कोशिश की जा रही है कि यह देश सिर्फ एक मज़हब के लोगों का है और उसी मजहब के लोगों की भावनाओं के आधार पर बाकी सब लोगों को अपनी जीवनशैली को बदलना चाहिए। यह सोच हिन्दुस्तान के संविधान में नहीं है और हिन्दुस्तान का जो सांस्कृतिक इतिहास है इस सोच के विपरीत है और मेरा यह मानना है कि यह

देश किसी एक मज़हब के लोगों का नहीं है बल्कि बराबरी से सभी का है। एक बार गांधी जी से किसी ने पूछा था कि क्या हिन्दुस्तान में सिर्फ हिन्दुस्तानी मज़हब को ही फलने–फूलने की इजाजत देनी चाहिए तो गांधी जी ने जवाब दिया कि हां, मैं पूरी तरह से आपसे सहमत हूं। हिन्दुस्तानी मज़हब जैसे हिन्दू मज़हब, इस्लाम, ईसाई, सिख, जैन आदि सब हिन्दुस्तानी मज़हब हैं और सब को बराबर फलने–फूलने का अवसर मिलना चाहिए। तो मैं मानता हूं कि यह बहुत जरूरी है। आज के वक्त में एक बात मैं और कहना चाहता हूं कि हमारे संविधान की जो प्रस्तावना है, उसमें जो चार आधार स्तंभ हमारे लोकतंत्र के बताए गए हैं, एक है न्याय, दूसरा है आजादी या स्वतंत्रता, तीसरा है समानता और चौथा बंधुता। इनमें से बंधुता आधार होना चाहिए कि हम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, बंधे हुए हैं। इस तरह की भावना का प्रचार कर हम आपस में बंधुता बढ़ा सकते हैं। साथ ही, हमें संविधान में जो लिखा गया है, उसके विषय में नई पीढ़ी को समझाना बहुत जरूरी है।

- **प्रश्न : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की भूमिका बंधुआ मजदूरी एवं अशक्त लोगों के अधिकारों के संरक्षण में कितनी प्रभावी हो सकती है?**

उत्तर : मेरा बहुत लम्बे अरसे तक अलग–अलग संदर्भों में आयोग के साथ संबंध रहा है। उनकी कई समितियों में मैं रहा हूं। मुझे लगता है कि इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सरकार द्वारा स्थापित है और फिर भी सरकार का हिस्सा नहीं है और इसे कभी सरकार का हिस्सा नहीं बनना चाहिए। आयोग का यह फर्ज है कि जो सबसे कमजोर, सबसे शोषित जो समूह है, उनकी समस्याओं की ओर ध्यान दे। यह चुनौती और भी ज्यादा तब बढ़ जाती है जब देश के सामान्य वर्ग को उनके हक प्राप्त करने में बहुत सारी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। लेकिन जब बात जाति के आधार पर हिंसा, लिंग के आधार पर हिंसा या मजहब के आधार पर हिंसा की हो तो ऐसे में आयोग की भूमिका विशेष तौर पर बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। खासतौर पर उल्लेख करना चाहूंगा कि जस्टिस वर्मा की अध्यक्षता में, जब गुजरात में सांप्रदायिक हिंसा हुई थी तो राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही क्योंकि उन्होंने बिना कोई भेदभाव या डर या दबाव के पीड़ित व्यक्ति का साथ दिया और अलग–अलग तरीकों से जो आदेश दिए थे, वे आज भी बहुत महत्व रखते हैं। पुनर्वास के लिए राहत, उनकी सुरक्षा के लिए प्रयास और कानूनी न्याय दिलवाने के प्रयासों में उनकी जो भूमिका रही, वह बहुत महत्वपूर्ण थी। पंजाब में 80 के दशक के दौरान बहुत सारे नौजवानों का जो एनकाउंटर हुआ वो मामला सुप्रीम कोर्ट की पहल से

आयोग ने लिया था, यह भी बहुत महत्वपूर्ण काम था। ये दो उदाहरण हैं जहां मुझे लगता है कि आयोग ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई और भूख के विषय पर कुछ वक्त तक जो कमीशन बने थे, खासतौर पर जब चमनलाल जी को विशेष संपर्ककर्ता के तौर पर जिम्मेदारी दी गई थी और जिस तरह से उन्होंने उड़ीसा के इलाकों में जाकर अपनी जिम्मेदारी निभाई, मेरी समझ में ये कुछ उदाहरण हैं जहां आयोग ने दिखाया कि अगर हम लोग अपनी जिम्मेदारी को निभाना चाहें तो उसे सफलतापूर्वक निभा सकते हैं। मानसिक चिकित्सालयों में जो लोग परित्यक्त हो गए थे, उनके संदर्भ में एक समिति बनी थी, मैं उसमें शामिल था और कुछ अच्छी कोशिशें हुईं। 20–20, 30–30 वर्षों से जो लोग, खासकर महिलाएं जो अस्पतालों में रह गईं, उनके संदर्भ में एक पहल की गई थी। बंधुआ मजदूरी के बारे में एक समिति बनी थी जिसमें मैं भी सदस्य था, उसमें भी आयोग की तरफ से इस स्थिति का सामना करने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गई थी। ये उदाहरण मैं इसलिए दे रहा हूं क्योंकि जब ऐसा नहीं होता तो आयोग क्यों नहीं कर पा रहा, उस वक्त आयोग को इसके बारे में आत्मचिंतन करना जरूरी होता है। मुझे लगता है कि जब हम इस तरह की जिम्मेदारी लेते हैं कि हम कमजोर के साथ खड़े हैं तो उन्हें न्याय जरूर मिलता है, लेकिन ऐसे समय में खामोशी उस नाइंसाफी में शामिल होने के बराबर है। एक सामान्य नागरिक नाइंसाफी के सामने खामोश रहे तो समझ में आता है, लेकिन वह आयोग जो सिर्फ इस कारण से स्थापित है कि अन्याय के शिकार व्यक्ति का साथ दे, उस वक्त जब आयोग खामोश रहता है तो मुझे लगता है कि ऐसे में उसे आत्मचिंतन करना चाहिए।

- **प्रश्न : 'भुभुक्षितम् किम् न करोति पापम्' इस 'आप्त वचन' से आप कहां तक सहमत हैं तथा इसके निराकरण हेतु खाद्य सुरक्षा विधेयक कहां तक प्रभावी है?**

उत्तर : मैं कई बरसों से भूख और भोजन के अधिकार के विषय पर काम कर रहा हूं। सरकार में रहते हुए बेहद गरीब इलाकों में, आदिवासी इलाकों में काम किया। उसके बाद सुप्रीम कोर्ट की तरफ से विशेष आयोग बनाया गया था, भोजन के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए। देश के बहुत सारे भागों में मैंने देखा है भूख से ग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा को। इसके बारे में मैंने कुछ किताबें भी लिखी हैं क्योंकि मैं समझता हूं कि उनकी पीड़ा को लोगों के सामने रखा जाए। सबसे दर्दनाक चर्चाएं जो मेरे साथ हुई थीं। उन में से तीन–चार–पांच चर्चाएं जो मेरे दिल के सबसे करीब हैं, उनमें से एक मुसहार बानो के साथ हुई थी। वे उत्तर प्रदेश

के उत्तरी भाग से थीं। वह कह रही थीं कि सबसे मुश्किल शिक्षा जो उनको अपने बच्चों को देनी पड़ती है, वह यह कि भूखा कैसे सोया जाए। और मैं उस वक्त सोचने लगा कि मेरी अपनी बेटी है और अगर उसको बड़ा करते हुए मुझे यह शिक्षा अपनी बच्ची को देनी पड़ती कि भूखा कैसे सोया जाए तो मैं क्या महसूस करता, मेरी बच्ची क्या महसूस करती ? वे बता रही थीं कि कई दिन ऐसे होते हैं एक दाना अनाज भी नसीब नहीं होता। मैं गरीबों की आत्मकथाएं अभी पढ़ रहा हूं तो वहां भी वह इस बात का उल्लेख करते हैं कि कैसे गोबर से अनाज निकाल–निकाल कर वे लोग पेट भरते हैं। कुछ लोग जिन्हें लम्बे समय तक भूख से जूझना पड़ता है, वे क्या करते हैं अपनी जिन्दगी में, तो उन्होंने कहा एक तो वे शरीर को धीरे–धीरे सिखाते हैं कि तीन बार नहीं तो दो बार और एक बार खाना खाएं और फिर उसके द्वारा खाने की इच्छा को किस तरह से खत्म किया जाए। दूसरा वे बताते हैं कि आसपास से ऐसी चीजें ढूंढ़ते हैं जिनसे दो फायदे हों, एक तो वे मुफ्त हों, दूसरा उनसे पेट भर जाए, और प्रायः उनका अवगुण यह होता है कि उनका कोई फूड वैल्यू नहीं होता और कई बार वे जहरीली भी होती हैं। जैसे आम के अन्दर की जो गुठली है, उसको खाना या ऐसे जंगली पत्ते या जड़ वगैरह निकालकर खाना। मैं अभी तीन–चार वर्षों के सूखे के संदर्भ में बुंदेलखण्ड गया था जहां बच्चों को वे ऐसी रोटी खिला रहे थे जिसमें जंगली पत्ते मिले हुए थे। मैंने उनसे कहा कि मैं खांऊं। वह इतना कड़वा था कि खाना मुश्किल था। मैंने कहा कि क्यूं खिला रहे हो बच्चों को ? तो उन्होंने कहा कि इसको खाने के बाद बच्चा एक दिन तक खाना नहीं मांगता, भूख मर जाती है। बच्चे को पांच साल की उम्र में काम पर भेज देते हो। इस तरह की स्थितियों में शरीर को बेचना पड़ता है, कई चीजें आपको ऐसी करनी पड़ती हैं जो आप नहीं करना चाहते। आज भी कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में 20 से 25 करोड़ लोग भूखे सोते हैं और दुनिया का हर तीसरा बच्चा जो कुपोषित है, हिन्दुस्तान में है। आज हम लोग दुनिया की सबसे तेज गति से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था हैं। दुनिया के करोड़पतियों की तीसरी बड़ी आबादी हिन्दुस्तान में है और हर तीसरा बच्चा जो दुनिया में कुपोषित है, वो भी हिन्दुस्तान में है, तो कब और कहां तक हम लोग इस असमानता के साथ जिएं ? कम से कम ऐसे वक्त में जब हमारे पास भोजन की कोई कमी नहीं है, अनाज गोदामों में सड़ रहा है। उस स्थिति में कम से कम भूख को तो समाप्त हो जाना चाहिए और यही कोशिश थी कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून उसमें सहायक बने। चूंकि मैं नेशनल एडवाइजरी काउंसिल में था तो मुझे जिम्मेदारी दी गई थी

उस ग्रुप को कॉर्डिनेट करने की। हम और भी बहुत कुछ चाहते थे, लेकिन फिर भी जो अन्त में निकला वो भी अपने आप में महत्वपूर्ण था कि 75 प्रतिशत ग्रामीण और 50 प्रतिशत शहरी लोगों का जो कैलोरी रिक्वायरमेंट है, उसका जो आधा हिस्सा है उन्हें मुफ्त मिले। ये मोटे तौर पर कोशिश की गई थी एवं जो बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं, उन्हें कम से कम एक वक्त का भोजन और जो बच्चे 6 से कम उम्र के हैं और जो गर्भवती महिलाएं हैं उनके लिए भोजन की व्यवस्था हो। जो मैटरनिटी बैनिफिट्स हैं, हर महिला को मिले क्योंकि सबसे ज्यादा कुपोषण गर्भ के दौरान और गर्भ के पहले दो वर्षों में होता है। महिला अगर घर में रह सकती है, पोषण ले सकती है, बच्चे को दूध पिला सकती है तो वह कुपोषण की शिकार नहीं होगी। मैटरनिटी बैनिफिट्स इस कारण से बहुत महत्वपूर्ण हैं। बड़े दुःख की बात है कि कानून बनने के बाद भी बहुत सारे प्रदेशों ने बहुत धीरे–धीरे इसका क्रियान्वयन किया गया और जो मैटरनिटी बैनिफिट्स वाला हिस्सा है वह आज तक भी लागू नहीं हुआ है। हम लोग सुप्रीम कोर्ट में भी यह बात ले गए हैं, लेकिन यह ऐसा मुद्दा है जिस पर आयोग को सरकार पर दबाव बनाना चाहिए कि वह इसको लेकर सर्वानुमति से संसद में कानून बनाए।

- **प्रश्न : आज हमारे देश के करोड़ों लोग खुले आसमान के नीचे अपना जीवन निर्वहन करने के लिए अभिशप्त हैं। इसके लिए सरकार द्वारा क्या कदम उठाए जाने चाहिए?**

उत्तर : मैंने एक किताब हाल ही में लिखी है जिसका नाम है "Looking Away: Inequality, Prejudice and Indifference in New India". इसमें मैंने लिखा है कि मैं असमानता से तो विचलित हूं, लेकिन उस असमानता के सामने जो Indifference है, उससे हम विचलित नहीं होते। हमें कोई पीड़ा नहीं होती। हम अपने बच्चे को हर सुविधा–सुरक्षा देते हैं। ठंड की रात है, बाहर धुंध है, हम कहीं पार्टी से लौट रहे हैं या पिक्चर देख कर लौट रहे हैं और ऐसा संभव नहीं हैं कि आप नहीं देखें कि बच्चे फुटपाथ पर सो रहे हैं, लेकिन हम विचलित नहीं होते। ये मुझे बहुत ज्यादा विचलित करता है। इसलिए जब मैंने आई.ए.एस. छोड़ा और दिल्ली में रहने लगा तो मैंने तय किया था, कि मुझे बेघर लोगों के बीच में रहकर, बेघर बच्चों और बड़ों के लिए काम करना है और जानना है कि वे क्यूं और किन परिस्थितियों में यहां बड़े शहरों में आते हैं? मैंने देखा कि ज्यादातर पुरुष हैं जो शुरू में आते हैं, अपने परिवार को संभालने के लिए और कई बार बहुत कम उम्र में। कई बार 12–13 बरस की उम्र से ही उनको घर में भोजन नहीं मिलता और

न कोई काम मिलता है। ऐसे में रोजी–रोटी की तलाश में ये लोग दूर–दूर तक जाते हैं। फुटपाथ पर सोते हैं और रोजी–रोटी कमाने की कोशिश करते हैं और जब नहीं संभल पाता, तो वे फुटपाथ के ही होकर रह जाते हैं और धीरे–धीरे परिवार से भी उनका रिश्ता टूटने लगता है। प्रायः महिलाएं जो फुटपाथ पर सोती हैं, वे ज्यादातर इस कारण से सोती हैं कि वे बहुत ज्यादा हिंसा या घरेलू हिंसा की शिकार होती हैं। इसलिए इन सबसे बचने के लिए वे फुटपाथ पर सोती हैं। हमने पहले जब शेल्टर खोला था तो महिलाओं से पूछा था कि आपकी जिन्दगी में सबसे ज्यादा क्या बदला है तो उन्होंने बताया कि 17 साल बाद जब मैं रात को आंखें बंद करती हूं तो पहली बार मुझे विश्वास है कि सुबह तक कोई मेरा बलात्कार नहीं करेगा। तो वह क्या जिंदगी होगी, ये हम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। हम यहां बैठे तीनों पुरुष हैं, हम ये कल्पना भी नहीं कर सकते कि वह क्या जिंदगी होगी? और आदमी भी गर्मियों में, बरसात में, ठंड में किस तरह से वो लोग ऐसी जगह जहां न शौच की कोई जगह हो, न खाना बनाने की कोई जगह हो, जिस स्थिति में जिन्दगी काटते हैं। इसकी कल्पना करना भी मुश्किल है। इस कारण से 2010 में जब सर्दियों में कुछ बेघर लोगों के मरने की खबर जब छपी तो मैंने एक पत्र सुप्रीम कोर्ट को लिखा था और सुप्रीम कोर्ट ने इसे एक पिटीशन के तौर पर मानते हुए आदेश दिया कि कम–से–कम शेल्टर हर सरकार को बेघर लोगों को देना चाहिए और उस कारण धीरे–धीरे कुछ शेल्टर देश भर में बने, लेकिन वह भी बहुत सीमित संख्या में। उससे भी ज्यादा मुझे लगता है कि शेल्टर की हमारी अपनी कल्पना क्या है तो जैसे 19वीं शताब्दी में हम इंग्लैण्ड में सुनते थे कि इसे Poor Houses कहते थे। फुटपाथ पर ठंड पड़ती थी तो गरीब लोग मर जाते थे तो इस स्थिति से बचने के लिए एक तरह से जिंदा लाशों को, जिन्दा शरीरों को आपने ठूंस दिया रात भर और सुबह उनको निकाल दिया। मुझे लगता है कि हमें समझना चाहिए कि शेल्टर बेघर व्यक्ति के लिए मंजिल न हो बल्कि नई जिन्दगी की शुरुआत हो और उस नई जिंदगी की शुरुआत में वो फिर से कैसे अपनी टूटी हुई जिन्दगी को समेट सके, इसकी भी समुचित व्यवस्था हो। सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सम्मान, रोजगार, घर–परिवार से उसे धीरे–धीरे कैसे जोड़ा जाए ? यह असंभव नहीं है, लेकिन उस दिशा में हम लोगों को बहुत काम करने की जरूरत है। जो बीमार हैं, मान लीजिए किसी को टीबी हो गई है। ऐसे में वह अस्पताल पहुंच भी जाए तो कुछ समय बाद उसे कहा जाएगा कि अब आप घर जाइये। आपका परिवार आपको संभाले। मेरा न घर है, न परिवार है तो मैं

फुटपाथ पर ही धीरे–धीरे मर जाता हूं। इन लोगों के लिए ऐसी जगह जहां पर वे बीमार होने पर रह सकें, ठीक हो सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। इस तरह की कोशिशें मैंने छोटे स्तर पर करने की, कराने की कोशिश की है, लेकिन यह जिम्मेदारी सरकार की अपने अंतिम व्यक्ति के लिए होनी चाहिए। इस बातचीत को दो बातों के साथ समाप्त करना अच्छा रहेगा। एक जो मैंने बंधुता की बात की। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि बंधुता के बिना हमें लिबर्टी, इक्वलिटी, आजादी और समानता कभी नहीं मिलेगी। यह सब प्राकृतिक तौर पर तभी होगा, जब बंधुता होगी। कहने का मतलब यह कि जब तक मैं उस बच्चे को जो फुटपाथ पर सो रहा है, उसे अपने बच्चे की नजर से नहीं देखूंगा, तब तक बदलाव नहीं होगा, समानता नहीं होगी और वास्तविक आजादी भी नहीं होगी। मुझे लगता कि अपने समाज में सबसे ज्यादा जो हम खो चुके हैं, वह है बंधुता। दूसरा जो गांधी जी ने कहा था कि उस व्यक्ति का चेहरा याद करें कि जो सबसे कमज़ोर, सबसे शोषित है और उस व्यक्ति के लिए जो हम कर रहे हैं, वह कितना सही है। जैसे आज हम स्मार्ट सिटी की बात करते हैं तो उस स्मार्ट सिटी में रहने वाला जो अन्तिम व्यक्ति होगा उसके लिए वह स्मार्ट सिटी है या नहीं? उसका अर्थ गांधी जी ने कहा था कि एक बार आप वह सवाल पूछें जिसको उन्होंने 'तालिस्मान' कहा था। तालिस्मान आप अपने हाथ में रखकर अगर वो सवाल आप पूछें तो आपकी सारी दुविधाएं खत्म हो जाएंगी। मुझे लगता है कि आयोग भी उस तालिस्मान को हाथ में रखे और उस दृष्टि से हमारे विकास की पद्धति का अध्ययन करे और जहां पर नाइंसाफी हो रही है, वहां खुलकर खड़ा रहे। यही आयोग के लिए महत्वपूर्ण है और यही समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिए जरूरी है।

- **प्रश्न : आजकल भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर मर्यादाओं का खुल्लम–खुल्ला उल्लंघन हो रहा है। इस संबंध में आपके क्या विचार हैं?**

उत्तर : देखिए लोकतंत्र में असहमत होने का अधिकार बहुत महत्वपूर्ण है। हमसे कहा जाता है कि अगर आप देश से प्रेम करते हैं तो जो हम कहते हैं वह आप मान लें। मैं समझता हूं कि देश से प्रेम करने वाला व्यक्ति कभी भी उससे सहमत नहीं हो सकता क्योंकि उसको अपने ज़मीर की नजर से देखना है कि क्या सही है और क्या गलत ? मैं तो सरकार में रहते हुए भी मानता था कि एक सरकारी अधिकारी के तौर पर हर सरकारी आदेश का चुपचाप पालन करना मेरा प्राथमिक

कर्तव्य नहीं है। मैं कहता था कि मैं सरकार का नौकर हूं, लेकिन सबसे पहले मैं देश के गरीब लोगों का नौकर हूं, उसके बाद संविधान का नौकर हूं और उसके बाद ही मैं चुनी हुई सरकार का नौकर हूं। सामान्य नागरिक के लिए तो और भी ज्यादा जरूरी है कि प्रजातंत्र के दायरे में रहकर अहिंसात्मक रूप से उसे समाज के हित में विरोध करना चाहिए, जहां भी उसे विरोध करने की जरूरत महसूस हो। वॉल्टेयर फ्रेंच दर्शनशास्त्री थे। उन्होंने कहीं कहा है कि मैं आपसे पूरी तरह से असहमत हूं, लेकिन आपको अपनी बात रखने के हक के लिए मैं अपनी जान भी दे सकता हूं। बहुत सुन्दर बात कही है उन्होंने कि आपकी अभिव्यक्ति के अधिकार के लिए मैं अपनी जान भी देने के लिए तैयार हूं। मुझे लगता है कि एक बहुत ही अजीब सा माहौल हमने अपने देश में बनाया हुआ है कि अगर छात्र किसी यूनिवर्सिटी में कोई बात उठा रहे हैं जो सरकार की नीतियों के खिलाफ हो तो उसे हम देशप्रेम न मानें बल्कि देशद्रोह मानें। अगर नौजवान अपनी बात बुलंदी से रखना चाहता है और वह गलत भी हो तो उसे अपनी बात रखने का अधिकार होना चाहिए। जब मैं कॉलेज में पढ़ता था, तब वहां वामपंथी दौर चल रहा था। कई लोगों ने बाद में अपने विचार बदले जिन्दगी के अलग–अलग मोड़ों पर। वह जिन्दगी का एक ऐसा वक्त होता है जब नौजवान पढ़–लिख रहे होते हैं और वे बहुत साफ नजरों से दुनिया को देखते हैं। ऐसे में उनको हक होना चाहिए अपनी बात रखने का और हम उससे असहमत हों तो बहस करें, तर्क–कुतर्क जवाब दें, लेकिन उसे कभी देशद्रोह नहीं मानना चाहिए। यह उस नौजवान के साथ तो अन्याय है ही, साथ ही समाज के साथ भी अन्याय है क्योंकि मानव समाज को देखें तो प्रायः वह तभी बदला है जब नौजवानों ने उसका नेतृत्व किया है। बदलाव के लिए जब छात्रों ने नेतृत्व किया है तो कई–कई बड़े परिवर्तन किए हैं। उसी तरह से जो शासकीय संगठन हैं उनमें हर किस्म के लोग हैं, अच्छे हैं, बुरे हैं, अच्छे संगठन हैं, बुरे संगठन हैं और ऐसा नहीं कि वे जो कुछ भी बोल रहे हैं, सही ही बोल रहे हैं। लेकिन अगर हम दबाव के कारण से उनकी फंडिंग रोककर, उनके खिलाफ केस करके उनकी आवाज को दबाने की कोशिश करेंगे तो इससे लोकतंत्र ही कमजोर होगा। अभिव्यक्ति का अधिकार अहिंसक और लोकतांत्रिक तौर पर अमल में लाया जाए। असहमति व्यक्त करने का अधिकार लोकतंत्र की रीढ़ की हड्डी है और उस रीढ़ की हड्डी की सुरक्षा करनी बहुत जरूरी है।

❖❖❖❖❖

खण्ड – 8

कहानियाँ एवं कविताएँ

अभिव्यक्ति

प्रेमशीला शुक्ल •

रात भर पूरी नींद लेकर रामप्रीत प्रातः उठा। सूरज अभी आया नहीं था। उसकी पदचाप सुनाई दे रही थी। धरती उसकी अगुवानी के श्रृंगार कर रही थी। कलियाँ खिल रही थीं, पक्षी चहचहा रहे थे, हवा चारों तरफ सुगंध बिखेर रही थी। सब ओर सौन्दर्य ही सौन्दर्य। रामप्रीत का मन आनन्द से भर उठा। कितनी सुन्दर है यह धरती, धरती से दिखाई देने वाला सूरज, चांद और सितारे– सब कितने सुन्दर हैं। रामप्रीत का मन हुआ, वह इस सौन्दर्य को बाँहों में भर ले, अपने ह्रदय में बसा ले। वह कमरे से बाहर निकला। सूरज पल–पल आगे बढ़ता आ रहा था। पूर्वी दिशा कुमकुमी हो उठी थी। रामप्रीत ने नजर दौड़ाई। यहां से वहां तक आंखों को मोह लेने वाला दृश्य।

रामप्रीत की उम्र लगभग 80 वर्ष थी। उसने यह सब पहली, दूसरी या तीसरी बार नहीं, अनगिनत बार देखा था फिर भी उसका जी कभी नहीं भरा। उसे हरदम लगता रहा है कि यह सब किसी अदृश्य का दृश्य हो जाना है, अव्यक्त का व्यक्त हो जाना है। इस अभिव्यक्ति में कैसा संयम और अनुशासन है– जो, जब, जितना चाहिए वह, तभी और उतना, कैसा उचित अनुपात, कैसा सामंजस्य! तभी तो यह सब चिरनूतन है, सुघड़, सुहाना।

लेकिन रामप्रीत को तो विकृत और बेढंगी चीजें भी अच्छी लगती हैं। लोगों का लड़ना–झगड़ना, बहस–मुसाहिबें, प्रेम–घृणा उसे सब अच्छा लगता है। इन सबसे मिलकर ही तो जिन्दगी बनती है। कहें कि रामप्रीत को इस दुनिया और जिन्दगी से बेइन्तहा प्यार है। यही उसकी लम्बी जिन्दगी का राज भी। वह दूसरे बूढ़े की तरह हर सुबह–शाम पार्क में नहीं बैठता। सुबह उसकी अपने लॉन में प्रकृति के साथ बीतती है, शाम कॉफी हाउस में लोगों की बातें सुनते हुए। जीवन और जगत में पर्याप्त दिलचस्पी रखते हुए वह जिन्दादिल इंसान बनकर अपना सफर तय कर रहा है।

अपनी आदत के मुताबिक रामप्रीत शाम को कॉफी हाउस आया। आज कॉफी हाउस की साज–सज्जा विशेष रूप से की गई थी। रंग और गंध का तो जैसे मेला लगा हो। फूल, परफ्यूम, डियो और वाइन की मिली–जुली गंध ने एक नई गंध पैदा कर दी थी। रामप्रीत को वह गंध अच्छी नहीं लग रही थी, लेकिन ऐसा भी नहीं कि कॉफी हाउस

• प्रसिद्ध कहानीकार एवं लेखिका

में बैठा न जा सके। जनवरी, 2016 का कैलेण्डर अपने पंख फड़फड़ा रहा था। आज पहली तारीख थी। नये साल का जश्न तो रात में ही पूरा हो चुका था। उसका छाड़न रामप्रीत के सामने था। इसमें भी कम दम नहीं था।

रामप्रीत के लिए कॉफी हाउस नया नहीं था। वह बरसों से यहां आता रहा है। यहां आने का उसका खास मकसद लोगों की बातचीत को जानना–सुनना रहा है। वह देखता आया है कि यहां युवा अधिक आते हैं और जितनी मेजें हैं उतनी तरह की बातचीत होती रहती है लेकिन आज हर मेज पर नये साल की मुबारकबाद, नए साल के जश्न की चर्चा हो रही थी।

रामप्रीत पूछना चाहता था कि क्या उन लोगों ने आज की सुबह देखी थी? क्या नया था उसमें? क्या फूलों की सुगन्ध नए तरह की थी या कि उनका रंग नया था? वह कहना चाहता था कि प्रकृति तो चिरनूतन है, यहां तो प्रत्येक दिन नवीनोत्सव मनाया जाता है, जरूरत उसमें सम्मिलित होने की है। इतनी फुर्सत है किसे?

रामप्रीत के सामने की मेज पर एक प्रौढ़ व्यक्ति बैठा हुआ था। रामप्रीत उसे यहां अक्सर देखता था– कभी किसी के साथ, कभी अकेले। आज वह अकेला था और उसके चेहरे से खिन्नता झलक रही थी। शायद वह युवाओं की बातचीत से खुश नहीं था और उन्हें टोकने की हिम्मत जुटाना चाह रहा था पर जुटा नहीं पा रहा था।

इसी पशोपेश में वह अपनी कॉफी लेकर रामप्रीत की मेज पर आ गया। उसे लगा कि यह बूढ़ा उसकी बात से सहमत होगा और युवाओं को टोकने में उसकी मदद करेगा। बैठते ही वह शुरू हो गया– "भाई साहब! हमारी आज की पीढ़ी को क्या हो गया है? क्या वह वैसी ही है जैसी हम इक्कीसवीं सदी में देखना चाहते थे?"

उसकी आवाज में रोष था। स्वाभाविक रूप से आवाज तेज हो गई थी और रामप्रीत की मेज के अलावा आसपास की मेजों तक पहुंच रही थी, पर किसे गरज कि अपनी गोल के अलावा किसी दूसरे की आवाज सुने?

"आप इनसे बहुत दुःखी हैं?"– रामप्रीत ने शांत स्वर में पूछा।

"आप पूछते हैं, मैं दुःखी हूं? मैं इतना–उतना नहीं, बहुत दुःखी हूं, मेरा वश चले तो मैं इन्हें कड़ी–से–कड़ी सजा दूं। एक तो यह विदेशी उत्सव को अपना उत्सव बनाए बैठे हैं, दूसरे इनका इतना फूहड़ तरीका। क्या हमारे यहां पर्व–त्यौहार नहीं मनाए जाते?" ––– प्रौढ़ सज्जन अब आक्रोश में थे। उनकी आवाज तेज होकर सबका ध्यान खींच रही थी।

इस आवाज ने दूसरी मेज पर बैठे एक युवा को रामप्रीत की मेज पर बुला लिया। युवक आकर बैठ गया। उसके चेहरे से भावावेश के संकेत साफ–साफ झलक रहे थे।

उसके हाथ में शराब की बोतल खुलने का इंतजार कर रही थी। प्रौढ़ व्यक्ति अपने रौब में बोलता जा रहा था– "अपने यहां नए साल के उत्सव नहीं है क्या? कश्मीर का नवरेश, सिंध का चेटिचंड, केरल का वीशू, गुजरातियों का वेस्तुबरस, कर्नाटक–आंध्र का युगाड़ी, मध्यप्रदेश का वासंतिक नवरात्र। जाने कितने रूप है हमारे यहाँ नया साल मनाने का।"

युवक को अपनी बात कहने का मौका मिल गया था। वह मुँह से हँसते हुए, आंखें से अंगारे बरसाते हुए मेज पर जोर का मुक्का मारकर बोला– "अच्छा फरमाया आपने। एक नए साल के इतने–इतने नए साल। किसको मनायेंगे? कैसे मनाऐंगे? अरे यहां तो देश में देश है– कोई मध्य प्रदेश तो कोई महाराष्ट्र, तो कोई तमिलनाडु। हुँह, यह भानुमती का कुनबा। कितने कैलेण्डर चलते हैं यहां, आपको पता भी है? सुनिए, कुछ के नाम मैं बताता हूँ – नानकशाही, तिरहुतिया, मैथिल, बनारसी आदि–आदि, आदि–आदि।" युवक भौंड़ी हंसी हंसने लगा।

"अरे महाशय आइये, जश्न में शामिल होइये। डी.जे. पर नाचिए, थिरकिए। आज अन्तरराष्ट्रीय नया साल है। इस ग्लोबल एरा में आप क्या ईसा पूर्व की बातें करने लगे? आप, पोंगा पण्डित!"– युवक कह रहा था।

युवक के अंगों की भाषा पर शब्दों की भाषा हावी थी। शराब की बोतल हवा में नचाते हुए अपनी गोल में शामिल होने चल दिया।

"जनरल डायर की गोली आपकी स्मृति में नहीं है बच्चू! पूछते अपने पुरखों से। सीधे–सादे लोगों पर गोलियां बरसा दी गई। यह तुम नहीं, अभिव्यक्ति का अधिकार बोल रहा है। क्या सोचकर हमारे महापुरुषों ने अधिकार दिए और क्या परिणाम पाया।" ———रामप्रीत की मेज पर बैठा व्यक्ति लगभग चिल्लाते हुए बोला।

प्रतिक्रिया में वह युवा वापस आने के लिए उठा। दोनों तीव्र आवेश में थे।

यह सब कुछ रामप्रीत के पास ही घटित हुआ, उसकी आंखों के सामने। वह इस घटना का साक्षी था। वैसे तो रामप्रीत सर्वग्राही व्यक्ति था किन्तु इस दृश्य के साथ वह ऐसा नहीं कर सका। मामला गंभीर होता जा रहा था। आसपास के लोग इसके बारे में चर्चा करने लगे थे। कॉफी हाउस दो पक्षों में बंट गया था। वह कुछ बोलता इससे पहले ही युवक को उसके एक साथी ने बांह पकड़ कर बैठा लिया।

"अरे यार, क्यों मूड खराब कर रहा है? उनकी उम्र का लिहाज कर। बड़े हैं, उनके मुंह लगना ठीक नहीं।" ———साथी ने कहा।

"चलो पटाक्षेप हुआ।" ——रामप्रीत ने सोचा और घर आने के लिए चल पड़ा।

पर पटाक्षेप हुआ नहीं, बल्कि नाटक तो अब शुरू होने वाला था।

बरसों पहले रामप्रीत ने अपनी माँ से एक कहानी सुनी थी। उस समय रामप्रीत की उम्र 7–8 साल रही होगी। माँ द्वारा कही गई ढेर सारी कहानियों में एक कहानी वह भी थी। माँ ने अन्य कहानियों की तरह उस कहानी को सुनाकर कहा था– "कथा गई वन में, सोचो अपने मन में।"

तब रामप्रीत को इस वाक्य का बोध नहीं हुआ था। अब हो रहा था। कहानी सच में उसकी स्मृतियों के वन में चली गई थी। आज जब उसने सोचा, कहानी उस वन से वापस आकर खड़ी थी। रामप्रीत सुन रहा था। रामप्रीत सोच रहा था, समझ रहा था। यह नाटक नहीं तो और क्या था? रामप्रीत बच्चा हो गया था। रामप्रीत बूढ़ा था।

माँ ने कहा था– एक चिड़िया थी। उसके पास चने की दाल का एक टुकड़ा था। वह उस टुकड़े को लेकर राजा के महल पर बैठ गई और कहने लगी – राजा के पास थोड़ा धन, मेरे पास बहुत धन, राजा के पास थोड़ा धन, धन, थोड़ा धन।

कहानी कह रही थी ––"दाल के एक टुकड़े से चिड़िया संतुष्ट थी। वह दूसरों की मदद के लिए सदैव तैयार रहती थी। राजा अपने बड़े राज–पाट से भी संतुष्ट नहीं था। हरदम राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए लड़ाइयाँ करता रहता था। वह अत्यंत असंवेदनशील था, सर्वथा दरिद्र था। अतः राजा के पास थोड़ा धन–मन का, आत्मविस्तार का"।

माँ ने कहा था –– "राजा ने चिड़िया की बात सुनी। वह आग–बबूला हो गया। चिड़िया की ऐसी हिम्मत? उसने सिपाहियों को हुकुम दिया ––चिड़िया की दाल छीन लो।

सिपाहियों ने आज्ञा का पालन किया"।

अब चिड़िया ने कहना शुरू किया – "दरिद्र राजा ने मेरी दाल छीन ली, छीन ली।"

दरिद्र राजा ने प्रमाणित कर दिया, वह वस्तुतः दरिद्र था।

चिड़िया की बात सुनकर राजा आपे से बाहर हो गया। उसने कहा– "चिड़िया को पकड़ लाओ, उसके पंख नोंच दो"। ऐसा ही हुआ।

चिड़िया हंसती रही, वह कहती रही– "मेरी हजामत बन रही है, मैं सुन्दर बन रही हूँ।"

अब राजा की आज्ञा से उसे धोया गया, पकाया गया।

चिड़िया के लिए यह स्नान था, पककर पक्का होना था।

पकी हुई चिड़िया राजा के सामने पेश की गई। राजा बहुत खुश था। उसने बोलने वाले की आवाज सदा के लिए बन्द कर दी थी।

अब वह उसके लिए भोज्य पदार्थ के रूप में थी। राजा ने उसे प्रसन्नता से खाया और निश्चिंत होकर रात भर सोया। बीते कई दिनों से चिड़िया के बवाल के कारण वह पूरी नींद सो नहीं सका था।

दूसरी सुबह वह नित्यक्रिया से निवृत होने के लिए शौचालय गया। उसके निवृत होते ही चिड़िया 'राजा की गन्दी राह हमने देखी, हमने देखी, हमने देखी' कहते फुर्र से उड़ गई।

हवा में उसकी आवाज गूंजती रही।

माँ के इतना कहते ही बालक रामप्रीत ने हैरान होकर पूछा – "मरी हुई चिड़िया जिन्दा हो गई, ऐसा कैसे माँ?"

तब माँ ने कहा था – "कथा गई वन में सोचो अपने मन में।"

रामप्रीत सोने लगा – ऐसा कैसे हुआ? बहुत सोचने पर भी जब उसे कुछ समझ में नहीं आया तो वह बार–बार माँ से पूछने लगा। माँ झल्ला गई। उसने आजिज आकर कहा – "कहानियों में सब होता है, कुछ भी होता है। उसका कोई कारण–निवारण नहीं होता"।

"तुम मुझे बच्चा समझ कर बताना नहीं चाह रही हो"। –– रामप्रीत ने दुःखी होकर कहा और सोचते–सोचते सो गया।

आज कहानी ने स्वयं कारण–निवारण के रहस्य को खोल दिया।

कहानी ने बताया कि राजा ने चिड़िया को आज्ञा दी लेकिन चिड़िया के लिए वह आत्मयज्ञ था। इसलिए चिड़िया को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। इस यज्ञ में उसने अपनी वाणी पर आत्मबलि दी और वाणी से पुनर्जन्म प्राप्त किया। तभी चिड़िया अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकी।

कहानी ने आगे कहा– "शास्त्र के अनुसार यह चित्त के शोधन की प्रक्रिया है, तपस्या का मार्ग है, विवेक के जागरण का कारण है। आधुनिक मानविकी की भाषा में यह सम्पूर्ण को आत्मसात कर लेने का मार्ग है –– चाहे वह पदार्थ हो या प्रक्रिया, व्यक्ति हो या व्यवस्था – बिना सम्पूर्ण को आत्मसात किए स्वयं को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है तो वह अभिव्यक्ति एकांकी होगी, अधूरी होगी, विवेकरहित होगी। न वह सत्य होगी, न सुन्दर, न ही शिव।"

प्रकृति के सौंदर्य का आधार आत्मानुशासन है– रामप्रीत समझ पाया।

कहानी ने स्वयं को संदर्भित करते हुए महान सत्य को उद्घाटित कर दिया था। रामप्रीत के लिए समझना शेष नहीं था कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश निरंकुश तंत्र ही लगा सकता है। स्वस्थ तंत्र अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हिमायती होता है किन्तु

इसका सदुपयोग करने के लिए व्यक्ति और समाज में विवेक और तपस्या का बल चाहिए।

रामप्रीत के सामने कॉफी हाउस की घटना प्रत्यक्ष हो उठी। यदि उस प्रौढ़ व्यक्ति में सामयिक समाज की परिपक्व समझ होती, युवा व्यक्ति को अपनी संस्कृति एवं समाज का सम्यक् बोध होता तो वातावरण गरम होने से बच सकता था।

रामप्रीत को ये संभावनाएं उस युवक के साधें में दिखीं। दूसरे दिन की शाम रामप्रीत फिर कॉफी हाउस में था। उसकी निगाहें किसी को तलाश कर रही थीं।

❖❖❖❖❖

शंख–ध्वनि

उषा यादव•

सचमुच बहुत स्वप्नदर्शी है नव्या।

वह मलयानिल संग उड़ना चाहती है।

वह सागर की लहरों पर तैरना चाहती है।

वह चांदनी को भर अंजुरी पीना चाहती है।

और..... और वह अपने भीतर उमड़ते–घुमड़ते भावों को किसी भी माध्यम से रूपाकार देना चाहती है।

पहले उसने रंग और ब्रश उठाया। कैनवास पर रेखाएं खींचकर और रंग भरकर मानव के शैशव, यौवन और वार्धक्य को जीवंत किया। प्रेमियों के प्रणय और विरह– राग को समूर्त किया। मन की अधूरी आकांक्षाओं और खंडित स्वप्नों को संपूर्णता दी। पर खुद को अभिव्यक्त करके भी उसे खुशी नहीं मिली। जब तक आपकी कला को चार लोग सराहें नहीं, तब तक निपट निर्जन वन–प्रांत में वंशीवादन का औचित्य क्या?

नव्या समझदार थी। उसने अपने चित्रों की प्रदर्शनी करने की बात सोची। पर लाख हाथ–पांव मारने के बाद भी विफल रही। आखिर एक औरत थी न! पति प्रकाश ने इस क्षेत्र में सहयोग देने से दो–टूक इनकार कर दिया। उनकी समझ में नहीं आता था कि इस तरह कैनवास पर रेखाएं और आकृतियां उकेरने का फायदा क्या है ? जब वह एक मल्टीनेशनल कंपनी में मैनेजर पद पर कार्यरत हैं, पूरे सवा करोड़ का पैकेज है, तो उनकी पत्नी किस अभाव के दंश से तिल–तिल कर तड़पती हुई कला के संसार में पहुंचकर संतुष्टि पाना चाहती है। अरे भाई, इतने मॉल्स हैं, दुकानें हैं, शोरूम हैं, कहीं भी जाओ और मनचाहा सामान खरीद लाओ। कोई साड़ी, कोई जेवर, कोई सौंदर्य–प्रसाधन, क्या अप्राप्य है तुम्हारे लिए ? किसी मल्टीप्लैक्स में नई फिल्म लगते ही पहले दिन का पहला शो देखकर गुमान से भरने में किसी ने रोका है तुम्हें ? पर वैभव की बहती गंगा को छोड़कर, तट पर तपस्विनी की भांति धूनी रमाने की चाहत है जिसे, उसके लिए क्या कहा जाये ?

सचमुच न तो पति ही पत्नी को समझ सके और न पत्नी ही पति को समझा सकी। नव्या को जलपरी की तरह तैरने के लिए अगाध पारावार चाहिए था, उसे भला पोखर के बंधे जल में निमज्जन करना कैसे और कब तक भाता ?

• प्रसिद्ध कहानीकार एवं लेखिका, आगरा।

प्रकाश जब–जब साड़ी–जेवर खरीदवाने की बात कहकर अपनी प्रिया को खुश करना चाहते, नव्या मुंह लटका लेती, "यदि कुछ करना ही है मेरे लिए, तो किसी आर्ट गैलरी में चित्रों की प्रदर्शनी करवा दो। मैं खुश हो जाऊंगी।"

सवा करोड़ का पैकेज पाने वाले प्रकाश के लिए यह दुनिया अनपहचानी थी। वह इसमें पांव धरने का साहस कदाचित् जुटा भी लेते, यदि उनके पास समय होता। पर एक प्रतिष्ठित मल्टीनेशनल कंपनी के मैनेजर से समय की उम्मीद करना बेकार था। उधर पारिवारिक जिम्मेदारियों के चलते संकोचशील नव्या कभी इतना मनोबल और खाली समय नहीं बटोर पाई कि अकेले दम पर आर्ट गैलरियों की धूल छानती। नतीजा यह हुआ कि उसकी पेंटिंग्स धूल खाने लगीं और थक–हार कर उसने उन्हें टांड़ पर धर दिया।

फिर उसने कलम उठाई।

उसे लगा, इस क्षेत्र में भी वह अच्छा काम करेगी।

माँ के शब्द याद आये, 'कविता लिखने का शौक मुझे भी था, नून–तेल–लकड़ी की चिंता में सब स्वाहा हो गया।'

उसने हिम्मत संजोई, माँ जैसी मूर्खता वह नहीं करेगी। पारिवारिक समस्याओं के चलते आर्ट गैलरियों के चक्कर भले ही न लगा सकी हो, पत्र–पत्रिकाओं में रचनाएं तो छपने के लिए भेज ही सकती है।

पहले कुछ छोटी कविताएं, फिर कुछ कहानियां लिखकर वह पति के पास पहुंची, 'जरा पढ़कर देखना, इनमें कुछ दम है भी या नहीं ?'

प्रकाश ने कंधे उचका दिये, 'इस मामले में मुझे काला अक्षर भैंस बराबर समझो। साहित्य का 'क, ख, ग' भी नहीं जानता हूं। राय क्या खाक दूंगा!'

बारह बरस की अन्विता और दस की अर्चिता से कुछ पूछने या सलाह लेने का सवाल ही नहीं उठता था, इसलिए एक बार फिर उदास हो गई नव्या।

दो–चार दिन बाद तनिक सुस्थिर होने पर उसने सोचा, चिंता क्या है ? सीधे किसी पत्रिका में रचना भेजनी चाहिए। छप गई तो पौ बारह, वरना अपना क्या जायेगा!

रचना भेजी, जवाब नदारद।

अगली जगह वापसी के लिए टिकट लगा लिफाफा भी भेजा, प्रतिक्रिया नहीं मिली।

तीसरी जगह रचना भेजी, तो संपादक का पत्र आया, 'यदि आप हमारी पत्रिका के लिए तीन वर्ष का सदस्यता शुल्क भेज सकेंगी, तो आपकी कहानी छापकर हमें प्रसन्नता होगी।'

चिट्ठी पढ़कर नव्या का सिर घूम गया।

कितनी बदल गई है साहित्य की दुनिया! बाजार का क्रय–विक्रय वाला फार्मूला क्या यहां भी घुस आया है ? पहले लेखक को पत्र–पुष्प भेंट करने का रिवाज था, अब रचना छपवाने के लिए खुद पैसा खर्चना पड़ेगा। न, यह तौर–तरीका उसके लेखकीय स्वाभिमान का हनन है। इसे वह नहीं स्वीकारेगी।

बस, रचनाएं भेजने का सिलसिला भी थम गया।

बोझिल मनःस्थिति से बचने के लिए नव्या ने बच्चों के साथ बैठकर कम्प्यूटर सीख लिया। पैसे की कमी थी नहीं, महंगा मोबाइल, लैपटॉप, कम्प्यूटर और टेबलेट उसके समय काटने के साथी बने। कुछ दिन 'गेम्स' के जादुई सम्मोहन में बंधी रही। फिर महसूस हुआ, इससे उपलब्धि कुछ नहीं होती, सिर्फ बौद्धिक विपन्नता हाथ लगती है। चूंकि रास्ते और भी थे, इसलिए अपना ब्लॉग बनाकर उस पर छुटपुट कविताएं डालने लगी। लोगों की उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया मिली, तो एक कहानी भी टाइप कर दी। तारीफ पहले से सवाई मिली, तो इस आकस्मिक यश–लाभ पर वह पुलक उठी, ओह! वह जान भी नहीं सकी और साहित्यकार बन गई!

नव्या के लिए अब दिन सोने के थे और रातें चांदी की। वह हवा में उड़ने लगी। जिस अभिव्यक्ति के लिए उसके मन–प्राण बरसों से व्याकुल थे, वह उसे घर बैठे सुलभ हो गई थी। इससे ज्यादा उसे क्या चाहिए था ? जो खुला आसमान उसकी माँ–दादी ने घर की चहारदीवारी और दमघोंट अंधेरों से टकराते हुए कभी देखा तक नहीं, वह उसमें मुक्त परिन्दे की तरह उड़ानें भर रही थी। आत्ममुग्धता के इस दौर में वह खुद को स्वरचित साम्राज्य की साम्राज्ञी समझने लगी। उसे न बच्चियों की कक्षा में आये–दिन जमा किये जाने वाले 'प्रोजेक्ट्स' से मतलब रहा था, न पति की व्यस्तता से कोई परेशानी थी। अपने छोटे–से कम्प्यूटर के जरिये समूचे विश्व से जुड़ जाने का उछाह छोटा न था। अपने ब्लॉग पर वह रोज कुछ–न–कुछ पोस्ट करती। जिन्हें उसकी रचनाओं का चस्का लग गया था, वे रुचिपूर्वक पढ़ते और सराहते। अपनी इस मनोनुकूल दुनिया को बसाकर बहुत खुश थी वह।

पति और बच्चे उसके इस बदलाव पर चकित थे। प्रकाश का पहला शक गया, कहीं कोई नया 'दोस्त' तो नहीं बना लिया मैडम ने! पर लगातार कई दिन ताका–झांकी और जासूसी करके भी जब कोई संदिग्ध बात न मिली, तो वह समझ गये कि पंछी ने बंद पिंजरे में रहने की अपनी तकदीर से समझौता कर लिया है। पत्नी दिन में कभी घर से निकलती तक नहीं है और न नौकरानी के अलावा कभी कोई उनके घर आता–जाता है, बहाने–बहाने से अपनी बहुमंजिली इमारत के गार्ड से यह जानकारी लेने के बाद वह निश्चिंत हो गये।

बच्चियां भी माँ को खुश देखकर अचम्भित थीं। जो माँ हर वक्त अपनी 'फूटी किस्मत' का रोना रोती रहती थी और 'बंदिनी' कहकर स्वयं को रात–दिन कोसती रहती थी, वह अपने कम्प्यूटर या लैपटॉप में उलझी रहकर बेवजह मुस्कराया करती है, यह उनके लिए चौंकाने वाली बात थी। पर अपनी माँ का अलबेलापन जानती थीं बच्चियां, इसलिए उन्होंने इस ओर ध्यान न दिया।

संतुष्टि भरे दिन निकल रहे थे।

नव्या का लिखने का शौक इतना बढ़ गया था कि आधी रात को भी कोई नया विचार उठने पर वह तुरंत उसे मोबाइल पर लिख डालती थी। उसे लगता था, कागज–कलम का युग शायद खत्म हो गया है।

इसी रौ में एक दिन उसके मन में आया, क्यों न अपने ब्लॉग पर कोई लंबी कहानी डालनी शुरू कर दे। देखेगी, कि उसकी कलम के दीवानों की इस पर क्या प्रतिक्रिया होती है ?

बस, फिर क्या था! मन में विचार आते ही नव्या ने अपनी मां और दादी के घरघुसरे जीवन की घटनाओं को आधार बनाकर एक लंबी कहानी लिखनी शुरू कर दी। रोज नियम से 'अभी और है' के संकेत सहित उसका कुछ अंश ब्लॉग पर डालने लगी। त्वरित और जबरदस्त प्रतिक्रिया मिली। प्रशंसकों ने उसकी इस लंबी रचना को हाथों–हाथ लिया।

तभी एक दिन उसे मायके से सूचना मिली कि अचानक हृदयघात की वजह से माँ आई.सी.यू. में भर्ती हैं। यह सूचना नहीं, जैसे कोई वज्रपात था। वह सारी सुध–बुध बिसराकर मायके पहुंच गई और पूरे दस दिन बाद माँ के खतरे से बाहर आ जाने पर ही वापिस लौटी। चित्त ठिकाने लगा, तो उसने अपने कम्प्यूटर को हाथ लगाया।

पर यह क्या ?

लगातार दस दिन उसके ब्लॉग से बाहर रहने को उसके चाहने वाले बर्दाश्त नहीं कर सके थे। आक्रोशित होकर उन्होंने सारी सीमाएं तोड़ दी थीं। अश्लील फब्तियों और गालियों से उन दिलजलों ने उसे इतना नवाज़ा था कि वह सन्न रह गई। ऐसे अमर्यादित आचरण को पचाना आसान न था। उसने उसी पल अपना ब्लॉग बंद करने का फैसला लिया और दोनों हथेलियों में मुंह छिपाकर फफक उठी।

बहुत हत्प्रभ हो गई थी नव्या।

सिर्फ हत्प्रभ ही नहीं, आहत भी।

उसने अभिव्यक्ति चाही थी, पर इसका यह प्रतिफल भी मिल सकता है, कब जानती थी? अभिव्यक्ति की इस आज़ादी की तो उसे दरकार न थी, जो उसकी

थुक्का–फ़जीहत का सबब बन गई। उसे लगा, लोगों में जब तक धैर्य नहीं है, विवेक नहीं है, संवेदनशीलता नहीं है और मनुष्यता तक नहीं है, तब तक उसके लिए इस तरह अपनी अभिव्यक्ति का भी कोई अर्थ नहीं है। सूचना प्रौद्योगिकी ने हमें विश्व से तो जोड़ दिया, पर अपने भीतर झांकने की क्षमता छीन ली। सिर्फ अहं के ढूह ही तो अब जगह–जगह दिखने लगे हैं। सिर्फ कुंठाओं के विषवृक्ष ही तो जगह–जगह पनपने लगे हैं। काश! उसके प्रशंसकों ने एक बार तो चिंतित होकर पूछा होता कि उसके इस तरह अचानक 'गायब' हो जाने की वजह क्या है ?

आत्माभिव्यक्ति का यह सपना भी तार–तार हो चुका था।

नव्या दिल के भीतर कहीं गहरे में बहुत चोटिल हुई थी। उसे पता तक नहीं चला कि कब दरवाजे की घंटी बजी, किसने द्वार खोला और कौन भीतर घुसा।

वह सिर्फ दोनों हथेलियों में मुंह छिपाये फफकती रही।

तभी कानों में एक धीमी आवाज पड़ी, 'मैडम जी!'

नव्या ने हथेलियां हटाकर देखा, कामवाली बाई श्यामा खड़ी थी। करुण दृष्टि से उसे निहार रही थी। हिचकते हुए ही बोली, 'आप अपनी माँ की बीमारी के सिलसिले में मायके गई थीं। कैसी तबियत है अब मांजी की?'

'माँ ठीक हैं।' नव्या सुस्थिर होती हुई बोली।

'भगवान सबका भला करे।' श्यामा ने दोनों हाथ जोड़कर किसी दिव्य शक्ति को प्रणाम किया और सुकून की सांस लेकर बोली, 'आपको इस तरह रोती देखकर मैं एकबारगी डर गई थी। ऐसे भी कहीं कोई रोता है, मैडमजी ?'

नव्या फीकी हंसी हंस दी, 'तुम सच कहती हो श्यामा। बस, दिल ही तो है। अचानक भारी हो गया था।'

'साहब तो बहुत अच्छे हैं। कभी कुछ कहते नहीं। ऊंची आवाज में बोलते तक नहीं। फिर भी ————————'

नव्या मुस्कराई, 'हां, साहब बहुत अच्छे हैं। उन्होंने मुझे कुछ नहीं कहा। पर उदासी की वजह पति की डांट–फटकार ही तो नहीं होती।'

'मैडमजी की बातें।' श्यामा ने हाथ लहराया, 'पति भला हो, औरत की हड्डी–पसली एक न करता हो, तो समझ लो ब्याहता के लिए घर ही जन्नत है।'

अब नव्या ने दृष्टि भरकर श्यामा की तरफ देखा– बाईं आंख पर सूजन। माथे पर गूमड़। मरियल देह यष्टि। आवाज में गहरी थकान।

वह द्रवित हो उठी, 'तुम्हारा तो हुलिया ही बिगड़ा हुआ है, श्यामा। आखिर बात क्या है?'

श्यामा की आंखें भर आईं, 'आपने आज पहली बार निगाह उठाकर देखा, तो मेरा हुलिया दिखाई दे गया। वरना अपना तो यह रोज का रोना है।'

'तुम्हारे पति ने पीटा है तुम्हें ?'

'कोई नई बात है क्या इसमें ?' श्यामा एक विशादभरी हंसी हंस दी।

'किस बात पर पिटाई की ?'

'दईमारे की सगी भतीजी बस्ती के ही दूसरे धर्म के एक लड़के से दिल लगा बैठी है। कल हत्यारों ने एक साथ मिलकर उसकी इतनी पिटाई की, कि अगर मैं बचाकर अपनी कोठरी में बंद न कर लेती, तो अभागी उसी ठौर दम तोड़ देती।'

'यह तो जुल्म की इंतिहा है। ——— तो क्या उसी को बचाने में तुम इतनी चोट खा गईं?' नव्या ने सिहरकर पूछा।

'मैंने लड़की की तरफदारी करते हुए कह जो दिया था, कि लड़का शरीफ है, जाना–परखा है, लड़की को चाहता है, फिर दोनों की शादी क्यों नहीं कर देते। ——— ———बस, मेरा इतना कहना ही गुनाह हो गया। जालिम ने लात–घूसों से मुझे धुनकर धर दिया। मुझ पर उसे बिगाड़ने का आरोप थोप दिया।'

'इंसाफ की बात कहना तो कोई गुनाह नहीं है।' नव्या का चेहरा विषण्ण हो उठा।

'औरतजात का मुंह खोलना ही गुनाह है, मैडमजी। बचपन से आज तक यही बात सुनती आ रही हूं और यही सच अपनी खुली आंखों से देखती आ रही हूं।'

'औरत को भी मुंह खोलने का पूरा हक है, श्यामा। गूंगी बनकर वह आखिर कब तक पुरुष की ज्यादतियां सहती रहेगी ?' नव्या गंभीर हो उठी।

'बचपन में बाप, जवानी में खाविंद और बुढ़ापे में बेटा ही तो औरत के दिल और दिमाग का मालिक बनकर उससे जुड़े सारे फैसले लेता है। किसी भी उम्र में मुंह खोलने की आजादी न आज तक उसे मिली है और न आगे कभी मिलेगी। एक बार भतीजी के प्यार की तरफदारी करते हुए मैंने मुंह खोला, तो उसका नतीजा आपके सामने है।' श्यामा कसैले कंठ से बोली।

नव्या कुछ पल खामोश रही।

उसके चहरे पर कई रंग आये और गये।

अंततः उसकी चुप्पी टूटी, 'श्यामा, आज से बेजुबान औरतों की आवाज मैं बनूंगी। गूंगी और लाचार औरतों में चेतना जगाऊंगी, बोलने की ताकत उपजाऊंगी और अपनी बात कहने की हिम्मत बंधाऊंगी। तुम्हें मेरी बात पर यकीन तो है न ?'

'जी मैडमजी।' श्यामा का बुझा चेहरा खिल उठा।

नव्या ने पास में रखा हुआ अपना कम्प्यूटर खोला। अपने ब्लॉग को बंद करने से पहले उस पर अंतिम संदेश लिखा – 'मेरी धारावाहिक कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। सिर्फ आज से उसका रूप बदल गया है। अब यह कम्प्यूटर से निकलकर मलिन बस्तियों में पहुंच गई है। दबी–कुचली और गूंगी औरतों की जुबान बनकर गरजने–बरसने को आतुर है। कृपया आगे से कम्प्यूटर पर इसे न तलाशें, क्योंकि जिस अभिव्यक्ति की आजादी को पाने के लिए मैं अभी तक आकुल थी, जिसके लिए आर्ट गैलरी, पत्र–पत्रिकाओं से लेकर संचार साधनों तक का दरवाजा खटखटाती रही, वह मुझे गूंगी औरतों की वाणी बनने के संकल्प में मिल गई है। यकीन है, वह शंख–ध्वनि आप सबके कानों और अधीर–संवेदनहीन हृदयों में भी देर–सवेर जरूर पहुंचेगी।

और अपना कम्प्यूटर बंद करके नव्या उठ खड़ी हुई। उसके चेहरे पर एक गहरी शांति छा गई थी।

❖❖❖❖❖

माँ कहती थी

बजरंगलाल जेठू•

सुनामी लहरों की विनाश लीला के बाद सहायता एजेंसियां इतिहास का सबसे बड़ा राहत अभियान चलाने के लिए जूझ रही थीं। राहतकर्मी नए–नए इलाकों में पहुंचकर लोगों की जान बचाने में लगे हुए थे। बिखरी पड़ी लाशों, सामूहिक अंतिम संस्कार और कराहते घायलों के बीच राहत शिविरों में चिकित्सा, भोजन और राहत सामग्री दी जा रही थी। मातरा में हुए ऐसे ही एक सामूहिक अन्त्येष्टि स्थल पर अपने माँ–बाप की अन्त्येष्टि के समय वे तीनों भाई भी अंतिम बार एक साथ थे। अन्त्येष्टि स्थल से लौटते समय अर्द्ध–मूर्च्छित कदमों से चलते–चलते तीनों किधर गए, किसी को पता नहीं चला। वह भी बदहवास भागता रहा, फिरता रहा और न जाने कैसे किस ट्रेन में चढ़ गया और फिर न जाने क्योंकर एक निर्जन से स्टेशन पर ट्रेन से उतर भी गया। यहां पर उतरने के बाद उसके शरीर ने मानो और भागने से मना कर दिया हो। वह इस स्टेशन के आस–पास मंडराता रहा। सुनामी के बेघर लोगों की जमात का बताने पर खाने को भी मिल जाता। रात को स्टेशन की बेंच पर सो जाता। सुनामी के समाचार अब भी मोटे अक्षरों में अखबारों में छपते थे। उस दिन वह भी इस ढाबे की बेंच पर आंखें गड़ाए सहमा–सहमा खड़े–खड़े समाचार पढ़ रहा था कि ढाबे मालिक ने झिड़क दिया था–परे हट, यह पढ़ने वालों के लिए है, तू क्या देख रहा है इसमें। उसने न जाने क्या सोचकर कहा था–साब, मैं पूरा अखबार पढ़ सकता हूं।

"तो सुना फटाफट देखें। अभी पता चल जायेगा तेरी पढ़ाई का" ढाबा मालिक ने कहा था।

मातरा गांव से बिछुड़ने के बाद उसने पहली बार धाराप्रवाह अखबार पढ़ा था। ढाबा मालिक की चाय उफन गई। वह उसे हक्का–बक्का देखता का देखता ही रह गया।

''अरे बहुत गजब की बात है। कितनी पढ़ाई करिबो।''

''सेवेंथ''

''तो फिर अब फिरत क्यों?''

''.....'' वह बोल नहीं सका बल्कि रुलाई का रैला फूट गया। ढाबा मालिक ने उसे बैठा दिया। उसकी रुलाई चलती रही। ढाबा मालिक ग्राहकों से निपटता रहा।

• प्रधानाचार्य, आदर्श राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, ग्रामसुनारी, जिला नागौर, (राजस्थान)

काम निपटाकर ढाबा मालिक उसकी तरफ मुखातिब हुआ था। अंत में अपने ढाबे पर काम करने हेतु रख लिया। मातरा गांव का होनहार बालकृष्ण अब पढ़िया बन गया। ढाबा मालिक के यहां दिन भर काम। ट्रेन के समय कुछ ज्यादा काम। खाने को मिल जाता। चाय भी मिल जाती। अखबार भी पढ़ने को मिल जाता।

रात की आखिरी ट्रेन जा चुकी थी। ढाबे के पश्चिमी छोर पर पड़ी बेचों पर बैठकर देर तक गपशप करने वाले चार दोस्तों की चौकड़ी भी उठकर रवाना हो गई। पढ़िया का इंतजार भी खत्म हुआ। चौकड़ी की बेंच के कप उठाने के बाद वह भी सो सकेगा। ढाबा मालिक तो सो चुका है। पढ़िया ने बेंच से कप उठाया। उसके पैर से कुछ टकराया। देखा! बेंच के नीचे कागजों का एक पुलिंदा है। पढ़िया के समझ में आ गया कि गपशप करने वाली चौकड़ी के दाढ़ी वाले अंकल का ही है यह पुलिंदा। ढाबे के सारे बर्तन साफ कर पढ़िया ने वह पुलिंदा ठीक जगह रखने के लिए हाथ में लिया। अनायास ही उसकी नजर पुलिंदे की लिखावट पर चली गई—मानव अधिकार। पढ़िया का मन वश में नहीं रहा। उसने तय किया—वह इस पुलिंदे को पढ़ेगा। मानव अधिकार पर कुछ बातें स्कूल में सुनी थी। उसने पुलिंदे को बगल में दबाया। अपनी दरी व रजाई ली। स्टेशन की एक बेंच के पास रजाई में दुबककर पुलिंदे को खोला। उसने देखा घसीटी लिखावट में बड़ा—सा निबंध लगता है।

पढ़ना शुरू कर दिया। पढ़ते—पढ़ते पढ़िया को लगा उसकी रजाई कोई खींच रहा है। उसने नजर उठाकर देखा—एक कुत्ता उसकी रजाई पर आ बैठा है। पढ़िया उसे देख मुस्कुराया और फिर आगे पढ़ना शुरू कर दिया। पढ़िया को पढ़ने का आनन्द आ रहा था। नींद कोसों दूर थी। चिथड़ेनुमा रजाई में दुबका पढ़िया पेट के बल लेटकर दोनों हाथों की हथेलियों पर ठोड़ी टिकाए पढ़ने में लीन था। उसे पता ही नहीं चला कि कब दाढ़ी वाले अंकल घर से वापस लौटे हैं और उसके मालिक को साथ लेकर उसे ढूंढते हुए यहां पहुंच चुके हैं। उसे नहीं मालूम कि दाढ़ी वाले अंकल ने उसके मालिक को अंगुली के इशारे से चुप रहने का कह रखा है। उसने पन्ना पलटने के लिए हाथ हिलाए तो नजर थोड़ी फिसली। पास सोए कुत्ते को देखने के लिए नजर उठाई। हटात् दो आकृतियां पास खड़ी थीं।

"पढ़िया क्या पढ़ रहे हो?" उसके मालिक की आवाज थी।

"मैं....."

"कोई बात नहीं, पढ़ो, सुबह मुझे दे देना।" यह दाढ़ी वाले अंकल की आवाज थी।

"लेकिन खान साहब———" उसका मालिक बोलने वाला था पर बीच में ही दाढ़ी वाले अंकल बोल उठे—"बच्चे की इच्छा है पढ़वालजी, चलो चलें।"

पढ़िया उठ बैठा था। दोनों के चले जाने पर धीरे–धीरे फिर पढ़ने लग गया। पूरा पुलिंदा पढ़ने के बाद उसे सिरहाने रख लिया पर इस डर से नींद नहीं आई कि मालिक सुबह क्या गत करेगा। उसकी आशंका निर्मूल हुई। पढ़वाल ने उसे इतना ही कहा–"पढ़िया, खान साहब के कागजों को उस अलमारी में रख दे। तुम कुछ समझे क्या? इनकी पढाई से।"

"जी हां! बड़ी अच्छी बातें थीं निबंध में। मैंने कागज आलमारी में रख दिए हैं। अब कभी नहीं करुंगा ऐसा।" पढ़िया डरते–डरते बोला।

कामतापुर के उस छोटे से स्टेशन पर दिन भर लोग आते–जाते रहे। पढ़वाल ढाबे पर भी दिन सरकता गया। दिन भर आज चटख धूप थी। सांय सर्दी कम थी। ढाबे की पश्चिमी बेंच पर आखिर में झोला उठाए खान साहब आ गए। पढ़िया दौड़कर पैर पड़ गया।

"मुझे माफ कीजिए। आइन्दा नहीं पढूंगा आपके कागज।" पढ़िया सुबकते–सुबकते बोला।

खान साहब के तीनों साथी अचरज में भर गए। खान साहब ने पढ़िया के सिर पर एक हलकी–सी चपत लगाई और बोले–"अरे पढ़िया कोई बात नहीं। कागज वापस तो लाओ। कॉफी भी पिलाओ। उठो। मुआफ किया।"

पढ़िया ढाबे की भट्टी की तरफ मुड़ गया। पढ़वाल ने कागजों का पुलिंदा खान साहब के सामने ला रखा। पढ़िया काफी के प्याले रखकर मुड़ा ही था कि खान साहब ने रोक लिया। कंधे पर हाथ लगाकर पूछा–''क्या समझ में आया रे पढ़िया मेरे उन कागजों में ?''

''मानव अधिकार की बातें हैं इसमें सर। भाषा थोड़ी कठिन है। बालकों के बारे में कुछ भी नहीं था इसमें।'' पढ़िया की बात सुनकर खान साहब के साथी रमजान और ईवान्स चौंक गए।

खान साहब के तीनों साथी जाते हुए पढ़िया को देख रहे थे। खान साहब ने बताया कि इस बालक ने रात भर में मेरे इस पूरे पुलिंदे को पढ़ लिया है। सुनामी का मारा, बेघर व बेसहारा बच्चा है। कहता है सेवेंथ में पढ़ रहा था कि बेघर हो गया।

''फिलॉसफर साहब थोड़े सावधान रहना, ऐसे बच्चे विश्वास में लेकर बड़ा गच्चा दे जाते हैं।'' सारथी ने कॉफी का घूंट भरते हुए कहा।

खान साहब गम्भीर बने रहे। कॉफी का घूंट पीते हुए बोले, "हम यह क्यों भूल जाते हैं मेरे दोस्तों कि बच्चे ईश्वरीय दूत माने जाते हैं जो इस संसार के लिए भगवान का संदेश लेकर पहुंचते हैं। सभी समाज बच्चे को मानव की अमूल्य धरोहर मानते रहे हैं।

समाज में यह भी स्वीकृत है कि बच्चे ही भावी कल के कर्णधार हैं। बच्चों का महत्व इस स्वीकारोक्ति में भी है कि ये ही किसी राष्ट्र की पूंजी हैं। देश का भविष्य बच्चों के सर्वांगीण विकास पर ही निर्भर करता है। चूंकि बच्चे समाज के सबसे दुर्बल व कोमल हिस्से हैं, उस नन्हीं बेल के समान हैं जिसे फलन–फूलने हेतु न सिर्फ जल, हवा व उर्वरक जमीन चाहिए वरन् सही दिशा में बढ़ने के लिए मजबूत सहारा भी चाहिए ताकि बेल हरी–भरी रहने के साथ–साथ फलदार भी हो सकें।"

"समाज का यह कर्तव्य है कि बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए स्वस्थ वातावरण सुनिश्चित करे। किन्तु सर्वांगीण विकास के लिए दिए जाने वाले वातावरण के मामले में हम बहुत पीछे हैं। पिछली सदी तक बच्चों को पृथक रुचियों और दृष्टिकोणों वाली पृथक सत्ता नहीं माना जाता था। बच्चों के कोई अधिकार नहीं थे बल्कि उन्हें सम्पत्ति की तरह व्यवहृत किया जाता था। बच्चों को परिवार का सदस्य माना जाता था न कि समाज का सदस्य। बच्चे अपने माता–पिता के स्तर व जीवन अनुसार ही अपना जीवन व स्तर बिताते थे। कुल मिलाकर मानव के रूप में प्रतिस्थापित इस देव–प्रतिमा बालक के अधिकार न के बराबर रहे हैं। इंग्लैण्ड की इंग्लेंटाइन जेब पहली महिला थी, जिसने बच्चों को उनकी उचित स्थिति दिलवाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय प्रयास प्रारम्भ किए थे। यद्यपि अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने श्रम संबंधित कई संरक्षण कदम उठाए तथापि इंग्लेंटाइन जेब द्वारा शुरू किए गए अभियान का ही यह परिणाम रहा कि 1925 में राष्ट्र संघ ने घोषणा–पत्र स्वीकार किया। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की बाल अधिकार घोषणा (1959) और बाल अधिकार अभिसमय (1989) समेत कई व्यावहारिक उपकरण बाल अधिकारों के लिए उपलब्ध हुए हैं।''

खान साहब की बात और आगे चलती परन्तु पढ़वाल ढाबे का समय हो गया। पढ़िया चौकड़ी के सदस्यों के लिए कॉफी की आखिरी खेप रखने आ गया।

''आज रात को क्या पढ़ोगे पढ़िया ?'' खान ने पूछा।

''कुछ भी नहीं।''

''तो फिर कल का पढ़ा हुआ भूल जाओगे।''

''नहीं सर मैं खास–खास बातें लिखता रहता हूं। अखबारों में से उतार लेता हूं।''

''तो फिर कल एक लेख हमें लिखकर दिखाओ।''

''पर.....''

''पर.....क्या ? यह लो कागज।'' खान साहब ने कुछ खाली कागज पढ़िया को दिए और चारों साथी उठ खड़े हुए।

****

उस दिन अचानक पढ़िया की नजर अखबार के एक कॉलम पर टिक गई। इस कॉलम में अन्तरराष्ट्रीय मानव अधिकार दिवस के उपलक्ष में होने वाली एक भाषण प्रतियोगिता का समाचार था। कामतापुर के पास वाले कस्बे में थी। समय दोपहर दो बजे से चार बजे तक का था। खुली प्रतियोगिता थी। दोपहर में एक बजे से चार बजे तक उसकी छुट्टी रहती है। कल ही 10 दिसम्बर है। पढ़िया ने एक बजे की ट्रेन से कस्बे कलमपुरम् जाने का तय कर लिया। कोठरी में पड़े रहकर क्या करना। वापसी ट्रेन भी चार बजे से पहले है। पढ़िया ने खान अंकल को दिखाने के लिए तैयार किए लेख को उस रात दो–तीन बार फिर पढ़ लिया। अगले दिन दोपहर की छुट्टी में कोठरी में आराम करने के बजाय पढ़िया एक बजे की ट्रेन में सवार हो गया। प्रतियोगिता स्थल कलमपुरम् स्टेशन के बिल्कुल नजदीक ही था। विद्यालयी पोशाक में विद्यार्थी बैठे थे। हम उम्र के इस सैलाब को देखकर पढ़िया की आंखों में एकबारगी तो आंसू छलक आये। जी करने लगा इनके बीच जाकर बैठ जाऊं। दूसरे ही क्षण इस सैलाब में अपने दोनों भाइयों के चेहरे तलाशने लगा फिर इतने सारे चेहरों में वह उन दो चेहरों के न होने का अहसास पलक भर में कर गया। धीरे से जाकर नाम दर्ज कराया। कोड नं. मिला–सात। उसने सोचा 5–5 मिनट समय मिलेगा। जल्दी ही फारिग हो ट्रेन पकड़ लेगा और पढ़वाल ढाबे पर समय पर पहुंच जायेगा। प्रतियोगियों में उसे देखकर कानाफूसी होने लग गई। शायद उसके कपड़े देखकर या फिर उसकी कोई स्कूल यूनीफॉर्म नहीं होने को देखकर। प्रतियोगिता शुरू हुई। हर प्रतियोगी के भाषण की पूरी वीडियोग्राफी हो रही थी। माइक स्टेण्ड अध्यक्ष की कुर्सी के बिल्कुल पास था। पढ़िया को लगा जिला कलक्टर के पास खड़े होकर बोल पायेगा कि नहीं। आखिर उसके विचार अखबारों से लिए गये हैं। इनको कोई सुनेगा भी कि नहीं।

''कोड नं. सात'' की आवाज के साथ पढ़िया खड़ा हुआ। रेल्वे स्टेशन की रात की निर्जनता से निडर बना आदमी जन–सैलाब से क्या घबराता। पूर्व विद्यालय के अध्यापकों के संस्कारों की बदौलत मस्त हाथी की सी चाल से चलता वह निपट अकेला बालक माइक स्टेण्ड की तरफ बढ़ा तो पूर्व वक्ताओं के पक्ष में उनके साथियों द्वारा बजाई गई वैसी तालियां तो नहीं बजीं बल्कि दर्शकों में फुसफुसाहट और कई जगह हंसी के फव्वारे जरूर छलके।

पढ़िया ने अध्यक्ष, मुख्य अतिथि, निर्णायकों व दर्शकों को संबोधित करते हुए अपनी बात शुरू की–

"मेरे पूर्व वक्ताओं ने मानव अधिकारों पर अपने विद्वतापूर्ण विचार रखे हैं। मानव अधिकारों के बारे में जानकारी देने के इनके प्रयासों के लिए मैं इन्हें बधाई देता हूं और

आशा करता हूं कि वे इस प्रतियोगिता में भी श्रेष्ठ सिद्ध होंगे।" पढ़िया के इन शब्दों के साथ ही मंच पर बतियाते अतिथि ही नहीं बल्कि श्रोताओं में नीरवता छा गई।

पढ़िया ने अपनी बात को आगे बढ़ाया–"मैं यहां यह बताना चाहूंगा कि क्योंकर हम मानव अधिकारों को आप सबके नजरे इनायत करना चाहते हैं।" इसके बाद उसने मानव अधिकारों की वैश्विकता, अन्तर्निहितता, असंक्राम्यता व अविभाज्यता को इंगित करते हुए इनकी पवित्रता, सकारात्मकता, मानवतावादिता, प्रगतिशीलता, लोक–कल्याणोन्मुखता आदि पर ऐसा समां बांधा कि मंत्रमुग्ध मंच और अवाक स्रोता पढ़िया के लहजे और गम्भीर वाणी से अभीभूत हो, तालियों का रमझोला मचाना शुरू कर चुके थे। पर पढ़िया निर्धारित समय में अपनी बात पूरी करने के लिए सधे शब्दों में बोलता रहा। मानव अधिकारों की विशिष्टताओं के रूप में अपने भाषण का समापन पढ़िया को तालियों की घनघोर आवाज के बीच करना पड़ा। वह बिल्कुल सधे कदमों से वापस अपने स्थान पर आ गया। प्रतियोगिता जारी रही पर दसवें प्रतियोगी के आते–आते पढ़िया चुपके से प्रतियोगिता स्थल से निकल सीधा स्टेशन पहुंच गया। अगले दिन के अखबारों में पढ़िया के फोटो के साथ उसके प्रतियोगिता में प्रथम रहने का समाचार छपा। अखबार की खबर पढ़वाल ढाबे पर पहुंचने के साथ ही खान साहब भी पढ़वाल ढाबे पर पहुंच गए। पढ़िया ग्राहकों को चाय पकड़ा रहा था और पढ़वाल गल्ला संभाल रहा था।

''पढ़िया! तुम परिणाम घोषित होने के समय अचानक गायब क्यों हुए?'' खान साहब पढ़वाल के सामने पढ़िया का फोटो करते हुए बड़े जोर से बोले।

पढ़िया समझ गया कि खान साहब जरूर कल समारोह में मौजूद थे। वह कुछ नहीं बोला। पढ़वाल मुंह फाड़ता–सा रह गया। अचानक वह उठा। उसने पढ़िया को गोदी में उठाया और अपनी वाली कुर्सी पर बिठा दिया और बोला, "पढ़िया तुम ढाबे के मैनेजर भयो।"

पढ़िया की रुलाई फूट पड़ी। वह सुबकता जा रहा था और कहता जा रहा था–"मुझे मेरे भाइयों को ढूंढ़ने में मदद कीजिए। यही मेरे लिए आपका आशीर्वाद होगा। ढाबा तो सदा ही मेरा अपना ही था तभी तो मेरे पांव यहां ठहरे।"

पढ़िया की प्रार्थना पर पढ़वाल व खान साहब एक–दूसरे का चेहरा देखते रहे। सुनामी के लापताओं का पता लगाना हंसी–खेल नहीं।

"तो तुम्हारे दो भाई और हैं।" पढ़वाल ने पढ़िया को पूछा।

"जी हां।"

पढ़वाल और पढ़िया की नजर तो टी.वी. पर थी पर पढ़िया अपनी बात कह रहा था और पढ़वाल सुन रहा था। माँ–बाप की अन्त्येष्टि सामूहिक अन्त्येष्टि में हुई थी।

अन्त्येष्टि के बाद वे राहत सामग्री लेने गए थे। पेट की भूख का कोई माप नहीं होता। खाद्य–सामग्री के लिए लोगों में भगदड़ मच गई और उसमें ही फिर वे बिछुड़ गए।

टी.वी. पर मानव अधिकारों के हनन संबंधी कुछ रिपोर्ट प्रसारित हो रही थी। अचानक पढ़िया चिल्लाया–''पढ़वाल साहब वो रहा मेरा भाई दिव्यकृष्ण।''

''कहां ?''

''पर हे राम! यह तो ऊंट के पीछे बंधा है।''

टी.वी. पर ऊंटों के पीछे बच्चों को बांधकर की जाने वाली ऊंट दौड़ का दृश्य आ रहा था। ऊंटों की रफ्तार बढ़ती जा रही थी, पीछे बंधे बच्चे भी पुरजोर दौड़ रहे थे। सारे बच्चे भारत के 'बुधिया' नहीं हो सकते। अन्ततः वे ऊंटों के पीछे घसीटने शुरू हो गए। पढ़िया ने एक आवाज दी–''दिव्य कृष्ण रस्सी काट दो'' और ऐसा कहते–कहते वह बेहोश हो एक तरफ लुढ़क गया। पढ़वाल ने पढ़िया को झिंझोड़ा। पानी के छींटे डालने व काफी मशक्कत के बाद पढ़िया ने आंखें खोलते ही–''दिव्य कृष्ण को बचा लो'' कहकर पुनः बेहोश हो गया।

पढ़वाल ने खान साहब को बुलावा भेजा और डॉक्टर को बुलाया। डॉक्टर ने परीक्षण कर आराम करने की दवाएं दीं और किसी गहरे विश्वसनीय व्यक्ति से ही इसके भाई को ढूंढ़ लाने की तसल्ली देने की

सलाह दी। पढ़िया रात भर सोता रहा। दो मानस पिता रात भर जागते रहे। कुदरत भी अजीब परिस्थितियां पैदा करती है। यह तय किया गया कि खान साहब ''दिव्य कृष्ण'' को लाने का वादा करेंगे। सवेरे चार बजे पढ़िया की जैविक घड़ी ने उसमें हलचल पैदा की। खान साहब पढ़िया के करीब खिसके। बोले–

''पढ़िया बाबू! आंखें खोलो। हम वायदा करते हैं आपसे। आपके दोनों भाई दिव्यकृष्ण व सदाकृष्ण दोनों को ढूंढकर दम लेंगे।''

पढ़िया ने आंखें खोली। खान साहब को देखते ही उसकी आंखों में एक किशोर चमक आई और चेहरे पर एक युवक का सा दर्प भी जागा।

''मुझे उस प्रतियोगिता में भेज दीजिए। मैं दौड़ लूंगा ऊंटों के साथ। मुझे वहां कब भेजेंगे अंकल।''

''यह काम हम पर छोड़ दो पढ़िया।'' तुम तो बस तीसरे भाई की शक्ल और बता दो।''

''जरूर, पर कैसे?''

''अखबार, पत्र–पत्रिकाएं, टी.वी. चैनल आदि पर बालकों संबंधी कवरेज पढ़ो और देखो।'' कहते हुए खान साहब ने एक पुलिंदा पढ़िया की तरफ बढ़ाया।

''यह क्या है अंकल ?''

''तुम्हारे सारथी अंकल ने तुम्हारे लिए पढ़ने हेतु लेख भेजा है।''

''जरूर पढूंगा। वापस कब लौटाना है ?''

''जरूरी नहीं। अपने पास रखो।''

इस बीच पढ़वाल के घर से चाय आ गई। खान साहब व पढ़वाल ने पढ़िया को घर की चाय के साथ दवा लेने की हिदायत देकर ढाबे की चाय बंद कर दी। चाय के बाद खान साहब विदा हुए और पढ़वाल ने ढाबे के ग्राहकों को संभाल लिया। पढ़िया थोड़ी देर में ही पड़ा–पड़ा बोर हो गया। वह भी काम के लिए उठ पड़ा। ऊंट दौड़ का बुरा असर समाप्त प्रायः था। रात को पढ़िया ने सारथी अंकल का पुलिंदा खोला। काफी लम्बी बात लिखी हुई थी। सारथी अंकल के लेख ने उसे और जिज्ञासु बना दिया। उसने अन्तरराष्ट्रीय बाल अधिकार प्रसंविदा की जानकारी हेतु सारथी अंकल से निवेदन किया। सारथी अंकल ने इंटरनेट से प्रसंविदा की प्रति निकलवा लाकर दी। खान अंकल ने बताया कि दिव्यकृष्ण एक छोटे अरब देश में सकुशल है। कुछ ही दिनों में उससे हमारा सम्पर्क हो जायेगा। उस देश में खान के मित्र हैं, जो जल्द ही दूतावास से सम्पर्क कर दिव्यकृष्ण की वापसी का मार्ग भी निकाल लेंगे।

पढ़वाल ने पढ़िया के लिए घर पर अलग कमरा तय कर दिया परन्तु उसने ढाबे की अपनी कोठरी को सबसे पसंदीदा जगह बताकर उसे नहीं छोड़ा। कोठरी में लेटकर उसने इंटरनेट प्रति को पढ़ना शुरू किया। सीआरसी की जानकारी पढ़ने के बाद माता–पिता के दायित्वों की बात पढ़ते ही पढ़िया को अपने माँ–बाप याद आ गए। उसने बत्ती बंद कर दी। आंसुओं की धारा कब सूखी पता नहीं चला। अभागा रोते–रोते ही सो गया।

* * * *

डाकिए ने पढ़वाल को एक लम्बा–सा लिफाफा संभलाया और रवाना हो गया। लिफाफे को देखकर पढ़वाल समझ गया कि यह बाहर से आया है। पढ़िया के नाम से लिफाफा आना अचरज व खुशी दोनों लिए हुए था। पढ़िया को आवाज लगाई। पढ़िया भागता हुआ आया। पढ़वाल ने लिफाफा उसकी तरफ किया। लिफाफे के पते की लिखावट देखते ही पढिया किलकारी के साथ फूट पड़ा–दिव्यकृष्ण की लिखावट।

कंपकंपाते हाथों की सरसराहट में लिफाफे के भीतर से दिव्यकृष्ण प्रकट हुआ। पढ़ते–पढ़ते पढ़िया के चेहरे पर खुशी की रौनक लहराती रही। पत्र को पूरा पढ़ते ही

पढ़िया की नज़र ऊपर उठी। वह पैरों की ओर झुकता उससे पहले ही पढ़वाल ने उसे अपने आगोश में ले लिया। खुशी में सुबकते पढ़िया के बालों में पढ़वाल की अंगुलियां रेंग रही थीं।

''दिव्यकृष्ण वहां खान अंकल के दोस्त के घर पहुंच गया है। दूतावासों के कागज बनने में समय लगेगा। आने में समय लगेगा।'' सुबकते सुबकते पढ़िया ने बताया।

''कोई बात नहीं। अब अपने को जल्दी नहीं है। वह निरोग व स्वस्थ तो है न ?'' पढवाल ने पूछा।

''हां! उसकी लिखावट ही बोल रही है।''

''तो फिर हंस दे पगले।'' पढ़वाल ने गुदगुदी करते हुए कहा तो पढ़िया की निश्छल हंसी फूट पड़ी।

यकायक पढ़िया बोल पड़ा–''क्या दुनिया में सब जगह बच्चों के साथ ज्यादती होती है बापू।''

''हां। लगभग सभी जगह। हमेशा से बालकों का शोषण होता रहा है। ओलिवर ट्विस्ट नहीं पढ़ा तुमने।''

''हां।''

''तो समझो बाल श्रम सर्वत्र है।''

''मैं तो समझ रहा था केवल हमारे देश में ही ऐसा है। इसलिए हमारे देश संबंधी बातें ही इकट्ठी की थीं।''

''क्या इकट्ठा किया था?'' पढ़वाल ने पूछा।

''ईवान्स अंकल को बताने के लिए यह लेख'' कहकर पढ़िया ने कुछ पन्ने पढ़वाल की ओर बढ़ा दिए। पढ़वाल ने पन्ने लिए और पढ़िया को आराम के लिए भेज दिया। दोपहरी में पढ़वाल ने उन पन्नों को पढ़ा।

''पढ़िया कितना अच्छा ज्ञान रखता है। कितना बढ़िया लिखा है।'' सोचते–सोचते पढ़वाल ने कागज सुरक्षित रख दिए। शाम को कागज ईवान्स को दे दिए गए।

****

पिछले एक साल से पढ़िया और दिव्यकृष्ण के बीच पत्राचार जारी है। दिव्यकृष्ण भी पढ़िया को इसी नाम पर पत्र लिखता है। बालकृष्ण नाम तो सुनामी में दफन हो गया है। दोनों भाई अपने तीसरे भाई का जिक्र हर पत्र में करते हैं। ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि एक बार मिल जाये।

पढ़िया अब तक उच्च माध्यमिक परीक्षा भी उत्तीर्ण कर चुका है पर दिव्यकृष्ण पिछले तीन साल में कुछ नहीं कर सका। वह अपने भैया से ही बातें सीखने की ललक

रखता है। उसने पढ़िया को लिखा था कि उसके लिए कोई अच्छी बातें पत्र में लिखा करें। यहां शकीला बेगम उसे पढ़ने व टी.वी. देखने का पूरा अवसर देती है, परन्तु अखबार नहीं पढ़ पाता। दिव्यकृष्ण को आज की डाक का मोटा–सा लिफाफा देते हुए शकीला बेगम ने कहा–''दिव्या तुम्हारा पत्र तो बहुत भारी आया है रे।''

रात्रि के भोजन पर अजीज ने पूछा–

''बड़ा सा लिफाफा आया है दिव्या?''

''हां।''

''क्या लिखा है तुम्हारे भैया ने ?''

''अभी पढ़ा नहीं।''

''क्यों ?''

''बहुत सारे पृष्ठ हैं। रात को आराम से पढूंगा।''

''पढ़ाई की बातें हैं क्या ?''

''हमारे नसीब में पढ़ाई कहां है? हमारे से तो जमीन की रेत ही अच्छी है, जिस पर पैर रखकर लोग चल तो लेते हैं।''

''ऐसा नहीं कहते। तुम शीघ्र देश पहुंच जाओगे। चलो अब अपने भैया का पत्र पढ़ो।'' अजीज ने उसके गाल पर थपकी लगाते हुए कहा।

दिव्यकृष्ण ने पत्र की सामग्री को खोला। काफी सारे पृष्ठ थे। मजमून से पता चल गया कि यह भारत में स्थित बालश्रम व बाल अधिकारों पर जानकारी है।

दिव्यकृष्ण ने पढ़ना शुरू किया। पूरी सामग्री पढते ही अजीज कह उठे–''अरे दिव्य, यह बहुत अच्छी सामग्री है। बाल अधिकार व बाल श्रम अधिनियम आदि सब हैं। इसे बराबर बार–बार पढ़ते रहो। ज्ञान भी बढ़ेगा और बोर भी नहीं होवोगे, पर अब सो जाओ।''

दिव्यकृष्ण को उस रात बहुत गहरी नींद आई।

****

एक साल बाद पढ़िया आज फिर कलमपुरम् कस्बे में आया है। मानव अधिकार दिवस पर बड़ा–सा कार्यक्रम है। इस वर्ष वह प्रतियोगिता में भाग नहीं ले रहा है। प्रतियोगिता के नियमों के अनुसार निर्धारित समय में अपनी बात कहनी होती है। पढ़िया के पास बाल अधिकार व शिक्षा पर कहने के लिए काफी सामग्री है। वह सारी सामग्री बोलना चाहता है। समय भी पूरा चाहता है। खान अंकल के प्रयास और पिछले वर्ष के प्रथम पुरस्कार प्राप्तकर्ता होने के कारण आयोजकों ने प्रतियोगिता से अलग समय देना स्वीकार कर लिया।

प्रतियोगिता का आखिरी प्रतियोगी अपनी बात कह चुका है। मंच संचालक ने माइक पर आवाज दी–

''प्रतियोगिता का परिणाम तैयार हो रहा है। इस दौरान आज के मुख्य बाल वक्ता को आमंत्रित कर रहा हूं। मास्टर पढ़िया शिक्षा और बाल अधिकारों पर अपनी बात कहेंगे।''

पढ़िया उठा। अपनी मस्तानी चाल से मंच की ओर बढ़ा। इस दौरान मंच संचालक कह चुका था कि इसी बालक ने पिछले वर्ष प्रथम स्थान प्राप्त किया था। सबके सब पढ़िया को निहारने लगे।

पढ़िया ने माइक संभाला और बोलना शुरू किया–

''प्रतियोगिता के लिए वक्ता को दिए जाने वाले समय में मैं अपनी बात पूरी नहीं कर पाता। अतः प्रतियोगिता से बाहर रहकर मेरी बात आप तक पहुंचा रहा हूं। यद्यपि मेरी बात बहुत लम्बी है पर मेरी बात को आप सुन लेंगे यही मेरा इनाम होगा। इसलिए अर्ज सुनिए।'' इसके पश्चात् उसने गरिमापूर्ण जीवन जीने के अधिकार को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से जोड़ते हुए ऐसा बोलना शुरू किया कि बाल शिक्षा

अधिकार अधिनियम की बात करके ही अपनी वाणी को विराम दे पाया।

''इस प्रकार भारत के बच्चों के लिए ज्ञापित यह ऐतिहासिक दस्तावेज आपके सामने रखने के बाद मैं यही चाहूंगा कि भारत का हर बालक अपने अधिकार को प्राप्त करे। जयहिन्द।''

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच पढ़िया अपने स्थान की ओर मुड़ गया।

****

''क्या पढ़ रहे हो पढ़िया?''

''बड़ा अजीब–सा समाचार छपा है बापू अखबार में।''

''समाचार का क्या अजीब होता है भई ?''

''नहीं। इसमें लिखा है एक डॉक्टर और उसके सहयोगी को बालिका भ्रूण हत्या के आरोप में गिरफ्तार किया गया। सोनोग्राफी मशीन भी जब्त।'' पढ़िया ने अखबार से नजर हटाकर पढ़वाल की तरफ देखते हुए पूछा–

''डॉक्टर भी ऐसा करते हैं बापू ?''

''हां पढ़िया! यह भी होता है।'' पढ़वाल ने चाय की पतीली में चाय–पत्ती डालते हुए कहा।

''अरे किस बात पर चर्चा है भई ?'' खान साहब अपना झोला उतारते हुए बोले तो दोनों ही चौंक पड़े।

''भ्रूण हत्या पर अंकल। हमारे यहां भी ऐसा होता है अंकल?'' पढ़िया ने अखबार खान अंकल की ओर बढ़ाया और उनके चरण स्पर्श करते हुए बोला।

''इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकार तो बहुत हैं पर उनकी पालना के लिए सामाजिक स्तर पर जागरूकता जरूरी है।'' पुनः पढ़िया ही बोला।

''बिल्कुल ठीक कहा।'' खान साहब ने कॉफी का घूंट भरते हुए कहा।

''और इसके लिए तुम्हारे जैसे युवाओं का संकल्पित होना जरूरी है।'' ईवान्स बोला।

''जरूर अंकल, अब सभा सम्पन्न कीजिए। रात के नौ बज रहे हैं।''

चौकड़ी कई दिनों बाद इतनी लम्बी बैठक के बाद उठ गई। पढ़िया भी पढ़वाल के साथ टी.वी. देखने लग गया।

****

पढ़िया आज बहुत खुश है। दिव्यकृष्ण आज सुबह की फ्लाइट से मुम्बई पहुंच गया है। शाम तक वह कामतापुर पहुंच जायेगा। पढ़िया ने अपनी कोठरी ठीक से जमा ली है। आज से इस कोठरी के दो रहवासी होंगे। सहसा उदास हो गया। सदाकृष्ण कब मिलेगा। खान अंकल केवल दिलासा ही तो नहीं दे रहे। घड़ी भी बहुत धीमी चल रही है। चार बज गए, वह ढाबे पर पहुंच गया। काम में लगे रहने पर वक्त जल्दी कटेगा। वह चार बजे की ट्रेन के यात्रियों को चाय पकड़ाने में व्यस्त हो गया। पहले ग्राहक को चाय पकड़ाकर मुड़ा ही था कि–

'भै.....या' की आवाज के साथ एक किशोर उससे लिपट गया। पढ़िया की बाहों का घेरा घने से घना होता गया। फिर पीठ से खिसककर दोनों हाथ सिर पर पहुंचे। सिर से दोनों हाथ दोनों तरफ की कनपटियों पर सरके और पढ़िया के बोल फूट पड़े–''दि.....आ गया।''

पास में खड़े खान, अजीज और पढ़वाल की आंखें भर आईं। इस अनोखे मिलन पर। नजदीक के दरख्त के कुछ पत्ते भी सरसराए। दरख्त पर फुदकती गिलहरी के कुतरे कुछ हरे पत्ते दोनों भाइयों पर बरसे। पढ़वाल की तन्द्रा टूटी तो उसने पाया कि दोनों बच्चे उसकी बांहों में हैं।

''चलो घर। तुम्हारी.....''

''हां! हमारी मां हमारा इंतजार कर रही है। हम वहीं चलेंगे।'' कह कर पढ़िया ने दिव्यकृष्ण को अपने साथ लिया और पढ़वाल के घर की ओर रवाना हो गया। जहां पढ़वाल की पत्नी उनका इंतजार कर रही थी, एक माँ के रूप में।

दोनों भाई हिरण के चकित छौंनों की तरह घर में प्रविष्ट हुए। पढ़िया निशंक था पर दिव्यकृष्ण शंकालु–सा भी, खुशनुमा भी। पढ़वाल घर की गृहिणी ने दोनों की बलइयाँ लीं। आंखों में एक चमक के साथ सहसा दो भाइयों चेहरे के भाव–परिवर्तन हो गए। शायद सदाकृष्ण याद आ गया।

****

दिव्यकृष्ण को आये आज तीसरा दिन है। दोनों भाई रात पढ़िया की कोठरी में ही बिताते हैं। बाकी समय पढ़वाल के ढाबे या उसके घर में। दिव्यकृष्ण सदाकृष्ण की याद कर उदास होता दिखता तो पढ़िया उसे अपनी कहानी बताना शुरू कर देता। आज न जाने क्यों खाना खाते समय पढ़वाल ने पूछ ही लिया–

''दिव्या तुम अरब देश कैसे पहुंचे, कुछ याद है ?''

''सब का सब याद है।''

''अच्छा।''

''हां, बहुत दर्दनाक था। भैया से बिछुड़ने के बाद मैं कई दिनों तक भिखमंगों की तरह फिरता रहा। एक दिन एक लड़का मेरी रोटी छीनकर भागा। मैं उसके पीछे भागा था। उसे पकड़ लिया था पर वह मेरे से बड़ा था। रोटी वापस नहीं ले सका। हमें भागते देख रहा एक व्यक्ति मेरे पास आया और मुझे दौड़ाक बताकर प्रशंसा की। मैंने उससे कहा था–भूख बहादुर भी बनाती है। उस व्यक्ति ने मुझे एक दौड़ में भाग लेने का झांसा देकर अपने साथ कर लिया। तीन दिन बाद हम सात–आठ हम–उम्र लड़कों को हवाई जहाज में बिठाकर बाहर भेज दिया। वहां दौड़ नहीं बल्कि ऊंट दौड़ के लिए ले गए थे हमें–।''

''बस करो। अब रहने दो।'' पढ़िया कांपता–सा बोला और फिर पढ़वाल की तरफ मुखातिब होकर पूछने लगा–''कहीं सदाकृष्ण भी तो–।''

''नहीं, ऐसा नहीं है।''

''तो फिर वह कहां है ?''

''तुम्हारी बात सही बेटा। वह ऐसे ही अन्य व्यापार की चपेट आ गया होगा।'' पढ़वाल ने कहा।

''इस तरह के अन्य व्यापार का क्या मतलब है ?''

''हां पढ़िया, बच्चों के शोषण के कई रूप हैं।''

''बच्चों के साथ ऐसा क्यों कर होता है ?''

''कई कारण हैं बेटा। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि बच्चे की असुरक्षा और कोमलता में भी एक विशिष्टता रहती है। बच्चे की कोमलता इस रूप में विशिष्ट है कि बच्चा किसी

प्रकार की वंचना के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होता है। बच्चे के लिए असुरक्षा भी विशिष्ट होती है, क्योंकि बच्चे बहुधा बहुत कम जानते हैं कि संघर्ष कैसे किया जाये, अपने अधिकारों की रक्षा कैसे की जाये और किसी संकटावस्था का सामना कैसे किया जाये। यही कारण है कि बच्चों का सर्वाधिक शोषण होता है। यह शोषण बाल श्रम, बाल दुरुपयोग, बाल दुराचार, बालदासता, बाल दुर्व्यापार, बाल–भिखमंगी आदि के रूप में नजर आता है।''

''कहीं हमारा सदाकृष्ण भी दुर्व्यापार की चपेट में तो नहीं है?'' पढ़िया व दिव्यकृष्ण एक साथ बोले। उनकी आशंका निर्मूल न थी।

* * * *

पढ़िया को अपने बी.ए. प्रथम वर्ष के प्रोजेक्ट के रूप में ''बाल स्वास्थ्य एवं पोषण'' विषय मिला। यह संयोग की ही बात है। पढ़िया ने प्रोजेक्ट की सामग्री तैयार कर ली। प्रोजेक्टर का प्रतिवेदन पढ़िया के सामने पड़ा है। आज रात को इसको पूरी तरह से पढ़ लेना।

रात के भोजन के बाद दोनों भाई अपनी कोठरी में हैं। दिव्यकृष्ण स्कूल जाने लग गया है। उसने अपना होमवर्क पूरा कर लिया है। पढ़िया ने उसे सो जाने का कह दिया। खुद पढ़िया ने अपने प्रतिवेदन का आधा भाग ही पढ़ा है। टाइपिस्ट ने कोई त्रुटि नहीं की है।

ग्यारह बजे की टंकार हो गई। प्रतिवेदन पूरा पढ़ लिया। प्रतिवेदन के परिशिष्ट के रूप में बच्चों के नाम की सूची थी। पढ़िया ने उसे छोड़ दिया। परन्तु सहसा विचार आया कि सूची भी पढ़ी जानी चाहिए। पढ़िया ने एक–एक नाम व पता पढ़ना शुरू किया। हटात् नजर रुक गई–सदाकृष्ण, पता–बालगृह,

अलीपुर.....।

पढ़िया ने दुबारा पढ़ा–सदाकृष्ण, पता–बालगृह अलीपुर। उसकी किलकारी निकलने ही वाली थी कि अपने आप को थाम लिया। खुशी का ठिकाना नहीं था पर आशंका थी–कोई और सदाकृष्ण हुआ तो। उसने दिव्यकृष्ण के मासूम चेहरे पर नजर डाली। गहरी निद्रा में कितने सुकून से सो रहा था। उसने दिव्य के बालों में हाथ फिराया और बत्ती बुझा दी।

सुबह–सुबह ही पढ़वाल और पढ़िया तैयार हो गए। दिव्यकृष्ण को भी तैयार कर लिया। एक टिफिन में दोपहरी ले ली थी। एक टिफिन में कुछ टॉफियां व गुड़ की डली। दिव्यकृष्ण उनके साथ था पर उसे नहीं मालूम था कि कहां जा रहे हैं। बस का सफर

था। सड़क के दोनों ओर हरे–भरे पेड़। चहचहाते पक्षी। कुलांचे भरते हिरण। लगातार पीछे छूटते जा रहे थे।

पढ़िया को अपना अतीत याद आ गया। तीन भाई व माँ–बापू। सामान्य मध्यवर्गीय परिवार। तीनों भाई पढ़ने में अव्वल। माँ–बाप अपनी जिम्मेदारी में सतर्क। अपार ममत्व लुटाते थे। तीनों भाइयों में अपार स्नेह।

''चलो चाय पी लेते हैं।'' पढ़वाल की आवाज पर पढ़िया की तन्द्रा टूटी। उसने देखा बस किसी छोटे स्थान पर रुकी है। उन तीनों ने भी चाय पी। बस रवाना हुई। बस में चढ़ते–चढ़ते एक व्यक्ति ने पढ़िया के पास आकर सम्मान के साथ कहा–''नमस्ते पढ़िया जी।''

''नमस्ते पर मैं आपको.....।''

''अरे आप भले ही न जानते हों पर पढ़िया को कौन नहीं जानता। ऐसे मानव अधिकार कार्यकर्ता युवक को जानना फक्र की बात है।'' उस व्यक्ति ने कहा और पड़ोस की सीट पर बैठ गया।

बातचीत से पता चला वह सज्जन भी अलीपुर ही जा रहे हैं। पढ़िया ने बताया कि वहां के बालगृह से एक बालक को घर लाने जा रहे हैं। बाल–गृह की औपचारिकता पूरी करने के लिए उनके पास कोई दस्तावेज नहीं हैं। सज्जन ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि आप जैसा कार्यकर्ता तो स्वयं दस्तावेज है। थोड़ी देर बाद बातचीत का सिलसिला रुक गया।

पढ़िया बाहर के दृश्य देखता–देखता पुनः अतीत में खो गया। मातरा गांव के खेत–खलियान। साथियों के साथ धमाचौकड़ी। बेरियों के बेर। आमों की अमिया। पिता की डांट और अम्मी की मुहब्बत। तुम तीनों मेरी त्रिलोकी हो–माँ कहती थी। उसके मुंह से अनायास ही निकल गया।

''क्या कहती थी माँ ?'' पास बैठे पढ़वाल ने पूछा तो वह चौंक गया। पर कुछ नहीं बोला। बस गन्तव्य की ओर बढ़ रही थी।

अलीपुर के बस अड्डे से बालगृह ज्यादा दूर नहीं था। वे बालगृह की ओर पैदल ही चल पड़े। पढ़वाल व उसके बीच में दिव्यकृष्ण चल रहा था। उसका दिल मानो उछलकर बाहर आ जायेगा। पैर मानो क्षण भर में दूरी नापना चाह रहे हैं। तीनों मौन थे। साथ वाले सज्जन भी साथ ही चल रहे थे और बोले जा रहे थे।

बालगृह के फाटक के सामने थे। फाटक को खटखटाया। एक प्रौढ़ और एक बच्चे के साथ एक मानव अधिकार कार्यकर्ता युवक धड़कते दिल से अपनी आत्मा की आवाज

के साकार होने के इंतजार में था। फाटक खुला। हटात! फाटक खोलने वाला चिर प्रतीक्षित ही था। पढ़िया की बाहें फैली वह बोला—माँ कहती थी। दिव्य भी भौंचक्का—सा भुजा पसार बोला था—माँ कहती थी। विस्मित चेहरे और दो भाइयों की बाहें में सकून प्राप्त करते हुए तीसरे की आंखों में आँसू थे। वह भी कह रहा था—माँ कहती थी।

पढ़वाल के हाथ तीनों के सिर पर थे।

❖❖❖❖❖

मैं 'लड़की' हूं

— लक्ष्मी जयसवाल अग्रवाल•

जकड़ी हूं बंधन में
सदियों से
अब मुझे मुक्ति चाहिए।
बंधन खोल सके जो
आजादी दे मुझे
वो शक्ति अब चाहिए।
उड़ना चाहती हूं
स्वच्छंद गगन में
'पर' मुझे मेरे चाहिए।
मैं लड़की हूं
हां मैं लड़की हूं
तो क्या हुआ
जीने का हक मुझे भी चाहिए।
अब न सहूंगी बंधन
अब न उठाऊंगी रिवाजों की
बेड़ियों का भार
हां मुझे भी अब
जीवन में बहार चाहिए।

कह रही है 'अजन्मी'
मां मैं भी इस दुनिया में
आना चाहती हूं
नन्हे नन्हे पैरो से
मैं भी गिरकर ठोकर

• युवा कवयित्री एवं लेखिका, दिल्ली

खाना चाहती हूं
गिरते गिरते उठकर
सम्भलना चाहती हूं
तेरी उंगली पकड़कर
चलना चाहती हूं
तोतली जबान में कभी
तो कभी लाड में माँ
मैं भी तुझे माँ
कहना चाहती हूं।
क्यों नहीं कर सकती
मैं यह सब
मेरा दोष क्या है
जानना चाहती हूं।

माँ क्योंकि मैं बेटी हूं
इसलिए तू मुंह मोड़
रही है ममता से
मैं बेटी हूं इसलिए
नहीं चाहती तू कि
मैं जन्म लूँ
माँ तू भी तो बेटी थी
फिर क्यों तू ही
मेरी दुश्मन बन गयी
कैसे मजबूर हो गयी तू
इतनी कि मुझसे
माँ कहने का हक छीनना
चाहती है
माँ क्यों मजबूर है तू
इस दुनिया के आगे
इसका जवाब मैं भी
जानना चाहती हूं।

माँ दे दे हक मुझे भी
दुनिया में आने का
बेटी होती है क्या तुझे
एहसास कराने का
बोझ नहीं हूं माँ मैं
मैं भी हूं तेरा ही अंश
क्या हुआ गर मैं
बेटा नहीं बेटी हूं
आखिर हूं तो तेरी
ही पहचान मैं
तभी तो तेरी कोख में
सपने संजोती हूं
माँ बेटी होना अभिशाप
नहीं है, बेटों से ही दुनिया
खास बनती नहीं है
मैं भी तेरी दुनिया में
रंग भरूंगी, नहीं बेरंग
होने दूंगी जीवन तेरा
आज मैं तुझसे यही
जताना चाहती हूं

सच सच बतलाना माँ
अपनी दुनिया से मुझे
दूर करके खुश हो पायेगी तू
क्या मुझसे बिछड़कर
अकेले तन्हाई में अपनी
पलकें नहीं भिगोएगी तू।
क्या इसके लिए खुद को
कभी माफ कर पायेगी तू
क्या तुझे कभी मेरी याद
नहीं सताएगी
क्या ये कदम उठाकर तू

मुझे भूल पायेगी
नहीं माँ चाहे कितनी भी
कोशिश कर ले तू
चाहकर भी मुझे तू अपनी
दुनिया से, अपने जेहन से
निकाल नहीं पाएगी
कभी देखकर किसी और
की नन्ही मुस्कान, तुझे
मेरी याद जरूर आएगी
कभी बनते देख किसी
को दुल्हन तू
मेरे लिए भी नए घर के
सपने सजाएगी।
फिर क्यों माँ तू मुझसे
ये सब छीनना चाहती है
मुझे अपनी दुनिया का हिस्सा
बनाने से क्यों तू कतराती है
क्यों माँ क्यों तू मुझसे अपनी
ममता छिपाती है
आखिर मेरा दोष क्या है
अजन्मी बेटी तुझसे यही
पूछना चाहती है।

❖❖❖❖❖

खण्ड – 9

मानव अधिकारों पर केन्द्रित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएं

मौजूदा चुनौतियों पर समाजशास्त्रीय हस्तक्षेप

पूजा गोस्वामी•

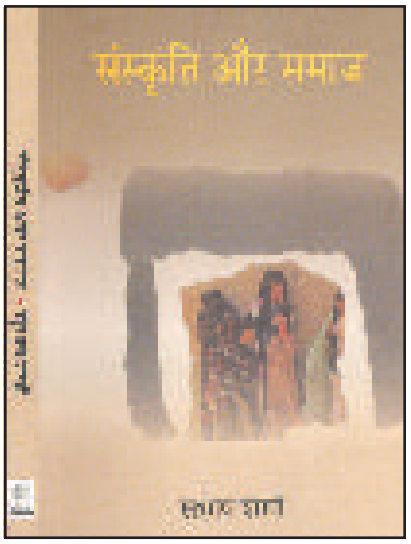

"संस्कृति और समाज" समाजशास्त्री और साहित्यकार सुभाष शर्मा के चिंतनपरक निबंधों का संग्रह है। राष्ट्रीय अस्मिता, भाषाओं के जीवन–मरण, प्रति–संस्कृति, बहुलतावाद से उपभोक्तावाद आदि मुद्दों के विभिन्न आयामों पर इसमें पंद्रह निबंध शामिल हैं। पिछले दो–तीन दशकों में जिन प्रश्नों पर दुनिया भर के विचारक मानसिक जद्दोजहद करते रहे हैं, उसकी झलक इस पुस्तक में देखी जा सकती है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के बाद 'राष्ट्र' की अस्मिता पर सवाल होते रहे हैं। बीसवीं सदी के मध्य में दुनिया के अनेक देश औपनिवेशिक गुलामी से बाहर आए थे। इन देशों ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले कई दशकों तक संघर्ष किया। इस संघर्ष की प्रेरणा राष्ट्रीय अस्मिता ही रही है। राष्ट्र की अस्मिता के लिए इन देशों के लोगों ने बलिदान दिए। स्वतंत्र होने के कुछ दशकों के बाद राष्ट्र की अस्मिता पर प्रश्न उठने लगे। ऐसे में आवश्यक है कि राष्ट्र की प्रासंगिकता के तर्कों को खोजा जाए। राष्ट्र को लेकर जो सैद्धान्तिक प्रश्न आ रहे हैं, उसके जवाब की तलाश की जाए। भूमंडलीकरण के सिद्धांतकारों ने पूछा है कि अब राष्ट्र की आवश्यकता क्या है? उल्लेखनीय बात यह भी है कि जिन देशों ने अठारहवीं–उन्नीसवीं सदी में विश्व के ज्यादातर देशों को गुलाम बनाया, उनका दोहन–शोषण किया, उन्हीं देशों से राष्ट्र की आवश्यकता पर प्रश्न भी आए। "संस्कृति और समाज" के लेखक सुभाष शर्मा ने ऐसे बुद्धिजीवियों को गोया जवाब दिया है कि "आज राष्ट्र की जरूरत है क्योंकि समाज में विषमता और गरीबी मौजूद है।" आशय यह कि जब तक समाज में विषमता या गरीबी होगी, राष्ट्र भी रहेगा। जाहिर है समाज से विषमता और निर्धनता को मिटाना राष्ट्र का

• युवा समीक्षक एवं लेखिका, दिल्ली

दायित्व है। ऐसे में यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि "राष्ट्र किसका पक्ष लेगा–अमीर का या गरीब का? शहरी मध्य वर्ग का या ग्रामीण गरीब का? बी.एम.डब्ल्यू खरीदकर लोगों को रौंदने वालों का या पहियों के नीचे कुचले गये मृतकों का? निजी बस मालिकों के लालची और अनियंत्रित गति वाले ड्राइवरों का या पैदल चलने वाले लोगों का? अपराधी संगठनों का या निरीह लुटती जनता का? दहेज हत्या करने वालों का या जीवित पति के रहते सती होने को बाध्य नई–नवेली दुल्हनों का? विशेष आर्थिक क्षेत्र के सर्वेसर्वा उद्योगपतियों का या अपनी जमीन से उच्छेदित आम किसानों का? राष्ट्र और उसका तेज पूंजी के बाजार के अधीन रहकर मूकदर्शक की भूमिका निभाएगा अथवा कमजोर वर्ग के पक्ष में हस्तक्षेप करेगा? फिर राष्ट्र किन–किन शक्तियों को अपना एकाधिकार बनाएगा, कौन–कौन शक्तियां एवं स्वतंत्रताएं आम लोगों को मुहैया कराएगा और किन स्वतंत्रताओं का हनन होने पर हनन करने वालो को दंडित करेगा? फिर राष्ट्र–हितों की रक्षा कैसे की जाएगी? क्या राष्ट्रीय अस्मिता का अर्थ सिर्फ 'हम' बनाम 'वे', 'असली' बनाम 'नकली', 'मूल निवासी' बनाम 'बाद में आए लोग' ही हैं अथवा बहुल–संस्कृति की पक्षधरता है?"

ऐसे तमाम प्रश्नों के जवाब के तौर पर कहना होगा कि राष्ट्र उनका पक्ष लेगा, जो कमजोर हैं, जिनका शोषण हो रहा है। साथ ही यह भी कहना होगा कि अब राष्ट्रीय अस्मिता की अर्थवत्ता 'हम' बनाम 'वे', 'असली' बनाम 'नकली', 'मूल निवासी' बनाम 'बाद में आए लोग' से आगे बहुल संस्कृति की पक्षधरता में निहित है। राष्ट्र की अस्मिता के बाद सुभाष शर्मा ने 'बहुल संस्कृति : एक आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य' शीर्षक निबंध में लोकतंत्र की आवश्यकता के कारणों की पड़ताल करते हुए लिखा है कि "लोकतंत्र का तकाजा है कि उसमें विभिन्न जातियों, प्रजातियों, वर्णों–वर्गों, संस्कृतियों को पल्लवित–पुष्पित होने के लिए अनुकूल माहौल मिले जिससे उनकी विषमता खत्म हो और वे समान अवसर मिलने पर स्वस्थ प्रतियोगिता कर सकें।" क्या लोकतंत्र के लिए एक संस्कृति, एक भाषा, एक जातीयता अनिवार्य है? जवाब होगा, नहीं। कारण कि 'जहां कई संस्कृतियों का मेल–जोल, आदान–प्रदान होगा, वहीं समता और स्वतंत्रता जैसे आधुनिक मानव–मूल्यों को व्यवहार में महसूस किया जा सकेगा।' किसी भी समाज या राष्ट्र में स्वतंत्रता और समानता को जांचने–परखने के लिए विविधता का होना आवश्यक है। बगैर विविधता के न सिर्फ समाज का सौन्दर्य प्रभावित होगा, अपितु आधुनिक एवं मानवीय मूल्यों की परख भी न हो पाएगी। 'संस्कृति और साम्राज्यवाद' शीर्षक निबंध में प्रख्यात चिंतक एडवर्ड सईद के नजरिये का विवेचन–विश्लेषण किया गया है। सुभाष शर्मा ने सईद की स्थापना से सहमति जाहिर की है। सईद ने लिखा है कि "मैं नहीं

मानता कि लेखक विचारधारा, वर्ग या आर्थिक इतिहास द्वारा यांत्रिक तरीके से निर्धारित होते हैं बल्कि लेखक, मैं यह भी मानता हूं, अपने समाजों के इतिहास में बखूबी होते हैं, जो इतिहास को गढ़ते हैं और उस इतिहास और उनके (साम्राज्यों) सामाजिक अनुभव द्वारा भिन्न–भिन्न परिमाण में गढ़े जाते हैं। संस्कृति और इसमें निहित सौन्दर्यमूलक रूप ऐतिहासिक अनुभव से उत्पन्न होते हैं।" साम्राज्यवादी मूल्यों को ढकनेवाले आवरण को रेखांकित करने और उसे उघाड़कर अपरोक्ष करने वाले चिंतकों में एडवर्ड सईद का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। आर्थिक साम्राज्यवाद के समापन के बाद सीधे तौर पर इससे हमनवाई करना साम्राज्यवाद के समर्थकों के लिए भी सम्भव नहीं रहा। ऐसे में इसके समझदार समर्थकों ने चालाक तर्क देने शुरू किए। आर्थिक साम्राज्यवाद के अवसान के बाद भी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कायम रहा। सईद के चिंतन का महत्त्व यह है कि साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक आयाम को इन्होंने विश्लेषित कर बड़ी हद तक बेनकाब कर दिया। मौजूदा भूमंडलीकरण में जब सभी देशों के परस्पर रिश्तों की बात होती है तो उनकी असमानता को भुला दिया जाता है। लिहाजा, इन मुल्कों में लोकतान्त्रिक सम्बन्ध बनने की बजाय नए तरह का साम्राज्यवाद पनपने लगता है। इसके बावजूद यह नजरअंदाज भी रह जाता है। कहना न होगा कि एडवर्ड सईद के नजरिये में भी नजरअंदाजगी दिखती है। सुभाष शर्मा ने बिलकुल ठीक लिखा है कि एडवर्ड सईद ने संस्कृति के सवाल को राजनैतिक सन्दर्भ (साम्राज्यवाद) से जोड़ा, आर्थिक शोषण और मानव रुख से जोड़ा। किन्तु जब वे परस्परता, परस्पर–निर्भरता आदि की बात करते हैं तो ऐसा लगता है कि वह विषम आर्थिक–सांस्कृतिक–राजनैतिक वैश्विक व्यवस्था और उससे उत्पन्न वैश्वीकरण के दंश को कदाचित भूल जाते हैं अथवा कमतर आंकते हैं। शायद इसका कारण यह है कि वह अपने को अमेरिका (विश्व शक्ति और पश्चिम के प्रतिनिधि) और मध्य एशिया (तीसरी दुनिया के प्रतिनिधि) दोनों से जुड़ा हुआ मानते हैं। फिर भी साम्राज्यवाद के साथ संस्कृति को जोड़ने सम्बंधी उनका विश्लेषण अप्रतिम है।

भूमंडलीकरण के बाद उपभोक्तावाद एक मूल्य के तौर पर मजबूत बना है। सुभाष शर्मा ने उपभोक्तावादी संस्कृति, उपभोक्तावाद के आयाम, सौन्दर्य, फैशन और बाजार, यौन–उपभोक्तावाद की संस्कृति, उपभोग की संस्कृति से आगे शीर्षक निबंधों में इसके सकारात्मक और नकारात्मक आयामों पर तार्किक ढंग से विचार किया है। लेखक ने ठीक लिखा है कि हर नयी चीज अच्छी नहीं होती और हर पुरानी चीज खराब नहीं होती, विवेकशील व्यक्ति अपने विवेक से दोनों में से सही और उपयोगी चीज चुनता है, ऐसा संस्कृत के महाकवि कालिदास कह गए हैं। उपभोक्तावाद के सन्दर्भ में हमें इस सूत्र से सीखने की महती आवश्यकता है। हमें नई पीढ़ियों को सहजता से प्रेरित करना

होगा कि भारत जैसे नए राष्ट्र की राष्ट्रीय अस्मिता की अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपनी देसी भाषा, भोजन, वेश और आवास को विविधता में एकरूपता और बहुल संस्कृति के सिद्धान्त पर बरकरार रखना है। उपभोक्तावाद से उच्च वर्ग पर खास असर नहीं पड़ता और मध्य वर्ग आगे बढ़ने के लिए नई नई जरूरतों को पूरा करने में लगा रहता है जबकि आम आदमी इसकी मृग–मरीचिका में पिसते रहते हैं। ऐसे में गांधी जी के आवश्यकता विहीनता सिद्धान्त को अपनाने की, कम जरूरतें और कम लालच, अपने परिश्रम से ज्यादा संतुष्टि। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह पुस्तक मौजूदा चुनौतियों पर तार्किक समाजशास्त्रीय हस्तक्षेप है।

पुस्तक का नाम – संस्कृति और समाज
लेखक – सुभाष शर्मा
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
मूल्य – 190 रुपये

❖❖❖❖❖

विसंगतियों का आख्यान

आकांक्षा पारे काशिव •

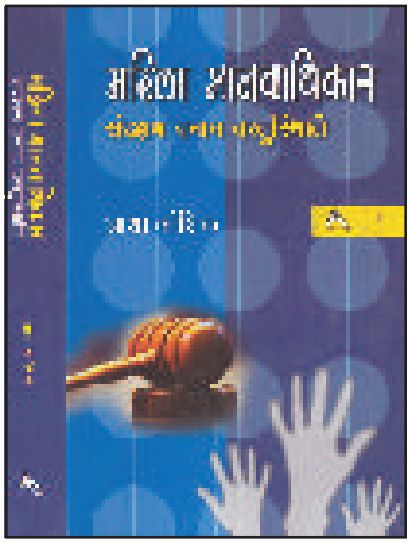

यह पुस्तक पढ़ते हुए पाठक के मन में कई तरह की भावनाएं एक साथ उठती हैं। क्रोध, स्नेह, आश्चर्य। क्या वजह है कि नया जमाना, नई सदी जैसी बातें करने वाले हमारे समाज में महिलाएं अभी भी अपने वजूद के लिए संघर्ष कर रही हैं। अपने अधिकारों के लिए अभी भी लड़ रही हैं। भारत विविधताओं का देश हैं। विविधताएं भी ऐसी नहीं कि बस नाम भर की हों। हर राज्य का अपना खान–पान और पहनावा है। हर राज्य की अपनी संस्कृति और रिवाज भी है। लेकिन एक बात जो भारत को हर दृष्टि से बिल्कुल समान बनाती है वो है स्त्री पर अत्याचार। सुनने में भले ही यह अटपटा लगे या इसमें सहमति का स्वर उतना न हो लेकिन यह सच है कि भारत का एक भी राज्य ऐसा नहीं है, जहां स्त्री पर अत्याचार न होते हों। तो स्त्री पर अत्याचार भारतीय क्या संस्कृति में यह रच–बस गया है। इसका उत्तर यकीनी तौर पर नहीं है। लेकिन यह व्यवहार और आदतों में जरूर बस गया है। कई सम्मेलन होते हैं, स्त्री अधिकारों की बातें होती हैं लेकिन स्थिति जस की तस है। कई बार तो यह इतनी बिगड़ती है कि लगता है हम किसी आदिम युग में रह रहे हैं। इसलिए जब स्त्री अधिकारों की मांग होती है, उन पर पुस्तकें लिखी जाती हैं तो लगता है कि स्त्री को मिले अधिकार और उनके क्रियान्वयन में भी कितनी बड़ी विसंगति है। स्त्री खुद में विसंगतियों का आख्यान ही तो है।

राजस्थान विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान संकाय की प्रोफेसर आशा कौशिक ने इन अधिकारों पर समझ विकसित करने, उन्हें एक जगह समेटने का प्रयास किया है। यह पुस्तक इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें महिला मानवाधिकार संरक्षण बनाम

• सहायक संपादक, आउटलुक (हिन्दी)

वस्तुस्थिति की हर परत की पड़ताल है। यह पड़ताल भारत में महिला मानवाधिकार के गांधी और नेहरू की दृष्टि में हो या समकालीन साहित्य में स्त्री विमर्श। इस पुस्तक को तीन खंडों में बांटा गया है। हर खंड अलग भले ही लगे लेकिन स्त्री के अधिकारों की डोर से जुड़ा हुआ है। तमाम विषयों पर आलेखों का यह खूबसूरत गुलदस्ता है जो तमाम पहलुओं से पाठकों को, मानव अधिकार पर काम करने वाले कायर्कर्ताओं को समस्या और निदान दोनों से अवगत कराता है। यह तो सभी मानते हैं कि महिलाओं का सशक्तीकरण ही वह एकमात्र विकल्प है जिससे उन पर अत्याचार में कमी आ सकती है। लेकिन क्या यह इतना आसान और तुरंत हो जाने वाला विकल्प है। राजस्थान में महिलाओं की स्थिति–सशक्तीकरण एकमात्र विकल्प शीर्षक से प्रेम कृष्ण शर्मा लिखते हैं, "राजपूताना के इतिहास में महिलाओं को वीरांगनाएं कहकर महिमा मंडित किया जाता रहा है और इस महिमामंडन के समर्थन में रानियों से लेकर आम महिलाओं की भी अनेक गाथाएं प्रचारित की जाती रही हैं। उन गाथाओं से एक बार गर्व की अनुभूति होती है। लेकिन जब जमीनी स्तर के यथार्थ का अध्ययन किया जाता है तो स्थिति बिल्कुल उलट जाती है। ऐसा लगता है कि यह महिमामंडन की कूटनीति भी पुरुषवादी प्रवंचना का ही एक भाग है। राजपूताने के क्षेत्र अब राजस्थान में बदल चुके हैं और इसमें जो अन्य क्षेत्र भी सम्मिलित हुए हैं वहां भी महिलाओं की स्थिति भिन्न नहीं है।" अगर इसे पढ़ें तो लगता है कि यह कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस राजपूताने में महिलाओं की शौर्य गाथा आज भी गाई जाती हैं वहां भी महिलाओं की स्थिति कितनी दरिद्र है। दरअसल, इस किताब का उद्देश्य ही यह है कि यह विडंबना खत्म होनी चाहिए। आखिर क्यों महिला मानवाधिकार विषय पर लंबी–लंबी चर्चाएं होने के बाद भी नतीजा सिफर है।

यह पुस्तक की सफलता ही है जो मानवाधिकार पर इतने विविध तरीके से अलग–अलग पहलुओं को समेटते हुए लेख एक जगह संग्रहीत किए गए हैं। इस पुस्तक में एक लेख साहित्य पर भी है। साहित्य समाज का अलग चेहरा तो दिखाता है, मगर स्त्री अधिकारों की वैसी बात नहीं करता जैसी इस विषय को बल मिलने के लिए जरूरी है। समकालीन साहित्य में स्त्री विमर्श लेख में मंजू चतुर्वेदी ने बहुत मेहनत से साहित्य में मौजूद स्त्री को 'खोजा' है। यहां 'खोजा' शब्द इसलिए क्योंकि यह वाकई साहित्य में स्त्री की खोज ही है। मंजू चतुर्वेदी लिखती हैं, "बहुत संभावना है कि स्त्री जीवन की इस शोकांतिका का कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था में अंतर्निहित हो। पितृ–सत्ता और पुरुष सत्ता के कारण पुरुष–स्त्री के बीच बहुत सी सामाजिक, आर्थिक और परंपरागत पारिवारिक वैमनस्य और दरारें हैं। स्त्री चाहे वह किसी भी श्रेणी की हो,

मन, वचन और कर्म से दोयम दर्जे का जीवन व्यतीत करने को विवश है। स्त्रियों के दुखों को दूर करने के लिए 'कानून' का रास्ता है। दूसरा एक विमर्श 'मानवाधिकार' का है। यह विमर्श एक नई चेतना जगाता है। यह 'चेतना' एक ऐसा 'विकल्प' तैयार करना चाहती है, जिससे स्त्री–पुरुष के बीच भेद न हो और दोनों बेहतर जीवन बसर करने के सपने को साकार कर सकें। इन विकल्पों में ही इसका समाधान है।" यह लेख बताता है कि कविताएं और कहानियां सिर्फ पढ़ने के लिए नहीं होते। बल्कि गुनने के लिए भी होते हैं। खूबसूरत कविताओं की पंक्तियों के साथ इस लेख में अलग–अलग जगहों पर प्रकाशित लेख भी हैं जो बताते हैं कि साहित्य में स्त्री की चिंता की कोई कमी नहीं है। जरूरत है तो बस उस चिंता पर अमल करने की। वैसे तो मीडिया अपने तरीके से स्त्री की आवाज उठाने की भरसक कोशिश करती है। लेकिन सिर्फ आवाज उठाना ही इसके लिए काफी नहीं है। अगर कई साल से इस तरह की आवाजें उठ रही हैं तो क्या वजह है कि स्थिति जस की तस बनी हुई है। हम इसे सिर्फ पितृसत्तात्मक कह कर इतिश्री कर सकते हैं क्या? मंजू चतुर्वेदी अपने लेख में इस ओर ध्यान भी दिलाती हैं। वह लिखती हैं, "इन सभी प्रयत्नों के उपरान्त भी स्त्री जीवन के साथ एक बड़ा हादसा यह हुआ कि वह पितृसत्ता और पुरुष वर्चस्व से मुक्त नहीं हो सकी। वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बने, संपत्ति में बराबर का अधिकार पा सके, समाज में अपनी स्वतंत्र सत्ता बना सके, यह बात उन लोगों को भी रास नहीं आई, जो गाहे–बगाहे स्त्री मुक्ति की बातें करते थे। प्रगतिशील परिवारों में भी वे बहन या बेटियां पसंद नहीं की जातीं, जो पैतृक संपत्ति में बराबर का हक चाहती हैं। इसी संदर्भ में यह प्रश्न भी बैचेन करता है कि प्रारंभ से ही साहित्य में विशेषकर कविता में महिमामयी चरित्रों का ही बखान क्यों हुआ? त्याग, समर्पण और मौन को स्त्री का आभूषण मानकर अनेक महाकाव्य सीता, उर्मिला, यशोधरा, श्रद्धा पर लिखे गए। किंतु अब समकालीन समय नई स्त्री के पक्ष का है। लिहाजा आम स्त्री की बुनियादी जरूरतों पर साहित्यकारों ने नई दृष्टि से लिखा है।

इस पुस्तक के हर लेख में स्त्री पक्ष उभर कर सामने आया है। महिला के मानवाधिकार हों या महिला राजनैतिक सशक्तीकरण पंचायती राज के संदर्भ में हो। इन सभी को बांधने और समेटने की कोशिश करने वाली आशा कौशिक ने अपनी प्रस्तावना में ही लिखा है कि स्त्री मानवाधिकारों की चर्चा आज मुख्यधारा सामाजिक–राजनैतिक विमर्श का अहम हिस्सा है। वह लिखती हैं कि सैद्धांतिक स्तर पर स्त्री मानवाधिकार विमर्श ने अनेक नारीवादी वैचारिक धाराओं–उदारवादी, सांस्कृतिक, मार्क्सवादी, रेडिकल, उत्तर आधुनिक, नवउदारवादी, नवमार्क्सवादी एवं तृतीय विश्व नारीवादी एवं अन्य

मानववादी विचारधाराओं के माध्यम से स्त्री अधिकारहीनता की स्थिति को प्रश्नांकित एवं विश्लेषित किया तथा विश्लेषणानुरूप समाधान–प्रवर्तन भी किया। क्रियात्मक स्तर पर उन्नीसवीं सदी से प्रारंभ बीसवीं एवं इक्कीसवीं सदी में वर्तमान तक वैश्विक, राष्ट्रीय एवं स्थानीय स्तरों पर महिला एवं जन आंदोलनों की भूमिका लिंगभेद, स्त्री उत्पीड़न एवं अधिकारिता के विभिन्न आयामों को सार्वजनिक मंचों पर उठाने एवं स्त्री अधिकारों का विधिक संरक्षण सुनिश्चित करने की रही है। उनकी प्रस्तावना बताती है कि आशा कौशिक ने बहुत गहराई से स्त्री विमर्श, स्त्री अधिकार और स्त्री चेतना को समझा है। उन्होंने न सिर्फ आंकड़े इकट्ठे किए और उन्हें पुस्तक का हिस्सा बनाया बल्कि बहुत समझदारी से आलेखों का चयन किया। उनकी कोशिश इस पुस्तक के रूप में कामयाब रही है। स्त्री अधिकारों का एक भी पक्ष इस पुस्तक में छूटा नहीं है। एक अध्ययन के बाद जब पुस्तक आती है तो वह हर मापदंड पर खरी उतरती है। अपनी प्रस्तावना को भी उन्होंने कई हिस्सों में बांटा है। पुस्तक के पहले लेख में वह स्त्री मानवाधिकार विमर्श की बात करती हैं। आखिर मानवाधिकार विमर्श की जरूरत क्यों है? इस लेख से समझा जा सकता है। इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय शास्त्रीय पृष्ठभूमि में स्त्री का बहुत अच्छा वर्णन है। क्योंकि स्त्री अधिकार इतना विस्तृत क्षेत्र है कि उसे शब्दों में समेटना कठिन है। लेकिन जब यह अधिकार बिंदुवार सामने हों तो लगता है कि दरअसल हम जिन्हें तवज्जो नहीं देते वह भी स्त्री के अधिकार के दायरे में आता है। निःसंदेह यह स्त्री अस्मिता और अधिकार के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक है।

❖❖❖❖❖

खण्ड – 10

मानव अधिकारों पर अंग्रेजी से हिंदी में अनूदित महत्त्वपूर्ण दस्तावेज

मानवाधिकार एवं विकास : सत्ता एवं राजनीति को केंद्र में रखना

जॉर्डन क्राफोर्ड •
बार्ड ए. एंड्रीसन ••

सारांश : मानवाधिकार प्रथमतः कोई तकनीकी–विधिक मामला नहीं है। मानवाधिकार के विधिक स्वरूप को लेकर यद्यपि काफी अनुसंधान एवं विवाद हो रहे हैं, परंतु उसकी तुलना में उनके राजनीतिक चरित्र के मामले में बहुत कम ध्यान दिया गया है। मानवाधिकार मानव एवं सामाजिक जीवन के बुनियादी मानदंडों, मूल्यों एवं हितों को परिभाषित करता है, किंतु साथ ही वह सत्ता के राजनीतिक एवं सामाजिक संदर्भ में और संसाधनों की तुलना में प्रतिस्पर्धाओं की स्थितियों के अनुरूप सदैव संरक्षित या अस्वीकृत भी रहा है। यह आलेख एक अनुसंधान परियोजना पर एक रिपोर्ट है, जिसमें विस्तृत आनुभविक विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार छह विभिन्न देशों में सत्ता के विभिन्न स्वरूप मानवाधिकार सक्रियतावाद को रोकते हैं और उस सत्ता संरचना को चुनौती देने हेतु समानांतर सशक्तिकरण के निर्माण की जाँच करते हैं। इसमें कहा गया है कि विकास के संदर्भ में मानवाधिकारों की सत्ता एवं राजनीतिक विश्लेषण पर अधिकाधिक व्यवस्थित एवं विश्लेषणात्मक रूप से ध्यान देने की जरूरत है।

• जार्डन क्राफोर्ड यूके के यूनिवर्सिटी ऑफ लीड्स में स्कूल ऑफ पोलिटिक्स एंड इंटरनेशनल स्टडीज में विकास राजनीति के प्रोफेसर हैं।

•• बार्ड ए एंडरसन नार्वे के यूनिवर्सिटी ऑफ ओसलो के नार्वेजियन सेंटर फॉर ह्यूमन राइट्स में प्रोफेसर तथा अनुसंधान निदेशक हैं।

CREDIT:

Crawford, Gordon. 'Human Rights And Development: Putting PowerAnd Politics At the Center.' Human Rights Quarterly 37:3 (2015), 662-690. © 2015 Johns Hopkins University Press. Reprinted with permission of Johns Hopkins University Press.

I. प्रस्तावना

काफी लंबे समय से मानवाधिकार तथा अंतरराष्ट्रीय विकास 'शानदार एकाकीपन में रहा है।'[1] हालांकि 1990 के दशक के मध्य में मानवाधिकार के मानदंडों एवं विकास के बारे में रणनीतिगत चिंतन पैदा होता है और विकास के प्रति मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण उत्पन्न होता है, जिसमें विकास का लक्ष्य मानवाधिकारों की प्राप्ति के रूप में उभरता है।[2] अंतरराष्ट्रीय विकास के अंतर्गत प्रायः मात्र अधिकार–आधारित दृष्टिकोण के रूप में उल्लिखित 'अधिकारों की उत्पत्ति' को काफी व्यापक रूप से प्रलेखीकृत[3] किया गया है और उसमें ऐतिहासिक तथा संदर्भगत तथ्यों को शामिल किया गया है, जिन्हें अधिकार–आधारित विकास[4] के उभार के रूप में माना गया है। 1990 के अंत तथा 2000 के प्रारंभ तक अनेक अंतरराष्ट्रीय विकासमूलक गैर–सरकारी संगठनों (एनजीओ) ने बड़े उत्साह के साथ मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण को अपनाया, जिनमें एक्शनएड, सेव द चिल्ड्रेन, ऑक्सफॉम एवं केयर इंटरनेशनल और प्रशासनिक तौर पर अनेक सरकारी एवं अंतर–सरकारी विकास एजेंसियां, जैसे यूके डिपार्टमेंट फॉर इंटरनेशनल डेवलपमेंट (डीएफआईडी), स्वेडिश इंटरनेशनल डेवलपमेंट एजेंसी (एसआईडीए), यूनाइटेड नेशन्स चिल्ड्रेन्स फंड (यूएनआईसीइएफ) तथा यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेंट प्रोग्राम (यूएनडीपी) विशेष रूप से शामिल हैं।[5] स्थानीय एनजीओ तथा सामाजिक आंदोलनकारियों ने भी मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण को अपनाया।[6]

2000 के दशक के प्रारंभ से लेकर मध्य तक विकास नीति तथा व्यवहार में अधिकारों के उद्‌भव के दौरान अधिकार आधारित दृष्टिकोण की रूपांतरकारी सक्षमता को देखा गया, खासकर इस रूप में कि वे किस प्रकार संभागिता के रूपांतरकारी रूपों के साथ अनुगूंजित हो सकते हैं।[7] निश्चित रूप से अधिकार आधारित दृष्टिकोण को एंड्रिया कॉर्नवाल तथा सेलेस्टाइन न्यामु–मुसेंबी द्वारा ''मुख्यधारा में लाकर उत्पन्न किए गए उपकरणवाद के संदर्भ में संभागिता के राजनैतिक सिरे को तेज करने और संभागिता, उत्तरदायित्व एवं नागरिकता के बीच गंभीर संपर्क स्थापित करने'' के रूप में देखा गया।[8] इस तरह के उत्साह का मुख्य ध्यान अधिकार का दावा करने वाली एजेंसियों तथा स्थानीय राजनीतिक कार्रवाई की प्रक्रिया, जैसे जमीनी एकत्रीकरण, सामूहिक कार्रवाई तथा परामर्श पर और साथ ही ऐसी एजेंसियों के कार्यों पर था। इसी प्रकार पॉल ग्रीडी ने इस दावे को प्रमुखता दी कि अधिकार आधारित दृष्टिकोण के फलस्वरूप 'तकनीकी समाधान की तुलना में सामाजिक–राजनीतिक कार्रवाई' के रूप में विकास की हकदारिता एवं पुनःअभिमुखीकरण के रूप में विकास के पुनर्निर्माण के सकारात्मक

बोध में 'विकास को पुनःराजनीतिकरण' करने की काफी संभावना बढ़ सकती है,[9] जबकि कार्नवाल तथा न्यामु–मुसेंबी ने माना कि अधिकार आधारित दृष्टिकोण 'अधिक प्रगामी, उग्र यहां तक कि विकास के दृष्टिकोण' वाला हो सकता है[10], जिसमें सत्ता के संबंधों को रूपांतरित करने की क्षमता होगी।

हालांकि कई बार वही लेखक एक ही साथ यह संदेह भी व्यक्त करते हैं कि रूपांतरकारी वह सक्षमता पता नहीं किस सीमा तक प्राप्त होगी। उदाहरण के लिए पीटर यूवीन यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या अधिकार आधारित दृष्टिकोण 'सत्ता के पत्तों को मौलिक रूप से फेंटे बगैर या संसाधनों के पुनर्वितरण के बिना' आडंबरी 'रोयां' से अधिक तो नहीं होगा।[11] इसी प्रकार कॉर्नवाल एवं न्यामु–मुसेंबी पूछते हैं कि क्या अधिकार आधारित दृष्टिकोण 'कॉस्मेटिक आडंबर का मात्र एक अद्यतन झोंका भर तो नहीं होगा, जिससे पुराने विकास को भुनाया जाएगा।'[12] इस प्रकार की अनिश्चितता मुख्यतः इस बात पर निर्भर थी कि क्या नेतृत्व वर्ग ऐसे अधिकारों को प्राप्त करने हेतु राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाएंगे जो सत्ता की असमानता तथा संसाधनों के अन्यायपूर्ण संवितरण का विरोध करेगा।

चूंकि हम मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण के मूल रूप से उत्पन्न होने के दो दशक की अवधि को पार कर चुके हैं और उक्त प्रकार की आरंभिक अनेक वैदुष्यपूर्ण टिप्पणियों को दिए हुए एक दशक से भी अधिक हो गया है, अतः यह आलेख इसकी सापेक्षिक सफलता और असफलता के रूपांतरकारी एवं अधिकार आधारित विकासात्मक रणनीति के रूप में मूल्यांकन का प्रयास करता है। यह सत्ता एवं राजनीति के चश्मे से निम्नलिखित कारणों से करता है। प्रथम, मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण संबंधी काफी साहित्य अधिकारों का दावा करने और उसके सत्तासंपन्न अधिकार–वंचित समूहों की एजेंसी पर बल देता है, जबकि उसके लेखक यह तर्क देते हैं कि ऐसी नकारात्मक सत्ता संरचनाओं की एक आपेक्षिक लापरवाही है, जो प्रायः अधिकारों को प्राप्त करने में अवरोध के रूप में कार्य करता है। ऐसी संरचनाएं समाज में ऐसे अनेक अभिजात समूहों को धन प्रदान करती हैं, जिनके पास अधिकारों के दावों को रोकने की ताकत होती है, खासकर जब वे दावे उनके हितों के लिए खतरे के रूप में देखे जाते हैं। इस अर्थ में इस अनुसंधान का आरंभिक बिंदु अधिकार आधारित दृष्टिकोण के संबंध में जेथ्रो पेटिट एवं जोयाना ह्वीलर की आलोचना से प्रभावित है, जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि सशक्तीकरण ''सीमांतीकरण और सत्ता संबंधों के संरचनागत कारणों को दूर करने में असफल रहता है और उन्हें स्थायी बना देता है। इसकी धारणा यह है कि समाज का एक वर्ग दूसरे वर्ग की सत्ता को आवश्यक चुनौती दिए बिना शक्तिशाली हो सकता

है।''[13] अतः पेटिट एवं ह्वीलर इस बात को रेखांकित करते हैं कि अधिकार आधारित दृष्टिकोण को लागू करने से ''विश्लेषण एवं विरोध का महत्त्व अधिकारों को प्राप्त करने के पथ पर सत्ता संबंधों एवं संरचनागत बाधाओं को गंभीर रूप से अंतःस्थापित कर देता है।''[14]

दूसरा, आपेक्षिक रूप से ताकतवर और कमजोर के बीच शक्ति एवं शक्ति की गतिशीलता पर बल देना अधिकार आधारित दृष्टिकोण की राजनीति के महत्त्व को रेखांकित करता है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। यह मानता है कि मानवाधिकार के लिए संघर्ष राजनीतिक संघर्ष है और विकासात्मक रणनीति के रूप में नागरिकों के अधिकार के लिए वकालत एक खास राजनीतिक परिवेश में किया जाता है, जिसके भीतर वह उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए इस राजनीतिक संदर्भ की प्रकृति, पारदर्शिता का स्तर और सरकारी प्राधिकारियों का उत्तरदायित्व, उस सीमा तक मौलिक हैं, जहाँ तक नागरिक अपने सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों का स्वतंत्र रूप से प्रयोग करते हैं और जनकेंद्रित विकास तथा अन्य प्रकार के अधिकारों की पूर्ति के लिए दावे करते हैं। अतः अधिकार आधारित दृष्टिकोण कोई तकनीकी प्रयोग नहीं है, बल्कि एक ऐसा प्रयोग है, जो राजनीति से भरा हुआ है। अनेक लेखक इस बिंदु पर भी प्रकाश डालते हैं। यूविन का कहना है कि मानवाधिकार का दावा ''एक गंभीर राजनीतिक मामला है,''[15] और कार्नवाल तथा न्यामु–मुसेंबी कहते हैं कि ''अधिकार की बात सारी की सारी राजनीति की बात है।''[16] लॉरेन हेलेन पिरोन ''दृष्टिकोण की राजनीतिक प्रकृति'' पर एक सत्ता, खासकर राज्य तथा अपने अधिकारों के दावे के लिए अधिकृत नागरिकों के बीच 'सामाजिक संपर्क' बल देते हैं।''[17] ग्रीडी एवं एनसोर खंड के अंतिम अध्याय में ओलिविया बॉल इस बात पर जोर डालती हैं कि ''अधिकार आधारित दृष्टिकोण पूरी तरह से राजनीतिक है।''[18] जो विस्तृत राजनीतिक बंटवारे के अर्थ में नहीं, बल्कि उसकी दृष्टि में वह ''सत्ता की अवज्ञा करने वाले छोटे, गरीबों के समर्थक राजनीतिक कार्य के अर्थ में हैं।''[19]

अतः 2000 के दशक के साहित्य में, जो अधिकार आधारित दृष्टिकोण की चर्चा एक क्षमताशील रूपांतरकारी रणनीति के रूप में करता है, सत्ता और राजनीति के मुद्दे को उसकी सफलता एवं असफलता के मूल प्रश्न के रूप में देखा गया। मैक डैरो एवं एंपारो टोमस[20] ने यह उल्लेख किया कि ''मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में राजनीतिक एवं सामाजिक सत्ता संबंधों के गहन विश्लेषण के लिए हमें बाध्य करता है।'' आईडीएस बुलेटिन में लिखते हुए एसएलएसए (सस्टेनेबल लाइवलिहुड्स इन सदर्न अफ्रीका) के दल ने पूछा है ''किस प्रकार राजनीति, सत्ता और हित किसी

खास व्यवस्था में अधिकार के दावे की योग्यता को प्रभावित करता है,''[21] और यह सुझाव दिया कि ''सत्ता एवं राजनीति को नकारना जिसका परिणाम निश्चित रूप से असफल होना है और जो सत्ता में हैं उनके द्वारा उन पर अधिकार जमाना है।''[22] इसी के साथ कार्नवाल एवं न्यामु–मुसेंबी सारांश रूप में यह कहते हैं कि ''अधिकार आधारित दृष्टिकोण का कोई खास महत्त्व नहीं है यदि सत्ता संबंधों के सकारात्मक रूपांतरण को प्राप्त करने की उसमें क्षमता नहीं है।''[23] अधिकार आधारित विकास के लिए सत्ता संबंधों में परिवर्तन आवश्यक है, क्योंकि यह विभिन्न सामाजिक समूहों के आपेक्षिक प्रभाव को बदलता है और राजनीतिक संस्थानों एवं मोटे तौर पर समाज दोनों के हितों का पोषण करता है। अधिकार आधारित दृष्टिकोण का उद्देश्य बजट आबंटनों एवं अन्य राजनीतिक क्रियाविधियों के माध्यम से संसाधनों के पुनर्वितरण के द्वारा अधिकारों से वंचित समूहों के मानवाधिकार को प्राप्त करना है, जिसके लिए सत्ता के रूपांतरण की जरूरत है ताकि वह राजनीतिक एजेंडा (उदाहरण के लिए श्रम कानून या कराधान पद्धति) के मुख्य मुद्दे को परिभाषित करने में सक्षम हो और गरीबी की स्थिति में रहने वाले लोगों की संगठनात्मक ताकत एवं प्रभाव को बढ़ा सके।

अतः यह आलेख दावा करता है कि सत्ता संरचना एवं मानवाधिकार के दावे के बीच की गतिशीलता को समझना आवश्यक है ताकि मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण को राजनीति एवं समाज में उन परिवर्तनों को लाने में प्रभावी बनाया जा सके जो वह प्राप्त करना चाहता है। इसके विपरीत इसके समर्थकों के बीच इस तरह की समझ के अभाव में अधिकार आधारित दृष्टिकोण एक और असफलता की रणनीति बन जाएगा। विकास हेतु मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण का मूल्यांकन करने हेतु यह आलेख अधिकार को बढ़ावा देने वाले संगठनों के बीच जोरजबरदस्ती वाली सत्ता की संरचना एवं संबंधों की गहन जागरुकता के स्तर की पड़ताल करता है और यह जानना चाहता है कि किस हद तक सत्ता की असमानता को दूर किया गया है। इस मूल्यांकन हेतु हम निम्नलिखित प्रश्नों को सामने रखते हैं :

- किस प्रकार से सत्ता संबंधों एवं संरचनागत असमानता ने विकास के संदर्भ में मानवाधिकार के लिए किए जाने वाले संघर्ष को बाधित किया है?
- अधिकार को प्राप्त करने में किस प्रकार तथा किस हद तक मानवाधिकार को प्रतिष्ठित करने में लगे हुए गैर–सरकारी संगठन स्थानीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता–संरचना को चुनौती देने में सक्षम रहे हैं?
- मानवाधिकारों को बढ़ावा देने में लगे हुए संगठन किस हद तक सत्ता संरचना को रूपांतरित करने में सफल रहे हैं और अधिकारों को प्राप्त किया है?

नीचे दी गई परिचर्चा एवं मूल्यांकन छह देशों के अध्ययन पर आधारित हैं, जिसमें गैर–सरकारी संगठनों द्वारा मानवाधिकार के लिए संघर्ष एवं सत्ता की गति की के बीच की अंतर्क्रिया की जांच की गई है। यह मानवाधिकार, सत्ता एवं नागरिक क्रिया[24] नामक संपादित खंड में पूरा प्रकाशित हुआ है। अनुसंधानकर्ताओं के छोटे दल ने अफ्रीका में जिम्बाब्वे (अध्याय 2), केन्या (अध्याय 3), घाना (अध्याय 4), दक्षिण अफ्रीका (अध्याय 5); तथा एशिया में चीन (अध्याय 6) एवं कोलंबिया (अध्याय 7) जैसे देशों के मामलों पर विचार किया है। लेखकों ने अध्ययन हेतु इन छह देशों का चयन राजनीतिक सत्ता के संबंध में भिन्न–भिन्न राजनीतिक संदर्भों तथा लोकतंत्र से लेकर निरंकुश शासन प्रणाली में लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के स्तर को दर्शाने और इस प्रकार नागरिक कार्रवाई के लिए विभिन्न राजनीतिक अवसर–संरचना को प्रस्तुत करने के लिए किया है। लेखक पुस्तक के अंतिम अध्याय में अध्ययन किए गए देशों का विश्लेषण करते हैं, जबकि सभी देशों के लिए नीचे उल्लिखित उदाहरणों से संबंधित विस्तृत स्रोत सामग्री संबंधित देश के अध्यायों में पाई जा सकती है। विशेष बात यह है कि इस आलेख में विकास हेतु मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण की आपेक्षित सफलता या असफलता का बहुत ही विशिष्ट मूल्यांकन किया गया है, जिसमें विश्लेषण के केंद्र में सत्ता एवं राजनीति के महत्त्व को उजागर किया गया है।

निम्नलिखित तीन अनुभाग तीन अनुसंधान संबंधी प्रश्नों को सामने रखते हैं, जिसमें उन देशों के साक्ष्य प्रस्तुत हैं, जिनका अध्ययन किया गया है। निष्कर्षतः विश्लेषण के केंद्र में राजनीति एवं सत्ता को रखने के महत्त्व पर अंतिम विचार करने के पूर्व विकास के लिए मानवाधिकार आधारित दृष्टिकोण की सफलता या असफलता का समग्र मूल्यांकन किया गया है, यदि अधिकार आधारित दृष्टिकोण को अधिक यथार्थवादी एवं प्रभावी विकासात्मक दृष्टिकोण प्रदान करना है।

II. मानवाधिकार संघर्ष पर सत्ता का दबाव

सत्ता एक जटिल और प्रतिस्पर्धात्मक संकल्पना है। स्टीवेन ल्यूक्स ने अपनी मानक कृति में सत्ता के तीन आयाम निर्धारित किए हैं – प्रत्यक्ष, गुप्त एवं अप्रत्यक्ष [25]। प्रत्यक्ष सत्ता तब होती है जब कोई व्यक्ति 'क' किसी दूसरे व्यक्ति 'ख' पर इस हद तक हावी होता है कि वह उससे (ख) ऐसे कार्य करवा लेता है जिसे वह अन्यथा नहीं करता[26]। इसका उपयोग वैसे राजनीतिक निर्णय करने में होता है जहाँ वास्तविक एवं गोचर स्वार्थ द्वन्द्व विद्यमान हो। ल्यूक्स मुख्यतः नीति अधिमान्यता में मतभिन्नता का हवाला देते हैं, परंतु प्रत्यक्ष सत्ता का प्रभाव सामाजिक वर्ग–स्वार्थ के मामले में भी देखा जा सकता है[27]।

गुप्त सत्ता राजनैतिक निर्णय करने की प्रभावी शक्ति का विस्तार करती है। यानी उन निर्णयों को प्रभावित करती है कि किस मुद्दे पर विचार किया जाए और किस विषय को समर्थों के स्वार्थ के विरुद्ध मानकर, जिसे सामान्यतः गैर–निर्णय वाला क्षेत्र कहा जाता है[28], कार्यसूची से हटा दिया जाए। तीसरे आयाम, अप्रत्यक्ष या अंतर्निहित सत्ता में ल्यूक्स ने दो महत्त्वपूर्ण तत्वों को शामिल किया है। पहला, सत्ता संबंध केवल व्यक्तिगत कार्यकलाप तक ही सीमित नहीं होता है, अपितु सामाजिक ताकतों से संबद्ध सामूहिक कार्यकलाप से भी संबंध रखता है। दूसरा, सत्ता लोगों की रुचि के विरुद्ध इच्छाओं और मान्यताओं के निर्धारण तथा नियंत्रण को प्रभावित करती है जैसे जनसंचार–माध्यम की सूचना को प्रभावित कर तथा समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा[29]। दूसरे शब्दों में, लोगों की आवश्यकताओं को प्रभावित, रूपायित एवं निर्धारित कर सत्ता का प्रयोग किया जाता है[30]। प्रभावी सत्ता के ये विभिन्न आयाम नकारात्मक सत्ता के रूप हैं जहाँ प्राधिकार और दमन विद्यमान हैं।[31]

इसके आलोक में, सत्ता संबंध एवं सांगठनिक विषमताओं ने विकास के मामले में मानवाधिकार संघर्ष को किस प्रकार से बाधित किया है? बहुद्देशीय अध्ययन से इन अपेक्षाओं की पुष्टि हुई है कि विभिन्न प्रकार की दमनात्मक सत्ताएं अधिकार हासिल करने के मामले में बाधक रही हैं और मानव अधिकार के लिए संघर्ष राजनैतिक संघर्ष है जिसमें प्रायः आर्थिक एवं राजनैतिक हित अधिकार प्राप्ति के दावों के बाधक और अवरोधक होते हैं। देशीय अध्ययन में प्रत्यक्ष, गुप्त और अप्रत्यक्ष सत्ता के अनेक उदाहरण मिले हैं जो इस खोज की पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त, इस लेख में यह विचार किया गया है, क्या सत्ता के इन तीन प्रकार में से कोई या सभी अधिक उदार तथा पारदर्शी राजनैतिक तंत्र (घाना, केन्या एवं दक्षिण अफ्रीका) की तुलना में सत्तावादी तंत्र (जिम्बाब्वे, चीन) में अधिक प्रबल है। इस लेख में सत्ता की 'संबद्धता' शीर्षक के अंतर्गत सत्ता के विभिन्न आयामों के बीच पारस्परिक प्रतिक्रिया तथा एक दूसरे को सशक्त करने में आपसी सहायता पर प्रकाश डालते हुए सत्ता के तीन आयामों का अध्ययन नीचे तीन उप–खंडों में किया गया है।

क. प्रत्यक्ष सत्ता

देशीय अध्ययन अधिकार के संघर्ष में प्रत्यक्ष सत्ता द्वारा रुकावट डाले जाने के अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं। विभिन्न कार्यकर्ता राजनीति के क्षेत्र में सभी मामलों में

प्रत्यक्ष सत्ता का प्रयोग करते हैं, यद्यपि अनुसंधानकर्ता निर्णय करने की लोकतांत्रिक एवं विधिक प्रक्रिया तथा और भी अधिक दमनात्मक सत्ता की स्थितियों में इसके संचालन में अंतर बताते हैं। आर्थिक और सामाजिक कार्यकर्ता और राजनैतिक कर्ता भी प्रत्यक्ष सत्ता का उपयोग करते हैं।

घाना में, यद्यपि एक जवाबदेह (महिला) मंत्री, महिला मामले तथा कुछ (मुख्यतः पुरुष) संसद सदस्यों ने प्रत्यक्ष सत्ता का उपयोग कर पारिवारिक हिंसा को अपराध घोषित करने के लिए विधेयक को विधिक प्रक्रिया के अधीन लाने का तीव्र प्रतिरोध किया, लेकिन लोकतांत्रिक राजनैतिक प्रक्रिया ने घरेलू हिंसा विधायी गठबंधन वाली गैर–सरकारी संस्था के कार्यकर्ताओं को विधेयक पारित करने की पैरवी के लिए खुली अनुमति दी और अंततः उन्हें सफलता मिली। महत्त्वपूर्ण है कि यह गुप्त एवं अप्रत्यक्ष सत्ताओं के बीच सहभागिता का स्पष्ट उदाहरण है। यह व्यक्त करने के लिए कि विधेयक घाना की संस्कृति के प्रतिकूल था, विधेयक के विरोधी सांसदों ने विधायी प्रक्रिया में अपनी गुप्त सत्ता का उपयोग कर परम्परागत पितृसत्तात्मक आचरण का सहारा लिया। इस तरह खुली एवं लोकतांत्रिक प्रक्रिया के निजी क्षेत्र ने मानव अधिकार के विकास के विरुद्ध कार्यरत विभिन्न प्रकार के सत्ताओं के युग्म प्रभाव को बाधित नहीं किया। इस उदाहरण में प्रमुख राजनैतिक लोगों ने प्रत्यक्ष राजनैतिक कार्यसूची निर्धारण में तथा अप्रत्यक्ष परम्परा एवं संस्कृति के प्रति गुप्त रूप से असहमति जतायी। जिम्बाब्वे जैसे निरंकुश राजतंत्र ने महिला अधिकार संगठन के कार्यकर्ताओं पर अत्यंत दमनात्मक रूप से प्रत्यक्ष सत्ता का दबाव डाला, पुलिस ने समय–समय पर वूमन ऑफ जिम्बाब्वे अराइज (डब्ल्यूओजेडए) द्वारा आयोजित प्रदर्शन को तितर–बितर किया और रोका साथ ही, स्वच्छ जल, सुलभ शिक्षा तथा आधारभूत स्वास्थ्य सुविधा की मांग करने वाली महिलाओं को परेशान किया।

भूमि आबंटन एवं भूमि की राजनीति में बहुधा प्रत्यक्ष सत्ता देखी गई है। सभी देशीय अध्ययन में, शासन काल तथा राजनैतिक परिस्थिति के निरपेक्ष, भूमि संबंधी समस्या अत्यंत विवादास्पद रही है। लेकिन स्थानीय परिस्थिति के अनुसार इसके प्रकार में भिन्नता थी। केन्या में केन्याटा तथा मोई शासन काल 1960 के मध्य से 2002 की अवधि में राजनीति एवं आर्थिक क्षेत्र के बड़े लोगों के लिए भू–आबंटन का कार्य ग्राहक या अनुयायी इकट्ठा करने और समृद्ध होने का अच्छा जरिया बन गया था। केन्या लैंड एलायंस (के एल ए) ने मोई शासन काल के अंतिम वर्षों में भूमि नीति के लिए आवाज उठाई, लेकिन शासक वर्ग का सिरे से ही विरोध रहा। यह प्रत्यक्ष सत्ता शासक वर्ग के समर्थक भू–व्यवसायियों की गुप्त सत्ता की सहायक हो गई। इन भू–व्यवसायियों राजनीतिक दाव–पेंच से काफी जमीन हथिया ली। अंततः भू संबंधी मामलों के पैरवीकार

शक्तिशाली भू–व्यवसायियों को चुनौती देने लगे और हमेशा उन्हें परेशान होना पड़ा। निगम भी राज्य शासन से मिलकर विरोधी अधिकार समर्थक के कार्यकलापों पर प्रत्यक्ष सत्ता का दबाव डालने लगे। यहाँ अधिकार का कॉर्पोरेट उल्लंघन उजागर होता है। घाना में वासा एसोसिएशन ऑफ कम्युनिस्ट एफेक्टेड बाई माइनिंग (डब्ल्यूए सी ए एम) ने विभिन्न भूमि तथा रोजगार मामलों में बड़ी मात्रा में सोने के खनन कार्य में लगे पारराष्ट्रीय निगमों के दमन के विरुद्ध स्थानीय समुदाय की सहायता की। खनन कंपनियों के बचाव के लिए निजी एवं सरकारी सुरक्षा बलों को नियुक्त कर स्थानीय समुदाय के विरोध के दमन हेतु इन पर कॉर्पोरेट तथा शासक वर्ग की युग्म सत्ता का दबाव डाला गया। इसके परिणामस्वरूप कई सारी प्रमाणसिद्ध घटनाएं घटीं जिसमें सैनिक और पुलिस बलों ने समुदाय के सदस्यों द्वारा किए गए शांतिपूर्ण आंदोलन को रोकने के लिए बल प्रयोग किया और इस कार्यवाही के दौरान अनेक श्रमिक घायल हुए जिन्हें अस्पताल में भरती होना पड़ा। एक प्रतिवादी ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया–सरकार ने अपनी संप्रभुता की टोपी उतार कर निगम की टोपी पहन ली है।[32] चीन में गैरसरकारी संस्था एमडब्ल्यूएलएआरओ शासक वर्ग एवं कॉर्पोरेट की युग्म शक्तियों से पीड़ित प्रवासी मजदूरों की सहायता कर रही थी। संस्था को अनुभव हुआ कि प्रशासन कॉर्पोरेट की शक्ति को सीमित करने में कमजोर या अनिच्छुक था। आर्थिक उदारीकरण के प्रारंभिक वर्षों में प्रशासन श्रम बाजार विनियमन के मामले में शिथिल था और कॉर्पोरेट इस उदासीनता का अनुचित लाभ उठाते थे जैसे मजदूरी घटा देना या मजदूरी के भुगतान में विलंब करना। इसके कारण कंपनी परिसर में यदा–कदा विद्रोह का माहौल उत्पन्न होता था जिसमें प्रत्यक्ष कॉर्पोरेट सत्ता का प्रतिवाद शामिल था। प्रशासनिक सहायता तथा विनियमन के अभाव के विरुद्ध स्थानीय सरकारी कार्यालयों के सामने प्रदर्शन होते थे। एमडब्ल्यूएलआरओ[33] ने हस्तक्षेप किया और प्रवासी मजदूरों की ओर से मांग पेश की परिणामस्वरूप मजदूरों को संत्रास और तबाही के रूप में कॉर्पोरेट की अप्रत्यक्ष सत्ता का कोप सहना पड़ा। बल्कि विरोधाभासी प्रतिक्रिया यह हुई कि श्रम बाजार के कमजोर विनियमन ने प्रत्यक्ष कॉर्पोरेट सत्ता को संचालन तथा अधिकारवादी सत्ता की मौजूदगी में प्रशासन की कमजोरी के प्रदर्शन का अवसर दिया। विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मानव अधिकार सुरक्षा एवं प्रसार के विरुद्ध बाधक के रूप में प्रत्यक्ष सत्ता का स्रोत प्रशासन की सत्ता कभी एकल तो कभी कॉर्पोरेट सत्ता के साथ संयुक्त रूप से रही है। यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी राजनैतिक स्थितियों में प्रशासन की सत्ता ने प्रत्यक्ष सत्ता का उपयोग किया है। जबकि चीन जैसे उदारतंत्र की तुलना में जिम्बाब्वे सरीखे अधिकारवादी तंत्र में प्रायः प्रत्यक्ष सत्ता के दबाव की अपेक्षा की जाती है।

अधिकारों की मांग एवं उसकी अनुमति प्रशासन और व्यवसायियों के हित के प्रतिकूल जाती है। उदाहरणार्थ, भू–स्वामी पर यदा–कदा प्रत्यक्ष सत्ता का दबाव पड़ता है तो अधिकारों के लिए पैरवी करना कॉर्पोरेट स्वार्थ, जैसे खान उद्योग के मामले में, के प्रतिकूल साबित होता है।

ख. गुप्त सत्ता

ल्यूक्स के अनुसार गुप्त सत्ता राजनैतिक निर्णय करने की कार्यसूची पर नियंत्रण रखने के क्षेत्र को विस्तृत करती है।[34] यह परदे के पीछे रहकर निर्दिष्ट करती है कि किन मुद्दों को चर्चा के लिए आम जनता के बीच लाकर नीति निर्मित करने की प्रक्रिया में शामिल किया जाए और किन विषयों की इस मामले में अनदेखी की जाए। एकाधिक शासन वालों में शासक वर्ग ने जनता के नियंत्रण तथा दायित्व के बिना गुप्त सत्ता का प्रयोग बंद मंचों, जैसे "रसोई घर" में किया। इस प्रकार, पारदर्शिता का न होना संबंधित लोगों की सार्वजनिक भागीदारी एवं सोच्चार अभिव्यक्ति के आड़े आता है। आम जनता की अभिव्यक्ति नहीं होने से समस्या तब आ खड़ी होती है जब राजचिंतकों और मीडिया को बरगलाने के लिए गुप्त सत्ता का पुनः प्रयोग किया जाता है। देशीय अध्ययन में ऐसे अनगिनत उदाहरण भरे पड़े हैं।

संबंधितों की जानकारी के बिना गुप्त व्यापार का प्रतिपादन दक्षिण अफ्रीका में देखा गया है। नकुजी डेवलपमेंट एसोसिएशन ने भूमि मामलों में सक्रिय भूमिका निभाई। इसमें वाणिज्यिक कृषि मजदूरों को सहायता करना भी शामिल था। अधिकारों की मांग किए जाने पर कृषि मजदूरों को दबाया गया नजूकी द्वारा उनके हक में पैरवी किए जाने पर प्रशासनिक अधिकारियों एवं गोरे वाणिज्यिक कृषि मजदूरों की गुप्त सत्ताओं का गठबंधन लगाता अवरोध बना रहा। जबकि नकुजी की अपेक्षा थी कि रंगभेद वातावरण के पूर्व सरकारी कर्मचारी कृषि नियोजकों के दमन के विरुद्ध सहायता करेंगे। लेकिन इसका उल्टा ही हुआ और सरकारी कर्मचारियों की गुप्त सत्ता के गठबंधन को मजबूत करने के लिए नियोजक ने गुप्त सत्ता का प्रयोग जारी रखा।

दक्षिण अफ्रीका की समस्याओं के अध्ययन में, विशेष रूप से पुरुष शासित राजनैतिक एवं व्यावसायिक परिवेश में गुप्त सत्ता का प्रयोग स्पष्ट हुआ है। नियुक्ति नीति, पदोन्नति दर तथा यौन उत्पीड़न के मामलों का अधिकारियों द्वारा संभालने की बाबत लैंगिक समानता के सामने बाधाएं मौजूद थीं। दक्षिण अफ्रीका में 2011 में नियुक्त एक उच्चस्तरीय नए मुख्य न्यायाधीश इस प्रकार की विशेष गुप्त सत्ता के संघर्ष पर प्रभाव को प्रकाश में लाए थे।

वे वही व्यक्ति थे, जिन्होंने लिंग आधारित हिंसा एवं यौन उत्पीड़न के मामले में पारिवारिक हिंसा तथा वैवाहिक बलात्कार के अभियुक्त एक पुरुष की सजा को कम करके क्षमादान दिया था जिसके कारण पूर्व में प्रेस ने इनकी कड़ी आलोचना की थी।[35] इससे यह साबित होता था कि नारी अधिकार के मामलों में हिंसा एवं उल्लंघन को गंभीरता से नहीं लिया जाता था।

जिम्बाब्वे के दमनकारी राजनैतिक परिवेश में प्रायः सभी सरकारी राजनैतिक उत्पीड़न के मामले में प्रत्यक्ष एवं गुप्त शक्तियों में युगलबंदी छायी हुई थी। उदाहरणार्थ, वूमन ऑफ जिम्बाब्वे अराइज (डब्ल्यूओजेडए) के सदस्यों को गैर कानूनी प्रदर्शन करने के आरोप में प्रत्यक्ष शक्ति का उपयोग कर केवल गिरफ्तार ही नहीं किया गया, बल्कि उन्हें ऐसे पीटा गया कि जिसमें न दिखने वाली चोटें भी आईं जिसे बाद में उत्पीड़न साबित करना कठिन था। उक्त शासन काल में उत्पीड़न के विरुद्ध दबी आवाज में आलोचना होती थी एवं विरोधी भी उभर कर सामने नहीं आ पाते थे। उन्हें शारीरिक रूप से उत्पीड़ित किया जाता था यहाँ तक कि गुप्त रूप से भी, दूसरी घटना इस बात का उदाहरण है कि सिविल अधिकार तथा राजनैतिक अधिकार के प्रशासन द्वारा हनन के विरोध में प्रदर्शन करने पर शासन कितने शातिर तरीके से यह चरम कार्ययोजना निर्धारित करती थी।

गुप्त सत्ता को "स्थानीय सुरक्षा" के रूप में भी देखा जा सकता है, जहाँ सत्ता के स्थानीय एजेंट मुख्य शासी निकाय की रक्षा करते थे। चीन में एक ऐसे मामले को जेडएलएएस[36] ने सुलझाया था।[35] यह संस्था नारी अधिकार विकास के कार्य में सन्नद्ध है। स्थानीय निकाय ने यौन उत्पीड़न के एक मामले को अपने हाथ ले लिया और सूचना को प्रकट नहीं होने दिया ताकि पीड़ित न्याय और विचार के लिए न्यायालय की शरण में न जा सके। अंत में मामले की सुनवाई "कैमरे में" हुई। वस्तुतः तथाकथित आरोपियों के हित में की गई पैरवी की प्रभावशाली सिविल सर्वेंट्स द्वारा अनदेखी की गई। उसी प्रकार गैर–सरकारी संस्था एमडब्ल्यूएलएआरओ ने पाया कि प्रवासी मजदूरों के अधिकार की मांग को श्रम अनुबंध के तथ्यों को जाहिर न कर दबाने में गुप्त सत्ता का उपयोग किया गया।

घाना में कॉर्पोरेट की गुप्त सत्ता के उपयोग का पता तब चला जब स्थानीय सत्ताधारियों, विशेष कर स्थानीय सरकारी और पारंपरिक प्रधानों के समर्थन प्राप्त करने हेतु खनिज कंपनियों ने अपने वित्तीय संसाधनों को बड़ी मात्रा में लगा दिया। इसके परिणामस्वरूप शक्तिशाली विरोधियों के क्षेत्र में विस्तार आया और वासा एसोसिएशन ऑफ कम्युनिटी एफेक्टेड बाई माइनिंग (डब्ल्यूएसीएएम) एक छोटी सी संप्रदाय आधारित

संस्था साबित हुई। इन घटनाओं में वैधानिक (जैसे व्यावसायिक निबंधन तथा लोकसेवा संबंधित उद्यम के प्रावधान) से लेकर अवैध और गैरकानूनी कार्य जैसे गुप्त कॉर्पोरेट सत्ता के उदाहरण मौजूद हैं। खान कंपनियों ने उसके बाद घाना के संसद में सांसदों की सहायता लेकर छल प्रपंच से गुप्त सत्ता का उपयोग किया, जिसमें संसद सदस्यों ने खुले रूप से उनका साथ दिया। उदाहरण के लिए, घाना के पर्यावरण, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विभाग की चयन समिति ने खान परिसर में तथ्य संग्रह करने हेतु दौरा किया और बहुत बड़ी खान कंपनी एंग्लो गोल्ड अशांटी लिमिटेड पर्यावरण व्यवस्था के प्रति संतोषजनक पाया जबकि समिति के सदस्यों ने खनन कार्य से दुष्प्रभावित रिहायशी क्षेत्र का निरीक्षण नहीं किया था। दरअसल खान कंपनी ने समुदाय के प्रतिनिधियों का चयन स्वयं किया उन्हें समिति के सदस्यों को मिलवाया गया था। कंपनी ने स्थानीय सांसदों को कंपनी के बोर्ड में आमंत्रित किया, लेकिन कंपनी ने संबंधितों के हित के लिए क्षेत्र की समस्याओं के समाधान हेतु सांसदों की व्यक्तिगत रूप से पैरवी करने की योग्यता को नजर अंदाज किया। उसी प्रकार केन्या में रिफ्ट वैली के लेक नैवाशा के मछुआरे गुप्त चाल के शिकार हुए। पर्यटन के लिए लेक का उपयोग करने के इच्छुक फूल उत्पादक किसान एवं रिपेरियन एसोसिएशन की मिली भगत से गुप्त शासकीय सत्ता का उपयोग किया गया।

विकास के मानव अधिकार आधारित दृष्टिकोण के लिए पारदर्शिता एक प्रमुख गुण है। पारदर्शिता मानव अधिकार के आंतरिक तथा सहायक मूल्यों को व्यक्त करती है। जनहित के संबंध में नागरिको की अंतर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि ही वास्तविक आंतरिक मूल्य है। इसकी सहायता से उन्हें जानकारी प्राप्त होते रहती है, स्वायत्तता के चयन का विवेक आता है और अर्थपूर्ण जीवन व्यतीत करने की सीख मिलती है। सहायक के रूप में भी पारदर्शिता आवश्यक है क्योंकि इससे जन जीवन के अधिकारों के लिए विचार विमर्श के अवसर मिलते हैं। गैर–निर्णयकारक[37] गुप्त सत्ता मानव अधिकार सिद्धांत की विरोधी होती है, सिवाय उन मुख्य नाजुक मुद्दों के जिन्हें कार्यसूची में स्थान देकर जनता के समक्ष विचार–विमर्श किया जाता है। अनेक देशीय अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि कृषक समाज में भूमि विकास पर किए गए आंदोलन प्रायः विफल हुए हैं। केन्या में मामलों के अध्ययन के नैरोबी के कोरोगोचो अनौपचारिक समझौता वाले खंड में यह दिखाया गया है कि अनौपचारिक समझौता के मामले में नागरिकों की व्यक्तिगत सुरक्षा की उपेक्षा शहरी नागरिक अधिकार की गंभीर समस्या है। दोनों उदाहरणों में अधिकार के मुद्दे को कार्यसूची में शामिल न करना गैर–निर्णय की गुप्त सत्ता को स्पष्ट करता है। प्रत्यक्ष सत्ता की तुलना में गुप्त सत्ता के विरुद्ध लड़ पाना कठिन है क्योंकि यह छिपी होती है तथा पहुँच से बाहर होती है।

ग. अप्रत्यक्ष सत्ता

नाम से ही स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष सत्ता को देख पाना, हल कर पाना और चुनौती देना और भी कठिन है। यह मनोवृत्ति, जीवन दृष्टिकोण और व्यवहार में समायी होती है। ये सारे सामान्यतः सामाजिक परंपरा, रीति–रिवाजों से संबद्ध होते हैं। सामाजिक मानदंड या सामाजीकरण के माध्यम से अंतर्निहित होते हैं जो लोगों के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार को रूप देते हैं। अप्रत्यक्ष सत्ता के मानदंड धर्म निरपेक्ष या धर्म और संस्कार आधारित हो सकते हैं। इसमें सामाजिक या संस्कारगत आचार व्यवहार शामिल होते हैं चाहे वे अधिकार विरोधी क्यों न हों, जैसे जबरदस्ती विवाह, स्त्री जनन अंगच्छेद आदि। अप्रत्यक्ष सत्ता को प्रायः वैध माना जाता है क्योंकि ये केन्द्रीय तौर पर सामाजिक संबंधों के गठन के स्थानीय तरीकों में होती हैं और ये सामान्यतः जनमान्य होती हैं। तथापि मानव अधिकार के दृष्टिकोण से सभी संस्कारगत आचार वैध नहीं हो सकते, उनमें से कुछ व्यक्ति समानता एवं निष्पक्षपात जैसे मूल मानव अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। देशीय अध्ययन के मामलों के विश्लेषण से, विशेष रूप से नारी के प्रति हिंसा के मामले, लिंग के आधार पर विभेदीकरण के कई विशिष्ट उदाहरण प्राप्त हुए हैं।

बाद वाली घटना घाना की है, जिसका उल्लेख 2003 से लेकर 2007 तक की अवधि में घरेलू हिंसा बिल के विरुद्ध लड़ाई में हुआ है। ऊपर हमने समाहित सत्ता के रूप में उत्तरदायी मंत्री के विरोध का वर्णन किया है, अर्थात् मंत्री की प्रत्यक्ष सत्ता का सामाजिक आचार–व्यवहार की अप्रत्यक्ष सत्ता में सम्मिलित हो गई। ऐसी अप्रत्यक्ष सत्ता की पहचान डीवीसी ने की और बताया कि बिल के समर्थन में जन शिक्षा तथा जागरुकता लाना इसके मुख्य कार्यों में से एक है। नैरोबी के कोरोगोचो समझौता के बोराना जनजाति की लड़कियों की उच्च शिक्षा के मामले में परंपरा एवं संस्कार संबंधी सत्ता का अन्य उदाहरण केन्या में मिला है। वहाँ पर 16 वर्ष की उम्र में लड़कियों का विवाह कर देने की संस्कारगत बाध्यता उनकी उच्च शिक्षा में बाधक होती है। मिस कोच इनिशिएटिव (एमकेआई) लड़कियों की शिक्षा के अधिकार का समर्थन किया एवं छात्रवर्षत्ति योजना चलाकर, जनता की मध्यस्थता की सुविधा कर तथा परिवार के सदस्यों के बीच विचार–विमर्श के माध्यम से संस्कार और रिवाज की बहुत सी समस्याओं का निराकरण किया।

घाना एवं केन्या की तरह जिम्बाब्वे वूमन लॉयर्स एसोसिएशन (जेडडब्ल्यूएलए) ने भी सार्वजनिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष और गुप्त सत्ता के पारस्परिक मेल का निजी क्षेत्र में अप्रत्यक्ष सत्ता का अनुभव किया। इस मामले के अध्ययन में महिलाओं के अधिकारों के लिए किए जाने वाले दावे का मजाक उड़ाया गया, उन्हें शांत कराया गया और प्रत्यक्ष

तथा गुप्त–दोनों तरह से राजनीतिक कार्यसूची और सार्वजनिक बहस से, विशेष रूप से शासन के प्रति वफादार मीडिया द्वारा, बाहर रखा गया। साथ ही अप्रत्यक्ष सत्ता के स्रोत के रूप में परिवार में पितृसत्तात्मक दबदबा कायम रहा जिससे महिलाएं सामाजिक तथा जन जीवन के क्षेत्र में हाशिए पर ही रहीं। इस प्रकार परिवार में नारियों की असमान भागीदारी का मुद्दा नारी अधिकार के लिए संघर्ष में जेडडब्ल्यूएलए का केन्द्रीय विषय रहा। इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीका में पितृसत्तात्मक अप्रत्यक्ष शक्ति के दबदबे को इस बात से महसूस किया जा सकता है कि प्रत्यक्ष सत्ता का उपयोग करने वाले मुख्य भूमिका में पुरुष हैं और प्रायः सभी प्रमुख संस्थाओं में सर्वोच्च पदों पर निरपवाद रूप से पुरुष ही छाए हुए हैं।

चीन के संदर्भ में, संगठनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कमजोरों को कलंकित करने के लिए अप्रत्यक्ष सत्ता महत्त्वपूर्ण है[38] ताकि वे शोषण और अधीनता को स्वीकार कर सकें। उदाहरण के लिए, जब ग्रामीण प्रवासियों ने अपनी हीनावस्था को देखकर अपने प्रति होने वाले पक्षपात पूर्ण रवैये को समझ लिया तो उनके आत्मबल तथा पक्षपातपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध आवाज उठाने हेतु एकजुट होने के उनके मनोबल को कुचल दिया गया। चीन में स्थानीय संगठनों जैसे ग्राम समिति की प्रत्यक्ष सत्ता भी पक्षपातपूर्ण परम्परा और रिवाजों पर आधारित है। शहरी क्षेत्र में प्रशासन में भागीदारी बढ़ाने के उद्देश्य से गठित गैरसरकारी संस्था पीसीए[39] ने प्रदर्शित किया कि प्रत्यक्ष सत्ता अप्रत्यक्ष सत्ता के गठन में सम्मिलित होती है। स्थानीय शासन (प्रत्यक्ष सत्ता) में भागीदारी के लिए राज्य द्वारा समर्थित उद्देश्य व्यवहार में बहुत से सामाजिक एवं संस्कारगत कार्यकलापों के मूल्य, मनोवृत्ति एवं आचरण की अप्रत्यक्ष सत्ता प्रबल नहीं दिखाई देती है। सामाजिक तौर पर इन्हें व्यक्तिगत और सामाजिक पहचान को निखारने वाले गुण के रूप में लिया जाता है। जब लैंगिक समता के अधिकार के संघर्ष की स्थिति आती है तो राष्ट्रीय संविधानों में पारंपरिक रीतिगत व्यवहार को प्रधानता दी जाती है। मानव अधिकार की दृष्टि से अप्रत्यक्ष सत्ता के विश्लेषण करने पर परंपरागत रीति व व्यवहार की नकारात्मक विशेषताएं स्पष्ट होती हैं और यह भी पता चलता है कि ये किस प्रकार मानव अधिकार के समानता तथा निष्पक्षता के मौलिक सिद्धांतों के आड़े आती है। समाजीकरण के माध्यम से आत्मसात कराए गए आचार व्यवहार (विशेष रूप से बाल्यकाल में) को बदलना कठिन होता है क्योंकि ये व्यक्तिगत एवं सामाजिक तौर पर पहचान, सामाजिक सीमा तथा सामाजिक स्थिरता निर्धारित करते हैं। सामाजिक वैधता को बिल्कुल अमान्य न करते हुए लंबे समय से चले आ रहे सांस्कृतिक रीति–रिवाजों के भेदभाव पूर्ण तथा दमनात्मक गुणों को उजागर करना ही सत्ता के मानव अधिकार आधारित विश्लेषण की चुनौती है।

घ. सत्ता बाधाओं पर खोज

पहला, देशीय अध्ययन में इस बात के अनेक उदाहरण मिले हैं कि मानव अधिकारों से विभिन्न प्रकार की सत्ता बाधाएं संघर्ष करती हैं। इस लेख के प्रारंभिक प्रस्ताव को जबरदस्त सहमति मिली है कि सत्ता बाधाओं के प्रकार और उनके आपसी मेल मानव अधिकार की पैरवी पर रुकावट डालते हैं तथा विकास के मामले में गरीबों के अधिकारों को प्राप्त नहीं होने देते हैं। दूसरा, तुलनात्मक दृष्टि से उन्मुक्त एवं उदार से लेकर पूर्ण अवरुद्ध एवं आधिपत्य वाले – सभी राजनीतिक संदर्भ में सत्ता के तीनों प्रकार द्वारा मानव अधिकार के संघर्ष को बाधित किया गया है, यद्यपि प्रत्यक्ष सत्ता का प्रयोग सत्तावादी संघर्ष में दमनात्मक रूप में किया गया है। तीसरा, ल्यूक्स द्वारा किए गए "प्रभावी सत्ता" के वर्गीकरण से लेख में वर्णित विश्लेषण को सहायता मिली है तथा शोधकर्ताओं ने यह खोज की है कि सत्ता का एक प्रकार दूसरे प्रकार में समा जाता है और एक दूसरे को और शक्तिशाली बनाता है। सम्मिलित सत्ता अधिकार के संघर्ष में सीधा प्रभाव डालकर केवल संघर्ष के अधिकार को सीमित नहीं करती बल्कि अधिकार प्राप्त करने में छलपूर्वक रोक लगाती है। सम्मिलित सत्ता को चुनौती देकर अधिकार की मांग को आगे बढ़ाने में मुक्त एवं प्रजातांत्रिक माहौल सहायक सिद्ध हुए हैं।

अतः देशीय अध्ययन में हमने देखा कि सत्ता के विभिन्न प्रकार और उनके आपसी मेल से मानव अधिकार का संघर्ष किस प्रकार बाधित होता है। अंततः बहुत से उदाहरणों में यह पाया कि अधिकार के संघर्ष में जनता कम से कम अध्ययन के लिए ली गई समय सीमा में प्रमुख मानव अधिकारों से वंचित रही। जो भी हो, मानव अधिकार आधारित दृष्टिकोण से इस मूल्यांकन के लिए जो महत्त्वपूर्ण है, वह है अधिकार समर्थक संस्थाओं ने दमनकारी सत्ता के विभिन्न प्रकार और उनके सम्मिलित रूप से होने वाली बाधाओं से जनता को किस हद तक जागरूक किया और सत्ता की असमानता के विरुद्ध संघर्ष में जुटी रहीं।

III. सत्ता को चुनौती

इस खंड में प्रस्तावना में दिए गए तीन प्रश्नों में से दो पर चर्चा की जा रही है। पहला, लेखक यह मूल्यांकन करते हैं कि अधिकार समर्थक संस्थाएं मानव अधिकार संघर्ष में पैरवी पर दमनकारी सत्ता संबंधों के बाधक प्रभाव के प्रति किस हद तक क्रांतिकारी जागरुकता लाती हैं। उसके बाद लेखकों ने अध्ययन कर पाया कि इन संस्थाओं ने स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता के विभिन्न गठनों को सफलतापूर्वक चुनौती दी है।

देशीय अध्ययन के मामले में परिणाम प्रायः सकारात्मक थे एवं यह स्पष्ट हुआ कि अधिकार समर्थक संस्थाएं सत्ता की असमानता एवं शक्तिशाली कारकों द्वारा अधिकार प्राप्त करने में लाई गई बाधाओं के प्रति मौलिक जागरुकता लाती हैं। सत्ता संबंधों की असमानता को सुलझाने तथा जागरूकता लाने के लिए संस्थाओं ने विभिन्न प्रकार की कार्यनीतियां अपनाई हैं। इनमें तीन कार्यनीतियां शामिल हैं : सहकारिता एवं सहभागिता–कार्यवाहक के रूप में लोक अधिकारियों के साथ सहकारिता या सहयोगिता, सत्ताधारियों, जैसे सरकार से संघर्ष करना और गैर सरकारी कार्यकारियों के साथ मैत्री स्थापित करना। कोई संस्था स्थिति के अनुसार किसी एक या संयुक्त रूप में एकाधिक कार्यनीतियों को अपना सकती है। यह चयन जागरुकता की मात्रा या कोटि तथा बाधाओं से जूझने की क्षमता पर निर्भर करता है।

क. सहकारिता की कार्यनीतियां

मानव अधिकार की प्राप्ति में दमनात्मक सत्ता के प्रकार और सहसंबंध तथा उनके द्वारा दी गई बाधाओं के प्रति जागरुकता का कतई अर्थ नहीं है कि सत्ताधारियों से लड़ाई या विरोध हो। इसके विपरीत, अधिकार प्राप्त करने के लिए सत्ताधारियों से सहकारिता या सहयोगिता करने की भी एक कार्यनीति है। विशेष रूप में कार्यवाहक की भूमिका अदा करते हुए सरकार से अधिकार प्राप्त करने के मामले में यह कार्यनीति कारगर होती है। इस कार्यनीति का उपयोग मुख्य कारकों की संख्या, मुख्यतः राजनैतिक संदर्भ में, तथा सहकारिता या संघर्ष की आवश्यकता पर निर्भर करता है। यह मानव अधिकार एवं संस्था के प्रकार पर भी निर्भर करता है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि संस्थाएं प्रजातांत्रिक व अधिकारवादी स्थितियों में सरकार से सहकारिता करना चाहती हैं। संघर्ष का विकल्प यथार्थ नहीं होता बल्कि विभिन्न अधिकारवादी परिस्थितियों में इसका व्यावहारिक कारण (जिम्बाब्वे) या फिर विकल्प का अभाव (चीन) हो सकता है। जिम्बाब्वे में जेडडब्ल्यूएलए ने शासक दल, जैसे पुलिस एवं न्यायपालिका से ऐसे लोगों को चुना जो घरेलू हिंसा अधिनियम के कार्यान्वयन के सिलसिले में प्रशिक्षण कार्यक्रम के दौरान उनके कार्य के प्रति सहानुभूतिशील प्रतीत हुए और उन गिने–चुने लोगों के साथ सोच–समझ कर मिलकर कार्य किया। चीन में पार्टी और सरकार का दबदबा इतना प्रभावी था कि मानव अधिकार के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए संस्थाओं के पास शासकवर्ग के साथ सहकारिता के सिवा और कोई विकल्प ही नहीं था। तथापि चीन में ऐसी सहकारिता समस्या बनी रही, संस्थाओं को यथासंभव हाशिये पर रखा गया और उपलब्धियां भी शासक वर्ग की इच्छानुसार सीमित

रहीं। उदाहरणार्थ, नारी अधिकार के प्रवर्तक संस्था जेडएलएएस का आधिकारिक ऑल चाइना वूमंस फेडरेशन (एसीडब्ल्यूएफ) से जो शक्तिशाली पार्टी–सरकार संगठनों के गेट–कीपर का काम करती थी, से विलक्षण संबंध स्थापित हो गया। एक ओर सामूहिक परियोजनाओं में वूमन्स फेडरेशन के साथ जेडएलएएस की सहकारिता को सरकार की मौन सहमति मिली तो दूसरी ओर पार्टी–सरकार के साथ वूमन्स फेडरेशन का सहायक संबंध एक मुख्य बाधा साबित हुई।

प्रजातांत्रिक संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से उदार और जिम्मेवार सरकार का मतलब ऐसी सरकार से है जिसके साथ सहकारिता करने से सफलता की संभावना अधिक होती है। इस संदर्भ में सहकारिता की कार्यनीति का कार्यान्वयन संस्था तथा मानव अधिकार संबंधी कार्य की प्रकृति पर निर्भर है। सामान्यतः व्यावसायिक, विधि–उन्मुख कार्यकारी संस्थाएं व्यवस्था के साथ कार्य करने के लिए अधिक उत्सुक हुईं और अधिकार की पैरवी संबंधी विधि स्थापित कार्य ने पहले ही स्थापित किया है कि ये सरकार के साथ सहकारिता के मामले में अधिक प्रेरक होते हैं। इस प्रकार केन्या में किटुओ चा शेरिया ने न्याय एवं संवैधानिक मामले मंत्रालय तथा प्रव्रजन मंत्रालय के साथ क्रमशः पराविधिक प्रशिक्षण मैनुअल के उन्नयन एवं शरणार्थी विधि प्रशिक्षण के कार्य किए हैं। दक्षिण अफ्रीका में ट्श्वरानांग लीगल एडवोकेसी सेंटर (टीएलएसी) के लैंगिक हिंसा संबंधित कार्य के समक्ष विभिन्न नीति संबंधी मामलों में संसदीय समिति तथा सरकारी विभागों की ओर से अनेक अपरिहार्यताएं पेश आईं, लेकिन उन्हें घरेलू हिंसा एवं बलात्कार प्रोटोकॉल के लिए मैनुअल के प्रारूप तैयार करने में सहायता के लिए आमंत्रित किया गया। घाना में डीवीसी के घरेलू हिंसा कानून संबंधी मुहिम में सरकारी एजेंसी, जैसे वैधानिक मसौदा विभाग के एटॉर्नी जनरल के कार्यालय के साथ सहकारिता एक सीमा तक अपरिहार्य हो गई और सहकारिता एवं सामना की सम्मिलित कार्यनीति की आवश्यकता प्रदर्शित हुई जिसकी चर्चा नीचे की गई है।

सहकारिता की कार्यनीति समस्याग्रस्त रही। सरकार के नजदीक होने के कारण समय–समय पर मानव अधिकार आन्दोलन के अन्दर ही इसकी आलोचना हुई क्योंकि इसे अधिकार के उल्लंघक या अधिकार की मांग के प्रति अप्रतिसंवेदी माना जाता था। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इस तरह की आलोचना खास तौर पर चीन में की गई, लेकिन इतना होते हुए भी सामना की स्थिति में अधिकार समर्थक संस्थाओं का संचालन कठिन था। उदाहरण के लिए ग्रामीण प्रवासी मजदूरों के अधिकार के लिए कार्यरत संस्था एमडब्ल्यूएलएआरओ ने चीन में अपने मुख्य लक्ष्य कॉर्पोरेट सत्ता को चुनौती देने के लिए साधन के रूप में सरकारी सत्ता के साथ सहकारिता का विकल्प चुना था। लेकिन

सरकार से अत्यधिक नजदीक होने के कारण उस गठबंधन को भी अन्य गैर–सरकारी संस्थाओं एमडब्ल्यूएलएआरओ की आलोचना का पात्र होना पड़ा। उसी प्रकार पीसीए की आलोचना "सरकार का काम करने वाली" कहकर की गई[40], यद्यपि उन्होंने मुख्य रूप से सहभागी शासन को बढ़ावा देने हेतु संभव मानदंडों के अंतर्गत रहकर ही काम किया।

ख. सामना की कार्यनीति

अधिकार की मांग के प्रतिरोध तथा उन मांगों को नकारने के लिए सरकार की बढ़ती शक्ति की स्थिति में संस्थाओं ने बहुधा सरकार एवं अन्य सत्ताधारियों से सामना करने का विकल्प चुना। इस विकल्प का चयन भी मानव अधिकार विशेष की प्रकृति एवं संस्था के प्रकार पर निर्भर है।

जोरदार तरीके से मांग जाहिर करने के लिए प्रदर्शन तथा जनप्रतिवाद ही सर्वाधिक सामान्य तरीके थे। इस मामले में संस्था की प्रकृति विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। विधि उन्मुख संस्थाओं का झुकाव सत्ताधारियों के साथ सहकारिता के विकल्प के प्रति रहा, वहीं अधिक मौलिकतावादी एवं राजनीति उन्मुख संस्थाओं का झुकाव संघर्ष के विकल्प की ओर रहा। एक उदाहरण है म्जोंडोलो स्थित अबह्लाली, दक्षिण अफ्रीका में झोपड़–पट्टी वालों का आन्दोलन, जिन्होंने अस्थायी झोपड़ियों में रहने वालों के सामाजिक–आर्थिक अधिकार की मांग के लिए जन प्रदर्शन और रैली का सहारा लिया। दक्षिण अफ्रीका की तुलनात्मक दृष्टि से अधिक जनतांत्रिक संदर्भ में, जहाँ रंगभेद के विरुद्ध लड़ाई का लंबा इतिहास रहा है, ऐसे ही विरोध को समर्थन मिला। दूसरी ओर, अबह्लाली के मार्च तथा प्रदर्शन को कभी–कभी गैरकानूनी घोषित किया गया और दक्षिण अफ्रीका में सत्तासीन पार्टी ए. एन. सी. के विरुद्ध जन आन्दोलन करने की सीमाबद्धता को बताते हुए सरकार की ओर से हिंसात्मक जवाबी कार्रवाई की गई। 2000 के बाद से जिम्बाब्वे में अधिकारवादी राजनैतिक माहौल गहराता रहा। सिविल एवं सरकार की ओर से हिंसात्मक कार्रवाई के बावजूद राजनैतिक अधिकारों की कटौती के विरुद्ध संघर्ष एवं मौलिक सामाजिक/आर्थिक अधिकारों की मांग के लिए डब्ल्यूओजेडए ने जन प्रदर्शन तथा सामूहिक कार्यक्रम जारी रखा। यहाँ डब्ल्यूओजेडए की अहिंसात्मक सीधी कार्रवाई की नीतिगत स्थिरता बहुत महत्त्वपूर्ण थी जिसके कारण उनके विरोध की वैधता समृद्ध हुई, यद्यपि नियमित गिरफ्तारी, हवालात में डालना और सदस्यों के प्रति हिंसात्मक कार्रवाई को रोका नहीं जा सका। घाना में पराराष्ट्रीय खनिज कंपनियों द्वारा किए गए अधिकार हनन तथा पर्यावरण दूषण के विरुद्ध अपने सभी जन आन्दोलन में डब्ल्यूएसीएएम ने विशेष रूप से अपनी अहिंसा की नीति को जारी रखा। तुलनात्मक

दृष्टि से अधिक जनतांत्रिक परिवेश के बावजूद, ऐसे आन्दोलनों को समय–समय पर कंपनी तथा सरकारी सुरक्षा कर्मियों की हिंसा झेलनी पड़ी जो घाना में जनतांत्रिक परिवेश की विरलता को प्रदर्शित करता है।

जो भी हो, संघर्ष की कार्यनीति अपनाने वालों में केवल सम्प्रदाय आधारित तथा लड़ाकू संस्थाएं ही नहीं थीं। जब 2000 में नैरोबी सिटी काउंसिल नगर के केन्द्रीय व्यवसाय क्षेत्र को "भीड़–भाड़ रहित" करने के उद्देश्य से छोटे व्यावसायियों को स्थानांतरित करने लगे तब केन्या में केएलए ने नैरोबी सिटी काउंसिल को चुनौती देने के लिए प्रभावित लोगों को संगठित किया। सिटी काउंसिल ने छोटे व्यवसायियों से बातचीत नहीं की जिसके फलस्वरूप छोटे व्यवसायियों की आय एवं जीविका पर आए खतरे के प्रति लोक निर्णयकर्ता की जिम्मेवारी की मांग के लिए प्रदर्शन और विरोध की स्थिति आ गई।

घाना में डीवीसी ने सहकारिता एवं संघर्ष की कार्यनीतियों का एक अच्छे संयुक्त रूप का उदाहरण पेश किया है। घरेलू हिंसा बिल की स्वीकृति पाने हेतु 2003 से 2007 तक अपने सफल अभियान के दौरान इसने संसद के संबद्ध सदस्यों एवं सरकार के साथ सहकारिता का रास्ता अपनाया, साथ ही बिल के विरोधियों के साथ संघर्ष का विकल्प चुना। डीवीसी के एक सदस्य ने इसे "एक बड़ा युद्ध"[41] कहा है। महिला एवं बाल विभाग के मंत्री तथा डीवीसी के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप मंत्री को स्थानांतरित होना पड़ा और अंततः बिल के अधिकांश विरोधी भी हट गए। डीवीसी ने चतुराई से एक अभियान चलाया, जिसमें सरकारी महकमे के प्रभावी सहायक पार्टियों का सहयोग प्राप्त किया और साथ–साथ विभिन्न प्रकार के प्रपंच के सहारे जनता के बीच विरोधियों का सामना किया।

ग. सहबन्ध एवं नेटवर्क बनाना

जब सत्ता असमानता तथा सत्ताधारियों द्वारा अधिकार की विरोधिता का सामना करने की बात आती है तो तीसरे प्रकार की मिश्रित कार्यनीति अपनाई जाती है। अपनी संघर्ष क्षमता को बढ़ाने के लिए अधिकार समर्थक संस्थाओं के बीच सहबन्ध और नेटवर्क तैयार किया जाता है। घाना के अध्ययन में दिलचस्प और विरोधी उदाहरण मिले हैं।

डब्ल्यूएसीएएम छोटा, समुदाय आधारित संस्था का एक अच्छा उदाहरण है जिसने अपने शक्तिशाली विरोधियों, जैसे परा‍राष्ट्रीय स्वर्ण खनिज कंपनियां एवं घाना सरकार, से संघर्ष में विशिष्ट प्रभाव डाला है। इसकी आधी उपलब्धि तो समान विचारधारा वाली राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के बीच सफल सहबन्ध स्थापित कर मिली।[42]

अंतरराष्ट्रीय गैर–सरकारी संगठनों के बीच सहबन्ध ने डब्ल्यूएसीएएम को संपन्न कॉर्पोरेशन एवं उसे कर राजस्व की छूट देकर कॉर्पोरेट हित संरक्षक सहायक सरकार ने दोनों से बहुत हद तक बचाया।

घरेलू हिंसा नियम संबंधी अभियान ने एक अलग प्रकार के सफल नेटवर्क स्थापन का उदाहरण प्रस्तुत किया। अनेक महिला अधिकार संस्थाओं ने घरेलू हिंसा विधायन के लिए गठबंधन तैयार किया और अध्ययन से पता चला कि "परिवर्तन लाने के मामले में पूरे गठबंधन की शक्ति घटकों की शक्तियों के योग से अधिक थी।"[43] महत्त्वपूर्ण और डब्ल्यूएसीएएम के विपरीत गठबंधन ने घाना में, शायद वैधानिक परिवर्तन लाने के लिए दबाव डालने की स्वयं की क्षमता पर आत्मविश्वास के कारण, अपने अभियान को समरूप बाहरी अभियान की सहायता से शक्तिशाली बनाना नहीं चाहा। यह निश्चित था कि विधान के लागू होने के बाद डीवीसी की क्षमता क्षीण हो गई और उन गठबंधनों की दीर्घावधिक प्रभाविता पर भी प्रश्न चिह्न लग गया क्योंकि गठबंधन की सदस्य संस्थाओं के लिए उनके अपने कार्यक्रम प्राथमिक थे। ऐसा देखा गया कि वैधानिक परिवर्तन की सफलता के बाद गठबंधन की सदस्य संस्थाओं ने अपने–अपने मूल कार्यक्रम की ओर ध्यान केन्द्रित कर दिया। इसके फलस्वरूप कार्यान्वयन के बहुत से मामले अनसुलझे ही रह गए।

गठबंधन एवं नेटवर्क के प्रभाव अधिकारवादी तथा प्रजातांत्रिक–दोनों परिस्थितियों में देखे गए। चीन में महिला अधिकार संबंधी जनहित के मामलों को हाथ में लेने के लिए अधिकाधिक वकीलों को प्रोत्साहित करने के लिए जेडएलएएस ने महिला वकीलों की नेटवर्क तथा बार एसोसिएशन की शुरुआत की। उसी प्रकार एमडब्ल्यूएलएआरओ ने वकीलों का नेटवर्क तैयार किया जो प्रवासी मजदूरों के लिए मानव अधिकार संबंधी विधिक सहायता वाले मामलों की निःशुल्क पैरवी करते थे। जिम्बाब्वे में मानव अधिकार नेटवर्क एवं एसोसिएशन में जिम्बाब्वे लॉयर्स फॉर ह्यूमन राइट्स (जेडएलएचआर) तथा जिम्बाब्वे वूमन लॉयर्स एसोसिएशन (जेडडब्ल्यूएलए) ने मिलकर 2004 गैर सरकारी संगठन बिल[44] के विरुद्ध पैरवी की। केन्या में किटुओ चा शेरिया ने कहा कि अन्य संस्थाओं के साथ नेटवर्क ने लोगों को संगठित करने तथा जागरुकता लाने में "संख्या में शक्ति" दी। हाउसिंग बिल के लिए किटुओ की लामबंदी अन्य संस्थाओं तथा असरकार की स्थिति को प्रभावित करनेवाले राजनैतिक बलों के साथ गठबंधन का उदाहरण है। दक्षिण अफ्रीका में एक विपरीत उदाहरण मिलता है। अबह्लाली ने बड़ी नेटवर्कों में शामिल होने से होने वाली मुख्य कमियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ऐसी स्थिति में सदस्य संस्था के पास संगठन के निर्णय के विरुद्ध कहने के लिए आजादी और

स्वायत्तता नहीं रह जाती है और न तो कार्यनीति तथा कार्यान्वयन का कोई विकल्प रह जाता है।

सारांशतः, इन संस्थाओं के कारण बहुधा मानव अधिकार प्राप्ति के विरुद्ध शक्तिशाली बलों के संबंध में जागरुकता आई है और कई समय तो इन्होंने मानव अधिकार का उल्लंघन भी किया है। उन्होंने शक्तिशाली बाधाओं का सामना करने में कार्यनैतिक प्रत्युत्तर के लिए उम्दा रणनीति दिखाई है। कुछ तो बहुत संघर्ष वाली कार्यनीति अपनाती हैं, लेकिन सदैव अहिंसा को बरकरार रखते हैं, जबकि कुछ अधिकार के लिए सच्ची कर्तव्यशीलता हेतु सरकार या अन्य प्राधिकार से समझौता करने के लिए सत्ताधारियों से सहकारिता के विकल्प का चयन करते हैं। जनतांत्रिक परिवेश में, कार्यनीतिगत विकल्प अधिक हैं, जिसके कारण निर्णय से ही संस्था की प्रकृति का पता चल जाता है : समुदाय आधारित एवं सदस्यता आधारित संस्थाएं प्रायः संघर्ष का विकल्प चुनती थीं, जबकि व्यावसायिक गैर सरकारी संस्थाएं, विशेषतः विधि उन्मुख संस्थाएं, तंत्र या प्रणाली के अंतर्गत कार्य करने के लिए तत्पर होती थीं और सरकार या अन्य प्राधिकार से चुनौती के बजाय पैरवी का विकल्प अपनाती थीं। पैरवी किए जाने वाले अधिकार की प्रकृति भी संस्था की कार्यनीति के चयन को प्रभावित करती थी, जैसे महिला अधिकार के मामले कम विवादास्पद होते हैं जिसके कारण सरकार से अधिक आसानी से सहकारिता स्थापित हो सकती थी।

गैर सरकारी कार्यकर्ताओं के लिए उपलब्ध सुविधाओं को रूप देने में राजनैतिक माहौल भी महत्त्वपूर्ण था, लेकिन यह हर समय प्रभावी या यथा अपेक्षित निर्धारक नहीं होता था। चीन में किए गए मामले के अध्ययन से उपयोगी और स्पष्ट उदाहरण मिले हैं। यहाँ पार्टी–सरकार से सीधा चुनौती का खुला विकल्प नहीं था और प्राधिकार ने यथासंभव सीमा निर्णय करने की भूमिका निभाई। तथापि देशीय अध्ययन से अभिनव तरीके निकल आए जिससे अधिकार समर्थक संस्थाओं ने संपूर्ण अधिकारवादी स्थिति में भी सरकार के साथ कौशलपूर्वक समझौता किया। अध्ययन संस्थाओं ने इसे मानव अधिकार की औपचारिक पूंजी बनाई और सीमा को यथासंभव आगे बढ़ाया पर सम्यक विवेक से काम लिया ताकि इसके आगे बढ़ने से कहीं अस्तित्व पर खतरा न आ पड़े।

IV. सत्ता के संघटन का परिवर्तन

इस खंड में उस अंतिम प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है जिससे मानव अधिकार आधारित दृष्टिकोणों का संपूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है : मानव अधिकार समर्थक संस्थाओं ने विशेष रूप से गरीबों तथा सीमांत लोगों के मामले में सत्ता के संघटन को सफलतापूर्वक किस हद तक परिवर्तित किया और अधिकार प्राप्त किया।

इस विश्लेषण को प्रारंभ करने से पहले कुछ प्रारंभिक मुद्दों की चर्चा आवश्यक है। पहला, संघटन के परिवर्तन के लिए एक समय–सीमा का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, परिवर्तन में काफी लंबा समय लग सकता है और पूर्ण मूल्यांकन उसके बाद किया जा सकता है। यह भी संभव है कि इस अध्ययन के लिए गए मामले में यह समय–सीमा का व्यतीत न हो गया हो। दूसरा, यह स्पष्ट है कि सभी अध्ययन संस्थाएं रूपांतरकारी परिवर्तन की अपेक्षा नहीं की है, बल्कि सुधारात्मक परिवर्तन की अपेक्षा करते हुए वर्तमान संघटन के अंतर्गत रहकर सीमित परिवर्तन के लिए कार्य करने का विकल्प अपनाया है। अधिकांश अध्ययन संस्थाएं संभवतः इस कोटि के अंतर्गत आती हैं। यह मानव अधिकार आधारित दृष्टिकोण के आत्म–सीमा निर्धारण को प्रदर्शित करता है तथा "विकास के प्रति अधिक प्रगतिशील, मौलिक दृष्टिकोण"[45] के रूप में इसकी संभाव्यता को नजरअंदाज करता है। तीसरा, परिवर्तन के विभिन्न रूपों के बीच अंतर करना भी जरूरी है, जैसे राजनैतिक और सामाजिक। कुछ संस्थाओं ने राजनैतिक यथास्थिति को स्वीकार कर लिया है, अधिकांश जनतांत्रिक परिस्थितियों में वे सामाजिक संदर्भ में सत्ता संबंधों में परिवर्तन चाहती थीं, विशेष रूप से अप्रत्यक्ष सत्ता वालों का। घाना मेंडीवीसी इस वर्ग का अच्छा उदाहरण है। इसने राजनैतिक सता के संघटन का परिवर्तन नहीं चाहा बल्कि लैंगिक समता तथा महिलाओं के हिंसा से मुक्ति के अधिकार के संदर्भ में सांस्कृतिक मूल्यों तथा आचार में परिवर्तन की अपेक्षा की।

सत्ता संघटन में परिवर्तन, प्रत्यक्ष, गुप्त या अप्रत्यक्ष, सहज कार्य नहीं है। यह विशेष रूप से उपलब्ध है क्योंकि अधिकार की मांग का विरोध करने वाली शक्तिसंपन्न संस्थाएं तथा कार्यकर्ता उनके वर्चस्व को कायम रखने वाली वर्तमान सत्ता असमता के परिवर्तन की मांग का और अधिक विरोध करेंगे। इस प्रकार संघटनात्मक परिवर्तन बहुधा सीमित होते हैं तथा संघटनात्मक बाधाएं रह ही जाती हैं यद्यपि संस्थाएं अपनी जागरुकता बढ़ाकर कम से कम यह सीख सकती हैं कि और उन्नत कार्यनीति के सहारे सत्ता के साथ कैसे सम्पर्क किया जाए? लेखकों ने अधिकार आधारित कार्यक्रम के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन के लिए संघर्षरत नागरिक कार्यकर्ताओं के लिए पद्धतियां ढूंढ़ निकाली हैं। इस खंड में विधान, लोक नीतियां, सांस्थानिक संघटन एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में अध्ययन के मार्फत संस्था द्वारा उपलब्ध परिवर्तनों की प्रकृति और महत्त्व का पता लगाया गया है।

क. वैधानिक परिवर्तन

हमारे देशीय मामलों में मानव अधिकार के संरक्षण में सहायक, विशेष कर महिला अधिकार तथा भूमि अधिकार संबंधी, वैधानिक सुधार के अनेक सकारात्मक उदाहरण

प्रदर्शित हुए हैं। महिला अधिकार के मामले में घाना में मुख्य लक्ष्य, घरेलू हिंसा अधिनियम 2007 अधिनियमन, को प्राप्त करने में डीवीसी की सफलता एक बड़ी उपलब्धि है। इसी प्रकार जिम्बाब्वे में जेडडब्ल्यूएलए ने सरकार और नागरिक समाज दोनों के साथ मिलकर घरेलू हिंसा संबंधी कानून में संशोधन की मांग के लिए आंदोलन किया जिसके फलस्वरूप 2006 में घरेलू हिंसा अधिनियम लागू हुआ। दक्षिण अफ्रीका में सरकार ने आपराधिक न्याय पुनरावलोकन प्रक्रिया के अंश के रूप में बलात्कार प्रोटोकॉल का मसौदा तैयार करने के लिए टीएलएसी को आमंत्रित किया। टीएलएसी वैधानिक संशोधन के मामले में निर्णय को प्रभावित किया और महिला अधिकार तथा लैंगिक अत्याचार से मुक्ति पर एक वैधानिक खाका उभर कर सामने आया। हमारे अध्ययन के नमूना मामलों से यह स्पष्ट प्रदर्शित हुआ है कि महिला अधिकार पर काम करने वाली संस्थाएं विशेष कर वैधानिक सुधार के मामले में, उत्तम प्रतिनिधित्व वाली, अति सफल संस्थाओं में से हैं। इसकी व्याख्या में कहा जा सकता है कि यह दो बातों का सम्मिलित परिणाम है–महिला संस्थाओं, मुख्यतः महिला वकीलों की संस्था की पैरवी में दृढ़ता और यह मान्यता कि महिला अधिकार वैधानिक स्तर पर सरकार के, लिए कम चुनौतीपूर्ण है।

कई देशीय अध्ययन में भूमि अधिकार को भी शामिल किया गया। इन मामलों में परिवर्तन की उपलब्धि कठिन थी। केन्या में केन्या लैंड एलाएंस (केएलए) एवं किटुओ चा शेरिया ने नए संविधान के भूमि एवं भूमि स्वामित्व खंड की ड्राफ्टिंग प्रक्रिया में योगदान दिया, जबकि दक्षिण अफ्रीका में नकूजी ने भूमि प्रत्यर्पण अधिनियम के कार्यान्वयन के मामले में सरकार पर दबाव डाला तथा सामुदायिक भूमि अधिकार अधिनियम के मामले में विरोध किया जिसे मानव अधिकार विचारधारा के विरोधी के रूप में लिया गया अन्यथा अधिक महत्त्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तनों की उपलब्धि नहीं हुई।

अनुसंधान में वैधानिक परिवर्तन में असफलता के अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, वेलिमवुशा डेवलपमेंट एसोसिएशन (बीएडब्ल्यूडीए) महिला के विरुद्ध हिंसा पर घाना के ऊपरी पूर्वी क्षेत्र में क्षेत्रीय स्तर पर एक स्थानीय उपविधि बनाने के अपने प्रयास में असफल रहा। उपविधि को अनुमति देने के लिए जिला परिषद तथा पारंपरिक सामाजिक प्रधान से नहीं मिल पाना इस असफलता का कारण था। इस कार्य के लिए उच्च कोटि की स्थिरता और मानव तथा आर्थिक संसाधन की आवश्यकता थी जो उस छोटी संस्था के लिए असंभव था। सफलता का एक स्पष्ट उदाहरण घाना में डीवीसी का है। इस मामले में एक अंतर्निहित चेतावनी थी कि अधिकार के लिए संघर्ष अविरत चलता रहता है, विशेष कर उन मामलों में जहाँ सांगठनिक बाधाएं बनी रहती

हैं। यह स्पष्ट रूप से देखा गया कि सरकार तथा संसद के जिस पुरुष–प्रधान राजनैतिक संघटन ने गुप्त तथा अप्रत्यक्ष सत्ता द्वारा बिल के कार्यान्वयन में विलंब कराया था, वे अधिनियम के कार्यान्वयन की गति में रुकावट डालते रहे।

ख. लोक नीति में परिवर्तन

लोक नीति में परिवर्तन और संशोधन के मामले में भी सत्ता के संघटन में परिवर्तन और सुधार लाने में कठिनाई का प्रदर्शन हो जाता है। ये कठिनाइयां अधिकारवादी माहौल में अधिक तीव्र होती हैं क्योंकि उस स्थिति में सरकार सामाजिक दबाव के प्रति अनुत्तरदायी एवं उससे अप्रभावित होती है। अनुसंधान में पाया गया है कि चीन और जिम्बाब्वे में लोक नीति पर कोई विलक्षण प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रजातांत्रिक परिवेश में लोक नीति पर प्रभाव, यद्यपि सीमित, देखा गया है। केन्या में, केएलए स्थानीय मछुआरों को लेक नैवाशा में पहुँचने के लिए मार्ग खोलने हेतु सरकार को आदेश देने के संसद के निर्णय को प्रभावित करने में सफल रहा। वह भूमि सुधार नीति के रूपायन में भी सफल रहा। कोरोगोचो स्लम में निवासियों के एसोसिएशन की सहकारिता के कारण भूमि नीति पर मिस कोच इनिशिएटिव का भी प्रभाव था। दक्षिण अफ्रीका में स्थानीय सरकारी हाउसिंग नीति पर विशेष रूप से 2009 के समझौता ज्ञापन के मामले में अबहलाली का प्रभाव रहा जिसमें डर्बन सिटी काउंसिल ने चौदह अनौपचारिक सेटलमेंट्स को अंतरिम सेवा मुहैया कराने तथा पाँच सेटलमेंट्स को स्थायी उन्नयन देने के लिए वचनबद्ध था। घाना में डब्ल्यूएसीएएम के अध्ययन से इस बात के ढेर सारे उदाहरण मिले कि पश्चिम अफ्रीका के क्षेत्रीय स्तर पर नीति परिवर्तन के मामले में यह निष्कपट रहा और अंततः राष्ट्रीय स्तर पर प्रभाव कायम रहा। डब्ल्यूएसीएएम ने इकॉनोमिक कम्युनिटी ऑफ वेस्ट अफ्रीकन स्टेट्स (ईकोडब्ल्यूएएस) टास्क फोर्स में सहभागिता की जिसमें उन्होंने "खनन कार्य के मार्गदर्शी सिद्धांत और नीति के समन्वयन पर निर्देश" तैयार किया जिसे बाद में घाना सरकार ने लागू किया। तथापि, सरकार की खनन नीति में वास्तविक परिवर्तन कम ही नजर आए और देशीय अध्ययन का निष्कर्ष रहा कि न तो डब्ल्यूएसीएएम और न खनन पर विस्तृत गैरसरकारी राष्ट्रीय गठबंधन स्वर्ण खनन उद्योग की सरकारी नीतियों में मौलिक परिवर्तन लाने में सक्षम रहा।[46] यह उल्लेख आश्चर्यजनक नहीं होगा कि पराराष्ट्रीय खनन कंपनियों द्वारा भारी मात्रा में लाभ कमाना तथा सरकार को मिलने वाला कर राजस्व, यद्यपि राशि सीमित थी, दोनों दृष्टिकोण से इसमें काफी वित्तीय स्वार्थ निहित था। इस प्रकार के सम्मिलित कॉर्पोरेट एवं राज्य सत्ता सहजता से झुकते नहीं थे, इसीलिए गरीबी में रहने वाले स्थानीय समुदाय बड़े पैमाने के सतही खनन उद्योग के विपरीत प्रभाव को झेलते रहे।

ग. सांस्थानिक परिवर्तन

मानव अधिकार की महत्तर सुरक्षा के लिए सांस्थानिक संघटन में परिवर्तन हासिल करना अधिकारवादी परिवेश की तुलना में यद्यपि सीमित मामलों में प्रजातांत्रिक परिवेश में अधिक संभव था।

घाना में घरेलू हिंसा अधिनियम के कार्यान्वयन के लिए महिला एवं बाल मामले संबंधी मंत्रालय के अंतर्गत एक घरेलू हिंसा सचिवालय का गठन करना पड़ा तथा घरेलू हिंसा पीड़ित प्रबंधन बोर्ड स्थापित किया गया, जिसमें डीवीसी को प्रतिनिधित्व दिया गया। तथापि इन नए निकायों के संचालन में सीमित प्रगति दिखाई दी, क्योंकि पुरुष शासित बोर्ड सरकार के उसी संस्था के अंतर्गत था जो बिल के अधिनियमन में बाधक थी, जबकि गठबंधन के पैरवी के प्रयास से कायम रहना कठिन हो गया। केन्या में भूमि नीति हेतु नए सांस्थानिक फ्रेमवर्क में विचार–विमर्श में शामिल होने के लिए सरकार ने एमकेवाई और केएलआई दोनों को आमंत्रित किया और बाद में एमकेआई ने ग्रामीण निरीक्षण समिति स्थापित करने में सुविधा एवं सहयोग दिया। नई भूमि नीति राष्ट्रीय स्तर पर एक महत्त्वपूर्ण सांस्थानिक विकास थी जिसमें निरीक्षण समितियां स्थानीय स्तर पर राजनैतिक उत्तरदायित्व एवं प्राप्त निधि के उपयोग की मांग के मामले में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाईं।

अधिक अधिकारवादी संदर्भ में संगठनों द्वारा सांस्थानिक परिवर्तन लाने के उदाहरण कम या बिल्कुल नहीं मिलते हैं। जिम्बाब्वे अध्ययन का निष्कर्ष चर्चा का मुख्य बिन्दु है जिसमें कहा गया है कि "तीन संगठनों की वित्तीय निकाय को प्रभावित करने की योग्यता ने जेडएएनयू पीएफ को पुलिस, कोर्ट एवं फौज को नियंत्रित करने की क्षमता को सीमित कर दिया।"[47]

घ. सांस्कृतिक परिवर्तन

विभिन्न सांस्कृतिक रीति–रिवाजों में निहित तथा समाजीकरण के माध्यम से आत्मसात् अप्रत्यक्ष सत्ता ने इस प्रोजेक्ट में अधीत बहुत सी संस्थाओं के लिए बाधा खड़ी कर दी है। संस्थाओं ने जागरुकता बढ़ाकर एवं सामाजिक मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर इन बाधाओं से सामना करना चाहा। यहाँ पर उद्धृत परिवर्तन के चार क्षेत्रों में से सांस्कृतिक परिवर्तन उपलब्ध करना संभवतः सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण है। तथापि यह विरोधाभासी है कि यही एक क्षेत्र है जहाँ सफलता के अवसर अधिक हैं और संपूर्ण राजनैतिक परिवेश सफलता के लिए बाधक नहीं होता है।

यौन उत्पीड़न के मामले में महिला अधिकार तथा भूमि अधिकार के संबंध में जागरुकता के प्रसार में जेडएलएएस को चीन के प्रतिकूल बृहत्–राजनैतिक परिवेश ने बाधित नहीं किया। जिम्बाब्वे में रीति–रिवाज एवं मनोवर्षत्ति में परिवर्तन की प्रक्रिया दो अलग तरीकों से पूरी हुई। पहला, अनुसंधान से पता चला कि घरेलू संदर्भ में महिला अधिकार संरक्षण संबंधी जेडडब्ल्यूएलए की कार्रवाई ने पुरुष प्रधानता तथा औपचारिक व अनौपचारिक प्रथागत अग्रता की सामाजिक–सांस्कृतिक मान्यता को कमजोर कर दिया था। परिवार में सत्ता संबंधों का अध्ययन कर "अप्रत्यक्ष सत्ता को प्रत्यक्ष सत्ता में परिवर्तित कर इसे उपलब्ध किया गया था।"[48] दूसरा, डब्ल्यूओजेडए के नागरिक शिक्षा कार्यक्रम ने लोगों की मनोवृत्ति को परिवर्तित कर दिया था जिससे वे शक्तिकृत महसूस करते थे और नागरिक कार्यक्रम तथा प्रदर्शन में भाग लेने के लिए तैयार थे।

घाना और केन्या, दोनों देशों में अधिक मुक्त राजनैतिक परिवेश समाज के दलित तथा असुरक्षित समूहों के प्रति पितृसत्तात्मक संस्कार तथा अन्य संश्लिष्ट सामाजिक प्रवृत्तियों द्वारा दी गई चुनौती को बहुत कम प्रभावित कर सका। तथापि संस्थाओं द्वारा चलाए गए अभियान से मानव अधिकार के दृष्टिकोण में कुछ सकारात्मक परिवर्तन आए। घाना में, डीवीसी के राष्ट्रव्यापी शिक्षा कार्यक्रम एवं परामर्श अभियान ने एक मामले के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया, जो पहले जन विमर्श में नहीं देखा गया था। इससे लोगों में जागरूकता बढ़ी तथा महिला के विरुद्ध हिंसा के संबंध में उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आया। बीईडब्ल्यूडीए ने ऐसे परिवेश में काम किया जहाँ परंपरागत आस्था तथा प्रचलन बहुत गहरे थे, तथापि महिला अधिकार के लिए तथा विकलांगों के सामाजिक बहिष्कार के विरुद्ध सामाजिक सोच को बदलने का प्रयास किया। ऐसे परिवर्तन की गति धीमी और क्रमिक थी। लेकिन दोनों सांस्थानिक अध्ययन में शोधकर्ताओं को सफलता के उदाहरण मिले। केन्या में तीनों संस्थाओं ने अधिकार के मामलों के प्रति जागरुकता एवं जानकारी लाने के प्रयास किए जिससे सांस्कृतिक परिवर्तन आए जो मानव अधिकार के संरक्षण तथा प्रसार के लिए बहुत आवश्यक है। किटुओ चा शेरिया ने अपने खर्च पर स्थानीय रेडियो स्टेशन में लैंगिक असमानता की समस्या को रखा और स्थानीय रीति–रिवाजों को परिवर्तित करने के क्रम में परिवार के अंदर लड़कियों तथा महिलाओं के अधिकारों को स्थापित किया।

पितृसत्तात्मक संस्कृति एवं इसमें निहित सत्ता संबंध का परिवर्तन करना बहुत कठिन है। फिर भी इन खोजों ने इस क्षेत्र में मानव अधिकार आधारित कार्यनीतियों की सफलता को दर्शाया है। ऐसा क्यों हुआ ? इसे "पक्षपातपूर्ण चयन" के माध्यम से यानी देशीय अध्ययन में लिए गए महिला अधिकार के लिए कार्यरत संगठनों का चयन कर

इसके अर्धांश की व्याख्या की जा सकती है क्योंकि इससे कुछ सकारात्मक उदाहरणों पर प्रकाश डालने की संभावना अधिक हो जाती है। राजनैतिक प्रतिबद्धता तथा ढेर सारे संगठनों द्वारा प्रदर्शित कार्यनिष्ठता के माध्यम से भी उपलब्धियों की व्याख्या की जा सकती है। उन संगठनों में से कुछ व्यावसायिक तो कुछ विधि उन्मुख और बाकी सामान्य रूप से प्रतिष्ठित थीं जो सभी स्तर पर लैंगिक असमानता के विरुद्ध कार्य करते हुए मान्यता, मनोवृत्ति और व्यवहार में बदलाव लाकर सांस्कृतिक परिवर्तन ला रही थीं।

सारांशतः इस अध्ययन में दर्शाया गया है कि सत्ता संघटनों में कुछ परिवर्तन होने पर गरीब तथा सीमांत लोगों को प्रभावित करने वाली सत्ता का असामंजस्य कम हो सकता है एवं अधिकार प्राप्त करने में प्रगति हो सकती है। जो भी हो, इसके दो गुण हैं। एक, सभी मामला अध्ययन में संगठनों ने राजनैतिक या सामाजिक संस्कृति के रूपांतरण की मांग नहीं की, इसीलिए उपलब्धियां संगठनों के लक्ष्य, नजरिया के कारण सीमित हुईं। दो, मांग के बावजूद सामाजिक परिवर्तन की उपलब्धि कठिन होती है। वांछित परिवर्तन रूपांतरण है कि नहीं यह प्रश्न रह जाता है, और इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देना भी कठिन है। संगठन सामाजिक परिवर्तन के लिए बहुधा सोद्देश्य एवं निष्ठापूर्वक संघर्ष करती रही हैं और सफलता भी मिली है, यद्यपि सफलताएं सीमित थीं, अधिकार आधारित पैरवी के मामले में सत्ता बाधा की तरह सत्ता का असंतुलन बरकरार रहा।

ट. निष्कर्ष

यह चर्चा उस क्षेत्र से प्रारंभ हुई जहाँ अधिकार और विकास विषय पर कार्यरत शिक्षाविदों तथा व्यवसायियों ने सत्ता तथा राजनीति के महत्त्वपूर्ण आयामों एवं मानव अधिकार की पैरवी पर इनके नकारात्मक प्रभाव को नजरअंदाज किया है। यदि इन कमियों का निराकरण न किया जाए तो मानव अधिकार आधारित कार्यनीति एक विफल विकास कार्यनीति साबित हो सकती है। क्या अधिकार आधारित दृष्टिकोण की सफलता और विफलता का सापेक्षिक पूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है और गरीब तथा सीमांत लोगों के मानव अधिकार एवं विकास के भविष्य को प्राप्त किया जा सकता है ?

खोज के परिणामों ने बल देकर साबित किया है कि दमनात्मक सत्ता के विभिन्न प्रकार गैर–सरकारी संस्था के मानव अधिकार एजेंसियों के प्रयासों को सीमित करते हैं तथा बाधा पहुँचाते हैं और इस प्रकार ये मानव अधिकार प्राप्त करने की राह में बाधा खड़ी करते हैं। लेखकों ने निश्चय तौर पर नोट किया है कि कितने संगठन इस शक्तिशाली सत्ता के प्रति जागरूकता का प्रदर्शन करते हैं। शोधकर्ताओं ने यह खोज

किया है कि अधिकार की पैरवी करने वाली संस्थाएं विविध कार्यनीति एवं युक्तियों के सहारे सत्ता के विभिन्न आयाम तथा उनके कुप्रभावों को कैसे चुनौती देती हैं। यद्यपि संगठनों ने कुछ सफलता पाई है, कभी परिवर्तन सीमित रहे तो कभी उन्हें रूपांतरण कहना कठिन प्रतीत हुआ, सत्ता असंतुलन मानव अधिकार की पैरवी की बाधा बना रहा और बाधाएं बढ़ती रहीं। अतः मानव अधिकार आधारित दृष्टिकोण की असफलता और विफलता का सापेक्षिक संपूर्ण मूल्यांकन अस्पष्ट निष्कर्ष रह जाता है। एक ओर देशीय अध्ययन ने दमनात्मक सत्ता संघटनों को मानव अधिकार प्राप्त करने में रुकावट साबित किया है और फलतः अधिकार की मांगों की प्राप्ति की सफलता सीमित रही। दूसरी ओर, अधिकार की पैरवी में नागरिक सामाजिक संघटनों ने शक्तिशाली सत्ता को चुनौती देने में बहुधा धैर्य और निष्ठा का प्रदर्शन किया है और सत्ता ने उनकी मांग को दरकिनार कर दिया, जिसे विफलता नहीं कहा जा सकता है। ऐसी दुविधाग्रस्त स्थिति में हम चार शर्तें निर्धारित करते हैं जिनके सहारे अधिकार आधारित दृष्टिकोण में सुधार लाया जा सकता है, शर्तें सत्ता एवं राजनीति को विश्लेषण के केन्द्र में रखने में ध्यान केन्द्रित करती हैं।

सफलता की पहली शर्त है आत्मविवेचन। खोज से, अधिकार की मांग का विरोध करने वाले एवं अधिकार को नकारने वाले गठनों की पहचान सहित, अधिकार प्राप्ति की बाधाओं का राजनैतिक धरातलीय विश्लेषण प्राप्त हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि यह विश्लेषण केवल प्रत्यक्ष सत्ता के स्तर पर ही नहीं, बल्कि गुप्त तथा अप्रत्यक्ष सत्ता के गुह्यतम स्तर तक आवश्यक है। खोज में यह भी स्पष्ट हुआ है कि बहुत से संगठनों ने समाज में अपनी स्थिति, सत्ता के साथ अपने संबंध, शक्तिशाली सत्ता से मानव अधिकार की मांग की आवश्यकता के संबंध में चरम जागरुकता प्रदर्शित किया। दिलचस्प बात है कि चीन में विशेष रूप से उच्च मान की प्रतिक्रिया प्रदर्शित हुई जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय और स्थानीय सत्ता गठनों के बीच की दूरी को अतिक्रम करते हुए पार्टी–राज्य तथा अपने सम्मुख संगठनों के साथ समझदारी से समझौता किया। ऐसी प्रतिक्रिया सभी राजनैतिक संदर्भों में आवश्यक थी। सापेक्षतः मुक्त एवं जनतांत्रिक परिवेश में घाना में डीवीसी ने प्रत्यक्ष, गुप्त और अप्रत्यक्ष सत्ता द्वारा प्रस्तुत बाधा के प्रति उच्चस्तर की जागरुकता दिखाई और यह जागरुकता निर्णायक थी क्योंकि कई एक स्तर पर एक साथ अभियान चलाया गया था। इसने महिला मामले के मंत्री के साथ "बड़ी लड़ाई" में उलझा दिया जो घरेलू हिंसा बिल के सर्वोच्च स्तर के प्रत्यक्ष विरोधी थे, मंत्री को पद से हटाया गया और अंततः बिल को सफलता मिली। डीवीसी ने पितृसत्तात्मक शक्ति के कमतर प्रत्यक्ष पक्ष को चुनौती देते हुए सम्बद्ध सांस्कृतिक मूल्यों एवं मनोवृत्तियों को

परिवर्तित करने से संबंधित ढेर सारे जनहित के कार्य का बीड़ा उठाने में विलक्षण मौलिकता का परिचय दिया।

सफलता के लिए दूसरी शर्त है शक्तिशाली कारकों के प्रभाव को चुनौती देने और कम करने तथा सत्ता असमानता को दूर करने हेतु आत्मविवेचन तथा राजनैतिक विश्लेषण को कार्यवाही में परिणत करना। यह विचार एवं एजेंसी के दमनात्मक सत्ता गठन संबंधी जागरुकता को रूपांतरित करता है। खोज से पता चला कि कुछ संगठनों ने अनुभूत सत्ता बाधाओं का सामना करने के लिए कार्यनीतिक विकल्प के अपने चयन के मामले में विचारणीय एजेंसी व विवेकपूर्ण योग्यता का प्रदर्शन किया। मुख्य कार्यनीति के चयन में ये बातें महत्त्वपूर्ण हैं – प्राधिकार के साथ कब संघर्ष किया जाए या कब चुनौती दी जाए, सत्ताधारियों के साथ कब सहकारिता की जाए और किसके साथ सहकारिता की जाए। यद्यपि वर्तमान संभावनाओं को अनुकूल बनाने में राजनैतिक संदर्भ महत्त्वपूर्ण होता है, फिर भी यह पाया गया कि सत्तावादी परिवेश में विकल्प यथापेक्षित सीमित नहीं थे। चीन में पार्टी–स्टेट को सीधी चुनौती देना पूर्णतः संभव नहीं था, अधिकार समर्थक संस्थाओं ने पार्टी–स्टेट के साथ कौशल से वार्ता की, मानव अधिकार के शासकीय साहित्य को आधार बनाया और फलतः सीमा को यथासंभव आगे बढ़ाया जा सका।

अन्य सत्तावादी संदर्भ में, जैसे जिम्बाब्वे, डब्ल्यूओजेडए जैसे नागरिक कारक संस्था ने हिम्मतपूर्वक सरकार को चुनौती दी और संसद तथा अभिव्यक्ति की आजादी में कटौती को अस्वीकार किया। खोज ने यह भी इंगित किया कि शायद कम सकारात्मक रूप से कुछ संगठनों ने अपनी कार्यनीतिक विकल्प को स्वयं सीमित कर दिया तथा सत्ता असमानता के निराकरण से मुँह मोड़ लिया। यहाँ संगठन का प्रकार बहुत महत्त्वपूर्ण है, व्यावसायिक के साथ, विधि–उन्मुख गैर सरकारी संगठन अधिकतर प्रणाली के दायरे में रहकर काम करना पसंद करते हैं और सरकार या अन्य सत्तासंपन्न से संघर्ष करने के बजाय वार्ता करते हैं। ऐसे विधिसम्मत दृष्टिकोण निश्चित रूप से महत्त्व रखता है और इसके कुछ लाभ भी हैं, विशेष कर व्यक्तियों के लिए, लेकिन यह समाज में सत्ता के असंतुलन का निराकरण नहीं कर सकता है और इस संदर्भ में पीटर उविन के कथन को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा कि मानव अधिकार का विधिसम्मत दृष्टिकोण "सत्ता एवं राजनीति के वास्तविक समस्याओं से दूर रहने का एक सुरक्षित, वैधानिक, तकनीकी रास्ता है।"[49] इसके विपरीत समुदाय आधारित एवं सदस्यता आधारित संगठन खुले तौर पर संघर्षमय और राजनैतिक दृष्टिकोण रखते हैं एवं अधिकार प्राप्त करने हेतु राजनैतिक व सामाजिक संघर्ष द्वारा सत्ता संबंधों का रूपांतरण

करते हैं। यह अबहलाली, डब्ल्यूएसीएएम, डब्ल्यूओजेडए तथा केएलए तथा सभी अफ्रीकी देशीय अध्ययन में स्पष्ट हुआ है। शायद महत्त्वपूर्ण रूप से, ऐसे संगठन के सदस्य प्रायः अधिकार से वंचित लोग होते हैं जो चुनौती की आवश्यकता संबंधी जागरुकता प्रदर्शित करते हैं और अधिकार प्राप्त करने के लिए वर्तमान सत्ता संगठनों से संघर्ष करते हैं।

सफलता के लिए तीसरी शर्त है–बराबरी की शक्ति तैयार करना, पुनः अधिकार समर्थक एजेंसी की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए यह ज्ञात करना कि वे सत्ता गठन को परिवर्तित करने की आवश्यकता को कैसे पूरी करते हैं। सशक्तिकरण बयानबाजी से पहले, अधिकार आधारित दृष्टिकोण के अंतर्गत, दमनकारी सत्ता के सापेक्षिक अनदेखी के प्रति हम विचारशील थे। यह आलोचना सही है। खोज में सकारात्मक सत्ता तथा सशक्तिकरण के महत्त्व की पहचान की गई है, विशेष रूप से उन संदर्भों में जहाँ अधिकार समर्थक संगठन ने संस्थापित सशक्त हितों की मांग हेतु चुनौती के उद्देश्य से अपने बराबरीवाली सत्ता को सशक्त किया। ऐसी सकारात्मक सत्ता को प्रायः "पावर टू" कहा जाता है। वास्तव में इसकी पहचान ल्यूक्स ने की थी और अपनी मानक कृति के संशोधित संस्करण में इस प्रकार उल्लेख किया है–"वैसा और वही परिणाम उत्पन्न करने के लिए शक्ति।"[50] अन्य संगठनों के साथ नेटवर्क और गठबंधन में शामिल होना "पावर टू" को सशक्त करने का एक प्रभावी तरीका था। राजनैतिक सहभागिता के लिए विभिन्न स्थान, जिन्हें अत्यंत लोकप्रिय स्थान[51] या दावाकृत या सर्जित[52] स्थान कहा जाता है, ऐसे स्थान की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं जहाँ नागरिक सामाजिक संस्था अपनी सम्मिलित शक्ति को बढ़ाने के लिए सामाजिक संघटन एवं सहबंध गठन हेतु स्वायत्तता के साथ आकर मिलते हैं।

नागरिक सामाजिक कार्यकर्ताओं के काम करने के लिए, "आहूत स्थानों" में निर्णय–करने वालों के साथ सहभागिता एवं "खुले स्थानों" 53 में ताक–झांक सहित, ऐसे सतत स्थानों की पहचान की गई है। तथापि आधिकारिक तौर पर आमंत्रित होने की स्थिति में शक्तिशाली कार्यकर्ताओं के साथ उच्च स्तरीय असम परिस्थितियों में कार्य करने से बचने हेतु नागरिक सामाजिक संगठनों के लिए अधिक स्वायत्त वाले स्थान पर अपनी बराबरी वाली शक्ति को प्रारंभ में बढ़ाना आवश्यक होगा। इसका उल्लेख देशीय अध्ययन में किया गया है जहाँ संगठन ने सर्जित स्थान में अपनी और मानव अधिकार आन्दोलन की क्षमता को, प्रायः नागरिक कार्रवाई तथा लोक प्राधिकार के साथ संभावित संघर्ष के पूर्व मजबूत किया। केन्या में केएलए ने स्थान सर्जित किया जिसे स्थानीय शिक्षित समुदाय अपने अधिकार संबद्ध भूमि मामलों के लिए काम में लाया और आगे अधिकार की ऐसी लड़ाइयों को सुविधा मिली। स्वायत्तता वाले स्थान सर्जित करने हेतु

मिस कोच इनिशिएटिव ने रेडियो (कोच एफएम) एवं थिएटर (पेंडो थिएटर) का उपयोग किया और इस क्रम में लड़कियों तथा बच्चों के अधिकार की जागरुकता को बढ़ाया। दक्षिण अफ्रीका में अबह्लाली ने सार्वजनिक सहभागिता तथा आन्दोलन के अंदर सामूहिक निर्णय करने हेतु स्थान सृजित किया और वहाँ अबह्लाली विश्वविद्यालय, स्थान म्जोंडोलो स्थापित किया गया जहाँ लोगों ने सामूहिक रूप से अनुभव तथा जानकारी की साझेदारी की, बौद्धिक एवं लेखन कार्य के लिए स्थान का उपयोग किया। घाना में डब्ल्यूएसीएएम ने राष्ट्रीय एवं पराराष्ट्रीय खनन कंपनियों के मामले में समान राजनैतिक सोच वाले संगठनों के साथ राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय गठबंधन तैयार कर भारी सत्ता असमानता का सामना किया। उन्होंने केवल डब्ल्यूएसीएएम के असर को बढ़ाने का काम नहीं किया बल्कि शक्तिशाली विरोधी सत्ता की ओर से संभावित प्रतिशोध के विरुद्ध संरक्षण भी दिया।[54] सर्जित स्थान में इस तरह की बराबरी की सत्ता के सृजन से अधिकार समर्थक संगठनों की शक्तिशाली कार्यकर्ताओं और संगठनों को काम अन्य स्थानों में लगाने की क्षमता बढ़ती है। यह अपेक्षाकृत कम शक्ति वाले लोगों के आत्मबल तथा सकारात्मकता को बढ़ाता है जिससे समाजीकरण की अप्रत्यक्ष सत्ता का, जो सामाजिक दमन तथा अधिकार वंचना के संघटनों को पुनः शक्तिकृत कर सकता है, सामना करता है।

विकास के अधिकार आधारित दृष्टिकोण की सफलता की चौथी और आखरी शर्त सत्ता और राजनीति को विश्लेषण के केंद्र में वापस डालने के महत्त्व के विषय में व्यापक तर्क से संबंधित है। हम मैंडर के द्वारा किए गए विश्लेषण से सहमत हैं कि "गरीबी को लोगों के अधिकार की सक्रिय वंचना का परिणाम समझना विकास को एक तटस्थ प्रक्रिया के रूप में न समझने और उसके स्थान पर इसके राजनैतिक अंतर्वस्तु"[55] मानने के समान है। हम ग्रीडी से भी सहमत हैं कि "अधिकार के कार्यकर्ता को पक्षपात करना पड़ता है और वे सत्ता के निहित स्वार्थ एवं सत्ता की असमानता को चुनौती देते हैं।"[56] यह अनुसंधान सत्ता संघर्ष एवं राजनैतिक संघर्ष के रूप में अधिकार के संघर्ष की पहचान किए जाने के के महत्त्व की पुष्टि करता है। इस चर्चा का उद्देश्य यहाँ परीक्षण किए गए कुछ संगठनों की विधि उन्मुखता को कमतर आँकना नहीं है। जैसे वे संगठन जो विधिक प्रक्रिया के माध्यम से वर्तमान विधिक अधिकार की रक्षा करते हैं। वास्तव में हम सैमुअल हिकी एवं डायना मिटलिन से सहमत हैं कि "वकील और कानून गरीब और सीमांत समूह के लिए शक्तिशाली मित्र हो सकते हैं।"[57] तथापि, इस अनुसंधान में यह भी प्रदर्शित किया गया है कि मानव अधिकार के संघर्ष और नए अधिकारों की उपलब्धि के लिए विधिक दृष्टिकोण काफी नहीं है।[58] अधिकार से वंचित समूहों को

संगठित करने, समान सोच वाली संस्थाओं के साथ सहबंध बनाने, जन विरोध प्रदर्शित करने तथा गरीब व सीमांत समूहों के अधिकार के लिए सामान्य पैरवी के लिए अधिकार समर्थक संगठन जनतांत्रिक राजनीति का उपयोग अवश्य करना चाहिए। यह संकीर्ण राजनीति या पक्षपात नहीं है। यह शक्तिशाली सत्ता विशेषाधिकार देने वाली आर्थिक एवं सामाजिक संगठन द्वारा अधिकार से वंचित किए गए लोगों के लिए लोक पटल पर राजनैतिक प्रक्रिया है। महत्त्वपूर्ण रूप से यह समानता और भेदभाव हीनता, सहभागिता एवं समावेशन, उत्तरदायित्व तथा अहिंसा के मानव अधिकार सिद्धांत की नींव पर खड़ी राजनैतिक प्रक्रिया है।[50]

देशीय मामले पुष्टि करते हैं कि अधिकार प्राप्ति के मार्ग में प्रबल सत्ता बाधा होती है, अतः बहुत से मामलों में अधिकार की उपलब्धि में सीमित सफलता प्राप्त होती है। यदि अधिकार समर्थक संगठन को दमनात्मक सत्ता की द्वेषपूर्ण भूमिका की पहचान न हो या इससे संघर्ष करने की दृढ़ता का अभाव हो तो मानव अधिकार आधारित दृष्टिकोण को "पालतू" एवं "अराजनीतिकृत"[60] माना जाता है और नीतियों या समाज में वांछित परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। जो भी हो, यह लेख सुझाव देता है कि सत्ता को पुनः विश्लेषण के केन्द्र में रखा जाए एवं अधिकार के संघर्ष की पहचान राजनैतिक संघर्ष के रूप में की जाए तो अधिकार आधारित दृष्टिकोण केवल गरीबी में रहने वाले लोगों के अधिकार प्राप्त करने में प्रगति ही नहीं देगा बल्कि संघटनात्मक परिवर्तन का प्रयास भी करेगा, जहाँ सत्ता का संतुलन शक्ति संपन्न विशिष्ट वर्ग से दूर और अधिकार–वंचित लोगों की ओर झुक गया है।

संदर्भः–

1. पीटर यूनिवर्सिटी, ह्यूमन राइट्स एंड डेवलपमेंट 1 (2004)
2. वही, 122–66य रिइनवेंटिंग डेवलपमेंट? ट्रांसलेटिंग राइट–बेस्ड एप्रोच फ्रॉम थ्योरी इनटू प्रैक्टिस (पॉल ग्रीडी एंड जोनाथन एनसोर सं., 2005)
3. रोजालिंड आईबेन, द राइज ऑफ राइट्स : राइट बेस्ड एप्रोचेज टू इंटरनेशनल डेवलपमेंट। आईडीएस पॉलिसी ब्रीफिंग 17 (2003) य मैक्साइन मोलीनुएक्स एंड सियान लाजार, डुइंग द राइट थिंगः राइट्स–बेस्ड डेवलपमेंट एंड लैटिन अमेरिकन एनजीओ, अध्याय 1 (2003), देखें, यूविन, उपर्युक्त 1, पृ. 123–28
4. एंड्रिया कार्नवाल एंड सेलेस्टाइन न्यामु–मुसेंबी, व्हाई राइट्स, व्हाई नाऊ? रिफ्लेक्शन ऑन द राइज ऑफ राइट्स इन इंटरनेशनल डेवलपमेंट डिस्कोर्स, 36 डेवलपिंग राइट्स आईडीएस बुल। 11–14 (2005) य रिइन्वेंटिंग डेवलपमेंट? उपर्युक्त 2, पृ. 14–28 सैमुअल हिक्की एंड डायना मिल्टिन, राइट्स–बेस्ड एप्रोचेज टू डेवलपमेंट : एक्सप्लोरिंग द पोटेंशियल एंड पिटफॉल्स 3–8 (2009)।

5. एंड्रिया कार्नवाल एंड सेलेस्टाइन न्यामु–मुसेंबी, पुटिंग द 'राइट बेस्ड एप्रोच' टू डेवलपमेंट इनटू परस्पेक्टिव, 25 थर्ड वर्ल्ड क्यू. 1415, 1425–30 (2004) य लॉरे–हेलेनि पाइरोन, राइट बेस्ड एप्रोच एंड बाइलेटरल एड एजेंसीजः मोर देन ए मेटाफॉर? 36 डेवलपिंग राइट्स। आईडीएस बुल। 19 (2005) य मैक डैरो एंड एम्पारो टोमस, पावर, कैप्चर, एंड कनफ्लिक्टः ए कॉल फॉर ह्यूमन राइट्स एकाउंटेबिलिटी इन डेवलपमेंट कोऑपरेशन, 27 ह्यूमन राइट्स क्यू 471 (2005)

6. हन्नाह मिलर, फ्रॉम 'राइट बेस्ड' टू 'राइट फ्रेम्ड' एप्रोचेजः ए सोशल कंस्ट्रक्टिव व्यू ऑफ ह्यूमन राइट्स प्रैक्टिस 14, इंटर.ज. ह्यूम. राइ. 916 (2010)

7. सैम हिक्की एंड गिल्स मोहन, रिलोकेटिंग पार्टिसिपेशन विदिन ए रैडिकल पोलिटिक्स ऑफ डेवलपमेंट 36, डेव. एंड चेंज 237, 238 (2005) य एंड्रिया कार्नवाल एंड सेलेस्टाइन न्यामु–मुसेंबी, पुटिंग द 'राइट बेस्ड एप्रोच' उपर्युक्त 5, पृ. 1424

8. देखें एंड्रिया कार्नवाल एंड सेलेस्टाइन न्यामु–मुसेंबी, व्हाई राइट्स, उपर्युक्त 4, पृ. 10

9. पॉल ग्रीडी, 'राइट बेस्ड एप्रोच टू डेवलपमेंट : व्हॉट इन द वैल्यू–एडेड? 18 डेव. प्रैक्टिस 735, 742–43 (2008)

10. देखें, कार्नवाल एंड न्यामु–मुसेंबी, पुटिंग द 'राइट बेस्ड एप्रोच' सुप्रा नोट, 5, 1418, 1432

11. पीटर यूवीन, फ्रॉम द राइट टू डेवलपमेंट टू द राइट–बेस्ड एप्रोचः हाऊ 'ह्यूमन राइट्स' इंटर्ड डेवलपमेंट?

17. डेव. प्रैक्टिस 597, 603–04 (2007)

12. देखें, कार्नवाल एंड न्यामु–मुसेंबी, पुटिंग द 'राइट बेस्ड एप्रोच' सुप्रा नोट, 5, 1432

21. सस्टेनेबल लाइवलिहुड्स इन सदर्न अफ्रीका (एसएलएसए) टीम, राइट्स टॉक एंड राइट्स प्रैक्टिसः चौलेंजेज फॉर सदर्न अफ्रीका इन 34 आईडीएस बुले. 97–98 (2003)

22. वही, 110

23. देखें, कार्नवाल एंड न्यामु–मुसेंबी, पुटिंग द 'राइट बेस्ड एप्रोच' सुप्रा नोट, 5, 1432

24. ह्यूमन राइट्स, पावर एंड सिविक एक्शनः कंप्रेटिव एनालाइसिस ऑफ स्ट्रगल फॉर राइट्स इन डेवलपिंग कंट्रीज (बार्ड, ए. एंडरसन एंड गार्डन क्राफोर्ड सं. 2013)

25. स्टीवेन ल्यूक्स, पावर : ए रैडिकल व्यू, 25–29 (द्वितीय प्रकाशन 2005) (1974)

26. वही 16 पर

27. वही 18 पर

28. वही 22 पर

29. वही 27 पर

30. वही

31. उद्धरण – एमी एलेन, द पावर ऑफ फेमिनिस्ट थ्योरी रूडोमिनेशन, रेजिस्टेंस, सॉलिडैरिटी 125 (1999)। ल्यूक्स ने बाद में नोट किया कि इस तरह की रोधक शक्तियां "निश्चित रूप से अभिभावी

से पृथक विस्तृत संकल्पना होनी चाहिए।" ल्यूक्स के सुप्रा नोट 25, 84 पर उद्धृत एवं ' उदार सत्ता' संकल्पना के रूप में प्रस्तुत किया जहाँ सरकार हानि से बचाने की कोशिश करती है, यथा कार में सुरक्षा पट्टी पहनना, एक ऐसी मान्यता जिसके सभी के हित में सकारात्मक प्रयोग के लिए यदाकदा दमन की नीति भी अपनानी पड़ सकती है।

32. गॉर्डन क्रॉफोर्ड एवं नाना अकुआ एनिडोहो, घाना : स्ट्रगल फॉर राइट इन ए डेमोक्रेटिक कंटेक्स्ट, इन ह्यूमन राइट्स, पावर एंड सिविक एक्शन, सुप्रा नोट 24, 88 पर।

33. चीन में अध्ययन किए गए तीनों संस्थाओं के नाम परिवर्तित हो गए हैं। अतः ये संस्था के असली नाम नहीं हैं।

34. देखें, ल्यूक्स का सुप्रा नोट 25, 25 पर।

35. मैलकॉम लैंगफोर्ड, बिल डरमन, सेफो मेडलिगोज, खुलेकानी मोवो, जैकी डुगार्ड, एनी हीलियम, शिरहानी पिरिंडा– अफ्रीका : फ्रॉम स्ट्रगल टु आइडियलिज्म एंड बैक अगेन इन ह्यूमन राइट्स एंड सिविक एक्शन, सुप्रा नोट 24, 120 पर (2013)

36. ले ली टैंग, चाइना : एनजीओज एंड ह्यूमन राइट इन एक्शन, सुप्रानोट 24, 150 पर। यह संस्था का मूल नाम या संक्षिप्त नाम नहीं है।

37. देखें ल्यूक्स, सुप्रा नोट 25, 22 पर

38. देखें टैंग, सुप्रा नोट 36, 167 पर।

39. देखें वही 178 पर,यह संस्था का मूल नाम या संक्षिप्त नाम नहीं है।

की पैरवी को बढ़ावा देने के लिए पीसीए के प्रयास को ग्रामीण प्रवासियों (अप्रत्यक्ष सत्ता) द्वारा आत्मसात भागीदारी संबंधी नकारात्मक दृष्टिकोण एवं प्रशासनिक संगठन ने अनदेखा कर दिया।

40. देखें वही, 179 पर

41. क्रॉफोर्ड एवं एन्यिडोहो, सुप्रा नोट 24, 106 पर।

42. नाना एकुआ एन्यिडोहो एवं गॉर्डन क्रॉफोर्ड, लीवरेजिंग नेशनल एंड ग्लोबल लिंक्स फॉर लोकल राइट्स एडवोकेसी, डब्ल्यूएसीएएमस चौलेंज टु द पावर ऑफ ट्रांसनेशनल गोल्ड माइनिंग इन घाना, 35 कैनेडियन जे. डेव. स्टड. 483 (2014)।

43. वही

44. एनजीओ बिल (2004) के अनुसार सभी गैरसरकारी संस्थाओं का सरकार द्वारा नियंत्रित काउंसिल द्वारा निबंधन किया जाना आवश्यक था तथा जिम्बाब्वे की गैरसरकारी संस्थाओं को मानव अधिकार की लड़ाई के कार्य हेतु विदेशी अनुदान लेने की मनाही थी जबकि मानव अधिकार विदेशी गैरसरकारी संस्थाओं पर प्रतिबंध लगाया गया था।

45. कॉर्नवाल एवं न्यामु–मुसेम्बी, पुटिंग द राइट्स–बेस्ड एप्रोच", सुप्रा नोट 5, 1418 पर।

46. क्रॉफोर्ड एवं एनिडोहो, सुप्रा नोट 24, 110 पर।

47. एनी हेलम, बिल डर्मन, जिओफ फेल्टो, एलेन सिथोल, जूली स्टीवर्ट एवं एमी सांगा, राइट्स क्लेमिंग एंड राइट्स मेकिंग इन जिम्बाब्वे : ए स्टडी ऑफ थ्री ह्यूमन राइट्स, एनजीओ'ज इन ह्यूमन राइट्स, पावर एंड सिविक एक्शंस, सुप्रा नोट 24, 48 पर।

48. वही, 46 पर।

49. देखें उविन, सुप्रा नोट 1, 140 पर।

50. देखें ल्यूक्स सुप्रा नोट 25, 72 पर। 51. एंड्रिया कॉर्नवेल, इंट्रोडक्शन : न्यू डेमोक्रेटिक स्पेसेस? द पॉलिटिक्स एंड डिनामिक्स ऑफ इंस्टीच्यूशनलाइज्ड पार्टिशिपेशन, 35 आईडीएस बुलेटिन 1,2 (2004)। 52.जॉन गैवेंटा, फाइंडिंग द स्पेसेस फॉर चेंज : ए पावर एनालिसिस, 37 आईडीएस बुलेटिन 23,27 (2006)।

53. वही, देखें ल्यूक्स सुप्रा नोट 25, 72 पर।

54. नाना एकुआ एन्यिडोहो एवं गॉर्डन क्रॉफोर्ड, लीवरेजिंग नेशनल एंड ग्लोबल लिंक्स फॉर लोकल राइट्स एडवोकेसीय डब्ल्यूएसीएएमस चौलेंज टू द पावर ऑफ ट्रांसनेशनल गोल्ड माइनिंग इन घाना, 35 कैनेडियन जे. डेव. स्टड. 483 (2014)।

55. हर्ष मन्दर, राइट्स एज स्ट्रगल : टुवार्ड्स ए मोर जस्ट एंड ह्युमेन वर्ल्ड, इन रिइंवेंटिंग डेवलपमेंट? सुप्रा नोट 2, 241–42 पर (एम्फैसिस एडेड)।

56. देखें ग्रीडी, सुप्रा नोट 9, 743 पर।

57. देखें हिकी एवं मिटलिन, सुप्रा नोट 4, 219 पर।

58. बार्ड ए. एंड्रियासेन, लीगल एम्पावरमेंट ऑफ द पुओर, सोशल प्रीरिक्विजिट्स, इन ह्यूमन राइट्स इन द न्यू मिलिनियम, टुवार्ड्स ए थ्योरी ऑफ चेंज, (पॉल ग्रीडी एंड वूटर वांडेनहोल, एड्स.2013)

59. अर्बन जॉनसन, ए ह्यूमन राइट्स बेस्ड एप्रोच टु प्रोग्रामिंग इन रीइनवेंटिंग डेवलपमेंट, सुप्रा नोट 2, 47 पर। 60. श्रीलता बाटलीवाला, टेकिंग द पावर आउट ऑफ एम्पावरमेंट, एन एक्सपेरिमेंटल एकाउंट 17, डेव. प्रैक्टिस 557 (2007)

❖❖❖❖❖

वैश्विक गरीबीः अधिकार, दायित्व, संस्थाएं एवं प्रेरणा

माईकल फ्रीमैन•

सारांश : अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार घोषणापत्र के संबंध में आम आलोचना यह है कि उसमें तदनुरूप दायित्वों का पर्याप्त उल्लेख नहीं है। यह आलोचना प्राय. उस समय विशेष रूप से संगत मानी जाती है जब उसका संबंध आर्थिक और सामाजिक अधिकारों से जोड़ा जाता है। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून इन दायित्वों को राज्यों पर थोपता है, किंतु आलोचक इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि यह समस्या (राज्य का व्यवहार) को समाधान के रूप में प्रस्तुत करता है। इस आलेख में वैश्विक गरीबी पर चल रहे वाद–विवाद के संदर्भ में आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों के प्रति तदनुरूप दायित्वों के प्रश्न पर विचार किया गया है। इसमें कहा गया है कि यदि वैश्विक गरीबी को दूर करने हेतु व्यावहारिक प्रगति करनी है तो संस्थाओं एवं प्रेरणाओं दोनों को समझते हुए दायित्वों के संबंध में कानूनी एवं तात्विक दृष्टि से अवश्य विचार किया जाना चाहिए।

1. प्रस्तावना : दायित्वों की समस्या

दार्शनिक ओनोरा ओ'नील ने अपने 2002 के बीबीसी रीथ व्याख्यान में कहा था कि सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणापत्र में घोषित अधिकारों की सूची को प्रायः प्रमाण के रूप में देखा जाता है। किंतु वह आगे यह भी कहती हैं कि इस घोषणा में तदनुरूप

• माईकल फ्रीमैन यूनाइटेड किंगडम के यूनिवर्सिटी ऑफ एसेक्स में सरकारी विभाग के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर हैं। वे इंटरनेशनल पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन की मानवाधिकार अनुसंधान समिति के पूर्ववर्ती अध्यक्ष तथा एमनेस्टी इंटरनेशनल के ब्रिटिश अनुभाग के अध्यक्ष भी हैं। वे मानवाधिकार केंद्र, यूनिवर्सिटी ऑफ एसेक्स के पूर्ववर्ती उप निदेशक तथा यूनिवर्सिटी ऑफ कनेक्टिकट के मानवाधिकार संस्थान के बोर्ड ऑफ ओवरसीज के सदस्य हैं। उन्होंने जापान से लेकर चीन, मैक्सिको, ब्राजील तक और स्वीडेन एवं नार्वे से लेकर दक्षिण अफ्रीका के बीस से अधिक देशों में मानवाधिकार पर व्याख्यान दिए हैं। वे फिलहाल मानवाधिकार दर्शन, वैश्विक गरीबी तथा सांस्कृतिक सापेक्षवाद पर अनुसंधान कर रहे हैं।

CREDIT :

Freeman, Michael. "World Poverty: Rights, Obligations, Institutions, Motivations." Human Rights Quarterly 37:2 (2015), 439-463. © 2015 Johns Hopkins University Press. Reprinted with permission of Johns Hopkins University Press.

दायित्वों के बारे में लगभग कुछ भी नहीं कहा गया है। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून सार्वभौमिक अधिकारों की घोषणा करता है, किंतु हमें यह नहीं बताता कि किसे, किसके लिए क्या करना है? और क्यों करना है? वह मानती हैं कि अधिकारों का घोषणापत्र मानव जीवन तथा नागरिकता का निष्क्रिय दृष्टिकोण अपनाता है। वे हमारी हकदारिता की घोषणा करते हैं किंतु वे हमारे दायित्वों को नहीं बताते और इस प्रकार हमारे कार्यों के बारे में कोई दिशानिर्देश नहीं देते।[1]

ऐसा लगता है कि ओ'नील ने घोषणा के आमुख में कही गई बात को नजरंदाज कर दिया है, जिसमें कहा गया है कि :

सभी लोगों एवं सभी राष्ट्रों के लिए अंततः एक आम मानक यह है कि प्रत्येक व्यक्ति एवं समाज के प्रत्येक अंग को इस घोषणा को ध्यान में रखते हुए प्रशिक्षण एवं शिक्षा के द्वारा इन अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं के प्रति आदर का भाव बढ़ाने तथा राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रगामी उपायों के द्वारा सार्वभौमिक एवं प्रभावी ढंग से उनकी पहचान तथा उनके पालन को सुनिश्चित करने का प्रयास करना है।[2]

मानव जीवन तथा नागरिकता के प्रति निष्क्रिय दृष्टिकोण न रखकर यह घोषणा एक कठोर, यहां तक कि अवास्तविक अपेक्षाओं के साथ सभी व्यक्तियों पर कई प्रकार के दायित्व डालती है ताकि वे घोषित अधिकारों के प्रभावी ढंग से पालन को सुनिश्चित करने का प्रयास करें। यदि इसका यह उद्देश्य निकाला जाए कि वह मात्र शब्दाडंबरयुक्त पाठ का अत्यधिक शाब्दिक रूप प्रस्तुत करती है तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इलिनियोर रूजवेल्ट, जिन्होंने घोषणा निर्माण समिति की अध्यक्षता की थी, इस बात पर जोर डाला था कि यह घोषणापत्र स्पष्टतः सक्रिय नागरिकता के दायित्वों को ग्रहण करता है।[3]

अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून पूरी तरह से स्पष्ट है कि किसे, किसके लिए क्या करना है?– उदाहरण के लिए आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर प्रसंविदा (आईसीइएससीआर) के अनुच्छेद 2 (1) में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य (वचनबद्ध है कि) व्यक्तिगत रूप से या अंतरराष्ट्रीय सहयोग के माध्यम से अपने अधिकतम संसाधनों के द्वारा सभी उपयुक्त उपायों द्वारा, जिसमें वैधानिक उपाय भी शामिल हैं, विद्यमान प्रसंविदा में मान्य अधिकारों की पूरी तरह से प्राप्ति हेतु प्रगामी ढंग से कदम उठाएगा।[4] संभवतः अनिवार्य रूप से इसकी शब्दावली कुछ हद तक अस्पष्ट है, जिससे राज्यों को कुतर्कपूर्ण एवं कानूनी तर्क देकर दायित्वों से मुकरने का अवसर मिलता है, किंतु यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि वह यह नहीं बताता कि किसको, किसके लिए क्या करना आवश्यक है। जो भी हो अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून

राज्यों पर दायित्व डालता है, नागरिकों पर नहीं, और इसीलिए सक्रिय नागरिकों के दायित्वों के बारे में ओ'नील की चिंताओं पर ध्यान नहीं देता।

ओ'नील का मानना है कि राज्यों को आबंटित अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून तीन कारणों से अपर्याप्त है, अनेक राज्य अपने मानवाधिकार के दायित्वों का पालन करने में अक्षम हैं अनेक राज्य उन्हें पूरा करने की इच्छा नहीं रखते और लाखों लोग ऐसे हैं जो किसी राज्य में नहीं हैं।[5] अतः अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून यह मानने के लिए बहकाता' है कि राज्यों को मानवाधिकारों के दायित्वों को सौंपा जा सकता है। यह अपेक्षा हो सकती है कि एक ऐसे विश्व का निर्माण किया जाए जहां सभी राज्य अपने मानवाधिकारों के दायित्वों को पूरा करने की इच्छा रखते हों और उसके लिए सक्षम भी हों। इसके साथ ही लाखों लोग ऐसे हैं जो अपने मानवाधिकारों के हनन से त्रस्त हैं। यदि हम दायित्वों की सार्वभौमिकता को उसी गंभीरता से लें, जिस गंभीरता से अधिकारों की सार्वभौमिकता को लेते हैं, तो हमें ऐसे गैर–राज्य कार्यकर्ताओं की खोज करनी होगी, जो मानवाधिकारों को लागू करने के लिए जो भी योगदान करना चाहें कर सकते हैं।[6]

जैक डोनेली मानवाधिकार के राज्यनियंत्रणवादी अवधारणा का समर्थन करते हैं। वे मानते हैं कि यह धारणा कि मानवाधिकार के दायित्व सार्वभौमिक हैं, स्वभावतः कपटपूर्ण' है, किंतु यह समसामयिक समझौता' नहीं है। अर्थात् मानवाधिकार से जुड़े कर्तव्य लगभग पूरी तरह से राज्यों को सौंपे जाते हैं। मानवाधिकार की राज्य–केंद्रित यह अवधारणा आवश्यक नहीं है, किंतु इसकी गहरी ऐतिहासिक जड़ें हैं और आधुनिक राजनीति में राज्य की केंद्रीय भूमिका को दर्शाते हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों की पूर्ति के लिए एक सक्रिय राज्य की जरूरत होती है। मानवाधिकारों की नैतिक सार्वभौमिकता को कुछ आधिकारिक अंतरराष्ट्रीय मानदंडों में वर्गीकृत किया गया है, किंतु एक अंतरराष्ट्रीय पद्धति में, जिसमें सरकार वैश्विक न होकर राष्ट्रीय होती है, वहां ये अंतरराष्ट्रीय मानदंड निश्चित रूप से राष्ट्रीय कार्यों के द्वारा प्राप्त किए जाने चाहिए।[7]

ओ'नील तथा डोनेली के द्वारा अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून के स्पष्ट रूप से भिन्न मूल्यांकन उनके भिन्न सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य की उपज हैं। ओ'नील अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून को नव–कांतियन नैतिक एवं राजनैतिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखती हैं। वह कुछ उपयुक्त अधिकारों एवं दायित्वों के साथ वैश्विक न्याय की औचित्यपूर्ण अवधारणा को विकसित करना चाहती हैं। इस परियोजना में उपयुक्त 'न्यायाभिकरण' की पहचान शामिल हैं।[8] वह मानती है कि अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून की राज्यनियंत्रणवादी अवधारणा ऐसे कपटपूर्ण अभिकरणों को उपयुक्त दायित्व

सौंपने में असफल रहेगी। यह खासकर उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों तथा वैश्विक गरीबी की चुनौतियों पर विचार कर रहे होते हैं।

डोनेली ऐसे मानवाधिकारों का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, जिसमें घोषणापत्र द्वारा निभाई गई केंद्रीय भूमिका की पहचान की गई है, जिसे वे सार्वभौमिक घोषणापत्र मोडल कहते हैं। इस संबंध में उनका कहना है कि मानवाधिकारों पर समसामयिक सहमति हो सकती है। डोनेली कहते हैं कि अंतरराष्ट्रीय कार्रवाई के उद्देश्य से मानवाधिकार' का अर्थ वह है जो सार्वभौमिक घोषणापत्र में है और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून समसामयिक विश्व में सभी राज्यों के लिए आधिकारिक मानक प्रदान करता है।[9] ओ'नील अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून को इसलिए अपर्याप्त मानती है क्योंकि वह उपयुक्त दायित्वों वाले न्यायाभिकरणों की पहचान नहीं कर पाता। डोनेली मानते हैं कि अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून राज्यों को आधिकारिक दायित्व प्रदान करता है, जो न्याय का वास्तविक अभिकरण है। डोनेली मानवाधिकारों की 'समसामयिक समझ' को स्पष्ट करते हैं; ओ'नील उसे गहन मूल्यांकन का विषय और अविद्यमान मानती हैं।

डोनेली स्वीकार करते हैं कि मानवाधिकार के दायित्वों को क्रियान्वित करने के लिए कोई उल्लेखनीय अंतरराष्ट्रीय क्रियाविधि नहीं है और अनेक देशों में उनके क्रियान्वयन के लिए राष्ट्रीय कानूनी माध्यम भी प्रभावी नहीं हैं। तथापि वे इस बात पर जोर देते हैं कि राज्य ही इस बात के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं कि वहां के लोग अपने मानवाधिकारों का प्रयोग कर रहे हैं या नहीं। उनके अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार दायित्व की औपचारिक पुष्टि काफी महत्त्व रखती है।[10]

हालांकि मानवाधिकारों का लाभ उठाने के लिए अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून के प्रभाव के बारे में आनुभविक साक्ष्य जटिल एवं अपूर्ण दोनों हैं। हाल के अध्ययनों से पता चलता है कि यह प्रभाव बहुत ही सीमित हैं और अनेक प्रकार की अन्य परिवर्तनशील स्थितियों पर निर्भर हैं। स्वयं मानवाधिकार के संधिपत्रों की अभिपुष्टि मानवाधिकारों के लिए कुछ भी नहीं करती। साक्ष्य यह बताते हैं कि अभिपुष्टि स्थापित प्रजातंत्रात्मक देशों या सत्तात्मक देशों में मानवाधिकारों के कार्यनिष्पादन में मामूली असर डालती है या कोई भी असर नहीं डालती। वह नए प्रजातंत्रात्मक देशों में अधिक प्रभाव डालती है। अभिपुष्टि, मानवाधिकारों के संबंध में सुधार वहां कर पाती है, जहां सिविल सोसाइटी को एकत्रित कर उसका पालन किया जाता है। यह उन स्थितियों में अधिक उत्पन्न होता है जब मानवाधिकारों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि उनका अच्छी तरह सम्मान नहीं किया जाता, किंतु जब उनको इकट्ठा करने के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता भी होती है। यह स्पष्ट करता है कि अर्ध–गणतंत्र में अभिपुष्टि का सर्वाधिक

प्रभाव क्यों है। मानवाधिकार के कार्यान्वयन का राज्यनियंत्रणवादी मॉडल यह भी मानता है कि मानवाधिकारों का उल्लंघन उन राज्यों द्वारा किया जाता है, जिनका समाज पर कमोबेश संपूर्ण नियंत्रण होता है और वे जानबूझकर मानवाधिकारों का उल्लंघन करते हैं। कुछ राज्य इस तरह के हैं, किंतु अनेक विकासशील देशों में ऐसे राज्य हैं जिनके पास मानवाधिकारों के कार्यान्वयन के लिए सीमित साधन हैं। राज्यनियंत्रणवादी मॉडल ऐसे गैर–राज्यीय लोगों द्वारा किए गए मानवाधिकारों के उल्लंघन को अनदेखा करता है, जिन पर राज्य नियंत्रण नहीं कर सकता।[11]

डोनेली मानते हैं कि मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता ग्रहण करने की सार्वभौमिकता है (प्रत्येक व्यक्ति को समान मानवाधिकार है), न कि उपभोग की सार्वभौमिकता।12 ओ'नील का मानवाधिकारों की घोषणाओं के प्रति विरोध न केवल इसलिए है कि वे नागरिकों के दायित्वों को स्पष्ट करने में असफल हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे उन संस्थाओं को स्पष्ट करने में असफल हैं जो मानवाधिकारों को पूरा करने हेतु सर्वाधिक उचित प्रकार से एवं प्रभावी ढंग से दायित्वों को वहन कर सकते हैं। सार्वभौमिक आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों की घोषणाएं, जो संगत दायित्वों के साथ संस्थाओं की पहचान करने में असफल रहती हैं वे गरीबों एवं जरूरतमंद लोगों के लिए एक कड़वा मजाक प्रतीत हो सकती हैं, जिनके लिए ये अधिकार अधिक महत्त्व रखते हैं।''[13]

2. एक संस्थागत दृष्टिकोण

थॉमस पोगे वैश्विक न्याय के सिद्धांत के अधीन मानवाधिकार के प्रति एक संस्थागत दृष्टिकोण को अपनाते हुए ओ'नील की चिंताओं पर अस्पष्ट रूप से प्रतिक्रिया करते हैं।[14] वे न्याय के संबंध में रॉल के सिद्धांत के संशोधित रूप का उल्लेख करते हुए यह प्रतिक्रिया करते हैं। रॉल के सिद्धांत में कहा गया है कि कुछ खास मौलिक स्वतंत्रता और समान अवसर के सिद्धांत की गारंटी होने के बावजूद समाज के समृद्ध सदस्यों को प्राप्त होने वाले लाभ का औचित्य तभी स्थापित होगा जब वे निर्धनों की स्थितियों में सुधार करते हैं।15 यह सिद्धांत राष्ट्र–राज्य की विद्यमान पद्धतियों को स्वीकार करता है। पोगे इसे एक बड़ी त्रुटि मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में राष्ट्र–राज्य संस्थागत रूप से वैश्विक गरीबी तथा असमानता को पैदा करने में बड़ा योगदान देते है। उनका तर्क है कि अंतरराष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था एक उपकरण है, जिसका विकास सरकार द्वारा अपने खास हितों की रक्षा के लिए किया गया है। अतः यह मानवाधिकारों को प्राप्त करने के लिए व सबसे उपयुक्त संस्थागत ढांचा नहीं है। पोगे का मानना है कि वर्तमान वैश्विक संस्थागत व्यवस्था उसके द्वारा उत्पन्न की गई आत्यंतिक अपवंचना

की दृष्टि से अन्यायपूर्ण है और मानवाधिकारों की राज्य–आधारित व्यवस्था की स्वीकृति अधिक न्यायपूर्ण विश्व की खोज को रोकता है।[16]

वैश्विक संस्थागत व्यवस्था राजनीतिक दर्शन के लिए उचित संदर्भ है। प्रश्न यह है कि हम नैतिक दृष्टि से किस प्रकार वैश्विक संस्थागत व्यवस्था का मूल्यांकन करें। पोगे का रावल्सियन उत्तर यह है कि हमें सबसे पहले सर्वाधिक पिछड़े लोगों के लिए परिणामों पर विचार करना चाहिए। तथापि वे सार्वभौमिक घोषणापत्र में निर्धारित अधिकारों की सुरक्षा से वंचित सर्वाधिक पिछड़े लोगों की पहचान करने में रॉवल्स से मतभेद रखते हैं।[17] इस प्रकार यद्यपि वे वैश्विक संस्थागत व्यवस्था' की आलोचना करते हैं, परंतु अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकारों के सिद्धांत का अनुमोदन करते हैं।

पोगे द्वारा ओ'नील की इस आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि सार्वभौमिक घोषणापत्र संस्थाओं की अनदेखी करता है जो घोषणापत्र के अनुच्छेद 28 को लागू करके मानवाधिकारों के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक है, जिसमें कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसी अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का हकदार है, जिसके माध्यम से घोषणापत्र में निर्धारित अधिकारों एवं आजादियों को पूरी तरह प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान वैश्विक संस्थागत व्यवस्था के अधीन लाखों लोग भोजन एवं शारीरिक सुरक्षा की अपनी सर्वाधिक मौलिक जरूरतों को पूरा नहीं कर सकते। यह व्यवस्था अन्यायपूर्ण है। यदि एक ऐसी संभव वैकल्पिक व्यवस्था है जिसमें इसी प्रकार की अपवंचना उत्पन्न नहीं होगी।[18] सार्वभौमिक घोषणापत्र के अनुच्छेद 25 में रावल्सियन वैश्विक न्याय के लिए आधार प्रदान किया गया है, जिसमें घोषणा की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसे जीवन–स्तर का अधिकार है, जो उसकी भोजन, कपड़ा, घर एवं चिकित्सा की जरूरतों के साथ–साथ उसके एवं उसके परिवार के स्वास्थ्य एवं कल्याण के जो जरूरतों को पूरा करता हो।[19]

पोगे ऐसे आकलनों को उद्धृत करते हैं, जिसमें कहा गया है कि इस समय विश्व में 830 मिलियन लोग अल्पपोषित हैं, 1,100 मिलियन लोगों को शुद्ध पानी नहीं मिलता, 2,600 मिलियन लोग बुनियादी शौचालय से रहित हैं, 1,000 मिलयन लोगों के पास पर्याप्त घर नहीं है, लगभग 2,000 मिलियन लोग आवश्यक दवाओं से वंचित हैं लगभग 774 मिलियन व्यस्क लोग अशिक्षित हैं और 218 मिलियन बच्चे मजदूरी करते हैं। वर्ल्ड बैंक के अनुसार 2004 तक कुल मानव जाति के 39.7 प्रतिशत अर्थात् 2,533 मिलियन लोग घोर गरीबी का जीवन जी रहे थे। औसतन गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले लोगों का प्रतिशत 41 के नीचे पहुंच गया था। करीब 950 मिलियन लोग विश्व बैंक द्वारा आधिकारिक रूप से घोषित गरीबी रेखा के आधे से भी अधिक नीचे स्तर पर जीवन जी

रहे थे। प्रत्येक वर्ष लगभग 18 मिलियन लोग गरीबी से जुड़े कारणों से अकाल मृत्यु को प्राप्त कर रहे थे। यह मनुष्यों की मृत्यु का एक तिहाई भाग अर्थात् 50,000 प्रतिदिन है, जिसमें 20,000 बच्चे पांच वर्ष से कम उम्र के थे।[20] ये आंकड़े विवादास्पद हैं, किंतु ऐसी कोई संख्या नहीं है, जो अविवादास्पद हो।[21]

पोगे रालसियन के इस विचार को शामिल करते हैं कि राजनीतिक न्याय को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ताकि अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार नियम में पाए जाने वाले मानवाधिकार की अवधारणा के अनुसार जो सर्वाधिक खराब स्थिति में हैं उनकी दशा को सुधारा जा सके। ऐसा करते हुए वे ओ'नील के इस आह्वान का प्रत्युत्तर दे रहे हैं कि समनुवर्ती उत्तरदायित्व एवं उपयुक्त सस्थानों के सिद्धांत के साथ मानवाधिकार के विचार को जोड़ा जाए।

3. किसका उत्तरदायित्व?

पोगे कहते हैं कि वर्तमान वैश्विक संस्थागत व्यवस्था को अन्यायपूर्ण मानने और इसको स्थायी बनाने में सहयोगियों को इसके शिकार लोगों पर इस व्यवस्था को लागू करने के लिए उत्तरदायी मानने का हमारे पास उपयुक्त कारण है। यह अन्यायपूर्ण संस्थागत योजना हमारे द्वारा लागू की जाती है। अतः हमारा दायित्व है कि हम उस वैश्विक व्यवस्था में संस्थागत सुधार हेतु पहल करें जिससे ऐसी घोर गरीबी पैदा न हो, जो हमारे वर्तमान विश्व में विद्यमान है। वैश्विक संस्थागत व्यवस्था के कारण सर्वाधिक वंचित लोगों के पास वस्तुतः ऐसा कोई साधन नहीं है कि वे सुधार हेतु पहल कर सकें। हमारे पास ऐसे साधन हैं। अतः घोर गरीबी के वैश्विक अन्याय को दूर करने का हमारा दायित्व अन्यायपूर्ण वैश्विक संस्थागत व्यवस्था को लागू करने में हमारे सहयोग और उस व्यवस्था में सुधार की पहल एवं समर्थन करने की हमारी क्षमता से उत्पन्न होता है।[22]

हमारा विद्यमान संस्थानों को केवल स्वीकार करने का नैतिक दायित्व ही नहीं है, बल्कि व नैतिक दृष्टि से उनकी समीक्षा करना भी हमारा दायित्व है। जहां वे अन्यायपूर्ण हैं, हमें यह देखना चाहिए कि हम किस प्रकार उनमें सुधार हेतु योगदान कर सकते हैं और उनके कुछ हानिकारक परिणामों को कम करने में मदद कर सकते हैं। जहां न्यायपूर्ण संस्थान नहीं हैं वहां हम उसे लाने में मदद करें। अन्यायी संस्थानों की समीक्षा में व्यक्तियों के अन्यायपूर्ण कार्य भी शामिल हैं, उदाहरण के लिए ऐसे लोग जो संस्थानों का निर्माण करते हैं, उन्हें स्थायी बनाते हैं और सुधार करते हैं। तथापि संस्थानों का अन्याय व्यक्तियों के गलत कार्यों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका

संबंध उन कानूनों से है जिनके आधार पर व्यक्ति ऐसे गलत कार्यों को करता है। दास–स्वामी अपने गुलामों के प्रति अन्यायपूर्ण कार्य कर सकते हैं, किंतु सर्वाधिक लाभान्वित दास–स्वामी एक अन्यायपूर्ण संस्थान के भीतर कार्य करते हैं। फिर भी पोगे मानते हैं कि जमीनी स्तर के कानूनों को अपनाना कुछ हद तक हम लोगों के सामूहिक स्तर पर निर्भर करता है और इस पसंद के परिणाम अत्यधिक नैतिक महत्त्व' के होते हैं।[23]

पोगे के अनुसार हम वैश्विक व्यवस्था में लाभप्रद प्रतिभागी हैं, जो उसे बनाए रखने में मदद करते हैं और सामूहिक रूप से उसे बदलने में सक्षम हैं। अन्यायपूर्ण संस्थान को सुधारने का उत्तरदायित्व न केवल उन तक सीमित है जो उनपर नियंत्रण रखते हैं या उससे लाभ उठाते हैं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था में प्रतिभागिता सभी लोगों की है, यद्यपि उस अनुपात से जिससे वे उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था से लाभ उठाते हैं और निश्चित रूप से उन अवसरों के अनुपात से जिससे उनको संस्थागत सुधार का समर्थन करना पड़ता है। विद्यमान वैश्विक संस्थागत योजना में जो जितना अधिक लाभ की स्थिति में है और जितना शक्तिशाली प्रतिभागी है वे बाकी लोगों पर उसे लादते हैं और वे सामूहिक रूप से अब तक इस योजना को अन्यायपूर्ण बनाने के लिए उत्तरदायी हैं, क्योंकि वे उसे सक्रिय रूप से स्थायी बनाते हैं और उसके सुधार में रुकावट डालते हैं। पोगे वैश्विक व्यवस्था के सुधार का दायित्व उसके सामान्य दायित्व, उसे परिवर्तित करने की क्षमता तथा उससे होने वाले लाभ की सीमा तक आबंटित करते प्रतीत होते हैं। इससे ऐसा लगता है कि उत्तरदायित्व सबसे धनी एवं सर्वाधिक शक्तिशाली देशों के राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोगों का है। हालांकि पोगे इस मामले में स्पष्ट हैं कि विकसित देशों के सभी नागरिक वर्तमान अन्यायपूर्ण वैश्विक संस्थागत व्यवस्था के निर्माण और उसे चिरस्थायी बनाने के लिए सामान्य तौर पर नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी हैं।[24]

जो भी हो, सरकारें एवं राजनेता वैश्विक अन्याय के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी हैं। सरकारें प्रायः उन मूल्यों का सम्मान नहीं कर पातीं जिनका वे दावा करती हैं, क्योंकि उन मूल्यों को प्रभावी करने के प्रति उनमें राजनीतिक इच्छाशक्ति नहीं होती। यह एक नैतिक असफलता है, खासकर राजनेताओं की। वैश्विक अन्याय के लिए उत्तरदायी राज्य व्यवस्था की अपनी समीक्षा के बावजूद पोगे यह मानते हैं कि राज्यों को अधिक न्यायपूर्ण विश्व के निर्माण की दिशा में प्रथम कदम उठाना चाहिए और ये कदम कम से कम प्रारंभिक चरण में विवेकपूर्ण विचारों द्वारा प्रेरित होने चाहिए।[25]

यद्यपि पोगे वैश्विक अन्याय को सुधारने का प्राथमिक दायित्व राजनीतिक संभ्रात लोगों पर सौंपते हैं, परंतु वे विकसित देश के नागरिक होने के नाते 'हम' पर भी

अन्यायपूर्ण वैश्विक संस्थागत व्यवस्था को ठीक करने का दायित्व सौंपते हैं। किंतु कभी–कभी वे दायित्वों की प्राथमिकता निर्धारण भी करते हैं और उन्हें अधिक जिम्मेदार मानते हैं जो इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था से लाभान्वित हो रहे हैं और जिनके पास आवश्यक सुधार के लिए अधिकाधिक सक्षमता है। तथापि इस दायित्व के आबंटन के बावजूद इस अन्यायपूर्ण वैश्विक व्यवस्था के लिए सामान्य दायित्व का आधार हम सबका सामूहिक दायित्व भी है। पोगे तर्क देते हैं कि यह सामान्य दायित्व इन संस्थानों के सर्वाधिक वंचित एवं अनैच्छिक प्रतिभागियों के संबंध में सामूहिक दायित्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए नैतिक जिम्मेदारी को जन्म देता है। हमारा नकारात्मक कर्तव्य यह है कि हम अन्यायपूर्ण संस्थानों के आरोपन में सहयोगी न बनें और हमारा सकारात्मक दायित्व है कि हम संस्थागत सुधार को बढ़ावा दें।[26] अतः पोगे का व्यावहारिक राज्यनियंत्रणवाद, जो मानवाधिकार के दायित्वों के दार्शनिक सिद्धांत और डोनेली के कानूनी एवं राजनीतिक दृष्टिकोण के बीच की दूरी को कुछ हद तक पाटता है, नागरिकों के कर्तव्यों पर बल के साथ जुड़ा हुआ है, जैसा कि ओ'नील ने मानवाधिकार के पर्याप्त सिद्धांत के अधीन अपेक्षा की है।

कुछ लोगों का मानना है कि विश्व के गरीबों के प्रति हमारा सकारात्मक दायित्व है दूसरे लोग इसे अस्वीकार करते हैं। पोगे पूर्ववर्ती विचारों को अस्वीकार नहीं करते, किंतु वे इसे कम विवादास्पद मानते हैं कि दूरस्थ विदेशियों के मानवाधिकारों की पूर्ति को सुनिश्चित करने के प्रति हमारे सकारात्मक दायित्व की तुलना में उनका उल्लंघन न करने के प्रति हमारा नकारात्मक दायित्व है, क्योंकि दूसरों को हानि पहुंचाने से बचने के प्रति नकारात्मक कर्तव्य दूसरों को मदद करने के सकारात्मक कर्तव्यों की तुलना में अधिक युक्तिसंगत है।27 उनकी धारणा है कि वैश्विक घोषणा के अनुच्छेद 25 एवं 28 प्रत्येक व्यक्ति को यह नकारात्मक मानवाधिकार प्रदान करते हैं कि वे उस अन्यायपूर्ण वैश्विक व्यवस्था को स्वीकार न करें जो अनुच्छेद 25 के अधीन पर्याप्त जीवन स्तर को प्राप्त करने के उनके अधिकार का उल्लंघन करते हैं और वे जो गरीबों पर ऐसे अन्यायपूर्ण वैश्विक व्यवस्था को लागू करने में सहभागी बनते हैं, जिससे उनके नकारात्मक मानवाधिकार का उल्लंघन होता है। हालांकि अन्यायपूर्ण व्यवस्था में सहभागी बनने के नकारात्मक दायित्व के लिए सकारात्मक क्रिया की आवश्यकता होती है। हम सबका अन्यायपूर्ण वैश्विक संस्थागत व्यवस्था में सुधार करने का सामूहिक नैतिक दायित्व है।[28]

पोगे ने वैश्विक सांस्थानिक व्यवस्था के अन्याय के प्रति हमारे सामूहिक दायित्व के कारण हमें उत्तरदायी या दोषी नहीं ठहराया है। उनका कहना है कि वर्तमान सभी

मानव–दुर्दशा के लिए विकसित पश्चिमी देशों के अतिसाधारण नागरिकों को भी दोषी करार देना अयुक्तिसंगत या विपरीत प्रभावकारी होगा। विदेशों में भुखमरी के लिए उन्हें उत्तरदायी मानना रूढ़िवादिता और कुछ हद तक मूर्खता होगी। जो पहले महिलाओं की दासता या उन पर दमन के सहयोगी रहे हैं, सीधे तौर पर उन्हें भी दोषी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वे अपने उक्त आचरण की कमियों का नैतिक आकलन नहीं कर पाए थे। अतः दुनिया में व्याप्त समसामयिक दुर्दशा के लिए साधारण जनता को भी आरोपित नहीं किया जा सकता है। तथापि, आज हम यह सोचते हैं कि उनका वह आचरण गलत था और उन्हें यथासंभव सांस्थानिक सुधार का काम करना चाहिए था। यहां पोगे का नैतिक दायित्व का सिद्धांत अस्पष्ट है। एक ओर उनका कहना है कि सांस्थानिक योजनाओं के अहितकर नियमों में यथासंभव सुधार के लिए आसानी से किए जा सकने वाले प्रयास न करना "यथार्थतः गलत" है क्योंकि वह उनका सामूहिक दायित्व है। दूसरी ओर वे इस प्रश्न पर "पूर्वाग्रही" भी नहीं होना चाहते कि दायित्व की जानकारी न होने या दायित्व की उपेक्षा के कारण किसी को दोषी ठहराया जा सकता है या नहीं, यदि हां तो किस हद तक। वे इस सवाल को गौण मानते हैं क्योंकि मुख्य विषय तो सामाजिक संस्थानों का नैतिक मूल्यांकन है। यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि हम यथार्थतः गलत करने पर भी क्यों दोषी नहीं हैं। तथापि, पोगे का विचार है कि हमारे वर्तमान जीवन पद्धति में, नैतिक दृष्टि से, कुछ हद तक गंभीर अनियमितता हो सकती है।[29]

पोगे यह स्वीकार करते हैं कि वैश्विक सांस्थानिक व्यवस्था की बहुविविधता एवं जटिलता के कारण अन्याय और उसके प्रति हमारी जवाबदेही अपारदर्शी है। अन्याय के लिए किसी संस्थान विशेष की कारणात्मक जवाबदेही स्थिर करने के लिए हमें बहुधा जटिल तथा अनुभवजन्य सामान्यानुमान पर निर्भर होना पड़ेगा। हम गुलामी करवाने वालों की तरह नहीं हैं जो गुलामी का दोष सीधे गुलामों के सिर मढ़ देते हैं। हम साधरण जीवन व्यतीत करते हैं और हमारी किसी भी कार्यवाही का वैश्विक स्तर पर गरीबों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है अंततः यह स्पष्ट होता है कि मानव एजेंसी के हस्तक्षेप के बिना ही वैश्विक असमानता तथा गरीबी का उद्‌भव और पुनरुद्‌भव होता है। गुलामी की तुलना में वैश्विक असमानता एवं गरीबी कम प्रकट हैं क्योंकि ये सोद्देश्य नहीं होतीं बल्कि परोक्ष में होने वाली जटिल प्रक्रियाओं के परिणाम होती हैं। जो संस्थानों की जटिल प्रक्रियाओं के सहभागी होते हैं उन्हें अपने कार्यकलापों के परोक्ष प्रभावों को झेलना नहीं पड़ता है और उसके लिए उत्तरदायी भी नहीं होते।[30] पुनः, पोगे का उत्तरदायित्व का सिद्धांत अस्पष्ट हैः हम उत्तरदायी हैं क्योंकि हम अनुचित वैश्विक

व्यवस्था से सहभागिता करते हैं, फिर भी हम उन जटिल संस्थानों में अपनी कार्यवाही के परोक्ष परिणामों के लिए उत्तरदायी नहीं हैं।

4. मानव इतिहास में मानव अधिकार का सबसे बड़ा उल्लंघन

पोगे का दावा है कि वैश्विक गरीबी एक क्षति है जो हम विश्व के गरीबों को पहुंचाते हैं। उनका कहना है कि यह दावा समृद्ध देशों के प्रायः सभी नागरिकों पर पूर्णतः लागू होता है। इसे "घातक" कह सकते हैं क्योंकि बहुत सारे लोगों के मौलिक अधिकार अपूर्ण रह जाते हैं। हम यह मानते हैं कि सहायता के लिए और कुछ किया जाना चाहिए, लेकिन हम सोच नहीं पाते कि इस त्रासदी के लिए हम सक्रिय रूप से जिम्मेदार हैं। काश, हम यह समझ पाते कि "मानवता के प्रति अब तक हुए सबसे बड़े अपराध" के लिए हम दोषी हैं। मृत्यु की संख्या, मृत्यु शिविर सहित हर तीन वर्ष में द्वितीय विश्वयुद्ध में हुई मृत्यु संख्या से बढ़ती रही है।[31]

पोगे का कहना है कि अनुमेय एवं परिहार्य लाखों की संख्या में होने वाली मृत्यु के कारण की जिम्मेदारी प्रथमदृष्ट्या राजनीतिज्ञों तथा मध्यस्थों पर आती है जो इसके कारक हैं। राजनीतिज्ञों एवं मध्यस्थों ने "विश्व में अब तक घटित कई बृहत्तम मानव अधिकार उल्लंघन को जानबूझकर अन्जाम दिया है।"[32] तथापि, "वर्तमान वैश्विक व्यवस्था को लागू करने में सक्रिय होकर हम मानव इतिहास के बष्हत्तम मानव अधिकार उल्लंघन के सहयोगी बन चुके हैं।"[33] "मृत्यु एवं उनके द्वारा पहुंचाई गई क्षति इरादतन नहीं होने के कारण इसे जघन्यतम मानव अधिकार उल्लंघन नहीं कहा जा सकता है। वे होने वाली क्षति से आदतन उदासीन रहते हुए काम किए जाते हैं।"[34]

5. नाजीवाद का विवाद

पोगे का दावा है कि आज विश्व में प्रति सात महीने में गरीबी के कारण होने वाली मृत्यु की संख्या नाजी मृत्यु शिविरों में हुई हत्या की कुल संख्या से अधिक है।[35] हमारे देशों के द्वारा नियोजित एवं लागू की गई वैश्विक अर्थनैतिक व्यवस्था "नाजी नरसंहार शिविरों से अधिक कुशलतापूर्वक हत्या करती है।"[36] पोगे का कहना है– यह आश्चर्यजनक है कि हम अनजाने में ही लाखों लोगों की भुखमरी में सहयोगी हैं, लेकिन हम नैतिक दृष्टि से सामान्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बहुत से नाजी समर्थक भी इसी प्रकार आश्चर्यचकित हैं। उन्होंने युद्ध या नरसंहार का कभी चयन नहीं किया लेकिन वे अपना काम करते रहे, आदेशों का पालन करते रहे और संभवतः प्रदर्शन में हिस्सा लेते रहे।

लेकिन, इस प्रकार काम करते हुए उन्होंने जनसंहार में सहभागिता की। जारी युद्ध, नरसंहार एवं उन्हें प्रदत्त कार्य के बारे में जो जानकारी दी गई थी, उसके उपरांत भी उन्हें सोच–समझ कर चयन करते हुए भिन्न प्रकार से कार्य करना चाहिए था। "यदि हम 1940 के दशक के प्रारंभ के जर्मन के बारे में यह सोच रखते हैं तो हमें अपने बारे में भी निश्चित रूप से यही सोच रखनी चाहिए।"[37]

नाजी शासन के अंतर्गत जर्मन से संबंधित यह संदर्भ वैश्विक गरीबी के लिए हमारी जिम्मेदारी पर पोगे के तर्क के लिए निर्णायक है, अतः इसका सुचिंतित विश्लेषण आवश्यक है। सर्वप्रथम, पोगे "नाजी समर्थक हैं" तथा " अधिकांशतः जिन्होंने जर्मन" का जिक्र करते हैं, मानो एक दूसरे के पर्याय हैं। जो भी हो, नाजी समर्थक एवं जर्मन, जो नाजी समर्थक नहीं थे और नाजी सिद्धांतों के विरोध में कुछ भी नहीं किया, में नैतिक दृष्टिकोण से अंतर है। दूसरा, पोगे का कहना है कि नाजी समर्थकों ने अपना काम जारी रखते हुए, आदेशों का पालन करते हुए एवं संभवतः रैली में शामिल होकर जनसंहार में "सहभागिता" की। यदि उनकी ओर से इस तरह की सहभागिता नहीं होती तो संभवतः जनसंहार भी नहीं होता। तथापि, जनसंहार में प्रत्यक्ष भागीदारी की तुलना में काम करने की, आदेश पालन तथा रैली में शामिल होने की नैतिक जिम्मेवारी, नाजी शासन के अंतर्गत भी, बहुत कम थी। तीसरा, पोगे का निष्कर्ष है कि युद्ध, जनसंहार एवं अपने सामान्य कर्तव्य की जानकारी रखने के कारण नाजी समर्थकों को भिन्न तरीके से काम करना चाहिए था। उनका यह कथन नहीं है कि वे युद्ध और जनसंहार की जानकारी रखते थे। लेकिन यह तो तय है कि विभिन्न जर्मन को इन सब मामलों की अलग–अलग स्तर पर जानकारी थी। चौथा, पोगे यह नहीं बताते कि जर्मन किस प्रकार से भिन्न तरीके से काम करते हैं। यह विवादास्पद प्रतीत होता है क्योंकि वर्तमान समय की वैश्विक गरीबी की जिम्मेदारी निर्धारित करने के मामले में 1940 के दशक के प्रारंभ में अधिकांश जर्मन के बारे में सोच रहे हैं।

अंतरराष्ट्रीय संघ ने हाल के वर्षों में वैश्विक भुखमरी या गरीबी के मामले को उठाया है, उसी तर्ज पर पोगे नाजी को इस मामले से संबद्ध कर रहे हैं। 1996 में आयोजित विश्व खाद्य सम्मेलन में शामिल 186 सरकारों ने "सभी के लिए उत्तम सुरक्षा" की व्यवस्था, " सभी देशों से भुखमरी के आमूल उत्पाटन हेतु सतत चेष्टारत" और " 2015 से पहले अल्पपोषित लोगों की वर्तमान संख्या में आधी कमी" करने का शपथ ली।[38] पोगे इंगित करते हैं कि इस घोषणा से स्पष्ट होता है कि गरीबी संबंधी कारणों से 1996 और 2015 के बीच लगभग 250 लाख लोगों की मृत्यु होगी। वे कहते हैं कि हम कल्पना करें कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने नाजी अत्याचार के मामले को 1942 में उठाया और संयुक्त

राज्य वर्तमान संख्या को 1961 तक आधी करने की शपथ लेता है। क्या यह नैतिक दृष्टि से समुचित उत्तर है?[39]

लेकिन, पोगे के अनुसार स्थिति बदतर होती जा रही है। 2000 में प्रथम सहस्त्राब्दी लक्ष्य (एमडीजी–1) निर्धारित करने के समय, विश्व की सरकारों ने शपथ की भाषा बदल दी, जिससे उन्हें जनसंख्या वृद्धि का लाभ मिला क्योंकि शपथ की भाषा बदले जाने से उन्हें वर्तमान संख्या को आधी करनी थी न कि कोई निश्चित संख्या में कमी लानी थी। यदि अत्यंत गरीबों की संख्या यथावत रह जाती है और वैश्विक जनसंख्या में वृद्धि होती है तो सरकारों द्वारा गरीबी को कम करने के लिए कुछ नहीं किए जाने के बावजूद विश्व के अत्यंत गरीबों का अनुपात कम हो जाएगा। संयुक्त राष्ट्र ने एमडीजी–1 का पुनरावलोकन किया और निर्धारित किया कि विश्व के अत्यंत गरीबों और विश्व की जनसंख्या का अनुपात न लिया जाए बल्कि कम विकसित देशों के अत्यंत गरीब जनसंख्या के साथ अनुपात को लिया जाए क्योंकि यह जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या की तुलना में तीव्रतर गति से बढ़ रही है। तीसरी बार पुनरावलोकन के दौरान संयुक्त राष्ट्र ने समय सीमा को पीछे हटाकर 1990 कर दिया जिससे 1990 से 2000 की अवधि में हुई विश्व की जनसंख्या वृद्धि तथा उक्त दशक में चीन में अत्यंत गरीबों की संख्या में 160 लाख की गिरावट का लाभ मिला। पोगे ने गणना करके पाया कि संयुक्त राष्ट्र के गरीबी कम करने के लक्ष्य के उक्त पुनरावलोकनों के कारण 361 लाख ऐसे लोगों की संख्या जुट गई जिनकी अत्यंत गरीबी नैतिक दृष्टि से स्वीकार्य लगती थी।[40] इसमें गरीबी संबंधी समस्या से हुई लगभग छह लाख अकाल मृत्यु भी शामिल है।[41]

पोगे का कहना है कि यह उन्हें 1942 के वानसी सम्मेलन की याद दिलाता है, जहां वरिष्ठ नाजी अधिकारियों ने अपने "अंतिम समाधान" के तौर पर लाखों की संख्या में मृत्यु की योजना बना ली थी। यद्यपि उन्हें यहां एक महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है। 1942 के जर्मन राजनैतिक सम्पन्न लोगों ने यहूदियों तथा अन्य लोगों की, जिन्हें वे निकृष्ट मानते थे, गणहत्या करने का मन बना लिया था। 2000 के वैश्विक सम्पन्न लोगों के मन में विश्व के गरीबों के प्रति कोई गलत भावना नहीं थी, बल्कि व इस पर उनका कोई ध्यान ही नहीं था। एजेंटों के मामले में यही नैतिक अंतर है, पर इससे पीड़ितों की पीड़ा और मृत्यु में कमी नहीं आती है।[42]

पोगे का दावा है कि नाजी तथा विश्व भुखमरी में हमारे तथाकथित सहभागिता के बीच तुलना का अर्थ नाजी समर्थकों के चरित्र से हमारे चरित्र की समता स्थापित करना नहीं है तथा यह युक्तिसम्मत भी नहीं है। इसके विपरीत दावा है कि पोगे ने नाजी समर्थकों के साथ हमारी तुलना की है। उनका कहना है कि हम पर आरोप है कि हम

हर साल अपने लाखों लोगों के संहार में सहभागिता करते हैं। पर आश्चर्य है कि इन नरसंहार में हमारी सहभागिता किस प्रकार हो सकती है, और इतना होते हुए भी हम नैतिक दृष्टि से बिल्कुल ठीक हैं, जबकि ऐसा करने का चयन हमने किया ही नहीं। साथ ही वे कहते हैं" बहुत से नाजी समर्थक इसी तरह आश्चर्यचकित हुए हैं "यह सच है कि वे वैश्विक गरीबी को नाजी हिंसा मानव अधिकार के कारण हुए उल्लंघन के रूप में अलग करते हैं, वह भी इस तर्क के आधार पर कि हम मौत नहीं चाहते हैं, तथापि यदि हम अपना ध्यान मानव अधिकार उल्लंघन के प्रत्यक्ष अपराधी "समर्थकों" की ओर से हटाते हैं तो पोगे मानते हैं कि हम नैतिक रूप से नाजी समर्थकों की तुलना में बदतर स्थिति में हैं, क्योंकि हम उन जर्मन की तुलना में

बहुत अधिक संपन्न हैं, हमारे पास सूचना के अधिक उन्नत साधन, सम्प्रेषण के बेहतर साधन तथा बेहतर राजनैतिक संगठन की सुविधा उपलब्ध हैं, हमें संप्रेषण तथा राजनैतिक क्षेत्र में काम करने की स्वतंत्रता प्राप्त है क्योंकि हम स्वतंत्र न्यायपालिका द्वारा संरक्षित नागरिक अधिकारों से सुरक्षित हैं।"[43] इस संदर्भ में यह बात छिप जाती है कि हम वैश्विक गरीबों के हित में कुछ करते हैं जबकि नाजी समर्थक नाजी सम्पन्न लोगों का विरोध नहीं करते। पोगे का विश्वास है कि भले ही हम पर्याप्त नहीं करते लेकिन वे मानते हैं कि हम उनसे सहमत हैं। पोगे का यह तर्क कि हम वैश्विक गरीबों के प्रति अपने कर्तव्य पालन में विफल रहे, बहुत हद तक मान्य हो सकता है क्योंकि उनके लिए और बहुत कुछ किया जा सकता है।

6. क्या वैश्विक गरीबी परिहार्य है?

पोगे कहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा किए गए वैश्विक गरीबी न्यूनीकरण लक्ष्य के पुनरावलोकन ने 2015 तक अत्यंत गरीबों की संख्या में 361 लाख लोग और जुड़ गए हैं, "यह नैतिक दृष्टि से मान्य हो सकता है। तर्क की दृष्टि से, कोई भी सरकार इसे नैतिक मान्यता नहीं देती है"। सही हो या गलत, वे समझते हैं कि यही सर्वोत्तम हासिल लक्ष्य है। पोगे एवं वैश्विक संपन्न लोगों के बीच मतभेद स्वीकार्यता पर नहीं बल्कि औचित्य पर है। तथापि, औचित्य की अवधारणा कई जटिल संकल्पनात्मक एवं आनुभविक समस्याएं खड़ी कर देती है।[44]

पोगे का तर्क है कि हम हर साल गरीबी–संबंधी कारणों से होने वाली लाखों मौत के लिए जिम्मेवार हैं क्योंकि ये परिहार्य हैं। वे जब परिहार्य होने की बात कहते हैं तो इस पर होने वाली आर्थिक लागत को सामान्य मानते होंगे। उनकी गणना तो वैश्विक उत्पाद के एक प्रतिशत से भी कम पर आधारित है। कभी तो वे परामर्श देते हैं कि इस

खर्च का भार वैश्विक धन के कुछ हिस्सों के पुनर्वितरण द्वारा उठाया जा सकता है। उनका दावा है कि उच्च आय वाले देशों के 1 लाख लोगों के उपभोक्ता व्यय के सत्रहवें भाग को हटा देने से 300 लाख डॉलर उपलब्ध होता है जो 2.5 लाख गरीबों को अत्यंत दयनीय स्थिति से उबार सकता है। विश्व के संपन्न लोगों के जीवन स्तर में एक प्रतिशत की कटौती की जाए तो विश्व स्तर पर अत्यंत गरीबी का उन्मूलन हो सकता है। पोगे को विश्वास है कि विश्व में असमानता की मात्रा द्वारा गरीबी उन्मूलन का एक कच्चा खाका प्रस्तुत करते हुए वैश्विक धन का पुनर्वितरण ही वैश्विक गरीबी का निदान है। वैश्विक संपन्न और वैश्विक विपन्न लोगों के उपभोक्ता व्यय के अंतर से यह स्पष्ट होता है कि अत्यंत गरीबी रेखा की कमी को पूरा करते हुए कम व्यय में ही गरीबी से छुटकारा पाया जा सकता है, जो हमारी वैश्विक उत्पाद की साझीदारी को 78.98 प्रतिशत से घटाकर 78.90 प्रतिशत कर देगा।[45]

अन्य समय में पोगे पुनर्वितरण पर जोर नहीं देकर गरीबी उन्मूलन के लिए कम खर्च पर बल देते हैं, उनका कहना है कि कुल मानव मृत्यु का एक तिहाई तो गरीबी संबंधी कारण जैसे भुखमरी, डायरिया, न्युमोनिया, ट्यूबरकुलोसिस, मलेरिया, चेचक, परिप्रासूतिक होते हैं जिन्हें आहार, स्वच्छ पेय जल, टीकाकरण, डिहाइड्रेशन पैव, दवाइयों की सहायता से सस्ते में रोका जा सकता है। पोगे के अनुसार कोल्ड वार खत्म होने बाद दो दशक से भी कम समय में लगभग 300 लाख लोगों की जिनमें से अधिकांश की प्रसव, भुखमरी और निरोध्य रोगों के कारण मष्त्यु हुई जबकि इन मौतों को रोका जा सकता था।[46]

तथापि, पोगे मानते हैं कि अमीर देशों की समग्र राष्ट्रीय आय की एक प्रतिशत से भी कम राशि विश्व की प्रचण्ड गरीबी के उन्मूलन के लिए पर्याप्त होगी, लेकिन अत्यंत गरीब लोगों की सहायता के लिए इस राशि का अंतरण वर्तमान समय में गरीब देशों की भ्रष्ट सरकार की वजह से संभव नहीं है। गरीब देशों की सरकार की भ्रष्टाचारिता को उनके इतिहास, संस्कृति एवं/अथवा प्राकृतिक वातावरण की सहायता से अंशतः प्रमाणित किया जा सकता है। वैश्विक आर्थिक व्यवस्था भी गरीब देशों के इतिहास, संस्कृति एवं प्राकृतिक वातावरण द्वारा आंतरिक सांस्थानिक व्यवस्था के विकास, शासक वर्ग, आर्थिक विकास और आय के संवितरण को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। विश्व स्तर पर गरीबों की सहायता करने के लिए संपन्न समाज या व्यक्ति किस हद तक अपना दायित्व निभाते हैं, इस बात पर वैश्विक गरीबी पर नीतिगत विमर्श निर्भर करता है। कुछ लोग दायित्व को नकारते हैं तो कुछ दायित्व को स्वीकार करते हैं। दोनों पक्ष पूर्णतः स्वीकार करते हैं कि हम सक्रिय सहायक के रूप में वैश्विक गरीबी

से संबद्ध हैं। पोगे इस धारणा को खारिज नहीं करते हैं, बल्कि यह मानते हैं कि हम वैश्विक सांस्थानिक व्यवस्था के समर्थक तथा उसके हितग्राही के रूप में उनके सार्थक कर्तव्य निर्वाह की सीमा तक वैश्विक गरीबी से संबद्ध हैं। पोगे पुनः गरीबी के उद्‌भावन के सांस्थानिक दायित्व को संपन्न लोगों के वैयक्तिक दायित्व के साथ जोड़ कर देखते हैं। उनका कहना है कि कोई क्षतिपूर्तिजनक कार्य कर गरीबों को अकारण हानि न पहुंचाते हुए, अन्याय के शिकार लोगों की सुरक्षा का या सांस्थानिक सुधार पर ध्यान देते हुए ताकि मामले की स्थिति में भुक्तभोगी को न्याय मिल सके और अन्याय का उन्मूलन हो पाए, अन्यायपूर्ण समाज की आर्थिक व्यवस्था की सहकारिता जारी रख सकता है। अन्याय के निराकरण हेतु दायित्व की इस अवधारणा की कम–से–कम दो मुद्दों पर आलोचना की गई है, 1) अन्याय के शिकार की मात्रा उनके हिस्से के दायित्व से कम हो सकती है, 2) कोई किसी वंचना या खतरे के मामले में किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को नगण्य लागत पर अपने हिस्से के दायित्व से अधिक सहायता कर सकता है।[47] पोगे द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों के प्रसिद्ध उद्धारक ऑस्कर शिंडलर को एक रोल मॉडल के रूप में प्रस्तुत करते हैं, पर उनके असाधारण चरित्र और तत्कालीन परिस्थिति का अनुकरण करना संदेहजनक है।[48]

अतः, पोगे पुनर्वितरण की बजाय सांस्थानिक सुधार पर बल देते हैं लेकिन वे मानते हैं कि सांस्थानिक सुधार में कुछ हद तक पुनर्वितरण का प्रभाव हो सकता है। किसी सांस्थानिक व्यवस्था का चरित्र इस बात पर निर्भर है कि वह व्यवस्था, जिसके अधीन परिहार्य भुखमरी प्रभावी है, भुखमरी से किस प्रकार संबद्ध है और सांस्थानिक सुधार से भुखमरी को किस हद तक मिटाया जा सकता है। पोगे का विश्वास है कि बहुत प्रकार के सांस्थानिक सुधार से कम आर्थिक लागत पर वैश्विक भुखमरी की समस्या का समाधान किया जा सकता है। ऐसे सुधारों की शुरुआत में विफलता को बहुत सारे तथ्यों के सहारे स्पष्ट किया जा सकता है, इनमें से सुधार के कुछ प्रस्ताव तो यथार्थ नहीं होते, यदि यथार्थ हों भी तो समान सुधार रणनीति के लिए प्रयासों का समन्वयन कठिन हो जाता है, सुधार की विरोधी शक्तियां सुधारक की तुलना में समन्वयन के कार्य में अधिक सफल होती हैं। तथापि, पोगे का मानना है कि वैश्विक व्यवस्था के नियमों को बदलना तथा वैश्विक गरीबी का उन्मूलन संभव है। इस प्रकार संपन्न देशों के विशेष सुविधाप्राप्त नागरिकों का कर्तव्य है कि वे वैश्विक गरीबी को कम करने के लिए विश्व व्यापार संगठन से संगठनात्मक सुधार, अंतरराष्ट्रीय कानून के अंतर्गत तानाशाहों की शोषण सुविधाओं में परिवर्तन लाने तथा वैश्विक स्वास्थ्य व्यवस्था में सुधार लाने में सहायता करें।[49]

दार्शनिकों का सामान्यतः मानना है कि किसी की जिम्मेदारी नहीं बनती कि वह असंभव कार्य करे, अर्थात सामान्य रूप में मानव अधिकार का उल्लंघन एवं विशेष रूप से वैश्विक गरीबी के उन्मूलन के मामले में जिम्मेदारी उक्त कार्य को करने के सामर्थ्य से संबंध रखती है। गरीबी से संबंधित मृत्यु परिहार्य है – इस कथन से पोगे का तात्पर्य है कि भोजन, स्वच्छ पेय जल दवाई आदि उपलब्ध करा कर उन मृत्यु के संभावित कारणों को दूर किया जा सकता है, और यह काम सस्ता भी होगा। तथापि, वे मानते हैं कि वैश्विक संस्थाओं से गरीबी उन्मूलन तक का कार्यशील पथ जटिल है।[50] उनका यह मानना हमारी जिम्मेदारी की प्रकृति एवं अनिवार्यता पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है क्योंकि हमें उन कार्य सम्मत पथ की सम्यक पहचान नहीं हो सकती है जिससे गरीबी उन्मूलन के आवश्यक कार्य को अंजाम नहीं दिया जा सकता है।

क्या वैश्विक गरीबी परिहार्य है? पोगे का तर्क है कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर नैतिक दृढ़ता का वास्तविक प्रभाव पड़ सकता है। नैतिक दृढ़ता राजनैतिक महारथियों की हो सकती है, लेकिन राजनीति अधिकांशतः नागरिकों की नैतिक दृढ़ता से प्रभावित होती है। इसका एक नाटकीय उदाहरण है उन्नीसवीं शताब्दी का दासता–उन्मूलन आन्दोलन, जिसने गुलाम व्यवसाय पर रोक के लिए अंग्रेजी शासन पर दबाव डाला था। वैश्विक गरीबी के उन्मूलन हेतु समरूप नैतिक आन्दोलन संभव हो सकता है।[51]

VII. दासता विरोधी आन्दोलन

हम वैश्विक गरीबी के उन्मूलन के लिए प्रभावी ढंग से कार्य कर सकते हैं – इसे दिखाने के लिए पोगे मैनचेस्टर के लोगों का उदाहरण पेश करते हैं। 1787 में मैनचेस्टर के 11,000 नागरिकों ने याचिका पर हस्ताक्षर कर दास प्रथा के विरुद्ध जंग छेड़ दी। ऐसा करके उन्होंने अपने आर्थिक स्वार्थ का त्याग किया। गुलाम कामगार द्वारा उत्पादित कपास का प्रसंस्करण मैनचेस्टर में किया जाता था। उन्होंने कपास मंगवाना बंद कर दिया। उन्होंने गुलाम कामगार का सीधा दोषारोपण अफ्रीकन या ब्रिटिश व्यापारियों या ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर नहीं किया। उन्होंने अपराध में अपने देश की सहभागिता या अपनी जिम्मेदारी पर ध्यान नहीं दिया और इस बात को भी नजर अंदाज किया कि उनके जैसे लोगों से क्या उम्मीद की जा सकती थी। उन्होंने गरीबी, शक्तिहीनता या अशिक्षा के विरुद्ध पैरवी नहीं की और न वे सफलता के धुंधले आसार से घबड़ाए। अठारहवीं शताब्दी के मैनचेस्टर के ये साधारण लोग दूरस्थ विदेशियों की दुर्दशा के प्रति अपनी जिम्मेदारी को आज के राजनैतिक दार्शनिकों से भी बेहतर समझ पाए थे। उन्होंने अपने देश के अपराध की पहचान की और रोक लगाई, उसी तरह आज के संपन्न प्रजातंत्र के साधारण नागरिक भी कर सकते हैं।[52]

1787 में मैनचेस्टर के नागरिकों ने क्या सोचा और क्या अनुभव किया, पोगे इसे जानने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते लेकिन उन्होंने क्या सोचा और क्या अनुभव किया, इस संबंध में अभी भी उनका पुरजोर दावा है। उनका विशेष दावा है कि उनकी उक्त जानकारी से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने आंदोलन को नैतिक या धार्मिक दृष्टि से वांछित दुरुह कार्य के रूप में न लेकर योग्य जीवन के हिस्से या अत्यावश्यक देश सेवा के रूप में लिया।[53] जो भी हो, हमने पाया कि दासता विरोधी आंदोलन के ब्रिटिश इतिहासकार मानते हैं कि धार्मिक तथा नैतिक कर्तव्य संभवतः उनके आंदोलन का प्रमुख उत्प्रेरणा रहा होगा।[54]

किसी भी सूरत में पोगे उन्हें आज के संपन्न देशों के नागरिकों के लिए प्रोत्साहन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वैश्विक गरीबी की समस्या की मात्रा, समस्याओं की सहायक संस्थाओं की शक्ति एवं जटिलताओं के कारण समस्या समाधान के योग्य नहीं लग सकती है। फिर भी अपेक्षाकृत कम नागरिकों की सूझबूझ भरा प्रयास असफलता को सफलता में बदल सकता है जिस प्रकार से 1787 के मैनचेस्टर के आन्दोलन ने दासता की हार को विजय में बदल दिया।

मैनचेस्टर में 1787 के दासता विरोधी आवेदन ने ब्रिटिश सरकार के गुलाम व्यवसाय और दासता के उन्मूलन में क्या भूमिका निभाई? क्या यह आज की वैश्विक गरीबी के उन्मूलन में हमारी जिम्मेदारी से संबंध रखता है?

आंदोलन की शुरुआत 1783 में एक शांति–प्रसारक मंडली द्वारा की गई थी।[56] 1787 में गुलाम व्यवसाय को समाप्त करने के लिए एक संस्था (सोसाइटी फॉर एफेक्टिंग एबोलिशन ऑफ स्लेव ट्रेड) की स्थापना हुई। उसी वर्ष गुलामी विरोधी अथक आन्दोलनकारी तथा विख्यात वक्ता थॉमस क्लार्कसन ने मैनचेस्टर के कॉलेजियट चर्च (बाद में मैनचेस्टर कैथेड्रल) में गुलामी के विरुद्ध भाषण दिया। [57] क्लार्कसन मैनचेस्टर पहुंचने पर पाए कि वहां पहले ही उन्मूलन समिति बनाई जा चुकी थी जो संसद के समक्ष जन आवेदन प्रस्तुत करना चाह रही थी। ब्रिटेन के किसी भी शहर की तुलना में संभवतः मैनचेस्टर में गुलाम व्यवसाय की पैठ अधिक थी। गुलामी उन्मूलन हेतु मैनचेस्टर के आवेदन में 10,600 व्यक्तियों के द्वारा, योग्य वयस्क पुरुष की संख्या की लगभग दो तिहाई, हस्ताक्षर किए गए थे।[58] 1787 का मैनचेस्टर के गुलामी विरोधी आवेदन क्लार्कसन के प्रोत्साहक भाषण तथा संसद में आवेदन प्रस्तुत करने की पूर्वव्याप्त इच्छा का परिणाम था।

1788 में संसद में अन्य विषयों पर आवेदनों की कुल संख्या से भी अधिक गुलामी उन्मूलन हेतु आवेदन प्रस्तुत किए गए थे। 59 1791 में संसद में 4,00,000 लोगों ने

गुलामी के विरोध में आवेदन प्रस्तुत किया और यह संसद में एक समय में एक विषय पर प्रस्तुत किए जाने वाले आवेदन की संभवतः सर्वोच्च संख्या थी।[60] गुलामी उन्मूलन में अधिक मात्रा में आर्थिक व्यय बढ़ेगा– यह जानते हुए भी गुलामी विरोधी आन्दोलन को बहुत से ब्रिटिश शहरों में समर्थन प्राप्त था। [61] 1792 में संसद को प्रस्तुत किए गए गुलामी विरोधी आवेदन में मताधिकार प्राप्त लोगों से भी अधिक लोगों ने हस्ताक्षर किए। यह 1765 से 1784, अमेरिकन आंदोलन, की अवधि में संसद में प्रस्तुत आवेदनों की सर्वाधिक संख्या थी। 1 अगस्त 1838 को ब्रिटिश राज से गुलामी का उन्मूलन हो गया।[62] अतः 1787 का मैनचेस्टर आवेदन लंबे अभियान का एक क्षण मात्र था, लेकिन पोगे का कहना सही है कि यह शक्तिशाली विरोधी के विरुद्ध साधारण जनता का एक सफल आन्दोलन था।

यह अनुमान लगाया गया कि गुलामी के उन्मूलन में ब्रिटिश सरकार को पचास से भी अधिक वर्षों की वार्षिक आय का 1.8 प्रतिशत राशि खर्च करनी पड़ी। 1833 में राष्ट्रीय कर्ज समग्र राष्ट्रीय उत्पाद का 225 प्रतिशत था, उस समय सरकार किसानों को 20 लाख डॉलर देने के लिए राजी हुई थी। यह राशि चार वर्षों तक कर में चार प्रतिशत की वषद्धि के बराबर थी। चौम कॉफमैन एवं रॉबर्ट पेप के अनुसार गुलामी विरोधी आन्दोलन के कारण महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय भूमिका निभानेवाले शहरी मध्यवर्गीय प्रोटेस्टेंट विरोधी सहित ब्रिटिश समाज के लगभग सभी तबकों को आर्थिक क्षति हुई।[64] गुलाम व्यवसाय से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को प्रचुर लाभ हुआ, विशेषतः सरकार को भारी मात्रा में कर प्राप्त होता था और दस हजार से भी अधिक नौकरियां उपलब्ध होती थीं।[65] यह अनुमान लगाया गया कि गुलाम व्यवसाय के बंद होने से लगभग 5000 ब्रिटिशों का जीवन तबाह हुआ।[66] मुख्यतः ब्रीटेन को मिलनेवाली आर्थिक लाभ के कारण प्रायः सभी ने 1787 में गुलाम व्यवसाय के उन्मूलन को व्यावहारिक समझा था।[67] बहुतों ने महसूस किया कि गुलामी गलत था पर इसके लिए कुछ भी किया न जा सका।[68]

ब्रिटिश गुलामी विरोधी आन्दोलन नैतिक कार्यवाही के आधार पर आधुनिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण एवं अत्यंत खर्चीली नीति हो सकती थी। कॉफमैन एवं पेप का तर्क है कि कीमती अंतरराष्ट्रीय नैतिक कार्यवाही बहुत ही विरल है और यह तभी संभव होता है जब मामला घरेलू नैतिक सुधार कार्यक्रम का हिस्सा हो। उनके विचार हैं कि ब्रिटिश गुलामी विरोधी आन्दोलन को प्रेरणा सार्वदेशिक नैतिक मूल्यबोध से नहीं बल्कि आंतरिक धार्मिक तथा नैतिक सुधार की आकांक्षा से मिली थी। प्रोटेस्टेंट विरोधियों का विश्वास था कि ब्रिटिश समाज, मुख्यतः इसके शासक वर्ग, मूलतः भ्रष्ट थे और गुलामी भ्रष्टाचार का अभिन्न हिस्सा थी। इन गुलामी विरोधी आंदोलनकारियों के

लिए अन्य किसी भी भौतिक क्षति की तुलना में राष्ट्र का नैतिक अस्तित्व अधिक महत्त्वपूर्ण था।[69]

मैनचेस्टर के आवेदक धार्मिक या नैतिक कर्तव्य से प्रेरित नहीं हुए थे बल्कि उन्हें जीवन को योग्य बनाने की अभिलाषा तथा देश सेवा की भावना से प्रेरणा मिली थी – पोगे के इस अनुमान की अर्थपूर्ण व्याख्या कुछ हद तक इसका खंडन करती है। तथापि, दोनों व्याख्याएं सामंजस्य रखती हैं। ब्रिटिश गुलामी विरोधी आन्दोलन को प्रेरणा सार्वदेशिक नैतिक मूल्यबोध से नहीं बल्कि आंतरिक धार्मिक तथा नैतिक सुधार की आकांक्षा से मिली थी। कॉफमैन एवं पेप की इस धारणा के विरोध के कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं। 1789 में शेफिल्ड के धातुकर्मी लोगों ने संसद में गुलामी व्यवसाय के विरुद्ध याचिका दायर की, यद्यपि वे जानते थे कि उनके द्वारा बनाए गए छुरी कांटे गुलामों को भुगतान करने के लिए अफ्रीका भेजे जाते थे। आवेदन में स्पष्ट लिखा गया था कि "आवेदक अफ्रीका की राष्ट्रीय समस्या को अपनी समस्या मानते थे।"[70] पोगे का गरीबी विरोधी आन्दोलन तथा गुलामी विरोधी आंदोलन के मामले में कॉफमैन एवं पेप की व्याख्या का निष्कर्ष है कि ऐसे आंदोलन तभी सफल होते हैं जब वे मजबूत आंतरिक धार्मिक व नैतिक सुधार जैसे आंदोलन का हिस्सा होते हैं। ब्रिटिश गुलामी विरोधी आंदोलन से कई प्रमाण, यद्यपि निर्णायक नहीं, मिलते हैं कि सार्वदेशिक, मानवतावादी विचार धाराएं अंतरराष्ट्रीय सुधार के लिए शक्तिशाली राजनैतिक व आर्थिक विरोधियों के विरुद्ध सफल आंदोलन चला सकती हैं।

VIII. सिद्धांत एवं प्रयोग

पोगे का तर्क है कि वैश्विक गरीबी के विरुद्ध कार्रवाई करने की हमारी जिम्मेदारी पूर्णतः नीतिगत वैश्विक व्यवस्था की वास्तविक उपलब्धि तक निर्भर नहीं करती। पूर्णतः आदर्श संस्था का खाका तैयार करने में रॉल के न्याय का सिद्धांत का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन आज की स्थिति में समतुल्य विकल्पों, व्यवहार्य सांस्थानिक योजनाओं, का आकलन करना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। शायद हम ऐसी वैश्विक व्यवस्था कभी भी उपलब्ध नहीं कर सकते जहां सर्वाधिक दुर्व्यवस्था वाले को वांछित सुव्यवस्था प्राप्त हो, लेकिन हम यह आश्वासन नहीं चाहते कि उस प्रकार की व्यवस्था व्यवहार्य हो ताकि सर्वाधिक दुरवस्था वाले लोगों की स्थिति में सुधार लाने के लिए हम सांस्थानिक सुधार के कार्य में सहायक हो पाएं।[71]

पोगे यह स्वीकार करते हैं कि वैश्विक गरीबी के उन्मूलन में राज्य की अहम भूमिका होती है, साथ ही यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि अंतरराष्ट्रीय संबंध के नियामक

बुनियादी नियमों में संशोधन भी आवश्यक है। वैश्विक व्यवस्था को निश्चित मान लेना नैतिक भूल होगी। विपरीततः एक पूर्ण न्यायसंगत वैश्विक व्यवस्था की ओर परिवर्तन साधने का कोई व्यवहार्य और नैतिक रूप से समर्थनीय तरीका नहीं है। वैश्विक व्यवस्था के नैतिक मूल्यांकन के लिए उपाय उपलब्ध कराना न्याय के दार्शनिक सिद्धांत की जिम्मेवारी है। सांस्थानिक सुधार के लिए उपलब्ध कराए गए उपायों में से व्यवहार्य तथा नैतिक रूप से ग्राह्य उपायों का चयन कर सकते हैं, ताकि नैतिक कर्तव्यों को निर्धारित कर क्रमशः व्यवस्था में न्यायसम्मत सुधार किया जा सके। पोगे यह मानते हैं कि वैश्विक व्यवस्था के सुधार के लिए सांस्थानिक व्यवस्थाओं में से कौन सा उपयुक्त है – इसके चयन, यदि आवश्यक हो, के लिए हमें बहुत सारी मौलिक जानकारियों की आवश्यकता होती है।[72] सामान्य नागरिक की नैतिक जिम्मेदारी के आकलन के लिए अपरिहार्य जानकारी की चुनौती संगत है।

IX. दायित्व के प्रकार

जहां पोगे वैश्विक संस्थानों की वैश्विक गरीबी लाने की कारणात्मक भूमिका में सुधार करने के मामले में हमारी नैतिक जिम्मेदारी का आकलन करते हैं, डेविड मिलर कारणात्मक तथा नैतिक दायित्वों के बीच अंतर स्थापित करते हैं। नैतिक दायित्व के कारण हुई हानि में कारणात्मक दायित्व निहित नहीं है। उदाहरण के लिए, मान लें कि मैं साधारण सावधानी बरतते हुए गली में चल रहा हूं, बिछाए हुए पत्थर से टकराता हूं, सामने वाले को धक्का लगता है और उसे चोट लग जाती है। यहां मैं कारणात्मक दृष्टिकोण से उत्तरदायी हूं पर नैतिक दृष्टि से नहीं क्योंकि मैंने दोषारोपण का काम नहीं किया है। नैतिक उत्तरदायित्व से दोषारोपण का संबंध होता है, जैसे पहले से ही हानि की बात सोचना या विवेचना योग्य सवधानी के मानदंड का उल्लंघन करना। यदि कोई काम कई चरणों में हो रहा है, एक एजेंट भी काम कर रहा है जिसका कार्य उक्त श्रंष्खला की एक कड़ी होती है और पूरे कार्य का परिणाम विलंबित तथा जटिल है तो ऐसी हानि के लिए एजेंट की कोई नैतिक जिम्मेदारी नहीं होती है क्योंकि उसने परिणाम के संबंध में पहले से विवेचना नहीं की है। हमारी कार्यवाही के परोक्ष परिणामों के लिए हमें उत्तरदायी नहीं ठहराया जाना चाहिए क्योंकि परिणाम पर हमारा नियंत्रण नहीं होता और हमारा दायित्व दिशानिर्देशन तक बनता है। एजेंट को हानिप्रद परिणाम के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी तभी ठहराया जा सकता है जब वह अपने सामान्य दायित्व का उल्लंघन करता है। कारणात्मक दायित्व में नैतिक दायित्व निहित है या नहीं, इस मामले में, कार्यवाही और हानिप्रद परिणाम के बीच कारणात्मक रूप में कड़ी अनिश्चित नियामक निष्कर्ष उत्पन्न कर सकती है।[73]

ये अंतर पोगे के मानव अधिकार संबंधी दायित्वों की व्याख्या करते हैं। पोगे का विश्वास है कि वैश्विक गरीबी के प्रति हमारे कुछ दायित्व कारणात्मक हैं तो कुछ हैं नैतिक दायित्व। मिलर का तर्क है कि कारणात्मक दायित्व दोषारोपण से मुक्त है और/अथवा हमारी कार्यवाही का परिणाम अप्रत्यक्ष है और जिसका पूर्वाभास भी संभव नहीं था और/अथवा उन पर हमारा नियंत्रण भी नहीं था तो इसमें नैतिक दायित्व निहित नहीं होता है। पोगे मानते हैं कि अमीर देशों के संपन्न लोग दोषी हैं, अतः वैश्विक गरीबी के लिए नैतिक दृष्टि से जिम्मेदार हैं, क्योंकि उनकी कार्यवाही के हानिप्रद परिणाम पहले से ज्ञात हो सकते थे। वे अमीर प्रजातांत्रिक देशों की साधारण जनता के नैतिक दायित्व के मामले में अनिश्चित हैं। वे अपने दैनिक कार्य के वैश्विक गरीबों के लिए हानिप्रद परिणामों को पहले से अनुमान लगाने में असमर्थ हैं और यदि परिणाम हानिप्रद हों भी तो उनका नियंत्रण बहुत कम या बिल्कुल नहीं होता है, लेकिन वे वैश्विक गरीबी के कारक स्वरूप सम्मिलित होकर कार्य करते हैं तथा 1787 के आवेदकों की तरह कारकत्व का विरोध भी कर सकते हैं।

मिलर परिणाम तथा प्रतिकारात्मक जिम्मेदारी के बीच अंतर बताते हैं। परिणामी वैश्विक गरीबी के लिए गरीब देश एवं वैश्विक सांस्थानिक व्यवस्था की साझी जिम्मेदारी हो सकती है जबकि प्रतिकारात्मक जिम्मेदारी केवल अमीरों की होती है क्योंकि उनके पास गरीबी को दूर करने का सामर्थ्य होता है। मिलर के शब्दों में, पोगे का तर्क है कि वैश्विक सांस्थानिक व्यवस्था एवं अमीर देश के पास कारणात्मक, नैतिक परिणाम तथा वैश्विक गरीबी के लिए उनकी प्रतिकारात्मक जिम्मेदारी हैं। इसके विपरीत, मिलर मानते हैं कि प्रतिकारात्मक जिम्मेदारी के लिए नैतिक जिम्मेदारी आवश्यक नहीं है। यदि हमने हानि पहुंचाई है, हमारी कार्रवाई आरोप के उपयुक्त नहीं होने पर भी, जिन्हें हानि पहुंची है उनके प्रति हमारी क्षतिपूर्ति की जिम्मेदारी होती है। हमारी कोई कार्रवाई, आरोप के लायक न होते हुए भी, किसी के अधिकार का अतिक्रमण कर सकती है। यदि ऐसा होता है तो पीड़ित के अधिकार के उल्लंघन जनित हानि की प्रतिपूर्ति की जिम्मेदारी एजेंट की होती है।

नैतिक दायित्व पृष्ठदर्शी होती है तथा यह नहीं देखती है कि समस्या का प्रतिकार कौन करेगा, नैतिक जिम्मेदार ऐसा करने में असमर्थ भी हो सकता है। नैतिक दायित्व वाले वही हो सकते हैं जो प्रतिकारात्मक जोखिम उठा सकते हैं, पीड़ितों को बिना प्रतिकार के छोड़ कर या फिर प्रतिकार के लिए नैतिक दायित्वशील पर लागत का असह्य बोझ डाल कर। मिलर का कहना है कि नैतिक दायित्व और प्रतिकार की क्षमता में से दूसरे को ही अग्रता देनी चाहिए ताकि क्षति की पूर्ति हो सके। यहां समस्या

आ खड़ी होती है जब कोई सक्षम हो लेकिन पीड़ा निवारण की नैतिक जिम्मेदारी नहीं हो, तो वे पीड़ितों की सहायता करने के लिए बाध्य नहीं होंगे और यह कार्य नहीं करेंगे और प्रतिकार का कार्य अपूर्ण रह जाएगा। मिलर मानते हैं कि प्रतिकार की क्षमता रखने वाले का उत्तरदायित्व लागत पर निर्भर करता है।

प्रतिकार–क्षमता की स्वयं की एक नैतिक स्थिति हो सकती है, क्षमता हीनता के लिए किसी को दोषी ठहराया जा सकता है तो कोई अपनी क्षमता का लाभ उठा सकते हैं और अंततः उनकी क्षमता के कारण उन पर प्रतिकार के दायित्व का बोझ डालना गलत भी हो सकता है। उत्तरदायित्व में विवेकसम्मत भार निहित होना चाहिए। आदमी को महामानव होने की आवश्यकता नहीं है लेकिन अनभिज्ञता या लापरवाही का बहाना नहीं होना चाहिए। क्षमता वालों का प्रतिकारात्मक दायित्व हो सकता है लेकिन इससे नैतिक दायित्व वालों को छुटकारा नहीं मिल जाता है, समुचित क्षमता प्राप्त होने पर उनकी भी क्षतिपूर्ति की जिम्मेदारी बनती है।[74]

आपसी संबंध के कारण किसी व्यक्ति की दूसरे पीड़ित व्यक्ति के प्रति जिम्मेदारी हो सकती है, जैसे बच्चे के प्रति लापरवाही के लिए उसके माता–पिता जिम्मेदार होंगे लेकिन अन्य कोई व्यक्ति जिम्मेदार नहीं होगा। तथापि, मिलर को विश्वास है कि दोनों के बीच सामाजिक संबंध नहीं होने पर भी प्रतिकार की जरूरत वाले के प्रति प्रतिकार की क्षमता वाले का दायित्व बनता है।[75]

अंत में, मिलर की राय है कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नागरिकों को सामूहिक दायित्व निभाना पड़ता है, उन नीतियों के मामले में भी जिससे वे सहमत नहीं भी हों, जबकि समझौता के तहत सहमत नीतियों पर ही प्रक्रिया के आधार पर किए गए निर्णय सुनाए जाते हैं मानो वे सभी वस्तुतः सहमत हैं।[76] यहां मिलर की सोच भी पोगे के समान हैंय यदि वैश्विक संस्थानों की सहभागिता के कारण प्रजातांत्रिक सरकार को वैश्विक गरीबी के कारणात्मक रूप में नैतिक दायित्व है तो प्रजातंत्र के नागरिक होने के कारण उस प्रजातांत्रिक राज्य के नागरिकों का भी नैतिक दायित्व बनता है।[77]

दायित्व कारणात्मक होते हैं, नैतिक होते हैं और कुछ दायित्व विशेष संबंध के आधार पर होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिकारात्मक दायित्व भी होता है। ऐसा कोई गणितीय नियम नहीं है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि किस मामले में कौन सा दायित्व बनता है। ये प्रतिकारात्मक दायित्व निर्धारण के लिए कई संभव आधार हैं, 1) भौगोलिक निकटता, यानी क्षेत्रीय दायित्व, 2) सांस्कृतिक समरूपता (जैसे इस्लामी एकता), 3) ऐतिहासिक संबंध, (जैसे पहले के उपनिवेश में वर्तमान समस्या के लिए पूर्व का औपनिवेशिक दायित्व), 4) क्षमताय 5) दायित्वों का उचित वितरणय तथा 6) नैतिक

दायित्व के आधार पर प्रतिकार के कर्तव्य। जब इन संभव आधारों में से कोई या सभी को एक दूसरे की तुलना में जांचने की आवश्यकता होती है तो हमें विवेक से काम लेना पड़ता है। दायित्व निर्धारित करने के एकाधिक कारण हैं जो अन्याय और पीड़ा के निवारण के लिए यथेष्ट नहीं किया गया है, उसकी आंशिक व्याख्या करते हैं।[78] दूसरी तर्कसम्मत और पुख्ता व्याख्या है कि वैश्विक गरीबी के उन्मूलन के लिए समुचित प्रेरणा के बिना इनमें से किसी भी आधार का दायित्व नहीं बनता है।

X. निष्कर्ष

ओनोरा ओ'नील ने "न्याय प्रदाता", दोनों जो कानून को लागू करने का दायित्व रखते हैं और सक्षम भी हैं, की पहचान में विफलता के लिए अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकार कानून की आलोचना की है। वैश्विक घोषणा मॉडल मानव अधिकार की पूर्ति के लिए राज्य का दायित्व निर्धारित करता है। जैक डोनीली ने उसका समर्थन किया है। उनका कहना है कि यह मॉडल व्यावहारिक दृष्टि से सही नहीं है। ओ'नील इसे " गरीबों एवं जरुरतमंदों के साथ भद्दा मजाक" कहते हैं।[79]

थॉमस पोगे वैश्विक गरीबों के अधिकारों के उल्लंघन के लिए वर्तमान वैश्विक व्यवस्था को कारणात्मक तथा नैतिक जिम्मेदार मानते हैं, लेकिन यह भी मानते हैं कि इस व्यवस्था में सुधार के लिए सरकार को प्रमुख भूमिका निभानी चाहिए। ओ'नील कहते हैं कि वैश्विक व्यवस्था में सुधार के लिए संपन्न देशों की राजनैतिक हस्तियों का प्राथमिक दायित्व है, लेकिन संपन्न लोकतांत्रिक देशों के नागरिकों का भी दायित्व है क्योंकि वैश्विक गरीबों के अधिकार के उल्लंघन में वे सामूहिक रूप से सहभागी हैं। यह कहते हुए उनकी शिकायत है—मानव अधिकार घोषणा दायित्व के निर्धारण में असफल है। आगे अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटिश गुलामी विरोधी आंदोलन में सामान्य जनता की भूमिका का उदाहरण देते हुए वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इन दायित्वों से प्रजातांत्रिक नागरिकों पर कोई अस्वाभाविक बोझ नहीं पड़ता है। उनके द्वारा प्रजातांत्रिक नागरिकों के लिए किया गया दायित्व का यह निर्धारण समस्याजनक है क्योंकि वे मानते हैं कि नागरिकों की कार्यवाही और वैश्विक गरीबी के उन्मूलन के बीच कारणात्मक संबंध बहुत जटिल एवं अनिश्चित है।

उक्त उल्लंघन में नाजी शासक के साथ सामान्य जर्मन नागरिकों की सहभागिता और हमारी भूमिका की तुलना से पोगे के वैश्विक व्यवस्था की आलोचना को तथा इसके लिए हमारे समर्थन को इस दावे से बल मिलता है कि वैश्विक गरीबी समग्र मानव इतिहास में मानव अधिकार का सबसे बड़ा उल्लंघन है। वे मानते हैं कि वैश्विक गरीबी

एवं नाजी अपराधों में अंतर है क्योंकि नाजी अपराध सोची समझी कार्रवाई थी और वैश्विक गरीबी उदासीनता का परिणाम है। उनके तर्क से दो समस्याओं का समाधान हो सकता है, 1) वैश्विक गरीबी के उन्मूलन के लिए वैश्विक व्यवस्था में किए जानेवाले सुधार की पहचान, एवं 2) उन सुधारों के लिए प्रजातांत्रिक नागरिकों को प्रेरित करना।[80] मिलर का तर्क है कि गरीबों को सहायता पहुंचाने के दायित्व के लिए बहुत से युक्तिसंगत आधार हैं जो पोगे की शिकायत वाली उदासीनता के कारण हो सकते हैं। पाब्लो गिल्बर्ट का तर्क है कि अत्यंत गरीबों की सहायता करने के लिए, जटिल एवं विवादित अनुभवजन्य परिस्थितियों में अमीरों पर कारणात्मक दोषारोपण की तुलना में अमीरों से सकारात्मक दायित्व की अपील करना प्रेरणा की दृष्टि से अधिक प्रभावकारी होगा।[81]

पोगे का कहना सही है कि वैश्विक गरीबी का स्थायित्व एक नैतिक कलंक है और सोची समझी न होने के कारण उल्लंघन न होते हुए भी इसके कारण बड़े पैमाने पर मानव अधिकार का हनन होता है। ओ'नील का दावा, न्याय के एजेंट की पहचान करने में मानव अधिकार आंदोलन असफल होता है, निम्नलिखित कारणों से अपनी पहचान खोता प्रतीत होता है, 1) अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकार कानून उचित तरीके से प्राथमिक दायित्व राज्य पर निर्धारित करता है, 2) बहुत सारी गैरसरकारी संस्थाएं इन दायित्वों की पूरक हैं जिनकी क्षमता अवश्य ही सीमित होती है एवं 3) संभवतः पोगे का कहना सही है कि वैश्विक सांस्थानिक व्यवस्था दोषी है लेकिन अनुभव बताता है कि इसका सुधार करना एक बड़ी चुनौती है क्योंकि शक्तिशाली हस्तियां इसके साथ होती हैं। सुधार की परियोजना में जिस तत्व का अभाव है वह है वैश्विक गरीबों के मानव अधिकार को गंभीरता से लेने के लिए शक्तिशाली संस्थाओं को प्रेरित करना तथा उपयुक्त संस्था को गंभीरता से लेने के लिए नागरिकों को प्रेरित करना। पोगे सांस्थानिक सुधार की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करते हैं। गुलामी विरोधी आंदोलन हमें प्रेरित करता है और हमारे विश्वास को दृढ़ करता है कि वैश्विक गरीबी का उन्मूलन अव्यावहारिक नहीं है। संस्थानों के सुधार के लिए नागरिकों को अवश्य प्रेरित करना चाहिए। यह संभव है और इसे करना भी चाहिए। यह विश्वास ही हमारे लिए पहला चरण होगा।

XI. पश्च–लेख

अनैतिक वित्तीय प्रवाह, गरीबी एवं मानव अधिकार पर अंतरराष्ट्रीय बार एसोशिएसन के मानव अधिकार संस्थान टास्क फोर्स की रिपोर्ट अंतरराष्ट्रीय सहभागिता द्वारा व्यक्तिगत, सामूहिक, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थानों में उनकी सहभागिता के माध्यम

से गरीबी से संबद्ध तथा मानव अधिकार विरोधी करारोपण दोषों के विरुद्ध लड़ाई के लिए राज्य के दायित्व पर जोर देती है। यह बैंकिंग उद्योग, लेखाकार, वकील और उन उद्योगों के सहायक अन्य व्यावसायिक सेवा प्रदायकों के दायित्वों पर भी जोर देती है। अमीर लोग लॉ फर्म, लेखाकार, बीमा कम्पनी तथा प्राइवेट बैंक की सलाह के बिना विधिक कर प्राधिकारियों से अपने धन को छिपा नहीं सकते।[82]

कुछ प्राधिकारियों एवं कुछ मानदंडों के अनुसार वैश्विक गरीबी घटती जा रही है, और राष्ट्रों के बीच तथा राष्ट्र के भीतर असमानताएं बढ़ती जा रही हैं। ये बढ़ती हुई असमानताएं प्रजातंत्र के लिए घातक चुनौती है। संबद्ध प्राधिकार का मानना है कि यह कर वंचना बढ़ती असमानता को बढ़ावा दे रहा है। कर वंचना मानव अधिकार के उपयोग के मामले में अत्यधिक नकारात्मक प्रभाव डालती है। ये सरकार को नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की पूर्ति तथा सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों के संरक्षक संस्थानों के सृजन और संचालन हेतु दायित्वों के लिए वांछित संसाधनों से वंचित करते हैं। कर वंचना अपने आप कोई मानव अधिकार उल्लंघन नहीं हो सकता है लेकिन इसके कारण मानव अधिकार दायित्वों को पूरा करने में सरकार को तथा नागरिकों को मानव अधिकार के उपयोग में बाधा पहुंचाती है और इसका पूर्वालोकन किया जा सकता है। कर वंचना के मानव अधिकार संबंधी प्रभाव को विकासशील देशों से लाखों डॉलर के बहाव से आंका जा सकता है जिसकी तुलना में व्यक्तियों, परिवारों एवं समाजों को अत्यंत गरीबी से उबारने के लिए आवश्यक धनराशि बहुत ही कम है।[83]

व्यापार और मानव अधिकार पर हाल ही में विकसित संयुक्त राष्ट्र मार्ग दर्शक नीतियां ओ'नील के संशय, न्याय के एजेंट की पहचान करने में मानव अधिकार आंदोलन असफल होता है, का समाधान करती हैं। ये नीतियां राज्यों को दायित्वों का आबंटन करती हैं ताकि कॉरपोरेट कानून, कर नीति और मानव अधिकार का समन्वयन सुस्थिर हो सके। ये अपने ऑपरेटर और व्यवसाय संपर्क माध्यम से व्यवसाय उद्यमियों को भी दायित्व का आबंटन करती हैं ताकि मानव अधिकार पर नकारात्मक प्रभाव से बचा जा सके। ओ'नील की धारणा के विपरीत तथा डोनीली के समर्थन में मानव अधिकार ऑब्जर्वर का सर्वसामान्य दृष्टिकोण है कि व्यावसायिक उद्यम द्वारा मानव अधिकार के प्रति समुचित सम्मान रखते हुए कार्य करना सुनिश्चित किया जाना अनिवार्य रूप से राज्य का प्राथमिक दायित्व होना चाहिए। यह प्रेरणामूलक हो सकता है न कि अविवेच्य, व्यवसायियों, उद्यमियों और सरकार के उच्चाधिकारियों की मनोवृत्ति के प्रति संदेह रखते हुए भी यह समझना गलत होगा कि उनके मानव अधिकार सिद्धांतों पर संयुक्त राष्ट्र मार्गदर्शी सिद्धांत का कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है।[84] उसी प्रकार अत्यंत गरीबी

एवं मानव अधिकार पर संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार काउंसिल का मार्गदर्शी सिद्धांत मानव अधिकार लागू करने के लिए राज्यों को दायित्व का आबंटन करते हैं, लेकिन यह जोर देता है कि अंतरराष्ट्रीय संस्थान, राष्ट्रीय मानव अधिकार संस्थान, सिविल सामाजिक समितियां और व्यावसायिक उद्यम सहित अन्य कर्ताओं को भी मानव अधिकार संबंधी, विशेषतः गरीबों के अधिकार संबंधी दायित्व हैं। तथापि इस मामले में, व्यक्तियों, समूह आधारित समाजों, सामाजिक आंदोलन तथा गरीबी से लड़ने वाली तथा अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए गरीबों को सक्षम बनाने के लिए गैर–सरकारी संस्थाओं की क्षमता को प्रेरित करने वाले समर्थक वातावरण का सृजन करना राज्य का प्राथमिक दायित्व है।[85]

संदर्भः–

1. ओनोरा ओ'नील, ए क्वेश्चन ऑफ ट्रस्ट : बीबीसी रीथ व्याख्यान 2002, 27–28 (2002)। बीबीसी रीथ व्याख्यान प्रति वर्ष प्रख्यात विद्वानों द्वारा बीबीसी रेडियो पर तात्कालिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर दिए जाते हैं। ओ'नील ने जिस समय अपना रीथ व्याख्यान दिया उस समय वे न्यूनहम कॉलेज, कैम्ब्रिाज की प्राचार्य थीं। इस समय वे ग्रेट ब्रिाटेन के इक्वालिटी एंड ह्यूमन राइट्स कमिशन की अध्यक्ष हैं।
2. मानवाधिकार का वैश्विक घोषणापत्र, जिसे 10 दिसंबर, 1948 में अंगीकृत किया गया। जी.ए. रिसर्च 217 (), यू. एन. गायोर, तीसरा सेस. यू. एन. डॉक. ए/आरइएस/3/217, (1948)
3. इलिनोर रूजवेल्ट, इन योर हैंड्स : ए गाइड फॉर कम्युनिटी एक्शन फॉर द टेंथ एनिवर्सरी ऑफ द यूनिवर्सल डिक्लरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स की प्रस्तुति में इन योर हैंड्स नामक व्याख्यान (27 मार्च, 1958)
4. आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा, 16 दिसंबर, 1996 को अंगीकृत, जी.ए. रिस. (2200), यू. एन. गायोर, 21 सेस, यू. एन. डॉक. ए/6316 (1966), 993 यू. एन. टी. एस. 3 (फोर्स में दर्ज 3 जनवरी, 1976)। इन दायित्वों की विस्तष्त व्याख्या जेनरल कमेंट सं. 3, द नेचर ऑफ स्टेट्स पार्टीज ऑब्लिगेशन्स, यू. एन. एस्कोर, कम्यु. ऑन इको. सो. एंड कल. राइट्स, 5 सेस., 49वीं एवं 50वीं बैठक, यू. एन. डॉक. इ/1991/23, एने. 3, 86 (1991)। इसके साथ ही आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविद, 8 जनवरी, 1987 को अंगीकृत, यू. एन. एस्कोर, कम्यु. ऑन ह्यूमन राइट्स, 43 सेस., कार्यसूची मद सं. 8 यू. एन. डॉक. इ/सीएन.4/1987/17 एनेक्स. (1987)य आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के उल्लंघन पर मास्ट्रीच गाइडलाइन्स, 20 ह्यूम. राइ. क्यू. 691 (1998), ओलिवर डि शटर, एब्जोर्न एड, अशफाक खलफान, मार्कोस ओरेलाना, मारगोट सोलोमन एवं इयान सीडरमैन, कमेंट्री टू द मास्ट्रीच प्रिंसिपल ऑन एक्ट्राटेरिटोरियल ऑब्लिगेशन ऑफ स्टेट्स इन द एरिया ऑफ इकोनॉमिक, सोसल एंड कल्चरल राइट्स, 34, ह्यूम. राइ. क्यू 1084 (2012) आदि भी देखें।

5. उपेक्षित मानवाधिकार की समस्या के रूप में राज्यहीनता की चर्चा हेतु, देखें क्रिस्टी ए. बेल्टन, स्टेटलेशनेस एंड इकोनोमिक एंड सोसल राइट्स, द स्टेट ऑफ इकोनोमिक एंड सोसल राइट्स : ए ग्लोबल ओवरव्यू 221 (लैंसे मिंक्लर सं. 2013)
6. ओनोरा ओ'नील, ग्लोबल जस्टिस : हूज ऑब्लिगेशन्स?, द एथिक्स ऑफ एसिस्टेंस : मोरालिटी एंड द डिस्टैंट निडी 254 (डीन के. चटर्जी सं. 2004)
7. जैक डोनेली, यूनिवर्सल ह्यूमन राइट्स इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस 28, 32–38, 208, 210, (2013)
8. ओनोरा ओ'नील, एजेंट्स ऑफ जस्टिस, ग्लोबल रेस्पोंसिबिलिटीजः हू मस्ट डिलिवर ऑन ह्यूमन राइट्स? 39–42 (एंड्रू कुपर सं. 2005)
9. डोनेली, उक्त नोट 7, 14, 21–24
10. वही, 95
11. ऊना ए. हैथवे, डू ह्यूमन राइट्स ट्रीटीज मेक ए डिफ्रेंस? 111 येल एल. जे. 1935 (2002); टॉड लैंडमैन, प्रोटेड्डक्टग ह्यूमन राइट्सः ए कंपरेटिव स्टडी 6, 137, 146–47, 157 (2005); बेथ ए. सिमन्स, मोबिलाइजिंग फॉर ह्यूमन राइट्सः इंटरनेशनल लॉ इन डोमेस्टिक पोलिटिक्स (2009); बेथ ए. सिमन्स, फ्रॉम रेटिफिकेशन टू कंप्लायंसः क्वांटिटेटिव एविडेंस ऑन द स्पाइरल मोडल, परसिस्टेंट पावर ऑफ ह्यूमन राइट्स 48–49, 54–58 (थॉमस रिसे, स्टीफेन सी. रॉप एंड कैथरीन सिक्किंक सं. 2013)य तांजा ए. बोर्जेल एवं थॉमस रिसे, ह्यूमन राइट्स इन एरियाज ऑफ लिमिटेड स्टेटहुडः द न्यू एजेंडा, वही, 63–66, 69–70
12. डोनेली, उक्त नोट 7, 105 पर
13. ओनोरा ओ'नील, टुवार्ड्स जस्टिस एंड वर्चुः ए कंस्ट्रक्टिव एकाउंट ऑफ प्रैक्टिकल रिजनिंग 133 (1996)
14. थॉमस पोगे, वर्ल्ड पोवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स : कॉस्मोपोलिटन रेस्पोंसिबिलिटीज एंड रिफॉर्म्स 50–51 (2008)
15. जॉन रावल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस 60–61, 76 (1972)
16. थॉमस पोगे, रियलाइजिंग रावल्स 10, 36, 246, 254 (1989)
17. वही, पृ. 7–8, 142–47, 239, 256
18. वही पृ. 238–39
19. पोगे, वर्ल्ड पोवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, उक्त नोट 14, पृ. 1
20. वही, पृ. 2
21. डिबेट्स ऑन द मेजरमेंट ऑफ ग्लोबल पोवर्टी (सुधीर आनंद, पॉल सिगल एंड जोसेफ स्टिग्लिज, सं. 2009)
22. थॉमस पोगे, रियलाइजिंग रावल्स उक्त नोट 16, पृ. 11–12, 34, 238
23. वही, पृ. 25–27

24. वही, पृ. 27, 34, 238–39, 276
25. वही, पृ. 227, 234, 234 एन 22, 235
26. वही, पृ. 276
27. पोगे, वर्ल्ड पोवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, उक्त नोट 14, पृ. 216–17
28. पोगे, रियलाइजिंग रावल्स, उक्त नोट 16, पृ. 32–34, 238A इस विचार के लिए कि पर्याप्त जीवन स्तर के लिए मानवाधिकार में यह शामिल है कि अमीरों द्वारा गरीबों की मदद करना एक सकारात्मक कर्तव्य है। देखें– पाब्लो गिलबर्ट, ग्लोबल पोवर्टी टू ग्लोबल इक्वालिटीः ए फिलॉस्फिकल एक्सप्लोरेशन 46–47 (2012) जुडिथ लिचेनबर्ग इंगित करते हैं कि कुछ नकारात्मक कर्तव्य – जैसे जलवायुगत परिवर्तनों को नजरअंदाज करना – आवश्यक लेकिन विवादात्मक हो जाते हैं जबकि कुछ सकारात्मक कर्तव्य – जैसे गरीबों के कल्याण हेतु कम मात्रा में योगदान करना – अनावश्यक और अविवादास्पद हो जाते हैं। देखें जुडिथ लिचेनबर्ग, डिस्टैंट स्टांसर्स – एथिक्स साइकोलॉजी, एंड ग्लोबल पॉवर्टी 75, 80 (2014)।
29. पोगे, रीडिंग रॉल्स सुप्रा नोट 16, 31, एन26 36, एन30 पर, 278।
30. वही 11–12, 34,38 पर 248, एन11, 278–79।
31. थॉमस पोगे, वर्ल्ड पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स,19, एथिक्स इंटरनेशनल अफेयर्स 1,2 (2005)।
32. थॉमस पोग, रिप्लाई टु द क्रिटिक्स, सिवियर पॉवर्टी, ऍज़ ए वायोलेशन ऑफ निगेटिव डयूटीज, एथिक्स इंटरनेशनल अफेयर्स., 55, 78–79, (2005)।
33. पोगे, वर्ल्ड पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 264 पर।
34. थॉमस पोग, सिवियर पॉवर्टी, ऍज़ ए ह्यूमन राइट्स वायोलेशन, इन फ्रीडम फ्रॉम पॉवर्टी ऍज़ ह्यूमन राइट्स, व्हू वोज व्हाट टु द वेरी पुअर? 52 (थॉमस पोगे प्रका. 2007)।
35. पोगे, वर्ल्ड पॉवर्टी एंज़ ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 31 पर।
36. थॉमस पोगे, पॉलिटिक्स ऍज़ यूजुअल, व्हाट लाइज बिहाइंड द प्रो पुअर रेटोरिक 2 (2010)।
37. पोगे, वर्ल्ड पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 151 पर।
38. रोम डिक्लेरेशन ऑन वर्ल्ड फूड सिक्योरिटी एंड वर्ल्ड फूड समीट प्लान ऑफ ऍक्शन ऍडॉप्टेड 13 नवंबर 1996, यू.एन. फूड एंड एग्रिकल्चर ऑर्गनाइजेशन। http%@@www-fao-org@docrep@003@w3613e00-htm पर उपलब्ध।
39. पोगे, वर्ल्ड पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 11 पर।
40. वही 11–13 पर।
41. पोगे, पॉलिटिक्स ऍज यूजुअल, सुप्रा नोट 36, 3–4 पर।
42. वही।
43. वही 7–8 पर।

44. देखें, गिल्बर्ट सुप्रा नोट 28, 111–25 पर, लिचेनबर्ग सुप्रा नोट 28, 102–04 पर, 122–24 पर, डेविड विंस, डिमांड्स ऑफ जस्टिस, फिजिबल ऑल्टरनेटिव्स एंड नीड फॉर कॉजल एनालिसिस, 16, एथिक : थ्योरी, मोरल, प्रैक. 325(2013) क्रीश्चियन बैरी एंड जेरहार्ड ओवरलैंड द फिजिबल ऑल्टरनेटिव्स थीसिस, : किकिंग अवे द लाइवलिहुड्स ऑफ द ग्लोबल पुअर, 1, जे.फिल. इकॉन. 97 (2012)।

45. पुअर, वर्ल्ड पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 2–3, 10,102,105,115, 207,211, 264 पर। 46. वही, 104 पर। 47. गिलबर्ट, सुप्रा नोट 28, 36 पर, चियारा, लेपोरा एंड रॉबर्ट ई. गुडिन, ऑन कॉम्प्लिसिटी एंड कॉम्प्रोमाइज, 26 एन. 20 (2013)।

48. पोगे, वर्ल्ड प्रॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 117–18, 123,142, 287, एन.180, 293, एन. 222 पर।

49. वही 116, 223, 257, 264 पर।

50. वही, 11, 26, 48–49 पर।

51. पोगे, वर्ल्ड प्रॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, सुप्रा नोट 14, 217 पर, थॉमस पोगे, रेसपॉसेस टु द क्रिटिक्स, इन थॉमस पोगे एंड हिज क्रिटिक्स 238, (एलिसन एम. जग्गर, प्रका. 2010)।

52. पोगे, रिप्लाई टु द क्रिटिक्स, सुप्रा नोट 32, 81–83 पर।

53. वही।

54. वही।

55. वही, थॉमस पोगे, कमेंट, आर वी वायोलेटिंग द ह्यूमन राइट्स ऑफ द वर्ल्ड'स पुअर? 14, येल ह्यूमन राइट्स डेव. एल. जे.2–3(2011)।

56. 1671 में ही शांति प्रसारक मंडली ने गुलामी व्यवसाय के विरुद्ध आवाज उठाना प्रारंभ कर दी थी, लेकिन इसका प्रभाव जन अभियान से भी कम रहा। देखें क्लेमर टॉलिन सैमुअल पेप्स द अनईक्वल्ड सेल्फ 179 (2002)।

57. एडम हॉशिल्ड, बरी द चेन, द ब्रिटिश स्ट्रगल टु एबोलिश स्लेवरी, 78,110, 120–21(2005)

58. एबोलिशन : ए हिस्ट्री ऑफ स्लेवरी एंड एंटी स्लेवरी 214 (2009)।

59. हॉशिल्ड, सुप्रा नोट 57, 138 पर।

60. ड्रेशर, सुप्रा नोट 58, 220 पर।

61. हॉशिल्ड, सुप्रा नोट 57, 221–22 पर। चौम डी कॉफमैन एंड रॉबर्ट ए पेप, एक्सप्लेनिंग कॉस्टली इंटरनेशनल मोरल एक्शन, ब्रीटेंस सिक्सटी ईयर्स कैम्पेन अगेंस्ट द एटलांटिक स्लेव ट्रेड, 53, इंटर. ऑर्ग. 639 (1999)।

62. हॉशिल्ड, सुप्रा नोट 57, 230–31, 307, 348 पर।

63. वही 5 पर, कॉफमैन एवं पेप, सुप्रा नोट 61, 631, 636,परः द माइटी एक्सपेरिमेंट, फ्री लेबर वर्सस स्लेवरी इन ब्रिटिश इमैंसीपैशन 232 (2002)।

64. कॉफमैन एवं पेप, सुप्रा नोट 61, 636, 639 पर।

65. हॉशिल्ड, सुप्रा नोट 57, 96–97 पर।

66. कॉफमैन एवं पेप, सुप्रा नोट 61, 635 पर।

67. हॉशिल्ड, सुप्रा नोट 57, 7 पर।

68. वही, 86 पर, कॉफमैन एवं पेप, सुप्रा नोट 61, 645 पर।

69. कॉफमैन एवं पेप, सुप्रा नोट 61, 632–33, 643–45, 648, 663 पर।

70. हॉशिल्ड, सुप्रा नोट 57, 5 पर।

71. पोगे, रियलाइजिंग रॉल्स, सुप्रा नोट 16, 12 पर।

72. वही, 257, एन 21, 257–60, 277,279 पर।

73. डेविड मिलर, नेशनल रिस्पॉसिबिलिटी एंड ग्लोबल पुअर 88–89, 94–96, 101 (2007), डेविड मिलर, डिस्ट्रिब्युटिंग रिस्पॉसिबिलिटीज, 9.

74. मिलर, नैशनल रिस्पॉल्सिबिलिटी, सुप्रा नोट 73, 203–04, 240, 247, 463–64,468, मिलर डिस्ट्रीब्युटिंग रिस्पॉल्सिबिलिटी, सुप्रा नोट 73, 459–61, 460 नोट 11, 463–68, मिलर, होल्डिंग नेशन्स रिस्पॉल्सिबिल, सुप्रा नोट 73, 245 पर।

75. मिलर डिस्ट्रीब्युटिंग रेसपॉसिबिलिटीज, सुप्रा नोट 73, 463, 469 पर।

76. मिलर, कलेक्टिव रिस्पॉल्सिबिलिटी एंड इंटरनेशनल इनईक्वैलिटी, इन रॉल्स लॉ ऑफ पीपल्स, रियलिस्टिक युटोपिया? 199 रेक्स मार्टिन एंड डेविड ए. रैडी एडि. 2006।

77. इस विमर्श के लिए कि राजनैतिक क्षमता बनाम प्रजातांत्रिक नागरिकता में पहले के लिए दूसरा न आवश्यक है और न यथेष्ट, सरकार के गलत कार्यवाही के परिणामों के प्रतिकार का दायित्व नागरिकों पर डलता है, देखें एविया पास्तरनाक, लिमिटिंग स्टेट्स कॉरपोरेट रेसपॉसिबिलिटी, 21 1, पॉल. फिल. 380 (2013)।

78. डेविड मिलर, द रिस्पॉन्सिबिलिटी टू प्रोटेक्ट ह्यूमन राइट्स, इन लेजिटिमैसी, जस्टिस एंड पब्लिक इंटरनेशनल लॉ, 48 (लूका एच. मेयर, एड. 2009) मिलर डिस्ट्रीब्युटिंग रिस्पॉन्सिबिलिटीज, सुप्रा नोट 73, 471 पर। ओनोरा ओ'नील, ग्लोबल जस्टिस य व्हू'ज ऑब्लिगेशन? इन द एथिक्स ऑफ एसिस्टैंस, स्सुप्रा नोट 6, 254–58 पर, मिलर, नैशनल रिस्पॉन्सिबिलिटी, सुप्रा नोट 73, 107 पर।

79. ओ'नील, टुवार्ड्स जस्टिस एंड वर्चु, सुप्रा नोट 13।

80. सुधार के प्रकार के उदाहरण के लिए पोगे समर्थन करते हैं, देखें HEALTHIMPACTFUND-ORG] http.//healthimpactfund.org/ । इस प्रकार के सुधार के पक्ष में तर्क के लिए देखें टी डब्ल्यू पोगे, ह्युमन राइट एंड ग्लोबल हेल्थ, ए रिसर्च प्रोग्राम, 36 मेटाफिलॉसफी, 182 (2005) इस परियोजना पर विवाद के लिए देखें सकिदो फुकुदा, पार एःड प्रूचिस्ता एरियाना, इनसाइड व्यूज हेल्थ इम्पैक्ट फंड रेजिंग इशूज ऑफ डिस्ट्रिब्यूशन आईपी राइट्स एंड एलायंसेस आईपी–वाच– ऑर्ग. (26 सितम्बर 2011) http//www.ip.watch.org/2011/09/26/health.impact.fund.: E2%80% 93raising.issues.of.distribution.ip.rightsandallianceshttp//www.ip.owatch.org/

2011 / 10 / 03 / Aresponse&from&the&authors-of the health-impact-fund / (1 मई 2013) http/ /passblue.com / 2013 / 05 / 01 eight-ways-to-end-poverty-nowA

81. गिल्बर्ट सुप्रा नोट 28, 100 पर।

82. टैक्स एब्यूसेज, पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स : ए रिपोर्ट ऑफ द इंटरनेशनल बार एसोशिएसन 'द ह्यूमन राइट इन्स्टीट्यूट टास्क फोर्स ऑन इलिसिट फाइनांशियल फ्लोज, पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, 54,55,149 (2013)।

83. वही, 89,93,95, 103।

84. वही, 103–05, 123 पर।

85. गाइडिंग प्रिंसिपल्स ऑन एक्स्ट्रिम पॉवर्टी एंड ह्यूमन राइट्स, एडॉप्टेड 18 अक्टूबर 2012, ह्यूमन राइट्स काउंसिल रिजॉल्युशंस 21 / 11, 21 सेस. यू एन डॉक., ए / एच आर सी / रेस. / 21 / 11 / 2012, ह्यूमन राइट्स एंड एक्स्ट्रिम पॉवर्टी, एडॉप्टेड 20 दिसम्बर 2012, जी ए रेस. 67 / 164, यू एन जीएओआर 67 सेस., यू एन डॉक., ए / आर ई एस / 67 / 164।

❖❖❖❖❖

तैर रहा है जवाब हवा में

मूल लेखकः बॉब डिलन [1]
अनुवादः अरुण कमल [2]

कितनी सड़कें नापनी पड़ेंगी एक आदमी को
कि उसे तुम आदमी कह सको ?
कितने समुद्र एक सफेद जलपक्षी को तैरने होंगे
कि वह तट की रेत में सो सके ?
हां, कितनी बार चलेंगे गोले अभी
कि आखिर उन्हें रुकना पड़े हरदम के लिए ?
जवाब तो हवा में तैर रहा है मेरे दोस्त
तैर रहा है जवाब हवा में

हां, कितने साल तक खड़ा रहे पर्वत
कि एक दिन समुद्र में घुल मिले ?
हां, कितने सालों तक जिएं वे लोग
कि एक दिन आजाद कहला सकें ?
हां, कितनी बार कोई आदमी अपनी नजर फेरे
कि वह कुछ देख नहीं रहा ?
जवाब तो हवा में तैर रहा है मेरे दोस्त
तैर रहा है जवाब हवा में
हां, कितनी बार कोई आदमी गर्दन उठाए
कि एक दिन आसमान देख सके ?

---

1. 2016 में साहित्य के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित
2. प्रसिद्ध कवि एवं साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित

हां, कितने साल चाहिए किसी को
कि वह सुन सके एक दिन लोगों की चीख ?
हां, कितनी मौतों के बाद कोई समझेगा
कि इतने सारे लोग मर चुके हैं ?
जवाब तो हवा में तैर रहा है मेरे दोस्त
तैर रहा है जवाब हवा में

❖❖❖❖❖

मैग्नाकार्टा के अस्सी दशक
(वैश्विक परिदृश्य में मैग्ना कार्टा और मानव अधिकार)

मानव अधिकारों का विचार उतना ही पुराना है जितनी पुरानी मानवीय सभ्यता है तथा मैग्ना कार्टा पहले ऐसे अभिलेखबद्ध दस्तावेजों में से एक है जिसमें कई साल पहले ही सन् 1215 में मानव अधिकारों की अवधारणा की नींव रखी गई थी। मानव अधिकारों का केंद्र बिन्दु स्वतंत्रता, न्याय, समानता तथा मानवीय गरिमा है। 1215 में राजा जॉन के निरंकुश शासन से तंग विद्रोही सामंतों ने राजा को इस चार्टर पर हस्ताक्षर करने पर मजबूर कर दिया। इस चार्टर से जो मुख्य सिद्धांत उभर कर आए वे हैं; दमनकारी शासन से मुक्त संस्था का अधिकार, संपत्ति का अधिकार, अनुचित कर से रक्षा, विधवाओं के अधिकार तथा आरोपी के अधिकार। चार्टर में सरकारी दुराचार शामिल था। चार्टर में प्रस्तुत किए गए विचार बाद में मानव अधिकारों के सार्वभौम घोषणा–पत्र, 1948 तथा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय अभिसमय, 1966 में प्रतिध्वनित होते हैं। नागरिकों के जीवन को नियंत्रित करने, राज्य के अधिकारों को सीमित करने तथा मनुष्य की गरिमा पर ध्यान केंद्रित कर लोकतंत्र में उसे नागरिक का स्थान दिलाते हुए उसके मानव अधिकारों के संरक्षण के प्रयास के कारण 21वीं सदी में मैग्ना कार्टा की प्रासंगिकता कई गुना बढ़ जाती है।

परिचय

मानव अधिकार एक सार्वभौमिक घटना है जो उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी मानव सभ्यता तथा सभी मनुष्यों को उनकी पृष्ठभूमि, राष्ट्रीयता, लिंग अथवा अन्य किसी स्थिति से निरपेक्ष प्राप्त हैं। मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम,1993 की धारा 2 के अनुसार मानव अधिकार का अर्थ उन अधिकारों से है जो जीवन, स्वतंत्रता, समानता एवं व्यक्ति की गरिमा से संबंधित हैं जो संविधान द्वारा प्रत्याभूत हैं अथवा जिन्हें अंतरराष्ट्रीय अभिसमय में सम्मिलित किया गया है तथा भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग 1993 के तहत न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं।

मानव अधिकार शब्द को आज इतना अधिक महत्त्व 12वीं सदी में शुरू हुए दार्शनिक बहस के कारण प्राप्त है। यूरोपीय समाज का यह मानना था कि कानून एवं सामाजिक मानदण्डों को विशिष्ट वर्ग के लोगों की इच्छा के अनुरूप तय किया जाता है जिसका पालन समाज के निम्न वर्ग के लोगों को करना पड़ता है। उन्होंने समान

नागरिकों के लिए समान प्राकृतिक अधिकारों को मान्यता देने की मांग की। उनका यह मत था कि राजनीति हमेशा नैतिक सिद्धांतों से संचालित होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति विशेष के अधिकारों एवं उसकी गरिमा को सत्ताधारी ताकत से हमेशा सर्वोच्च माना जाएगा।

मैग्ना कार्टा अधिकारों की परस्पर निर्भरता के महत्त्व को दर्शाता है तथा यह संधियों एवं प्रचलित अंतरराष्ट्रीय कानूनों में स्पष्ट रूप से प्रतिस्थापित है। मनुष्यों में व्याप्त भेदभाव को समाप्त करने के विचार के कारण ही मैग्ना कार्टा की धारणा को बल मिला। जिस पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों में भी प्रकाश डाला गया है। मनुष्य के इतिहास में पहली बार मैग्ना कार्टा में आम जनता के अधिकारों की रक्षा तथा प्राधिकारियों को सत्ता का दुरुपयोग न करने के लिए बाध्य करने के बीच मैग्ना कार्टा ने संतुलन बनाया। इतिहास में सही घटनाक्रम का प्रलेखन करना, जो मानव अधिकारों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी था, इस विषय के व्यापक क्षेत्र एवं गहराई को देखते हुए एक दुष्कर काम होता है। हालांकि, इषले ने अपने काम से विभिन्न परंपराओं में मानव अधिकारों के क्षेत्र में शुरूआती विकास को निचोड़ कर निकाला। चूंकि धर्म ने अपने सभी लोगों के बीच उनका होने की भावना को न्यायसंगत ठहराया है; इशले ने मनुष्यों के अधिकारों को मान्यता देने पर धर्म के प्रभाव की जांच की। उसके बाद में यह बताया गया है कि बेबीलोन के टम्मूराबी संहिता ने पहली बार न्याय एवं दंड की 1700 ईसा पूर्व में घोषणा की। इसी प्रकार हीबू बाइबल में अधिकारों की भावना पर पाठ शामिल थे। पर्यावरण की देखभाल एवं उसकी रक्षा पर हिन्दू एवं बौद्ध धर्मग्रंथों ने मनुष्य जाति को बेशकीमती जानकारी दी। सामाजिक पहलू पर, यूनानियों एवं रोमनों ने व्यक्ति विशेष के तार्किक व्यवहार तथा स्वाभाविक कानूनों के महत्त्व का प्रलेखन किया। दूसरी तरफ, ईसाई धर्म एवं इस्लाम मनुष्य–भाईचारा में विश्वास रखते थे। कुल मिलाकर, ऐसा प्रतीत होता है कि दुनिया भर में अलग–अलग कालों में विभिन्न धर्मों में मनुष्य की गरिमा की रक्षा करने एवं समाज की भलाई के संबंध में एक समान विचार थे। मैग्ना कार्टा विभिन्न धर्मों के धार्मिक ग्रंथों में प्रतिस्थापित मानवीय मूल्यों का समेकन एवं प्रलेखन प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक रूप से मैग्ना कार्टा की शुरूआत 800 साल पहले इंग्लैंड के सार्वजनिक क्षेत्रों में राजा जॉन द्वारा 1215 में की गई। राज्य में चल रहे संकट का समाधान करने के लिए चार्टर का परिचय राजा द्वारा स्वैच्छिक रूप से नहीं किया गया बल्कि राजा जॉन को इस पर मोहर लगाने के लिए बाध्य किया गया। इसका मुख्य बिंदु था 'कानून के समक्ष समानता'। अगले 10 वर्षों में इंग्लैण्ड की सामाजिक संरचना को स्थिरता प्रदान करने के लिए मैग्ना कार्टा में ठोस बदलाव किए गए। 1225 में मैग्ना कार्टा को 63 खण्डों

के साथ दोबारा लागू किया गया जिसमें राज्य के ाासन में प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को शामिल किया गया। उदाहरण के लिए, चार्टर के खण्ड 39 में न्याय के अधिकार तथा सभी 'स्वतंत्र इंसान' द्वारा निष्पक्ष ट्रायल के अधिकार के बारे में बताया गया है। तत्पश्चात्, मैग्ना कार्टा के प्रमुख सिद्धांतों को विभिन्न राष्ट्रों एवं प्रमुख संगठनों ने अपने दिशा–निर्देश, नीतियों एवं राज्य का कानून बनाने के लिए ले लिया। मैग्ना कार्टा से प्रेरित एवं उसके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं, संयुक्त राष्ट्र के अधिकारों का बिल (1791), मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणा पत्र (1984) तथा मानव अधिकारों का यूरोपियन कन्वेंशन (1950)। मैग्ना कार्टा मानव अधिकारों के बारे में विश्व के दृष्टिकोण को तय करने में अद्भुत रहा है। जैसा कि इसके एक खण्ड में कहा गया है "किसी भी स्वतंत्र व्यक्ति को उसके समकक्षों के कानूनी निर्णय अथवा राज्य के शासन द्वारा उसके अधिकारों एवं संपत्तियों से बेदखल नहीं किया जाएगा अथवा किसी अन्य तरीके से उसकी स्थिति से वंचित नहीं किया जाएगा, न ही उसके विरुद्ध बल का प्रयोग किया जाएगा अथवा ऐसा करने के लिए अन्यों को भेजा जाएगा।"

किसी को भी हम नहीं बेचेंगे, न ही किसी को उसके अधिकार अथवा न्याय से वंचित करेंगे या उसमें विलंब करेंगे।

आने वाली पीढ़ियों के हित के लिए विश्व भर की विभिन्न सरकारों द्वारा इस खण्ड की व्याख्या सुविधानुसार की गई तथा उसके बाद इसे अंगीकार किया गया। उदाहरण के लिए 14वीं सदी में ब्रिटेन की संसद ने मैग्ना कार्टा की ज्यूरी ट्रायल में व्याख्या की। 17वीं सदी में इसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का घोषणापत्र लाया गया तथा बाद में इन सभी चीजों को समेकित कर अमेरिकन बिल ऑफ राईट्स (1791) तथा मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणा–पत्र (1948) बनाने के लिए समेकित किया गया। सरल शब्दों में कहा जाए तो तानाशाही एवं निरंकुश शासनकाल में मैग्ना कार्टा कमजोर नागरिकों के रक्षक के रूप में सामने आया। कानून से भी पहले व्यक्ति के स्वतंत्रता व समानता की रक्षा करने वाले अभिलेख के रूप में मैग्ना कार्टा पहला औपचारिक दस्तावेज बना, जो व्यक्ति को अधिकार संपन्न बनाने की क्षमता रखता था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व पर बाक्सी द्वारा भी उसके मनुष्य के अधिकारों के संदर्भ में प्रकाश डाला गया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन से संबंधित फैसले लेने के लिए उसके अपने कारण बताए गए हैं। 'आधुनिकता' के नाम पर इस तथ्य का महत्त्व कम नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि यह पहले भी हुआ था जिसके कारण गुलामी प्रथा शुरू हुई तथा उसकी अलख 21वीं सदी में अलगाव एवं अलग–अलग होने के रूप में देखी जा सकती थी।

मैग्ना कार्टा को प्रभावित करने वाली प्राचीन कानून संहिता

मैग्ना कार्टा का प्रारूप शुरू में इंग्लैण्ड के चर्चों की अखंडता की रक्षा करने के उद्देश्य से तैयार किया गया था जिसे उस समय के इंग्लैण्ड के राजा जॉन से चुनौती मिल रही थी। राजा के शासन करने के अनुचित तौर–तरीकों (विशेष रूप से अनुचित कर मैकेनिज्म) के कारण क्रोधित सामंतों द्वारा राजा जॉन को घिरता देखकर कैन्टरबरी के आर्चविशप द्वारा चार्टर तैयार किया गया। पहले अंग्रेज इतिहासकार अर्थात बेदे ने अपने काम में एथेलबर्ट कानून संहिता एरनल्फ शेचेस्टर के विशप के कानूनी दस्तावेज 'टेक्सटस रोफेनसिस' तथा चार्टर ऑफ लिबरटीज नाम से राजा एल्फेड के 9वीं सदी के कानूनी संहिता के मैग्ना कार्टा के ऊपर प्रमुख प्रभाव का अपने काम में उल्लेख किया। एथेलबर्ड कानूनी संहिता अंग्रेजी का ऐसा पहला प्रलेखित काम था जिसने बुनियादी सामाजिक नियमों को स्पष्ट रूप से बताया तथा इसने ब्रिटिश कानूनों को औपचारिक रूप देने में भी मदद की। इसका मुख्य उद्देश्य उन अलिखित कानूनों को लिखित रूप देना था जो आपराधिक हत्या के पीड़ितों को हर्जाना देने की बात करते हैं। शारीरिक चोट के स्वरूप की उनकी गंभीरता तथा उसके पश्चात् हर्जाने के अनुसार श्रेणी में रखा गया। उदाहरण के लिए नाक पर मुक्का मारने के लिए अपने अंगूठे के नाखून को हटाने का अर्थ 3 शिलिंग जबकि बड़े अंगूठे को अक्षम बनाने के लिए 10 चुकाना होता है। इस संहिता ने इंग्लैण्ड में 'मुआवजे की संस्कृति' के लिए नींव रखी। रोचक तरीके से एथेल की कानूनी संहिता ने षासन के आदर्श तरीके की व्यक्तिगत सुरक्षा तथा महिलाओं की समानता की व्याख्या की। इस संहिता में सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा करने में राजा की भूमिका को भी परिभाषित किया गया। शारीरिक चोटों के पीड़ितों के लिए कल्याणकारी क्षतिपूर्ति योजनाओं को बनाने तथा सार्वजनिक जुलूसों की रक्षा करने की कोशिश भी इसके द्वारा की गई। इस संहिता में कानून बनाते समय परामर्श की प्रक्रिया को भी स्वीकार किया गया। परामर्शदाताओं की समिति में समाज के वरिष्ठ सदस्य शामिल थे जिन्हें 'वितान' कहा जाता था। 'वितान' के मुख्य सर्वसम्मति से बनने वाले अंतिम दस्तावेज को फिर अंतिम अनुमोदन के लिए जनता के समक्ष लाया जाता।

1100 ईसा पश्चात् इंग्लैण्ड के राजा हेनरी–I के कोरोनेशन चार्टर अर्थात् "चार्टर ऑफ लिबरटीज" नाम से एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए। इस दस्तावेज ने बादशाह की शक्तियों को सीमित कर दिया तथा राजा को चर्च तथा सामंत वर्ग के कानूनों से बांध दिया। इसका उद्देश्य लोगों के मन से राज्य द्वारा मनमाने तरीके से उन पर मुकदमा चलाने के डर को निकालना था। समाज में व्यवस्था कायम रखने के लिए कानून के शासन को न्यायिक शक्तियों के साथ सर्वोच्चता प्रदान की गई।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में मैग्नाकार्टा की प्रासंगिकता

सन् 1215 में शासक जॉन के चार्टर पर हस्ताक्षर करने के बाद उसके निरंकुश शासन से मुक्ति के परिणामस्वरूप मैग्ना कार्टा की धारणा अस्तित्व में आई। वैश्विक स्तर पर शासन के तानाशाह स्वरूप में बदलाव लाने के लिए यह एक कदम काफी प्रभावशाली सिद्ध हुआ। भारत में मानव अधिकारों का मूल्यांकन महाभारत, रामायण, उपनिषद् व वैदिक काल से ही देखने को मिलता है। कौटिल्य और अशोक के साम्राज्य में भी शासन प्रणाली में काफी बदलाव देखने को मिले साथ ही नागरिकों के हितों के अनुरूप नीतियां व योजनाएं भी इस काल में बनाई गईं। महात्मा गांधी को भी मानव अधिकारों के संरक्षक के रूप में जाना जाता है। भेदभाव समाप्त करने, लोकतंत्रात्मक शासन की स्थापना तथा शांतिपूर्ण तरीके से अपने अधिकारों के लिए धरना–प्रदर्शन करने के गांधी जी के प्रयास मानव अधिकार को बल प्रदान करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना जा सकता है। नागरिकों को मानव अधिकार दिलवाने की दिशा में डॉ॰ बी. आर. अम्बेडकर के प्रयास भी अहम भूमिका निभाते हैं। समाज में अछूत समझे जाने वाले दलित वर्ग को समाज के अन्य वर्गों के साथ समानता का स्थान दिलवाने में उनका योगदान काफी सराहनीय रहा। भारतीय संविधान के निर्माण में भी डॉ॰ अम्बेडकर की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। भारतीय संविधान में निहित मौलिक अधिकार देश के सभी नागरिकों को समानता व स्वतंत्रता से जीने का अधिकार तथा शिक्षा व रोजगार प्राप्त करने के समान अधिकार भी देश के सभी नागरिकों को प्राप्त हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद–14, 15, 16, 17 एवं 18 में देश के नागरिकों को प्रदत्त समानता के अधिकार का विस्तृत वर्णन है। वहीं अनुच्छेद–19, 20, 21 व 22 में स्वतंत्रता के अधिकार की व्याख्या की गई है। अनुच्छेद 23, 24 में शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने के अधिकार की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद–25, 26, 27 व 28 में अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म के पालन की स्तंत्रता दी गई है। अनुच्छेद 29 व 30 में शिक्षा व संस्कृति संबंधी अधिकारों का वर्णन है। उपरोक्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार के हनन की स्थिति में अनुच्छेद 32 के तहत संवैधानिक उपचारों का अधिकार भी देश के नागरिकों को दिया गया है।

भारतीय समाज लंबे अर्से तक विदेशी शक्तियों का गुलाम रहा है। कभी मुस्लिम (अरबी, तुर्की, मुगल व अफगान) साम्राज्य तो कभी युरोपियन व ब्रिटिश हुकूमत ने भारतीय समाज पर अपना अधिपत्य स्थापित किया। विदेशी साम्राज्य के शासन काल में कई रूपों में देश के नागरिकों के मानव अधिकारों का हनन हुआ। 1500 ईसवी के मध्य काल में पुर्तगाली शासकों ने गोआ के नागरिकों के साथ अत्यन्त अमानवीय व क्रूर

व्यवहार किया। ब्रिटिश काल में भी भारतीय नागरिकों के मानव अधिकारों का व्यापक स्तर पर हनन हुआ। 13 अप्रैल 1919 में अमृतसर के जलियांवाला बाग में हुए भीषण नरसंहार को मानव अधिकारों के हनन के रूप में देखा जा सकता है। 1947 में भारत विभाजन के पश्चात् लाखों लोगों के विस्थापन के समय उनके साथ हुआ क्रूर अमानवीय व्यवहार मानवता को शर्मसार कर देने वाला था।

भारतीय संविधान के निर्माण में मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का भी प्रभाव देखने को मिलता है और यह घोषणा काफी हद तक मैग्ना कार्टा से प्रभावित थी। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय संविधान और मैग्ना कार्टा की नीतियां एक–दूसरे से मेल खाती हैं। इनमें विरोधाभास नहीं है। भारतीय संविधान भी मैग्ना कार्टा के प्रभाव से अछूता नहीं है। भारतीय संविधान के तीसरे भाग में वर्णित मौलिक अधिकार तथा अनुच्छेद 13(2) में वर्णित व्याख्या को मैग्ना कार्टा के विचारों से प्रभावित माना जा सकता है। मैग्ना कार्टा नागरिक व शासक के बीच एक आपसी समझौते की व्यवस्था तय करता है, ऐसा ही कुछ भारतीय संविधान की व्याख्या के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। जिसके तहत भारत में लोकतंत्रात्मक तरीके से शासक का चुनाव जनता स्वयं करती है।

निष्कर्ष

मैग्ना कार्टा की अवधारणा आज हम जिस परिस्थिति में जी रहे हैं उससे बिल्कुल विपरीत परिस्थितियों में फलित हुई थी। 21वीं सदी के प्रारंभ में मानव अधिकारों का हनन अपनी चरम सीमा पर था। राज्यों का नागरिकों पर पूर्ण नियंत्रण, दास प्रथा, आतंकवाद, प्रेस व मीडिया पर प्रतिबंध तथा साइबर अपराध मानव अधिकारों के हनन को बढ़ावा दे रहे थे। इन अपराधों के कारण नागरिकों की स्वतंत्रता व उनके अधिकारों पर हमले हो रहे थे। इस परिस्थिति ने एक बार फिर विश्व को मैग्ना कार्टा की अवधारणा के बारे में सोचने को विवश कर दिया। सभी क्षेत्रों के अनुभवी लोगों ने मैग्ना कार्टा का चिंतन व मूल्यांकन प्रारंभ कर दिया। आज के समय में भी जब समाज पतन की ओर जा रहा है तथा अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के अधिकार छीन रहा है, ऐसे में मैग्ना कार्टा की अवधारणा और अधिक प्रासंगिक होती जा रही है।

आज ग्लोबल वार्मिंग व जलवायु परिवर्तन के कारण लाखों लोग विस्थापन के लिए मज़बूर हो रहे हैं ऐसे में इस तरफ ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है। प्राकृतिक आपदाओं के कारण होने वाली त्रासदियों ने प्रकृति को संरक्षण के विषय में सोचने को विवश कर दिया है। वैश्वीकरण व तकनीकी के विस्तार के कारण बढ़ते व्यापार भी मानव

अधिकारों के हनन को प्रोत्साहित कर रहे हैं। आज के समय में व्याप्त ये सभी नकारात्मक व मानव तथा प्रकृति को नुकसान पहुंचाने वाली परिस्थितियों ने मनुष्य को एक बार फिर से सोचने को मज़बूर किया है। प्रकृति का विनाश केवल प्रकृति का विनाश नहीं है बल्कि इसके कारण हुए नुकसान से भी कई लोगों से उनके अधिकार छिन रहे हैं। इन त्रासदियों के कारण वे विपरीत परिस्थितियों में जीने या फिर अपना जीवन खोने को विवश हो रहे हैं। ऐसे में एक सुदृढ़ समाज के निर्माण व नागरिकों के मानव अधिकारों की रक्षा हेतु मैग्ना कार्टा की अवधारणा पर एक बार फिर चिंतन करने की आवश्यकता है। न केवल आज के परिदृश्य में बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी मैग्ना कार्टा एक आदर्श अवधारणा के रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

❖❖❖❖❖

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

•अनुवादः अंजलि सकलानी
अमित कुमार साव

10 दिसम्बर 1948 को यूनाइटेड नेशन्स की जनरल असेम्बली ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को स्वीकृत और घोषित किया। इस ऐतिहासिक कार्य के बाद ही असेम्बली ने सभी सदस्य देशों से अपील की कि वे इस घोषणा का प्रचार करें और देशों अथवा प्रदेशों की राजनैतिक स्थिति पर आधारित भेदभाव का विचार किए बिना, विशेषतः स्कूलों और अन्य शिक्षा संस्थाओं में इसके प्रचार, प्रदर्शन, पठन और व्याख्या का प्रबन्ध करें।

इसी घोषणा का सरकारी पाठ संयुक्त राष्ट्र की इन पांच भाषाओं में प्राप्त है :– अंग्रेजी, चीनी, फ्रांसीसी, रूसी और स्पेनिश। अनुवाद का जो पाठ यहां दिया गया है, वह भारत सरकार द्वारा स्वीकृत है।

प्रस्तावना

चूंकि मानव परिवार के सभी सदस्यों के जन्मजात गौरव और समान तथा अविच्छिन्न अधिकार की स्वीकृति ही विश्व–शान्ति, न्याय और स्वतन्त्रता की बुनियाद है।

चूंकि मानव अधिकारों के प्रति उपेक्षा और धृणा के फलस्वरूप ही ऐसे बर्बर कार्य हुए जिनसे मनुष्य की आत्मा पर प्रहार किया गया, चूंकि एक ऐसी विश्व–व्यवस्था की उस स्थापना जिसमें लोगों को भाषण और धर्म की आजादी तथा भय और अभाव से मुक्ति मिलेगी सर्वसाधारण के लिए सर्वोच्च आकांक्षा घोषित किया गया है।

चूंकि अगर अन्याययुक्त शासन और जुल्म के विरूद्ध लोगों को विद्रोह करने के लिए उसे ही अन्तिम उपाय समझ कर– मजबूर नहीं हो जाना है, तो कानून द्वारा नियम बनाकर मानव अधिकारों की रक्षा करना अनिवार्य है।

चूंकि राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को बढ़ाना जरूरी है।

चूंकि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों की जनताओं ने बुनियादी मानव अधिकारों में, मानव व्यक्तित्व के गौरव और योग्यता में और नर–नारियों के समान अधिकारों में अपने

• अनुवादक, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

विश्वास को अधिकार–पत्र में दोहराया है और यह निश्चय किया है कि अधिक व्यापक स्वतंत्रता के अन्तर्गत सामाजिक प्रगति एवं जीवन के बेहतर स्तर को ऊंचा किया जाए।

चूंकि सदस्य देशों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे संयुक्त राष्ट्र के सहयोग से मानव अधिकारों और बुनियादी आजादियों के प्रति सार्वभौम सम्मान की वृद्धि करेंगे।

चूंकि इस प्रतिज्ञा को पूरी तरह से निभाने के लिए इन अधिकारों और आजादी के स्वरूप को ठीक–ठीक समझना सबसे अधिक जरूरी है।

आम सभा घोषित करती है कि

मानव अधिकारों की यह सार्वभौमिक घोषणा सभी देशों और सभी लोगों की समान सफलता है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति और समाज का प्रत्येक भाग इस घोषणा को लगातार दृष्टि में रखते हुए अध्यापन और शिक्षा के द्वारा यह प्रयत्न करेगा कि इन अधिकारों और आजादी के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत हो, और उत्तरोत्तर ऐसे राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय उपाय किए जाएं जिनसे सदस्य देशों की जनता तथा उनके द्वारा अधिकृत प्रदेशों की जनता इन अधिकारों की सार्वभौम और प्रभावोत्पादक स्वीकृति दे और उनका पालन करावे।

अनुच्छेद 1. सभी मनुष्यों को गरिमा और अधिकारों के मामले में जन्मजात स्वतंत्रता और समानता प्राप्त है और परस्पर उन्हें भाईचारे के भाव से बर्ताव करना चाहिए।

अनुच्छेद 2. सभी को इस घोषणा में सन्निहित सभी अधिकारों और आजादी को प्राप्त करने का हक है और इस मामले में जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति या अन्य विचार–प्रणाली, किसी देश या समाज विशेष में जन्म, सम्पत्ति या किसी प्रकार की अन्य मर्यादा आदि के कारण भेदभाव का विचार नहीं किया जाएगा।

इसके अतिरिक्त, चाहे कोई देश या प्रदेश स्वतंत्र हो, संरक्षित हो, या स्वशासन रहित हो या परिमित प्रभुसत्ता वाला हो, उस देश या प्रदेश की राजनैतिक, क्षेत्रीय या अन्तरराष्ट्रीय स्थिति के आधार पर वहां के निवासियों के प्रति कोई फर्क न रखा जाएगा।

अनुच्छेद 3. प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वधीनता और वैयक्तिक सुरक्षा का अधिकार है।

अनुच्छेद 4. कोई भी गुलामी या दासता की हालत में न रखा जाएगा, गुलामी–प्रथा और गुलामों का व्यापार अपने सभी रूपों में निषिद्ध होगा।

अनुच्छेद 5. किसी को भी शारीरिक यातना न दी जाएगी और न किसी के भी प्रति निर्दय, अमानुषिक या अपमानजनक व्यवहार होगा।

अनुच्छेद 6. हर किसी को हर जगह कानून की निगाह में व्यक्ति के रूप में स्वीकृति–प्राप्ति का अधिकार है।

अनुच्छेद 7. कानून की निगाह में सभी समान हैं और सभी बिना भेदभाव के समान कानूनी सुरक्षा के अधिकारी हैं। यदि इस घोषणा का अतिक्रमण करके कोई भी भेदभाव किया जाए या उस प्रकार के भेदभाव को किसी प्रकार से उकसाया जाए, तो उसके विरूद्ध समान संरक्षण का अधिकार सभी को प्राप्त है।

अनुच्छेद 8. सभी को संविधान या कानून द्वारा प्राप्त बुनियादी अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले कार्यों के विरूद्ध समुचित राष्ट्रीय अदालतों की कारगर सहायता पाने का हक है।

अनुच्छेद 9. किसी को भी मनमाने ढंग से गिरफ्तार, नजरबन्द या देश–निष्कासित न किया जाएगा।

अनुच्छेद 10. सभी को पूर्णतः समान रूप से हक है कि उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों के निश्चय करने के मामले में और उन पर आरोपित फौजदारी के किसी मामले में उनकी सुनवाई न्यायोचित और सार्वजनिक रूप से निरपेक्ष एवं निष्पक्ष अदालत द्वारा हो।

अनुच्छेद 11

(1) प्रत्येक व्यक्ति, जिस पर दण्डनीय अपराध का आरोप किया गया हो, तब तक निरपराध माना जाएगा, जब तक उसे ऐसी खुली अदालत में, जहां उसे अपनी सफाई की सभी आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों, कानून के अनुसार अपराधी न सिद्ध कर दिया जाए।

(2) कोई भी व्यक्ति किसी भी ऐसे कृत या अकृत (अपराध) के कारण उस दण्डनीय अपराध का अपराधी न माना जाएगा, जिसे तत्कालीन प्रचलित राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय कानून के अनुसार दण्डनीय अपराध न माना जाए और उससे अधिक भारी दण्ड दिया जा सकेगा, जो उस समय दिया जाता जिस समय वह दण्डनीय अपराध किया गया था।

अनुच्छेद 12. किसी व्यक्ति की एकान्तता, परिवार, घर या पत्र व्यवहार के प्रति कोई मनमाना हस्तक्षेप न किया जाएगा, न किसी के सम्मान और ख्याति पर कोई आक्षेप

हो सकेगा। ऐसे हस्तक्षेप या आक्षेपों के विरूद्ध प्रत्येक को कानूनी रक्षा का अधिकार प्राप्त है।

अनुच्छेद 13.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक देश की सीमाओं के अन्दर स्वतंत्रतापूर्वक आने–जाने और बसने का अधिकार है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने या पराये किसी को भी छोड़ने और अपने देश को वापस आने का अधिकार है।

अनुच्छेद 14

(1) प्रत्येक व्यक्ति को सताये जाने पर दूसरे देशों में शरण लेने और रहने का अधिकार है।

(2) इस अधिकार का लाभ ऐसे मामलों में नहीं मिलेगा जो वास्तव में गैर–राजनीतिक अपराधों से संबंधित हैं, या जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के विरूद्ध कार्य हैं।

अनुच्छेद 15.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी राष्ट्र–विशेष की नागरिकता का अधिकार है।

(2) किसी को भी मनमाने ढंग से अपने राष्ट्र की नागरिकता से वंचित नहीं किया जाएगा या नागरिकता का परिवर्तन करने से मना नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 16.

(1) बालिग स्त्री–पुरुषों को बिना किसी जाति, राष्ट्रीयता या धर्म की रुकावटों के आपस में विवाह करने और परिवार को स्थापन करने का अधिकार है। उन्हें विवाह के विषय में वैवाहिक जीवन में तथा विवाह–विच्छेद के बारे में समान अधिकार हैं।

(2) विवाह का इरादा रखने वाले स्त्री–पुरुषों की पूर्ण और स्वतंत्र सहमति पर ही विवाह हो सकेगा।

(3) परिवार समाज की स्वाभाविक और बुनियादी सामूहिक इकाई है और उसे समाज तथा राज्य द्वारा संरक्षण पाने का अधिकार हैं।

अनुच्छेद 17.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को अकेले और दूसरों के साथ मिलकर सम्मति रखने का अधिकार है।

(2) किसी को भी मनमाने ढंग से अपनी सम्मति से वंचित नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 18. प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अन्तरात्मा और धर्म की आजादी का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत अपना धर्म या विश्वास बदलने और अकेले या दूसरों के साथ मिलकर तथा सार्वजनिक रूप में अथवा निजी तौर पर अपने धर्म या विश्वास को शिक्षा, क्रिया, उपासना तथा व्यवहार के द्वारा प्रकट करने की स्वतंत्रता है।

अनुच्छेद 19. प्रत्येक व्यक्ति को विचार और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। इसके अन्तर्गत बिना हस्तक्षेप के कोई राय रखना और किसी भी माध्यम के जरिए से तथा सीमाओं की परवाह न करके किसी की सूचना और धारणा का अन्वेषण, ग्रहण तथा प्रदान सम्मिलित है।

अनुच्देद 20.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति पूर्ण सभा करने या समिति बनाने की स्वतंत्रता का अधिकार है।

(2) किसी को भी किसी संस्था का सदस्य बनने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 21.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के शासन में प्रत्यक्ष रूप से या स्वतंत्र रूप से चुने गए प्रतिनिधियों के जरिए हिस्सा लेने का अधिकार है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सरकारी नौकरियों को प्राप्त करने का समान अधिकार है।

(3) सरकार की सत्ता का आधार जनता की इच्छा होगी। इस इच्छा का प्रकटन समय–समय पर और असली चुनावों द्वारा होगा। ये चुनाव सार्वभौमिक और समान मताधिकार द्वारा होंगे और गुप्त मतदान द्वारा या किसी अन्य समान स्वतंत्र मतदान पद्धति से कराये जाएंगे।

अनुच्छेद 22. समाज के एक सदस्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के उस स्वतंत्र विकास तथा गौरव के लिए– जो राष्ट्रीय प्रयत्न या अन्तरराष्ट्रीय सहयोग तथा प्रत्येक राज्य के संगठन एवं साधनों के अनुकूल हो– अनिवार्यतः आवश्यक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की प्राप्ति का हक है।

अनुच्छेद 23.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, इच्छानुसार रोजगार के चुनाव, काम की उचित और सुविधाजनक परिस्थितियों को प्राप्त करने और बेकारी से संरक्षण पाने का हक है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को समान कार्य के लिए बिना किसी भेदभाव के समान मजदूरी पाने का अधिकार।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को जो काम करता है, अधिकार है कि वह इतनी उचित और अनुकूल मजदूरी पाए, जिससे वह अपने लिए और अपने परिवार के लिए ऐसी आजीविका का प्रबन्ध कर सके, जो मानवीय गौरव के योग्य हो तथा आवश्यकता होने पर उसकी पूर्ति अन्य प्रकार के सामाजिक संरक्षणों द्वारा हो सके।

(4) प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा के लिए श्रमजीवी संघ बनाने और उनमें भाग लेने का अधिकार है।

अनुच्देद 24. प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम और अवकाश का अधिकार है। इसके अन्तर्गत काम के घंटों की उचित हदबन्दी और समय–समय पर मजदूरी सहित छुट्टियां सम्मिलित हैं।

अनुच्छेद 25.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवन स्तर को प्राप्त करने का अधिकार है जो उसे और उकसे परिवार के स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए पर्याप्त हो। इसके अन्तर्गत खाना, कपड़ा, मकान, चिकित्सा–संबंधी सुविधाएं और आवश्यक सामाजिक सेवाएं सम्मिलित हैं। सभी को बेकारी, बीमारी, असमर्थता, वैधव्य, बुढ़ापे या अन्य किसी ऐसी परिस्थिति में आजीविका का साधन होने पर जो उसके काबू के बाहर हो, सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है।

(2) जच्चा और बच्चा को खास सहायता और सुविधा का हक है। प्रत्येक बच्चे को चाहे वह विवाहिता माता से जन्मा हो या अविवाहिता से, समान सामाजिक संरक्षण प्राप्त होगा।

अनुच्देद 26.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा कम से कम प्रारम्भिक और बुनियादी अवस्थाओं में निःशुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। टेक्निकल, यांत्रिक और पेशों–संबंधी शिक्षा साधारण रूप से प्राप्त होगी और उच्चतर शिक्षा सभी को योग्यता के आधार पर समान रूप से उपलब्ध होगी।

(2) शिक्षा का उद्देश्य होगा मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मानव अधिकारों तथा बुनियादी स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की पुष्टि। शिक्षा द्वारा राष्ट्रों, जातियों अथवा धार्मिक समूहों के बीच आपसी सद्भावना, सहिष्णुता और मैत्री का विकास होगा और शांति बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रों के प्रयत्नों को आगे बढ़ाया जाएगा।

(3) माता–पिता को सबसे पहले इस बात का अधिकार है कि वे चुनाव कर सकें कि किस किस्म की शिक्षा उनके बच्चों को दी जाएगी।

अनुच्छेद 27.

(1) प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक समाज के सांस्कृतिक जीवन में हिस्सा, लेने, कलाओं का आनन्द लेने तथा वैज्ञानिक उन्नति और उसकी सुविधाओं में भाग लेने का हक है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी ऐसी वैज्ञानिक, साहित्यिक या कलात्मक कृति से उत्पन्न नैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा का अधिकार है जिसका रचयिता वह स्वयं हो।

अनुच्छेद 28. प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी सामाजिक और अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था की प्राप्ति का अधिकार है जिसमें इस घोषणा में उल्लिखित अधिकारों और स्वतंत्रताओं को पूर्णतः प्राप्त किया जा सके।

अनुच्छेद 29.

(1) प्रत्येक व्यक्ति का उसी समाज के प्रति कर्त्तव्य है जिसमें रहकर उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र और पूर्ण विकास संभव हो।

(2) अपने अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपयोग करते हुए प्रत्येक व्यक्ति केवल ऐसी ही सीमाओं द्वारा बद्ध होगा, जो कानून द्वारा निश्चित की जाएगी और जिनका एकमात्र उद्देश्य दूसरों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं के लिए आदर और समुचित स्वीकृति की प्राप्ति होगा तथा जिनकी आवश्यकता एक प्रजातंत्रात्मक समाज में नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था और सामान्य कल्याण की उचित आवश्यकताओं को पूरा करना होगा।

(3) इन अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपयोग किसी प्रकार से भी संयुक्त राष्ट्रों के सिद्धांतों और उद्देश्यों के विरूद्ध नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 30. इस घोषणा में उल्लिखित किसी भी बात का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए जिससे यह प्रतीत हो कि किसी भी राज्य, समूह या व्यक्ति को किसी ऐसे प्रयत्न में संलग्न होने या ऐसा कार्य करने का अधिकार है, जिसका उद्देश्य यहां बताये गए अधिकारों और स्वतंत्रताओं में से किसी का भी विनाश करना हो।

❖❖❖❖❖

वर्तमान अंक में योगदान करने वाले रचनाकारों की पते सहित सूची

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पीपरी, वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

प्रो. माधव हाड़ा
हिन्दी विभाग,
मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर–313001 (राजस्थान)

प्रो. सरोज कुमार वर्मा
06, व्याख्याता आवास
खबड़ा रोड, विश्वविद्यालय परिसर
मुजफ्फरपुर–842001 (बिहार)

सुश्री ज्ञानवती धाकड़
वरिष्ठ अधिवक्ता,
राजस्थान उच्च न्यायालय,
जयपुर–302005 (राजस्थान)

डॉ. अमित कु. विश्वास
सहायक संपादक,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

डॉ. सुधांशु शेखर
केशव सिंह लॉज
लालकोठी, भागलपुर–812002 (बिहार)

डॉ. अमित राय
सहायक प्रोफेसर,
क्षेत्रीय केंद्र,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

सुश्री ममता कुमारी
समाज कार्य केंद्र,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

सुश्री अपूर्वा दुबे, आई.ए.एस.
एस.डी.एम. (सदर),
बरेली–243001 (उ.प्र.)

डॉ. सुप्रिया पाठक
सहायक प्रोफेसर एवं प्रभारी विभागाध्यक्ष, स्त्री अध्ययन विभाग,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

डॉ. अनिला
21, गढ मगरी,
शोभागपुरा, उदयपुर–313001 (राजस्थान)

डॉ. विश्वास पटेल एवं डॉ. तुहिना जौहरी
सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग
संत अलॉयसियस महाविद्यालय,
1, अहिल्या बाई मार्ग, जबलपुर (म.प्र.)

डॉ. कन्हैया त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर,
यूजीसी–अकादमिक स्टॉफ कॉलेज
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

Ms. Sona Choudhari
1/7, Naria Defence Enclave, NCC, DLW Road, BHU,
Varanasi-221005, U.P.

डॉ. सुभाष शर्मा, आई.ए.एस.
सी–11/125, मधुलिमए मार्ग, चाणक्यपुरी,
नई दिल्ली–110021

श्री संदीप भट्ट
प्रभारी प्राचार्य,
कर्मवीर विद्यापीठ, परिसर
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय
भोपाल–462001 (मध्य प्रदेश)

डॉ. शंभू जोशी
सहायक प्रोफेसर
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

श्री विकास मिश्र
संपादक, लोकमत समाचार
सी–20, लोकमत कर्मचारी सहकारी संस्था कॉलोनी
बुटीबोरी, नागपुर–441122, महाराष्ट्र

सुश्री कंचन शर्मा
शोध छात्रा, केंदीय शिक्षण संस्थान,
860, गली नं–20, शिव कुंज, ब्लॉक–बी,
संत नगर, बुराड़ी, दिल्ली–110084

श्री हरि राम मीणा
31, शिवशक्ति नगर, किंग्स रोड
अजमेर हाई–वे, जयपुर–302019

डॉ. सोनू
सहायक प्रोफेसर,
विधि संकाय,
एम. डी. यू. रोहतक–124001

श्री विवेक किशोर, आई.पी.एस.
एल–31, निवेदिता कुंज,
सेक्टर–10, आर.के.पुरम,
नई दिल्ली–110022

श्री शंकर शरण
एसोसिएट प्रोफेसर,
समाज विज्ञान एवं मानविकी शिक्षण विभाग,
एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली–110017

Dr. Razia
Lecturer at Arjun Singh Centre,
Jamia Millia Islamia,
New Delhi-110025

डॉ. संजुला थानवी
प्राचार्या, विधि महाविद्यालय,
एवं
निदेशक, सूरज संस्थान
33/160, वरूण पथ, मानसरोवर,
जयपुर–302020

डॉ. आशीष भट्ट
एसोसिएट प्रोफेसर,
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान,
उज्जैन–456010 (म.प्र.)

डॉ. लालाराम जाट
सहायक आचार्य,
उदयपुर स्कूल ऑफ सोशल वर्क,
जर्नादन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय,
उदयपुर–313026 (राजस्थान)

डॉ. मिथिलेश कुमार
सहायक प्रोफेसर, सामाजिक कार्य अध्ययन केंद्र,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा–442001 (महाराष्ट्र)

डॉ. अमिता पाण्डेय
एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्रीमती उषा यादव
73, नार्थ ईदगाह कॉलोनी,
आगरा–282001

श्री बजरंगलाल जेठू
प्रधानाचार्य,
आदर्श राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय,
सुनारी, नागौर–341001, राजस्थान

सुश्री लक्ष्मी जयसवाल अग्रवाल
1/4786, द्वितीय तल, गली नं. 10,
बलबीर नगर एक्सटेंशन,
शाहदरा, दिल्ली–110032

प्रो. अरुण कमल
फ्लैट नं॰ 4, मैत्री शान्ति भवन,
बी.एम. दास रोड़, पटना–800004 (बिहार)

Shri Harsh Mander
Aman Biradari and Centre for equity Studies
24, Adhchini, (Major Khajan Singh Building)
New Delhi -110017

प्रो. प्रेमशीला शुक्ल
प्रदक्षिणा, दक्षिणी उमा नगर,
सी.सी. रोड़, देवरिया–274001 (उ॰ प्र॰)

सुश्री आकांक्षा पारे
सहायक संपादक,
आउटलुक (हिन्दी),
ए बी –5, सफदरजंग एनक्लेव,
नई दिल्ली–110029

Mrs. Pooja Goswami
C-1/3, Second Floor, Shiva Appartment,
DLF. Ankur Vihar, Loni,
Ghaziabad- 201102 (U.P.)

❖❖❖❖❖

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

मानव अधिकार भवन
ब्लॉक–सी, जी.पी.ओ. कॉम्पलेक्स, आई.एन.ए.,
नई दिल्ली–110 023, भारत